उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

तीनपानी बाईपास रोड़, ट्रांसपोर्ट नगर, हल्द्वानी-263139

फोन नं. : 05946-261122, 261123

टॉल फ्री नं. : 18001804025

Fax No.- 05946-264232, E-mail- info@uou.ac.in

http://uou.ac.in

ISBN No. : 978-93-84632-04-5

BAHI-301-1(001561)

BAHI-301

आधुनिक विश्व का इतिहास

समाज विज्ञान विद्याशाखा

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

BAHI - 301

आधुनिक विश्व का इतिहास
History of Modern World

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
तीनपानी बाई पास रोड, ट्रान्सपोर्ट नगर के पास, हल्द्वानी–263139
फोन नं. 05946 - 261122 , 261123
टॉल फ्री नं. 18001804025
फैक्स न. 05946-264232, ई-मेल info@uou.ac.in
http://uou.ac.in

अध्ययन बोर्ड समिति

डॉ. गिरिजा प्रसाद पाण्डे, प्रोफेसर इतिहास एवं निदेशक समाज विज्ञान विद्याशाखा, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी — **अध्यक्ष**

प्रोफेसर रविन्द्र कुमार, इतिहास विभाग, समाज विज्ञान विद्याशाखा,इग्नू, नई दिल्ली — **सदस्य**

डॉ.लाल बहादुर वर्मा, प्रोफेसर, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद — **सदस्य**

डॉ.रामेश्वर प्रसाद बहुगुणा,इतिहास विभाग,जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली — **सदस्य**

डॉ. मदन मोहन जोशी, सहायक प्रोफेसर एवं समन्वयक इतिहास, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी — **सदस्य**

पाठ्यक्रम संयोजन एंव संपादन

डॉ. मदन मोहन जोशी, सहायक प्रोफेसर एवं समन्वयक इतिहास,
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी, नैनीताल

इकाई लेखन

ब्लाक एक विश्व: इतिहास लेखन परंपरा : डॉ. रमा जैसवाल,डी- 170, गामा 1 , ग्रेटर नोयडा, गौतम बुद्ध नगर

ब्लाक दो यूरोप: आधुनिकता की ओर

इकाई एक- सामन्तवाद का पतन : नरोत्तम विनीत, पी.जी.डी.ए.वी. कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

इकाई दो- पुनर्जागरण : नरोत्तम विनीत, पी.जी.डी.ए.वी. कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

इकाई तीन- धर्म सुधार: डॉ. एस.बी.सिंह ,इतिहास विभाग,एस.वी.पी.जी.कालेज,सलोन,रायबरेली,यू.पी.

इकाई चार- प्रबोधन का युग : डॉ. मदन मोहन जोशी , इतिहास विभाग, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी

ब्लाक तीन विश्व: राष्ट्र राज्यों का उदय,प्रारंभिक औपनिवेशीकरण और राजनीतिक सुधार

इकाई एक- निरंकुश राष्ट्रीय राज्यों का उदय: डॉ. एस.बी.सिंह, इतिहास विभाग,एस.वी.पी.जी.कालेज,सलोन,रायबरेली,यू.पी.

इकाई दो - भौगोलिक खोजें ,प्रारंभिक औपनिवेशिक साम्राज्य, वाणिज्यिक क्रान्ति: डॉ. रमा जैसवाल,डी- 170, गामा 1 , ग्रेटर नोयडा, गौतम बुद्ध नगर,यू.पी.

इकाई तीन- इग्लैंण्ड में संसदीय संस्थाओं का विकास : डॉ. रमा जैसवाल,डी- 170, गामा 1 , ग्रेटर नोयडा, गौतम बुद्ध नगर, यूपी

इकाई चार- औद्योगिक क्रांति और उसका प्रभाव: डा.ज्योति साह,इतिहास विभाग ,दीनदयाल उपाध्याय राजकीय स्नात्तकोत्तर महाविद्यालय, सीतापुर (उ0प्र0

ब्लाक चार विश्व: क्रांति का युग ,राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद

इकाई एक- अमेरिकी क्रान्ति : मो. रईस खान, इतिहास विभाग ,एस.पी.एम. कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

इकाई दो- फ्रान्स की क्रान्ति और नेपोलियन का युग: डा.ज्योति साह,इतिहास विभाग ,दीनदयाल उपाध्याय राजकीय स्नात्तकोत्तर महाविद्यालय, सीतापुर (उ0प्र0

इकाई तीन- यूरोप में राष्ट्रवादः जर्मनी और इटली का एकीकरण: मो. रईस खान, इतिहास विभाग ,एस.पी.एम. कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

इकाई चार- चीन और जापान : चीन और जापान में यूरोपीय साम्राज्यवाद,अफ्रीका का विभाजन और प्रथम विश्वयुद्ध, रूसी क्रांति : डॉ. मदन मोहन जोशी , इतिहास विभाग, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी

ब्लाक पांच: एशिया और अफ्रीका में उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन :डॉ.दीपक कुमार, इतिहास विभाग , जामिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

ब्लाक छह विश्व: फासीवाद,द्वितीय विश्वयुद्ध, वि-औपनिवेशीकरण ,शीतयुद्ध

इकाई एक- विश्वव्यापी मंदी और आर्थिक संकट: डॉ. विनायक राम इतिहास विभाग ,जामिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

इकाई दो- इटली में फासीवाद ,जर्मनी में नाजीवाद और जापान में सैन्यवाद: डॉ. विनायक राम इतिहास विभाग ,जामिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

इकाई तीन- द्वितीय विश्व युद्ध : डॉ. मनोज शर्मा , असि. प्रोफेसर, 5-बी , उत्कर्ष अपार्टमेण्ट, 2, राजनरायन मार्ग सिविल लाइन्स, नई दिल्ली

इकाई चार- वि-औपनिवेशीकरण और शीतयुद्ध: डॉ. मनोज शर्मा , असि. प्रोफेसर, 5-बी , उत्कर्ष अपार्टमेण्ट, 2, राजनरायन मार्ग सिविल लाइन्स, नई दिल्ली

ब्लाक सात संकल्पनाएं , विचार तथा शब्दावली

इकाई एक- ब्लैक डेथ,सामंतवाद, मानवतावाद, प्रबुद्ध स्वेच्छाचारिता, दैवी अधिकार , चर्च की सर्वोच्चता , तबस्सुम निगार जामिया मिल्लिया इस्लामिया , नई दिल्ली -25

इकाई दो- मध्यकाल, राष्ट्रीय राज्य, पुनर्जागरण, धर्म सुधार, डार्विनवाद, पवित्र रोमन साम्राज्य, तबस्सुम निगार जामिया मिल्लिया इस्लामिया , नई दिल्ली -25

इकाई तीन- नारी अधिकारवाद, संसदीय लोकतन्त्र, महाद्वीपीय व्यवस्था ,नाजीवाद,फासीवाद, साम्राज्यवाद, श्री दीपक कुमार, 133 जी. सेक्टर – 4, पुष्प विहार , एम. बी. रोड नई दिल्ली -17

इकाई चार- राष्ट्रमंडल, समाजवाद, रंगभेद, शीतयुद्ध श्री दीपक कुमार, 133 जी. सेक्टर – 4, पुष्प विहार , एम. बी. रोड नई दिल्ली -17

प्रकाशन वर्ष : अगस्त, 2015 पुनः मुद्रण : जुलाई 2016 ISBN No. : 978-93-84632-04-5

कापीराइटः @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

संस्करण : सीमित वितरण हेतु पूर्व प्रकाशन प्रति

प्रकाशक : कुल सचिव

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी–263139 (नैनीताल)

mail:books@uou.ac.in

इस सामग्री के किसी भी अंश को उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रुप में अथवा मिमियोग्राफी चक्रमुद्रण द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

मुद्रक : प्रीमियर प्रिन्टिंग प्रेस, जयपुर मुद्रित प्रतियां–500

आधुनिक विश्व का इतिहास

BAHI-301

		पृष्ठ संख्या
ब्लाक एक	**विश्व: इतिहास लेखन परंपरा**	**1—52**
इकाई एक-	इसाई धर्म एवं इतिहास चिंतन	3—13
इकाई दो-	रॉके के विशेष संदर्भ में इतिहास दर्शन की निश्चयात्मक अभिगम	14—25
इकाई तीन-	इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या(मार्क्सवादी सिद्धान्त)	26—38
इकाई चार-	बीसवीं शताब्दी का इतिहास लेखनःस्पैग्लर और टायनबी के संदर्भ में	39—52
ब्लाक दो	**यूरोप: आधुनिकता की ओर**	**53—94**
इकाई एक-	सामन्तवाद का पतन	55—64
इकाई दो-	पुनर्जागरण	65—76
इकाई तीन-	धर्म सुधार	77—85
इकाई चार-	प्रबोधन का युग	86—94
ब्लाक तीन	**विश्व: राष्ट्र राज्यों का उदय,प्रारंभिक औपनिवेशीकरण और राजनीतिक सुधार**	**95—152**
इकाई एक-	निरंकुश राष्ट्रीय राज्यों का उदय	97—108
इकाई दो -	भौगोलिक खोजें ,प्रारंभिक औपनिवेशिक साम्राज्य, वाणिज्यिक क्रान्ति	109—124
इकाई तीन-	इग्लैंण्ड में संसदीय संस्थाओं का विकास	125—136
इकाई चार-	औद्योगिक क्रांति और उसका प्रभाव	137—152
ब्लाक चार	**विश्व: क्रांति का युग ,राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद**	**153—240**
इकाई एक-	अमेरिकी क्रान्ति	155—171
इकाई दो-	फ्रान्स की क्रान्ति और नेपोलियन का युग	172—208
इकाई तीन-	यूरोप में राष्ट्रवादः जर्मनी और इटली का एकीकरण	209—225
इकाई चार-	चीन और जापान चीन और जापान में यूरोपीय साम्राज्यवाद,अफ्रीका का विभाजन और प्रथम विश्वयुद्ध, रूसी क्रांति	226—240
ब्लाक पांच	**एशिया और अफ्रीका में उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन**	**241—298**
इकाई एक-	चीन और दक्षिण-पूर्व एशिया में उपनिवेशवाद, जापानः आधुनिक राज्य से साम्राज्यवादी शक्ति की ओर	243—258
इकाई दो-	दक्षिण अमरीका में उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन	259—269
इकाई तीन-	चीनी क्रांति, दक्षिण-पूर्व एशिया में साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन	270—283
इकाई चार-	दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद विरोधी आंदोलन,अरब राष्ट्रवाद	284—298

पृष्ठ संख्या

ब्लाक छह	**विश्व: फासीवाद,द्वितीय विश्वयुद्ध, वि-औपनिवेशीकरण ,शीतयुद्ध**	**299—352**
इकाई एक-	विश्वव्यापी मंदी और आर्थिक संकट	301—309
इकाई दो-	इटली में फासीवाद ,जर्मनी में नाजीवाद और जापान में सैन्यवाद	310—321
इकाई तीन-	द्वितीय विश्व युद्ध	322—336
इकाई चार-	वि-औपनिवेशीकरण और शीतयुद्ध	337—352
ब्लाक सात	**संकल्पनाएं, विचार तथा शब्दावली**	**353—416**
इकाई एक-	ब्लैक डेथ,सामंतवाद, मानवतावाद, प्रबुद्व स्वेच्छाचारिता, दैवी अधिकार , चर्च की सर्वोच्चता	355—369
इकाई दो-	मध्यकाल, राष्ट्रीय राज्य, पुनर्जागरण, धर्म सुधार, डार्विनवाद, पवित्र रोमनसाम्राज्य	370—385
इकाई तीन-	नारी अधिकारवाद, संसदीय लोकतन्त्र, महाद्वीपीय व्यवस्था ,नाजीवाद,फासीवाद, साम्राज्यवाद	386—401
इकाई चार-	राष्ट्रमंडल,समाजवाद,रंगभेद,शीतयुद्ध	402—416

पुस्तक परिचय

प्रिय छात्र / छात्रा

आपको बी.ए. प्रथम वर्ष एवं द्वितीय वर्ष की पुस्तकों द्वारा भारत के प्राचीन, मध्यकालीन एवं आधुनिक इतिहास की जानकारी दी गयी थी। आशा है, आपने प्राचीन,मध्यकालीन एवं आधुनिक भारत से संबंधित तथ्यों को भली प्रकार आत्मसात कर लिया होगा। आधुनिक विश्व का इतिहास भी बड़ा रोचक है। इस पुस्तक के द्वारा आपको आधुनिक विश्व के इतिहास का परिचय दिया जा रहा है। 14वीं एवं 15वीं शताब्दी में यूरोप में प्रायः उन सारी शक्तियों का विघटन हुआ जो मध्यकालीन व्यवस्था की मुख्य विशेषताएं थी। ये विशेषताएं थी - राजनीतिक सत्ता का विखंडीकरण, निजी लोगों के हाथों में सार्वजनिक शक्ति एवं एक ऐसी सैन्य व्यवस्था जिसमें सैन्य शक्ति निजी हाथों में ठेके पर दे दी गई है, इत्यादि। मध्यकालीन संस्थाओं के विघटन के साथ-साथ नए आदर्शो और संस्थाओं का उदय हो रहा था। ये दो सदियॉ अंशतः मध्यकालीन और अशंतः आधुनिक साबित हुई। इन दोनों शताब्दियों में कुछ विशिष्ट मध्यकालीन संस्थाओं ,जैसे बड़े-बड़े साम्राज्य, विश्वव्यापी धर्म, गिल्डों के अधिकार, मैनोरियल व्यवस्था और रूढ़िवाद के पतन के गर्त में गिरते देखते हैं। लगभग हर स्थिति में मध्यकालीन संस्थाएं नवजागृत प्रगतिशील शक्तियों को नियंत्रित करने या रोकने में सक्षम न रही। मध्यकालीन व्यवस्था के केन्द्र में सामंतवादी व्यवस्था थी और इसका पतन संपूर्ण मध्यकालीन व्यवस्था के पतन की व्याख्या करता है।

पुनर्जागरण शब्द का अर्थ, महत्व और प्रयोग मध्यकाल से आधुनिक काल के बीच संक्रमण के दौरान व्यक्त होने वाला बौद्धिक, कलात्मक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों से जुड़ा हुआ है। इसने यूरोप के इतिहास में महत्वपूर्ण और खासकर मानव-जीवन से संबंधित समस्याओं के संबंध में लोगों के दृष्टिकोण में व्यापक परिवर्तन लाया। इसके साथ-साथ इसकी अभिव्यक्ति केवल कला, साहित्य, दर्शन, विज्ञान के क्षेत्र में ही नहीं हुई परंतु राजनीतिक, अर्थिक, सामाजिक आदि क्षेत्रों में भी हुई। इसे वृहत तौर पर मध्ययुग की विरोधी विचारधारा माना गया है और विशेषतः इटली के संदर्भ में पुनर्जागरण चेतना को मानववाद से जोड़ दिया गया है। सही अर्थो में पुनर्जागरण विश्व और मानव की खोज था। इसने आधुनिक सभ्यता का आधार निर्मित किया जिसकी अभिव्यक्ति गणतंत्रवादी स्वतंत्रता के रूप में हुई। यह अध्ययन की एक प्रणली ही नहीं वरन् एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति भी था।

विश्व इतिहास में इंग्लैण्ड को संसद की जन्म भूमि कहा जाता है। इंग्लैण्ड में सन् 1066 में विलियम ऑफ़ नॉर्मन्डी ने एक सामन्ती व्यवस्था का प्रचलन किया था जिसमें उसने 'टैनेन्ट-इन-चीफ़' (भू-स्वामी) तथा चर्च के प्रतिनिधियों की एक समिति गठित कर कानून बनाने से पहले उसकी सलाह लेने की व्यवस्था की थी। सन् 1100 में हेनरी प्रथम ने 'चार्टर ऑफ़ लिबर्टीज़' के द्वारा विशिष्ट क्षेत्रों में अपनी शक्तियों को सीमित कर दिया था। 1215 में 'मैग्ना कार्टा' ने नागरिक अधिकार, लोकतन्त्र, शासक की सीमित शक्ति और समानता के अधिकार के सिद्धान्तों को विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। 13 वीं शताब्दी से लेकर 16 वीं शताब्दी तक शासन में आभिजात्य वर्ग एवं चर्च के प्रतिनिधियों की भूमिका महत्वपूर्ण हो गई, लोअर हाउस में प्रतिनिधियों के चुनाव के लिए सीमित मताधिकार का प्रावधान किया गया और पार्लियामेन्ट के दो सदन - हाउस ऑफ़ लार्ड्स तथा हाउस ऑफ़ कॉमन्स स्थापित हुए। किन्तु सत्रहवीं शताब्दी में जेम्स प्रथम, चार्ल्स प्रथम, चार्ल्स द्वितीय व जेम्स द्वितीय के शासनकाल में पार्लियामेन्ट और शासक के मध्य सर्वोच्चता हेतु संघर्ष में अन्ततः पार्लियामेन्ट की जीत हुई। 1688 की गौरवपूर्ण क्रान्ति के फलस्वरूप इंग्लैण्ड में संवैधानिक राजतन्त्र की स्थापना हुई जिसने कि आगे चलकर समस्त विश्व में लोकतान्त्रिक मूल्यों के विकास और उनकी स्थापना में मार्ग-दर्शक की भूमिका निभाई।

औद्योगिक क्रान्ति से अभिप्राय 18वीं सदी में आर्थिक क्षेत्र में किए गए ऐसे प्रयोगों से है, जिन्होंने मनुष्य के आर्थिक, तकनीकी, सामाजिक और सांस्कृतिक स्वरूप में परिवर्तन कर मानव एवं पशु श्रम पर आधारित कृषि समाज को मशीनों पर आधारित औद्योगिक समाज में बदल दिया।औद्योगिक क्रान्ति ने आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में कई नवीन विचारधाराओं को जन्म दिया। उच्च मध्यम वर्ग विशेषरूप से उद्योगपतियों के प्रभाव से उदारवादी विचारधारा का उदय हुआ, जिसका सिद्धान्त था अहस्तक्षेप की नीति। इसमें व्यापार को राज्य के नियंत्रण से मुक्त रखा गया, उद्योगीकरण का लाभ उद्योगपतियों को मिला और मजदूर वर्ग का शोषण हुआ। इस पूंजीवादी व्यवस्था के प्रतिक्रियास्वरूप समाजवाद की विचारधारा का उदय हुआ, जिसमें समस्त जनता के लिए आर्थिक और राजनैतिक समानता और संपति के समान वितरण की बात की गयी। समाजवादी उद्योगपति राबर्ट ओवन ने अपने कारखानों में सहकारी संस्थाएं स्थापित कीं। फ्रांस में सेंट साइमन, फाउरिये और लुई ब्लांक आदि प्रारम्भिक समाजवादियों ने निजी सम्पत्ति का विरोध किया और राष्ट्रीय कारखानों की आवश्यकता बताई। कार्ल मार्क्स ने समाजवाद को व्यवहारिक रूप प्रदान किया। मार्क्स और एंगेल्स के विचारों ने वैज्ञानिक समाजवाद का रूप लिया, जिसे साम्यवादी विचारधारा कहा गया। इसके अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त किए बिना समाजवादी व्यवस्था की स्थापना नहीं की जा सकती। इस विचारधारा ने मजदूरों को पूंजीवाद का विरोध करने को प्रेरित किया। अनेक देशों में समाजवादी और साम्यवादी व्यवस्था स्थापित हुयी। सम्पूर्ण विश्व दो गुटों में बँट गया -साम्यवादी और पूंजीवादी। इसके अतिरिक्त इस कालान्तराल में विश्व इतिहास में अनेक घटनाऐं हुई।

अन्त में हम यही कह सकते हैं कि पहली सितम्बर 1939 के दिन पोलैन्ड पर जर्मनी के हमले से शुरू द्वितीय विश्व युद्ध मनुष्य जाति के इतिहास का सर्वाधिक भीषण युद्ध था। इस युद्ध के अनेक कारण ऐसे थे, जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय संकट को विस्फोटक मोड़ पर ला दिया था , युद्ध में जानमाल और सम्पत्ति का जो नुकसान हुआ वह युद्धों के इतिहास में अभूतपूर्व है लेकिन यह विभीषिका भावी पीढ़ियों को इस पैमाने पर युद्ध की कार्यवाही दोबारा न करने का सबक भी है, क्योंकि यह गलती दोहराने का अर्थ मनुष्य जाति के समूल नाश के सिवा कुछ न होगा।

प्रिय छात्र / छात्रा , इस पुस्तक का आप पूरे मनोयोग से अध्ययन करें और अपनी जानकारी को बढ़ायें । आपके सफल भविष्य के लिए समस्त शुभकामनाओं सहित

दिनाकं: 30 /06 /2015 मदन मोहन जोशी

ब्लॉक एक

विश्व इतिहास लेखन परंपरा

इकाई–1 ईसाई धर्म एवं इतिहास चिंतन

1.1. प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 ईसाई इतिहास लेखन की परम्परा
1.3.1 प्रारम्भिक ईसाई इतिहास लेखन
1.3.2 सन्त अगस्ताइन (354–430 ईसवी)
1.3.3 सन्त अगस्ताइन के परवर्ती ईसाई इतिहासकार
1.4 ईसाई इतिहास लेखन की विशिष्टताएं
1.4.1 इतिहास में ईश्वरीय इच्छा की महत्ता
1.4.2 ऐतिहासिक बलों की दैविक प्रकृति
1.4.3 ईसाई इतिहास लेखन में तिथिक्रम तथा काल–विभाजन
1.4.4 ईसाई इतिहास लेखन के आधार–स्रोत के रूप में बाइबिल की महत्ता
1.5 ईसाई इतिहास लेखन के गुण व दोष
1.5.1 ईसाई इतिहास लेखन के दोष
1.5.2 ईसाई इतिहास लेखन के गुण
1.6 सारांश
1.7 पारिभाषिक शब्दावली
1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.9 संदर्भ ग्रंथ सूची
1.10 निबंधात्मक प्रश्न

1..1. प्रस्तावना

प्राचीनकालीन इतिहास लेखन (ग्रीको–रोमन, चीनी तथा भारतीय) की तुलना में मध्यकालीन इतिहास लेखन की प्रमुख विशेषता यह थी कि इसमें दैवीय विधान को महत्व दिया गया जिसमें कि व्यक्ति की भूमिका नाम मात्र की थी। मध्यकालीन, विशेषकर ईसाई इतिहास लेखन की परम्परा में धर्म को सर्वोपरि स्थान दिया गया और विधर्मियों पर ईसाइयत की विजय ने ईसाई इतिहास लेखन की परम्परा के लिए प्रेरित किया। ईसाई इतिहासकारों ने यहूदी धार्मिक ग्रंथों को मूल स्रोतों के रूप में स्वीकार किया। ईसाई धर्म के व्यापक प्रचार–प्रसार और रोमन साम्राज्य में सम्राट कॉन्सटैन्टाइन प्रथम के काल के पश्चात उसकी प्रतिष्ठा में अपार वृद्धि के परिणामस्वरूप ईसाई धर्म–विज्ञान एवं बाइबिल में निहित सिद्धान्तों को समाविष्ट करके एक विशिष्ट ईसाई इतिहास लेखन की परम्परा का विकास हुआ। मध्यकाल में ईसाई सन्यासियों एवं पुरोहित वर्ग की इतिहास–लेखन में अत्यधिक अभिरुचि थी। उन्होंने यीशू मसीह, चर्च और उसके संरक्षकों तथा स्थानीय शासकों के राजवंशीय इतिहास के विषय में प्रचुर मात्रा में लिखा। प्रारम्भिक मध्यकाल में ऐतिहासिक रचनाओं का स्वरूप आख्यानों अथवा इतिवृत्तों के रूप में होता था जिनमें कि साल दर साल की घटनाओं का सिलसिलेवार वर्णन होता था। केवल तिथिक्रमानुसार घटनाओं के वृतान्त की इस शैली के लेखन में विशिष्ट घटनाओं और उनके कारणों के विश्लेषण की सम्भावना नहीं रह पाती थी। मध्यकालीन ईसाई इतिहास लेखन वास्तव में हेलेनिस्टिक व रोमन इतिहास लेखन परम्परा की ही अगली कड़ी है। ईसाई इतिहाकारों ने जिस काल को अपने लेखन का विषय बनाया, उस काल के परिवेश, परिस्थिति एवं अवस्थिति का सामान्यतः उनके लेखन पर प्रभाव पड़ा है।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको मध्यकाल में ईसाई धर्मावलम्बियों द्वारा लिखित ऐतिहासिक ग्रंथों की विषय–वस्तु, इतिहास–लेखन के उनके उद्देश्य, ऐतिहासिक स्रोत एकत्र करने की उनकी तकनीक, उनके द्वारा प्रस्तुत जानकारी की प्रामाणिकता, उनके पूर्वाग्रह, इतिहास–लेखन के क्षेत्र में उनके योगदान आदि से अवगत कराना है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप अग्रांकित के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे–

1– ईसाई इतिहास लेखन की परम्परा
2–ईसाई इतिहास लेखन की विशेषताएं।
3– ईसाई इतिहास लेखन में यीशू मसीह और बाइबिल की महत्ता।
4– ईसाई इतिहास लेखन के गुण व दोष।
5– परवर्ती इतिहास–लेखन को ईसाई इतिहास–लेखन की देन।

1.3 ईसाई इतिहास लेखन की परम्परा
1.3.1 प्रारम्भिक ईसाई इतिहास लेखन

मध्यकालीन इतिहास लेखन परम्परा में पश्चिमी इतिहास लेखन का विशिष्ट स्थान है। पश्चिमी इतिहास लेखन का प्रमुख केन्द्र बिन्दु ईसाई इतिहास लेखन की परम्परा है। जहां ग्रीको–रोमन इतिहास लेखन परम्परा में बुद्धि एवं विवेक का स्थान था, वहीं ईसाई इतिहास लेखन परम्परा में धर्म को सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था। ईसाई इतिहासकारों ने विधर्मी इतिहास लेखन को शैतान की कृति कहकर उसकी भर्त्सना की थी किन्तु पूर्वकालीन इतिहास लेखन, विशेषकर ग्रीको–रोमन इतिहास लेखन व इतिहास–दर्शन ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उनके लेखन को प्रभावित किया था। ईसाई इतिहास लेखन में 'ओल्ड टैस्टामैन्ट' को ऐतिहासिक स्रोत के रूप में प्रमुख स्थान दिया गया। प्रारम्भिक काल में ईसाई मतानुयायी यीशू मसीह के शिष्यों और धर्म प्रचारकों द्वारा उनके उपदेशों एवं उनके कृत्यों के वृतान्त पर निर्भर करते थे परन्तु धीरे–धीरे जब यीशू मसीह के समकालीन काल के गाल में समाते चले गए तो इस श्रुत परम्परा का स्थान लिखित दस्तावेज़ों ने ले लिया। प्रथम तथा द्वितीय शताब्दी में लिखित 'गॉस्पल ऑफ़ मार्क', 'गॉस्पल ऑफ़ मैथ्यू', 'गॉस्पल ऑफ़ ल्यूक' तथा द्वितीय शताब्दी में लिखित 'गॉस्पल ऑफ़ जॉन' में यीशू मसीह के उपदेशों को ईश्वरीय वचन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'गॉस्पल ऑफ़ मार्क' (रचनाकाल 65–70 ईसवी) सम्भवतः प्रथम यहूदी–रोमन युद्ध के पश्चात लिखी गई थी। 'गॉस्पल ऑफ़ मैथ्यूज़ (रचनाकाल 80–85 ईसवी) का लक्ष्य यहूदियों के समक्ष यह बात रखने का था कि यीशू मसीह ही हमारा मुक्तिदाता मसीहा है और वह मोज़ेज़ से भी महान है। 'दि गॉस्पल ऑफ़ ल्यूक' (रचनाकाल 85–90 ईसवी) और 'ल्यूक एक्ट्स' को सभी गॉस्पल्स में साहित्यिक दृष्टि से सबसे उत्कृष्ट और कलात्मक माना जाता है। अन्त में 'गॉस्पल ऑफ़ जॉन' (रचनाकाल दूसरी शताब्दी) का उल्लेख आवश्यक है जिसमें यीशू मसीह को दिव्यवाणी का सन्देश वाहक बताया गया है। इसमें यीशू मसीह स्वयं अपने जीवन के विषय में और अपने दिव्य अभियान के विषय में विस्तार से बोलते हैं। इसमें लॅज़ैरस के पुनरुत्थान जैसे चमत्कारों का भी उल्लेख है। 'जॉन ऑफ़ गॉस्पल' में यह दर्शाया गया है कि यीशू मसीह और उनके उपदेशों में आस्था रखने वालों की ही मुक्ति सम्भव है।

जोसेफ़स

जोसेफ़स की रचनाओं में यहूदी शासन काल के मैकाबीस, होस्मैनियन राज्यवंश तथा हीरोद महान के उत्थान तथा प्रारम्भिक ईसाई काल की जानकारी उपलब्ध है।

टैसिटस

टैसिटस के इतिवृत्त को हम पहला ज्ञात धर्म–निरपेक्ष इतिवृत्त कह सकते हैं। टैसिटस ने नीरो द्वारा ईसाइयों के उत्पीड़न का सजीव चित्रण किया है।

सेक्सटस जूलियस एफ़्रीकैनस (180–250 ईसवी)

सेक्सटस जूलियस एफ़्रीकैनस की 5 खण्डों की पुस्तक 'क्रोनोग्राफ़िया' को हम तिथि–क्रमानुसार वृतान्त की पहली रचना कह सकते हैं। एफ़्रीकैनस का यह विश्वास है कि यीशू मसीह के 500 वर्ष बाद ही संसार का विनाश हो जाएगा। एफ़्रीकैनस ने मूल स्रोतों के स्थान पर मेनेथो, बिरोसस,

अपोलोडोरस, जोसेफ़स तथा जस्टस की रचनाओं को आधार बनाकर अपने ग्रंथ की रचना की है। इस दृष्टि से हम एफ़्रीकैनस की रचना को मौलिक रचना की श्रेणी में नहीं रख सकते।

यूज़िबियस (260–340 ईसवी) –

ग्रीको–रोमन परम्परा में बुद्धि व विवेक का सर्वोपरि स्थान था किन्तु ईसाई इतिहास लेखन की परम्परा में धर्म को सर्वोपरि स्थान दिया गया था। सिज़ेरिया के निवासी यूज़िबियस द्वारा सन् 324 के आसपास रचित प्रथम कलीसियायी इतिहास में लिखित स्रोतों का प्रचुर मात्रा में उपयोग किया गया। प्रथम शताब्दी से लेकर यूज़िबियस ने अपने समय तक ईसाई धर्म के विकास का तिथि–क्रमानुसार सिलसिलेवार इतिहास लिखा है। यूज़िबियस की रचनाओं में 'हिस्टोरिया एक्लेसियास्टिका', 'डिमॉन्सट्रेशन ऑफ़ दि गॉस्पल', 'प्रिपरेशन इवैन्जेलिका', 'डिस्क्रिपेन्सीज़ बिटवीन दि गॉस्पल्स' तथा 'स्टडीज़ ऑफ़ दि बाइबिकल टेक्स्ट' प्रमुख हैं। यूज़िबियस अपने ग्रंथों में प्लैटो तथा फ़िलो के ग्रंथों का उपयोग करता है। वह ओक ऑफ़ मार्नरे की धार्मिक परम्पराओं का उल्लेख करता है तथा ओल्ड व न्यू टैस्टामेनट की समीक्षा करता है। रोमन सम्राटों, विशेषकर कॉन्सटैन्टाइन प्रथम के शासन काल, यहूदियों और ईसाइयों के मध्य सम्बन्ध और ईसाई शहीदों के विषय में उसने विस्तार से लिखा है। यूज़िबियस सामाजिक एवं धार्मिक पहलुओं पर भी प्रकाश डालता है। ईसाई धर्म–विज्ञान में यह माना जाता है कि समय एक रेखा के रूप में ईश्वरीय योजना के अनुसार आगे बढ़ता है। चूंकि ईश्वरीय योजना में सभी समाहित होते हैं इसलिए ईसाई इतिहास लेखन का दृष्टिकोण सार्वभौमिक होता है। सिज़ेरिया के निवासी यूज़िबियस के चौथी शताब्दी में रचित चर्च सम्बन्धी इतिहास में प्रथम शताब्दी से लेकर उसके अपने समय तक ईसाई धर्म के विकास का तिथि–क्रमानुसार सिलसिलेवार इतिहास वर्णित है। यूज़िबियस के ग्रंथ 'कोनिक ग्रीक' भाषा में लिखे गए हैं और अब इनके लैटिन, सीरियिक तथा आर्मीनियन संस्करण भी उपलब्ध हैं। यूज़िबियस के ग्रंथों को हम ईसाई दृष्टिकोण से लिखे गए पहले सम्पूर्ण इतिहास–ग्रंथ कह सकते हैं। यूज़िबियस ने अपने ग्रंथों की रचना में अनेक धार्मिक दस्तावेज़ों, शहीदों के कृत्यों, पत्रों, पूर्व में लिखे गए ईसाई ग्रंथों के सार–संक्षेपों, बिशपों की सूचियों आदि का उपयोग किया है और उसने अपने ग्रंथों में ऐसे मूल स्रोत–ग्रंथों का उल्लेख कर उनके विस्तृत उद्धरण भी दिए हैं जो कि अब अन्यत्र उपलब्ध नहीं हैं। यूज़िबियस पर प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि वह जानबूझ कर तथ्यों को तोड़–मरोड़कर प्रस्तुत करता है और व्यक्तियों व तथ्यों मूल्यांकन के समय वह निष्पक्ष तथा तटस्थ नहीं रहता है।

सन्त एम्ब्रोज़ (340–497 ईसवी)

सन्त एम्ब्रोज़ ने सन्त अगस्ताइन के विचारों और उनके लेखन पर विशेष प्रभाव डाला था। उनकी रचनाओं में 'फ़ेथ टु ग्रैशियन ऑगस्टस', 'दि होली घोस्ट' तथा 'दि मिस्ट्रीज़' प्रमुख हैं।

1.3.2 सन्त अगस्ताइन (354–430 ईसवी)

मध्ययुगीन ईसाई इतिहास लेखन की परम्परा के प्रमुख प्रतिनिधि संत अगस्ताइन थे। उन्होंने ऐतिहासिक लेखन में दैवीय घटनाओं को प्रमुखता दी थी। सन्त अगस्ताइन इतिहासकार, धर्म–विज्ञानी, दार्शनिक, शिक्षक एवं कवि थे। 'सिटी ऑफ़ गॉड' उनकी प्रमुख रचना है। सन्त अगस्ताइन ने ईश्वर की आज्ञा का पालन मनुष्य का परम कर्तव्य माना है। उनके अनुसार ईश्वर की आज्ञा का पालन करने वाले देवता व मनुष्य देव नगर में निवास करते हैं जब कि उसके विरोधी पाप नगर में रहने के लिए अभिशप्त हैं। अपने इस विचार की पुष्टि के लिए सन्त अगस्ताइन रोम के उत्थान और पतन का दृष्टान्त देते हैं। उनके अनुसार रोम का उत्थान ईश्वरीय अनुकम्पा के कारण हुआ परन्तु कालान्तर में जब रोम–वासियों ने अपने जीवन और विचारों में पाप, अन्याय व अनैतिकता को स्थान दिया तो उन्हें ईश्वरीय कोप का भाजन होना पड़ा जिसके फलस्वरूप रोम का पतन हुआ। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ईश्वर को भुला देने वालों अथवा उसकी आज्ञा का पालन न करने वालों को ईश्वर द्वारा दण्डित किया जाता है। सन्त अगस्ताइन की दृष्टि में राज्य की उत्पत्ति में कुछ भी दैविक नहीं है। ये मानव–निर्मित संस्था है अतः इसमें दोषों का होना स्वाभाविक है। जब इसमें अच्छाइयों का आधिक्य होता है तो इसका उत्थान होता है और जब इसमें बुराइयां घर कर जाती हैं तो इसका पतन होता है। छोटे से छोटे राज्यों से लेकर बड़े से बड़े साम्राज्यों तथा सभी संस्कृतियों के उत्थान और पतन के साथ यही दैविक–नियम लागू होता है। ईश्वर कृत रचनाओं में सब कुछ निर्दोष एवं परिपूर्ण होता है जब कि मानव–निर्मित रचनाओं में मौलिकता का अभाव व अपूर्णता होती है। कोई भी शासन–व्यवस्था निर्दोष व परिपूर्ण नहीं नहीं हो सकती परन्तु चर्च की रचना ईश्वर ने की है इसलिए वह दोषरहित व परिपूर्ण हो सकता है। 'सिटी ऑफ़ गॉड' एक धार्मिक साम्राज्य है। मानव–निर्मित साम्राज्य की स्थापना बिना रक्तपात के नहीं हो सकती जब कि ''सिटी ऑफ़ गॉड' अपना आधिपत्य बिना रक्तपात के स्थापित करता है। मानव–निर्मित राज्यों को अपने क्षण–भंगुर कानूनों के अनुपालन के लिए सैन्य दल की आवश्यकता होती है जब कि ईश्वर निर्मित राज्य में शाश्वत दैविक नियमों के अनुपालन हेतु किसी वाह्य बल की आवश्यकता नहीं होती है।

सन्त अगस्ताइन का इतिहास लेखन मुख्य रूप से धर्मनिर्पेक्ष एवं धर्मतन्त्रात्मक शक्तियों के मध्य संघर्ष की गाथा है जिसमें कि उन्होंने धर्मतन्त्रात्मक पक्ष का समर्थन किया है। सन्त अगस्ताइन के अनुसार ईश्वरीय आदेश का पालन करने वाले को स्वर्गलोक में वास करने का अधिकार मिलता है जब कि उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन करने वाले को नर्क में रहने के लिए अभिशप्त होना पड़ता है। सन्त अगस्ताइन रोमन साम्राज्य के इतिहास का उल्लेख करते हुए यह बतलाते हैं कि उसका उत्थान प्रभु की कृपा के कारण हुआ किन्तु उसका पतन कालान्तर में पाप, अन्याय व अनैकिता के कारण अर्थात् ईश्वरीय आदेश की अवज्ञा के कारण हुआ। दृष्टान्त देते हुए सन्त अगस्ताइन के

इतिहास लेखन की सबसे बड़ी कमी यह है कि वह घटनाओं को तोड़–मरोड़कर उनका प्रस्तुतीकरण इस प्रकार करते हैं कि उनका अपना मन्तव्य सिद्ध हो जाए। इन कमियों के बावजूद उनके ग्रंथ 'सिटी ऑफ़ गॉड' को प्लैटो के ग्रंथ 'रिपब्लिक', सर टॉमस रो के ग्रंथ 'उटोपिया' तथा बैकन के ग्रंथ 'अटलान्टिस' के समकक्ष रखा जाता है।

1.3.3 सन्त अगस्ताइन के परवर्ती ईसाई इतिहासकार

पॉलस ओरोसियस (380–420 ईसवी)

सन्त अगस्ताइन के शिष्य और इतिहास लेखन में उनके अनुयायी पॉलस ओरोसियस की मान्यता है कि विभिन्न समुदायों के भाग्य ईश्वर द्वारा ही निर्धारित होता है। ओरोसियस की सर्वाधिक महत्वपूर्ण पुस्तक – 'सेवेन बुक्स ऑफ़ हिस्ट्री अगेन्स्ट दि पैगन्स' की रचना सन् 411–418 के मध्य हुई थी। इस ग्रंथ में मानव की सृष्टि से लेकर गॉलों द्वारा रोम के विनाश तक का इतिहास है। ओरोसियस के लेखन पर सन्त अगस्ताइन के अतिरिक्त हेरोडोटस लिवी तथा पोलीबियस की रचनाओं स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। ओरोसियस के ऐतिहासिक ग्रंथ में अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों तथा देशों का उल्लेख ही नहीं किया गया है। इस अपूर्णता के अतिरिक्त ओरोसियस के इतिहास ग्रंथ का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह जानबूझ कर यह प्रदर्शित करता है कि ईसाई धर्मावलम्बियों की तुलना में अन्य धर्मों के अनुयायियों को युद्ध, महामारी, अकाल, भू–कम्प, बाढ़, बिजली गिरना, तूफ़ान, आपराधिक घटनाओं आदि का अधिक सामना करना पडा है।

सन्त जेरोम (347–420 ईसवी)

सन्त जेरोम ने सन् 391 में पूर्व काल के 135 लेखकों के जीवन वृतान्त वाली पुस्तक 'दि विरिस इल्यस्ट्रिबस सिवे दि स्क्रिप्टोरिबस एक्लेसियास्टिक्स' की रचना की थी। उसकी अन्य रचनाओं में 'लाइफ़ ऑफ़ पॉल', 'दि फ़र्स्ट हेरमिट' तथा 'वल्गेट' प्रमुख हैं।

मार्क औरेलियस कैसीडोर (480–570 ईसवी)

इटली के निवासी मार्क औरेलियस कैसीडोर की रचनाओं 'वेराय', 'हिस्ट्री ऑफ़ गोथ' तथा 'हिस्टोरिया ट्रिपार्टिया' में ऑस्ट्रोगोथ काल के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन की झांकी मिलती है।

वेनरेबिल बेडे (672–735 ईसवी)

वेनरेबिल बेडे ने 'एक्लेसियास्टिकल हिस्ट्री ऑफ़ इंग्लिश पीपुल' में जूलियस सीज़र के काल से लेकर सन् 735 तक इंग्लैण्ड के धार्मिक एवं राजनीतिक इतिहास का वर्णन किया है।

1.4 ईसाई इतिहास लेखन की विशिष्टताएं

1.4.1 इतिहास में ईश्वरीय इच्छा की महत्ता

ईसाई इतिहास लेखन की परम्परा में घटनाएं उस रूप में नहीं देखी गईं, जिस रूप में वो घटित हुईं बल्कि उन घटनाओं को एक दैवीय आवरण पहना कर उन्हें ईश्वरीय इच्छा के रूप में प्रस्तुत

किया गया। ईसाई धर्मावलम्बी इतिहास चिन्तकों की दृष्टि में ब्रह्माण्ड में होने वाली हर घटना के पीछे ईश्वर की इच्छा होती है। इसमें घटना के अच्छे या उसके बुरे होने का कोई भी अन्तर नहीं पड़ता है। ऐतिहासिक घटनाओं पर नियन्त्रण रख पाने की शक्ति मनुष्य में नहीं है। मनुष्य तो भगवान के हाथ में एक खिलौने की तरह है परन्तु उनसे खेलते समय ईश्वर उनमें से किसी पर भी अपना विशेष अनुराग अथवा कोप प्रदर्शित नहीं करता है। ईसाई इतिहास की परम्परा में इतिहास को एक नाटक माना गया है। ईसाई धर्मावलम्बी इतिहास चिन्तक इतिहास की चक्रीय प्रकृति में विश्वास नहीं रखते हैं। उनका यह विश्वास है कि संसार में घटित सभी घटनाओं की दिशा ईश्वर द्वारा ही निर्धारित की जाती है। ईश्वर को सभी घटनाओं की परिणति का पहले से ही ज्ञान होता है। ईश्वर ऐतिहासिक शक्तियों का दिशा–निर्देशन करता है अतः ऐतिहासिक शक्तियां सार्वभौमिक हैं। ईसाई धर्मावलम्बी इतिहास चिन्तकों के अनुसार केवल उन राष्ट्रों का उत्थान होता है जो दैविक नियमों का पालन करते हैं और जो राष्ट्र उनका पालन नहीं करते उनका पतन अवश्यम्भावी होता है।

1.4.2 ऐतिहासिक बलों की दैविक प्रकृति

ईसाई इतिहास लेखन की परम्परा में प्रकृति का भौतिक विकास महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि इसमें इतिहास को मनुष्य और ईश्वर के बीच सम्बन्धों का एक प्रवाह माना गया है। ईसाई इतिहास लेखन की परम्परा में इतिहास को एक नाटक माना गया है। इस नाटक के प्रथम अंक में आदम का स्वर्ग से पतन, पाप का प्रारम्भ तथा ईश्वर से विच्छेद है। इस नाटक के दूसरे अंक में यीशू मसीह का जन्म, उनके उपदेश, उनका सूली पर चढ़या जाना तथा उनका पुनरुत्थान है। इसके तीसरे अंक में चर्च की स्थापना तथा ईसाई धर्म का प्रचार है। इस नाटक के चतुर्थ एवं अन्तिम भाग में यीशू मसीह का पुनरागमन व ईसाई राज्य की स्थापना का वर्णन है।

ईसाई इतिहास चिन्तक ऐतिहासिक बलों की दैविक प्रकृति में आस्था रखते हैं। जो बल मनुष्य की समझ से परे होते हैं उन्हें दैविक कहा जाता है और उनका संचालन पूरी तरह ईश्वर द्वारा ही किया जाता है। इन दैविक बलों का प्रयोग स्थानीय अथवा क्षेत्रीय स्तर पर नहीं अपितु सार्वभौमिक रूप से किया जाता है।

1.4.3 ईसाई इतिहास लेखन में तिथिक्रम तथा काल–विभाजन

ईसाई इतिहास चिन्तकों ने विविध तिथिपरक घटनाओं के लिए ईसा के जन्म का प्रतिमान प्रस्तुत किया। उन्होंने केवल ईसाई तिथिक्रम को ही अपने समस्त ऐतिहासिक वृतान्तों के लिए पर्याप्त एवं परिपूर्ण माना है। घटनाओं का काल–निर्धाण करने के लिए उनका मापदण्ड केवल 'यीशू मसीह के जन्म से पूर्व' और 'उनके जन्म के पश्चात' का ही है। उनके लिए सभी ऐतिहासिक घटनाओं और सार्वभौमिक इतिहास का केन्द्र बिन्दु यीशू मसीह ही होते हैं। ईसाई धर्म–विज्ञान में यह माना जाता है कि समय एक रेखा के रूप में ईश्वरीय योजना के अनुसार आगे बढ़ता है। चूंकि ईश्वरीय योजना में सभी समाहित होते हैं इसलिए ईसाई इतिहास लेखन का दृष्टिकोण सार्वभौमिक होता है।

ईसाई इतिहासकारों ने समय का मुख्य रूप से दो कालों में विभाजन किया है – एक अंधकार का युग और दूसरा प्रकाश का युग। यीशू मसीह से पहले का काल अन्धकार का युग और उनके जीवनकाल व उनके बाद का काल (दोनों को मिलाकर) प्रकाश का युग माना जाता है। अन्धकार व प्रकाश युगों को विभिन्न उप–कालों में विभाजित किया गया है और फिर उनका, उनकी विशिष्टताओं के अनुरूप वर्णन किया गया है।

1.4.4 ईसाई इतिहास लेखन के आधार–स्रोत के रूप में बाइबिल की महत्ता

ईसाई धर्म में बाइबिल की केन्द्र–बिन्दु के रूप में महत्ता, ईसाई इतिहाकारों के लेखन में भी प्रतिबिम्बित होती है। शास्त्रीय युग के इतिहासकारों के विपरीत ईसाई इतिहाकारों ने अपने लेखन में मौखिक स्रोतों की तुलना में लिखित स्रोतों को अधिक वरीयता प्रदान की। ईसाई इतिहासकारों ने धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण किन्तु राजनीतिक दृष्टि से महत्वहीन व्यक्तियों को अपने लेखन में स्थान दिया। ईसाई इतिहासकारों ने धर्म और समाज के विकास को अपने लेखन में सर्वाधिक महत्व दिया।

1.5 ईसाई इतिहास लेखन के गुण व दोष

1.5.1 ईसाई इतिहास लेखन के दोष

1. इतिहास को एक दैविक योजना के रूप में देखने की हठवादी प्रवृत्ति

ईसाई इतिहासकार इतिहास में मनुष्य की स्वतन्त्र भूमिका को सर्वथा नकारते हैं। उनकी दृष्टि में नियति को अपने पौरुष से बदलने का दुःसाहस करने वाला हर व्यक्ति असफल होता है और पतन व विनाश के मार्ग पर अग्रसर होता है।

2. आलोचनात्मक दृश्टिकोण का अभाव

ईसाई इतिहास लेखन में आलोचनात्मक दृष्टिकोण का नितान्त अभाव है। वास्तव में परम्परा और तथ्यों की वैधता, विश्वसनीयता एवं तर्कसंगतता का आकलन करने में उनकी कोई अभिरुचि नहीं है और न ही मूल स्रोत सामग्री का पर्याप्त उपयोग करने की उनमें क्षमता है। इन कारणों से उनकी रचनाओं में प्रामाणिकता का अभाव है।

3. इतिहास लेखन की आदर्श तकनीक की उपेक्षा

तथ्यों की प्रामाणिकता की जांच और अपने दृष्टिकोण को यथासम्भव तटस्थ बनाए रखने के स्थान पर ईसाई इतिहास लेखन में दुराग्रहता एवं पूर्व निश्चित अवधारणा का दोष दिखाई देता है। ईसाई इतिहास लेखन का मुख्य लक्ष्य चर्च की अन्य धार्मिक संस्थाओं की तुलना में निर्विवाद श्रेष्ठता तथा यीशू मसीह के उपदेशों की कालजयी उपयोगिता सि़द्ध करना है। ईसाई इतिहास लेखन अन्य धर्मावलम्बियों के अवश्यम्भावी पतन पर निरन्तर ज़ोर देता है।

4. सामाजिक एवं आर्थिक कारकों की उपेक्षा

ऐतिहासिक घटनाओं में सामाजिक एवं आर्थिक कारकों की नितान्त उपेक्षा ईसाई इतिहास लेखन

की एक बड़ी कमज़ोरी है। हर घटना के पीछे ईश्वरीय इच्छा का हाथ होने का विश्वास, उन्हें इतिहास निर्माण में सामाजिक एवं आर्थिक घटकों की महत्ता स्वीकार करने से रोकता है।

5. ऐतिहासिक स्रोतों के वर्गीकरण की दोषपूर्ण प्रणाली

ईसाई इतिहास लेखन की ऐतिहासिक स्रोतों के वर्गीकरण की प्रणाली दोषपूर्ण है क्योंकि इसमें नयी स्रोत सामग्री एकत्र करने का कोई प्रयास नहीं किया जाता है और पहले से उपलब्ध इतिवृत्त, सुव्यस्थित इतिहास एवं जीवनी को स्रोत सामग्री के रूप में प्रयुक्त करते समय उनमें किसी प्रकार कोई अन्तर नहीं किया जाता है।

1.5.2 ईसाई इतिहास लेखन के गुण

1. प्राचीन दस्तावेज़ों एवं अभिलेखों का संरक्षण

ईसाई इतिहासकारों ने प्राचीन दस्तावेज़ों एवं अभिलेखों का संरक्षण करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। परवर्ती काल के इतिहासकारों को मध्यकाल से सम्बन्धित अपने ऐतिहासिक ग्रंथों की रचना में इससे बहुत सहायता मिली। वास्तव में मध्यकालीन इतिहास को जानने के लिए ईसाई इतिहास लेखन का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

2. ऐतिहासिक क्रमबद्धता

ईसाई इतिहासकारों ने तिथि–क्रमानुसार घटनाओं का वर्णन करने की एक नयी परम्परा का विकास किया।

3. धार्मिक, राजनीतिक एवं सामाजिक इतिहास को महत्व

ईसाई इतिहासकारों ने धार्मिक, राजनीतिक एवं सामाजिक विकास पर उपयोगी सामग्री उपलब्ध कराने में सफलता प्राप्त की है।

4. इतिहास लेखन की मुस्लिम परम्परा पर ईसाई इतिहास लेखन का प्रभाव

इतिहास लेखन की मुस्लिम परम्परा पर ईसाई इतिहास लेखन का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। ईसाई अवधारणा के अनुरूप ही इतिहास लेखन की इस्लामी अवधारणा में भी गॉड अर्थात् अल्लाह को ही सृष्टि का नियंता माना गया है। मुस्लिम इतिहास लेखन में भी ईसाई इतिहास लेखन की भांति तिथि–क्रमानुसार घटनाओं का वर्णन किया गया है।

अभ्यास अभ्यास प्रश्न

निम्नांकित पर चर्चा कीजिए–

1. इतिहासकार यूज़िबियस की रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
2. ईसाई इतिहास लेखन में तिथिक्रम तथा काल–विभाजन पर प्रकाश डालिए।
3. सन्त अगस्ताइन के ग्रंथ 'सिटी ऑफ़ गॉड' की समीक्षा कीजिए।

1.6 सारांश

मध्यकाल में ईसाई सन्यासियों एवं पुरोहित वर्ग की इतिहास–लेखन में अत्यधिक अभिरुचि थी। उन्होंने यीशू मसीह, चर्च और उसके संरक्षकों तथा स्थानीय शासकों के राजवंशीय इतिहास के

विषय में प्रचुर मात्रा में लिखा। ईसाई इतिहास लेखन की परम्परा में धर्म को सर्वोपरि स्थान दिया गया। मध्यकालीन ईसाई इतिहास लेखन वास्तव में हेलेनिस्टिक व रोमन इतिहास लेखन परम्परा की ही अगली कड़ी है। प्रथम शताब्दी में लिखित 'गॉस्पल ऑफ़ मार्क', 'गॉस्पल ऑफ़ मैथ्यू', 'गॉस्पल ऑफ़ ल्यूक' तथा 'गॉस्पल ऑफ़ जॉन' में यीशू मसीह के उपदेशों को ईश्वरीय वचन के रूप में प्रस्तुत किया गया। जोसेफ़स, टैसिटस, एफ्रीकैनस ('क्रोनोग्राफ़िया' का लेखक) यूज़िबियस ('हिस्टोरिया एक्लेसियास्टिका' तथा स्टडीज़ ऑफ़ दि बाइबिकल टेक्स्ट' का लेखक) तथा सन्त एम्ब्रोज़ प्रारम्भिक ईसाई लेखन का प्रतिनिधित्व करते हैं। मध्ययुगीन ईसाई इतिहास लेखन की परम्परा के प्रमुख प्रतिनिधि संत अगस्ताइन हैं जिन्होंने कि ऐतिहासिक लेखन में दैवीय घटनाओं को प्रमुखता दी है। 'सिटी ऑफ़ गॉड' उनकी प्रमुख रचना है। सन्त अगस्ताइन के परवर्ती ईसाई इतिहासकारों में पॉलस ओरोसियस, सन्त जेरोम, मार्क औरेलियस कैसीडोर, तथा वेनरेबिल बेडे प्रमुख हैं। ईसाई इतिहास लेखन की विशिष्टताओं में इतिहास में ईश्वरीय इच्छा की महत्ता, ऐतिहासिक बलों की दैविक प्रकृति, इतिहास लेखन में तिथिक्रम तथा काल–विभाजन, इतिहास लेखन के आधार–स्रोत के रूप में बाइबिल की महत्ता सम्मिलित हैं। ईसाई इतिहास लेखन में इतिहास को एक दैविक योजना के रूप में देखने की हठवादी प्रवृत्ति, आलोचनात्मक दृष्टिकोण का अभाव, इतिहास लेखन की आदर्श तकनीक की उपेक्षा, सामाजिक एवं आर्थिक कारकों की उपेक्षा तथा ऐतिहासिक स्रोतों के वर्गीकरण की दोषपूर्ण प्रणाली प्रमुख दोष कहे जा सकते हैं।

1.7 पारिभाषिक शब्दावली

ग्रीको–रोमन इतिहास – संयुक्त रूप से यूनान तथा रोम का इतिहास
दैवी विधान – भगवान का कानून
हेलनिस्टिक – यूनानी
एक्लेसियास्टिका – चर्च सम्बन्धी
गॉस्पल – शुभ–सन्देश
पैगन – बहु–देवपूजक

1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. देखिए 1.3.1 प्रारम्भिक ईसाई इतिहास लेखन
2. देखिए 1.4.3 ईसाई इतिहास लेखन में तिथिक्रम तथा काल–विभाजन
3. देखिए 1.3.2 सन्त अगस्ताइन

1.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

टॉयनबी, ऑर्नाल्ड, जे. – ए स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री, 12 खण्ड, लन्दन, 1946
टॉयनबी, ऑर्नाड, जे. – क्रिश्चियैनिटी अमॉन्ग दि रिलीजन्स ऑफ़ दि वर्ड, न्यूयॉर्क, 1956
श्रीधरन, ई. – ए टैक्स्ट बुक ऑफ़ हिस्टोरियोग्राफ़ी, नई दिल्ली, 2013

1.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
कार, ई. एच. – व्हाट इज़ हिस्ट्री, लन्दन, 1962
कॉलिंगवुड, आर. जी. – दि आइडिया ऑफ़ हिस्ट्री, लन्दन, 1978
टॉम्सन, जे. डब्लू. – ए हिस्ट्री ऑफ़ हिस्टॉरिकल राइटिंग्स, न्यूयॉर्क, 1954

1.10 निबंधात्मक प्रश्न

ईसाई इतिहास लेखन के गुण–दोषों की विवेचना कीजिए।

इकाई 2 रॉके के विशेष संदर्भ में इतिहास दर्शन की निश्चयात्मक अभिगम

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 रॉके से पूर्व के मध्यकालीन इतिहासकारों की समीक्षा
2.3.1 नेबूर से पूर्व के इतिहास–लेखन के दोष
2.3.2 बार्टहोल्ड नेबूर (1776–1831)
2.4 इतिहासकार लियोपोल्ड वॉन रॉके
2.4.1 रॉके का प्रारम्भिक जीवन तथा उसकी रचनाएं
2.4.2 रॉके का इतिहास–दर्शन
2.4.3 रॉके के इतिहास ग्रंथों के गुण एवं दोष
2.4.3.1 प्राथमिक स्रोतों पर आधारित वस्तुनिष्ठ इतिहास
2.4.3.2 राजनीतिक इतिहास को महत्व
2.4.3.3 राजनीतिक अनुदारता
2.4.3.4 इतिहास में धर्म का स्थान
2.4.3.5 इतिहास में व्यक्तित्व की भूमिका
2.4.3.6 सार्वभौमिक इतिहास
2.4.3.7 रॉके की इतिहास विषयक अध्ययन–गोष्ठी
2.5 इतिहासकार के रूप में रॉके का आकलन
2.6 सारांश
2.7 पारिभाषिक शब्दावली
2.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.9 संदर्भ ग्रंथ सूची
2.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
2.11 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

मध्यकाल तक इतिहास को एक स्वतन्त्र विषय के रूप में मान्यता नहीं मिली थी। इतिहास को साहित्य अथवा दर्शन की एक शाखा ही माना जाता था। सत्रहवीं शताब्दी की वैज्ञानिक क्रान्ति ने इतिहास में आलोचनात्मक दृष्टिकोण का समावेश किया गया किन्तु अठारहवीं शताब्दी तक इतिहासकारों को यह समझ नहीं थी कि समय के साथ हर युग की विशिष्टताएं बदल जाती हैं। बार्टहोल्ड नेबूर (1776–1831) ने इतिहास को गौण विषय से एक स्वतन्त्र विषय के रूप में स्थापित करने में सफलता प्राप्त की थी। उसकी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ़ रोम' (1811–12) से आधुनिक ऐतिहासिक प्रणाली का जन्म माना जाता है। प्राचीन रोम के इतिहास के सन्दर्भ में बार्टहोल्ड नेबूर द्वारा ऐतिहासिक अन्वेषण की वैज्ञानिक प्रणाली का विस्तार कर लियोपोल्ड वॉन रॉके ने इतिहास दर्शन की निश्चयात्मक अभिगम का विकास किया। नेबूर के बाद रॉके को यह श्रेय दिया जाता है कि उसने इतिहास में व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक दृष्टि से आलोचनात्मक दृष्टिकोण को प्रचलित किया।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व के इतिहास लेखन की दुर्बलताओं से अवगत कराया जाएगा और यह बताया जाएगा कि किस प्रकार नेबूर तथा रॉके ने इतिहास–दर्शन के निश्चयात्मक अभिगम का विकास कर आधुनिक इतिहास लेखन को एक वैज्ञानिक आधार देकर उसे एक स्वतन्त्र विषय के रूप में स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। इस इकाई में इतिहास के क्षेत्र में रॉके के योगदान की विस्तार से चर्चा तथा समीक्षा की जाएगी। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप अग्रांकित के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे–

1– नेबूर तथा रॉके से पूर्व इतिहास लेखन में व्याप्त दोष।

2– रॉके के ऐतिहासिक ग्रंथों का विवेचनात्मक अध्ययन।

3– रॉके की इतिहास दर्शन की निश्चयात्मक अभिगम तथा उसका परवर्ती इतिहासकारों पर प्रभाव।

2.3 रॉके से पूर्व के मध्यकालीन इतिहासकारों की समीक्षा

2.3.1 नेबूर से पूर्व के इतिहास–लेखन के दोष

मध्यकाल तक इतिहास को एक स्वतन्त्र विषय के रूप में मान्यता नहीं मिली थी। इतिहास को साहित्य अथवा दर्शन की एक शाखा ही माना जाता था। सत्रहवीं की वैज्ञानिक
क्रान्ति ने इतिहास में आलोचनात्मक दृष्टिकोण का समावेश किया गया किन्तु इतिहास लेखन में अभी भी मुख्य रूप से तीन दोष विद्यमान थे

1. समय के अनुरूप परिवर्तन के प्रति अनभिज्ञता

अठारहवीं शताब्दी तक इतिहासकारों को यह समझ नहीं थी कि समय के साथ हर युग की विशिष्टताएं बदल जाती हैं। वोल्तेयर तथा गिबन के मध्यकालीन इतिहास विषयक आकलन में इस समझ की कमी स्पष्ट दिखाई देती है।

2. प्राथमिक स्रोतों की अनुपलब्धता तथा मान्य प्रणालीगत सिद्धान्तों की अनुपस्थिति

ज्ञानोदय काल के ऐतिहासिक ग्रंथ कम विद्वत्तापूर्ण किन्तु अधिक व्याख्यात्मक थे। अनेक इतिहासकारों को को विस्तृत वर्णन देना पसन्द नहीं था जिस कारण उनके लेखन में असावधानी और तथ्यात्मक त्रुटियां आ जाती थीं। आमतौर पर प्राथमिक स्रोत, शासकों, ड्यूकों और चर्च के आधीन होते थे इस कारण इतिहासकार इतिहास लेखन के लिए प्रायः उपलब्ध सहायक ग्रंथों से ही प्राप्त सामग्री पर निर्भर करते थे। प्राथमिक स्रोतों की उपलब्धता की स्थिति में भी इतिहासकार मान्य प्रणालीगत सिद्धान्तों की अनुपस्थिति के कारण उनका समुचित उपयोग करने में असमर्थ होते थे।

3. इतिहास के अध्ययन में संगठन एवं वर्गीकरण की कमी

इतिहास को एक बौद्धिक विषय के रूप में कहीं भी स्वीकृत नहीं किया जाता था। सामान्यतः राजसत्ता के अपनी पसन्द के विद्वानों को ही इतिहास लेखन का दायित्व सौंपा जाता था। प्रमुख शैक्षिक संस्थाओं में इतिहास को एक स्वतन्त्र विषय के रूप में मान्यता नहीं मिली थी।

2.3.2 बार्टहोल्ड नेबूर (1776–1831)

नेबूर ने इतिहास को गौण विषय से एक स्वतन्त्र विषय के रूप में स्थापित करने में सफलता प्राप्त की थी। उसकी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ़ रोम' (1811–12) से आधुनिक ऐतिहासिक प्रणाली का जन्म माना जाता है। बीस भाषाओं तथा भाषा–शास्त्र के जानकार नेबूर ने प्राचीन रोम की राजनीतिक, विधि–सम्मत और आर्थिक संस्थाओं से सम्बद्ध प्राथमिक स्रोतों का गहन अध्ययन किया और फिर उनका आलोचनात्मक परीक्षण करने के बाद ही उसने'हिस्ट्री ऑफ़ रोम' की रचना की। नेबूर इतिहासकार से यह अपेक्षा करता है कि वह ईश्वर के समक्ष सर उठाकर यह कह सके कि – 'उसने न तो जानबूझकर असत्य का आश्रय लिया है और न ही तथ्यों की गहन खोज किए बिना उन्हें प्रस्तुत किया है।' ग्रोटे, वेट्ज़, डिल्थी तथा मोमसेन ने नेबूर को सभी परवर्ती इतिहासकारों का मार्गदर्शक माना है। रॉके अपने दृष्टिकोण एवं लेखन–प्रणाली पर नेबूर के ग्रंथ 'रोमन हिस्ट्री' में प्रयुक्त प्रणाली का ऋण स्वीकार करता है।

2.4 इतिहासकार लियोपोल्ड वॉन रॉक
2.4.1 रॉके का प्रारम्भिक जीवन तथा उसकी रचनाएं

इतिहास में आधुनिक शास्त्रीय अध्ययन और इतिहास लेखन की प्रणाली में पथप्रदर्शक की भूमिका 19 वीं शताब्दी के जर्मन विश्वविद्यालयों, विशेषकर, गॉन्टिनजेन विश्वविद्यालय ने निभाई थी। महानतम जर्मन इतिहासकार, वस्तुनिष्ठ इतिहास लेखन के जनक, मूल्यों से मुक्त वस्तुनिष्ठता के मसीहा तथा आलोचनात्मक इतिहास–विज्ञान के संस्थापक – लियोपोल्ड वॉन रॉके ने इस क्षेत्र में सबसे उल्लेखनीय योगदान दिया है। यूनीवर्सिटी ऑफ लीपज़िग में रॉके ने धर्म–शास्त्र एवं शास्त्रीय दर्शन की शिक्षा प्राप्त की थी। जिमनेशियम ऑफ़ फ्रैंकफ़र्ट में सात वर्ष अध्यापन कार्य करने के दौरान अचानक ही रॉके की अभिरुचि दर्शन के स्थान पर इतिहास में हो गई। प्राचीन रोम के इतिहास के सन्दर्भ में बार्टहोल्ड नेबूर द्वारा ऐतिहासिक अन्वेषण की वैज्ञानिक प्रणाली का विस्तार कर रॉके ने इतिहास दर्शन की निश्चयात्मक अभिगम का विकास किया।

बावेरिया के शासक मैक्समिलियन द्वितीय ने रॉके से प्रभावित होकर ने बावेरियन एकेडमी ऑफ़ साइंस के अन्तर्गत 1858 में हिस्टोरिकल कमीशन की स्थापना की और रॉके को उसका अध्यक्ष नियुक्त किया। अपने ग्रंथ 'दि हिस्ट्री ऑफ़ दि लैटिन एण्ड ट्यूटोनिक पीपुल्स फ्रॉम 1494 टु 1514' से ही रॉके ने अपने समकालीन इतिहासकारों की तुलना में विविध ऐतिहासिक स्रोतों का अत्यधिक विस्तृत अध्ययन किया। इनमें संस्मरण, दैनन्दिनी, व्यक्तिगत एवं औपचारिक पत्र,सरकारी दस्तावेज़, कूटनीतिक विज्ञप्ति और प्रत्यक्षदर्शियों का आँखो–देखा वृतान्त सम्मिलित थे। रॉके को इस बात का श्रेय दिया जाता है कि उसी के कारण परवर्ती काल की शैक्षिक संस्थाओं में सुव्यवस्थित अभिलेखीय शोध और स्रोत–समीक्षा के सिद्धान्तों को अपनाया जाना एक आम बात हो गई।

रॉके इतिहास की महत्ता और उपयोगिता को स्वीकार करता है। 'हिस्ट्री ऑफ़ दि लैटिन एण्ड जर्मेनिक नेशन्स' में वह कहता है –

' आप यह समझते हैं कि इतिहास को भूतकाल का आकलन करने का तथा भविष्य के कल्याण हेतु वर्तमान को निर्दिष्ट करने का दायित्व दिया गया है। परन्तु मेरा ग्रंथ ऐसी कोई आशा नहीं रखता है। यह तो केवल यह प्रस्तुत करने की कोशिश करना चाहता है कि वास्तव में क्या घटित हुआ।'

रॉके के पूर्ववर्ती इतिहासकार अपने ग्रंथों की रचना करते समय बिना अभिलेखीय शोध किए हुए पूर्व–रचित ग्रंथों की हू–ब–हू नकल कर लेते थे और स्रोत–विश्लेषण का आलोचनात्मक परीक्षण भी नहीं करते थे। रॉके किस प्रकार किसी चयनित विषय पर शोध करता था? अपनी पहली ही रचना से लेकर अपनी अन्तिम रचना तक रॉके ने अभिलेखीय शोध हेतु अथक परिश्रम किया था। अपने जीवन में उसने 50,000 दस्तावेज़ों को एकत्र किया था। अपने शोध में उसने गौण स्रोतों को भी महत्व दिया था। उसके निजी पुस्तकालय में 24,000 ग्रंथ थे।

1831 में उसने 'कॉन्सिपिरेसी ऑफ़ वेनिस–1618' की रचना की। इस पुस्तक में रॉके ने यूरोपीय इतिहास के एक विशिष्ट क्षण (एक खास घटना) का, तथा उससे सम्बन्धित मूल स्रोतों का विश्लेषण किया है। रॉके ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिदृष्य को इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान दिलाने में सफलता प्राप्त की। उसका कहना था – 'इतिहास में विशेष तथ्य का उल्लेख होता है किन्तु उसे व्यापक सन्दर्भ ही देखा जाना चाहिए।'

1832–36 में वह 'हिस्टोरिको.पोलिटिकल रिव्यू' का सम्पादक रहा। 1834 से 1836 के मध्य उसने बहु–खण्डी 'हिस्ट्री ऑफ़ दि पोप्स, देयर चर्च एण्ड देयर स्टेट इन दि सिक्सटीन्थ एण्ड सेवेन्टीन्थ सेन्चुरीज़' की रचना की। प्रोटैस्टेन्ट मत के अनुयायी होने के कारण उसे वैटिकन अभिलेखगार जाकर मूल स्रोतों का अध्ध्यन करने की अनुमति प्राप्त नहीं हुई किन्तु उसने इस हेतु रोम तथा वेनिस में उपलब्ध सभी निजी पत्रों का विस्तृत अध्ध्यन कर इस वृहद ग्रंथ की रचना की थी। रॉके ने पोप के पद को यूरोपीय सभ्यता को एकीकृत करने का श्रेय दिया है। इस पुस्तक का सार प्रति–धर्मसुधार आन्दोलन था जिसका कि रॉके पहला आधिकारिक व्याख्याकार था। जी0 पी0 गूच ने इस ग्रंथ में रोमन कैथोलिकों एवं प्रोटेस्टैन्टों के प्रति पूर्णरूपेण तटस्थ भाव रखने के लिए रॉके की भूरि–भूरि प्रशंसा की है।

रॉके ने 1839 से 1843 के मध्य 'जर्मन हिस्ट्री ऐट दि टाइम ऑफ़ दि रिफ़ॉर्मेशन' की रचना की। इस पुस्तक का विषय प्रोटेस्टैन्ट मत की उत्पत्ति है किन्तु गूच के अनुसार इसमें रॉके ने मार्टिन लूथर की उपलब्धियों को बढ़ा–चढ़ा कर दिखाया है।

1847–48 में रॉके ने 'नाइन बुक्स ऑफ़ प्रशियन हिस्ट्री' की रचना की जिसमें कि उसने एक महा–शक्ति के रूप में प्रशा के उत्थान पर प्रकाश डाला है। रॉके हिंसक क्रान्ति का पोषक नहीं था क्योंकि वह ईश्वर प्रदत्त विधान में विश्वास रखता था। 1836 में लिखे गए अपने लेख – 'डॉयलॉग ऑन पोलिटिक्स' में उसने यह कहा है कि ईश्वर द्वारा हर देश को एक खास नैतिक चरित्र प्रदान किया गया है। उसने इन देशों के निवासियों से यह अपेक्षा की कि वो अपने–अपने राष्ट्र के विशिष्ट नैतिक चरित्र को उत्कृष्टता तक पहुंचाने के लिए हर सम्भव प्रयास करें। रॉके तथ्यों की प्रस्तुति में भले ही तटस्थता का दावा करता हो किन्तु उसके इतिहास लेखन में उसकी अपनी पसन्द और नापसन्द की झलक मिल जाती है। ई0 एच0 कार 'व्हाट इज हिस्ट्री' में कहता है – 'तथ्य वही बोलते हैं जो इतिहासकार उनसे बुलवाता है।'

1859 में रॉके ने इतिहास सम्बन्धित पत्रिका 'हिस्टोरिक पोलिट्ज़े ज़ीट्शरिफ़्ट' का प्रकाशन किया जिसका कि उद्देश्य इतिहास लेखन को वैज्ञानिक आधार प्रदान करना और ऐतिहासिक शोध की एक निश्चित एवं यथार्थवादी प्रणाली का प्रतिनिधित्व करना था। अपनी इस पत्रिका में रॉके ने उदारतावाद पर प्रहार किए।

रॉके ने यूरोप की सभी महा–शक्तियों का पृथक–पृथक इतिहास लिखा। इन इतिहास– ग्रंथों में 'दि ओटोमन एण्ड दि स्पैनिश एम्पायर्स इन दि सिक्सटींथ एण्ड सेविन्टींथ सेन्चुरीज़', 'हिस्ट्री ऑफ़ फ्रांस (1852–61)', 'हिस्ट्री ऑफ़ इंग्लैण्ड (1859–68)' तथा 'दि जर्मन पॉवर्स एण्ड दि प्रिन्सेज़ लीग (1871)' प्रमुख हैं। रॉके ने अपने ग्रंथ 'हिस्ट्री ऑफ़ फ्रांस' में स्वयं जर्मन होते हुए भी फ़्रान्सीसियों के प्रति किसी भी प्रकार की दुर्भावना नहीं रखी है। इस पुस्तक में उसने एकछत्र

राजतन्त्र के अन्तर्गत हेनरी चतुर्थ के चरित्र और उसकी नीतियों, सली के आर्थिक सुधारों, रिशलू की महानता व निष्ठुरता, मैज़ेरिन का मिथ्याभिमान और उसका लालच तथा लुई चौदहवें के शासन की विस्तार से चर्चा की गई है। रॉके ने लुई चौइहवें की विदेश नीति की भर्त्सना की है किन्तु कला, साहित्य और विज्ञान के विकास में उसके योगदान की सराहना की है। अपने जीवन के अन्तिम चरण में रॉके ने सार्वभौमिक इतिहास 'यूनीवर्सल हिस्ट्रीः दि ओल्डेस्ट हिस्टोरिकल ग्रुप ऑफ़ नेशन्स एण्ड दि ग्रीक' की रचना की। रॉके की एक अन्य महत्वपूर्ण रचना के अंग्रेज़ी अनुवाद का शीर्षक – 'दि सीक्रेट ऑफ़ वर्ड हिस्ट्रीः सेलेक्टेड राइटिंग्स ऑन दि आर्ट एण्ड साइंस ऑफ़ हिस्ट्री' है।

2.4.2 रॉके का इतिहास–दर्शन

यूनानी इतिहासकार थ्यूसीडाइडीस (456–396 ईसा पूर्व) घटनाओं की तह तक जाकर तथ्यों को एकत्र करता था और वह तथ्यों को इतिहास की रीढ़ की हड्डी मानता था। यूनानी इतिहासकार पोलिबियस ने सत्य को इतिहास की आँख माना था, वह कहता था कि यदि इतिहास में से सत्य निकाल लिया जाए तो वह अंधा हो जाएगा। चीनी इतिहास लेखन में भी तथ्यों की यथार्थता पर विशेष बल दिया गया है। उन्नीसवीं शताब्दी में इतिहास लेखन के लिए प्रामाणिक तथ्यों की आवश्यकता पर ग्रैण्ड ग्राउण्ड ने लिखा था – 'मुझे तथ्य चाहिए और जीवन में हमको केवल तथ्यों की आवश्यकता है।'

रॉके ने स्रोतों की विश्वसनीयता अर्थात् उनकी निश्चयात्मकता नितान्त आवश्यक माना है। उसकी दृष्टि में अनुमान का इतिहास लेखन में कोई स्थान नहीं है और अनुमान व निष्कर्ष का अधिकार केवल पाठक का है। उसका मानना है कि इतिहासकारों को सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने की प्रवृत्ति से बचकर रहना चाहिए। रॉके इतिहास और दर्शन शास्त्र की घनिष्टता के भी विरुद्ध है। रॉके तथ्यों को बुद्धि की कसौटी पर परख कर ही उनको इतिहास लेखन के लिए उपयुक्त मानता है। रॉके की दृष्टि में इतिहासकार का यह धर्म है कि वह तथ्यों को उसी रूप में प्रस्तुत करे जैसे कि वो वास्तव में थे। इतिहास दर्शन की निश्चयात्मक अभिगम का जनक रॉके प्राथमिक स्रोतों की प्रामाणिकता के बिना उन्हें स्वीकार नहीं करता है। विवेचनात्मक ऐतिहासिक विज्ञान का पथप्रदर्शक रॉके कहता है – 'मैं उस समय की आहट सुन रहा हूँ जब हम आधुनिक इतिहास को विवरणों (भले वो समकालीन भी क्यों न हों) पर आधारित करने के स्थान पर प्रत्यक्ष–दर्शियों के बयानों और प्रामाणिक व मौलिक दस्तावेज़ों के आधार पर लिखेंगे।'

इतिहास के तकनीकी दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्येक काल अपने परवर्ती काल की तुलना में पिछड़ा हुआ होता है। सत्रहवीं शताब्दी में इतिहासकारों का यह विश्वास था कि यह पाश्चात्य सभ्यता की नियति थी कि वह कपोल–कल्पनाओं का विनाश करे, सांस्कृतिक स्मरणों को मिटा दे और इतिहास को अप्रसांगिक बना दे। परन्तु रॉके इसे स्वीकार नहीं करता है। रॉके का यह मत है कि –'हम सावधानी व साहस के साथ विशिष्ट से सामान्य की ओर बढ़ सकते हैं किन्तु ऐसा कोई मार्ग नहीं है जिससे कि हम सामान्य से विशिष्ट की ओर बढ़ सकें।' बावेरिया के भावी शासक

मैक्समिलियन द्वितीय के समक्ष अपनी भाषण श्रृंखला में रॉके ने कहा था – 'प्रत्येक युग ईश्वर के निकट है।' इस कथन से उसका तात्पर्य यह था कि इतिहास का प्रत्येक युग विशिष्ट है और उसको उसी के परिप्रेक्ष्य में समझना चाहिए और केवल उन सामान्य विचारों की खोज का प्रयास करना चाहिए जिन्होंने कि उस काल को जीवन्त बनाया था। रॉके ने किसी भी राजनीतिक व्यवस्था को उसी के ऐतिहासिक सन्दर्भ के अन्तर्गत ही समझने का प्रयास किया। ऐतिहासिक तथ्यों (जैसे संस्था, विचार आदि) की प्रकृति को समझने के लिए उनके ऐतिहासिक विकास और कालान्तर में उनमें आए हुए परिवर्तनों को समझना आवश्यक था। रॉके का यह मानना है कि ऐतिहासिक युगों को पूर्व–निर्धारित आधुनिक मूल्यों एवं आदर्शों की कसौटी पर नहीं परखा जाना चाहिए बल्कि आनुभविक साक्ष्यों पर आधारित इतिहास (जैसा कि वास्तव में हुआ था) के परिप्रेक्ष्य में उनका आकलन किया जाना चाहिए।

नीरस और उबाऊ इतिहास लेखन के लिए आलोचना का पात्र होने के बावजूद रॉके ने पवित्र रोमन साम्राज्य के उदाहरण के अनुरूप एक संगठित यूरोप की कल्पना की थी। उसके सभी ग्रंथों में यह कल्पना प्रतिबिम्बित होती है। अपने समकालीन इतिहासकारों की तुलना में रॉके का ऐतिहासिक दृष्टिकोण बहुत हटकर है। वह न तो रोमानी आन्दोलन का अनुकरण करता है, न दैवकृत इतिहास की रचना करता है और न ही सामाजिक डार्विनवाद से सहमत होता है। वह वह बुद्धिवाद व यथार्थवाद की महाद्वीपीय परम्परा का अनुगमन करता है। इतिहासकार के रूप में रॉके ने पूर्व–स्थापित सिद्धान्तों और धारणाओं को नकार कर मूल स्रोतों के श्रम–साध्य उपयोग द्वारा तथ्यों का बिना लिपा–पुता मौलिक स्वरूप प्रस्तुत करता है।

रॉके हीगेल द्वारा प्रतिपादित इतिहास दर्शन की कटु आलोचना करता है। उसका कहना है कि हीगेल ने इतिहास में मानव–क्रिया की भूमिका की उपेक्षा की है। जब कि मानव–क्रिया की उपेक्षा कर केवल विचार और अवधारणा के आधार पर हम प्रामाणिक इतिहास की रचना नहीं कर सकते।

2.4.3 रॉके के इतिहास ग्रंथों के गुण एवं दोष

2.4.3.1 प्राथमिक स्रोतों पर आधारित वस्तुनिष्ठ इतिहास

नेबूर और रॉके का यह विश्वास था कि उन्होंने वैज्ञानिक एवं वस्तुनिष्ठ इतिहास की रचना की है। उनका मत है कि इतिहासकार का यह दायित्व है कि वह प्राथमिक स्रोतों के आधार पर ऐतिहासिक तथ्यों की सत्यता का परीक्षण कर उन्हें ज्यों का त्यों प्रस्तुत करे। तथ्यों का वस्तुनिष्ठ पुनर्सर्जन रॉके मत के इतिहास लेखन की विशिष्टता है और इसमें इतिहासकार से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने काल के मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में भूतकाल की घटनाओं का आकलन नहीं करे।

2.4.3.2 राजनीतिक इतिहास को महत्व

चूंकि रॉके राजनीतिक शक्ति को इतिहास का प्रमुख प्रतिनिधि मानता है, इसलिए उसने अपने इतिहास ग्रंथों में सामाजिक एवं आर्थिक बलों की उपेक्षा कर राजाओं और अन्य राजनीतिक नेताओं के कार्यों को, अर्थात् राजनीतिक इतिहास को सर्वाधिक महत्व दिया है। रॉके पर बीसवीं

शताब्दी के इतिहासकारों द्वारा यह आरोप लगाया जाता है कि उसने राजनीतिक इतिहास, विशेषकर महा–शक्तियों के राजनीतिक इतिहास को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया है परन्तु अपने लेखन में उसने सांस्कृतिक इतिहास को भी महत्व दिया है। 'हिस्ट्री ऑफ़ इंग्लैण्ड' में उसने महारानी एलिज़ाबेथ प्रथम के शासन काल के साहित्य पर एक सम्पूर्ण अध्याय लिखा है।

2.4.3.3 राजनीतिक अनुदारता

अपने ग्रंथ – 'दि ओरिजिन्स ऑफ़ दि वार ऑफ़ दि रिवोल्यूशन' में रॉके ने फ्रांसीसी क्रान्ति की भर्त्सना की है और उसको प्रशा के सन्दर्भ में उपयुक्त नहीं माना है। प्रशा के लिए वह सुदृढ़ राजतन्त्र को ही उपयुक्त मानता था और प्रशा की प्रजा से वह यह अपेक्षा करता था कि वह प्रशियन राज्य के प्रति स्वामिभक्त रहे। रॉके की यह मान्यता है कि शासन के सार्वभौमिक सिद्धान्त निरर्थक ही नहीं अपितु खतरनाक भी हैं। प्रशा के सन्दर्भ में वह सक्षम तथा ईमानदार निरंकुश राजतन्त्र का पक्षधर है।

2.4.3.4 इतिहास में धर्म का स्थान

रॉके इतिहास को धर्म मानता है अथवा धर्म और इतिहास के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध देखता है। वह इतिहास को ईश्वरीय लीला के रूप में देखता है।

2.4.3.5 इतिहास में व्यक्तित्व की भूमिका

रॉके इतिहास में महान विभूतियों की भूमिका को महत्वपूर्ण एवं निर्णायक मानता है।

2.4.3.6 सार्वभौमिक इतिहास

रॉके इतिहास लेखन में व्यष्टि से समष्टि की ओर बढ़ता है। वह विभिन्न देशों के इतिहास की विशिष्टताओं को सार्वभौमिक इतिहास की आवश्यक कड़ियां मानकर सार्वभौमिक इतिहास की ओर बढ़ता है।

2.4.3.7 रॉके की इतिहास विषयक अध्ययन–गोष्ठी

रॉके की अध्ययन गोष्ठी की तकनीक ने इतिहास के उन्नत विद्यार्थियों को ऐतिहासिक स्रोतों के आलोचनात्मक अध्ययन की प्रणाली में एक क्रान्ति का सूत्रपात किया।

2.5 इतिहासकार के रूप में रॉके का आकलन

अधिकांश आधुनिक इतिहासकारों पर रॉके की तकनीक का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। रॉके तथा उसके अनुयायियों – थियोडोर मॉमसे, जॉन गुस्टाव ड्रॉयसेय, फ्रेडरिक विल्हेम शिरमाकर और हेनरिक वॉन ट्रीट्स्के ने समीक्षा एवं ऐतिहासिक प्रणाली के नियम स्थापित किए। जर्मन विचारधारा ने इतिहास लेखन को एक व्यवसाय के रूप में प्रतिष्ठित किया और उसने इतिहास के औपचारिक शास्त्रीय अध्ययन की स्थापना की। कैरोलिन होफ़री ने रॉके को इसका श्रेय दिया है कि उसने 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में यूरोप और अमेरिका में इतिहास को एक स्वतन्त्र एवं प्रतिष्ठित विषय के रूप में मान्यता दिलाई। उसने अपनी कक्षाओं में अध्ययन गोष्ठी की प्रणाली प्रारम्भ की और अभिलेखीय शोध एवं ऐतिहासिक दस्तावेज़ों के विश्लेषण पर अपनी दृष्टि केन्द्रित की। इतिहास लेखन में पूर्ण तटस्थता का अनुचित दावा करने के बावजूद रॉके आधुनिक युग के महानतम इतिहासकारों में प्रतिष्ठित होने का अधिकारी है। जी0 पी0 गूच के अनुसार समकालीन प्रामाणिक स्रोतों को ऐतिहासिक पुनर्सर्जन के लिए सर्वथा आवश्यक सिद्ध करना, इतिहास लेखन के क्षेत्र में रॉके की सबसे बड़ी उपलब्धि थी। रॉके प्रथम इतिहाकार था जिसने ऐतिहासिक नायकों के निजी पत्रों को ऐतिहासिक दस्तावेज़ के रूप में प्रयुक्त किया। रॉके ने इतिहास में वैयक्तिकता और विकास दोनों पर ही महत्व दिया। हर ऐतिहासिक तथ्य, काल और घटना की अपनी वैयक्तिकता होती है और यह इतिहासकारों का काम है कि वह इनके सार को स्थापित करे। इस गुरुतर कार्य के लिए इतिहासकारों को उस विशिष्ट युग में स्वयं को उतारना होगा और उसी समय के मूल्यों के अनुरूप उसका आकलन करना होगा। रॉके शब्दों में – 'इसके लिए इतिहासकारों को अपने निजी व्यक्तित्व की आहुति देनी होगी।' रॉके इतिहास के विज्ञान का सूत्रधार है। रॉके ने किसी समकालीन ग्रंथ का परीक्षण करते समय उसके लेखक के पद, उसके द्वारा अपने ग्रंथ की रचना हेतु स्रोत सामग्री एकत्र करने की उसकी सामर्थ्य, उसकी मानसिकता तथा उसकी निष्ठा का भी आलोचनात्मक परीक्षण किया और साथ ही साथ उसके द्वारा उपलब्ध जानकारी का अन्य समकालीन ग्रंथों में उपलब्ध जानकारी के साथ तुलनात्मक अध्ययन भी किया। रॉके ने स्वयं ईसाई होते हुए भी अन्य धर्मावलम्बियों की उपलब्धियों की कभी भी उपेक्षा नहीं की। उसका कहना था – 'मैं पहले इतिहासकार हूँ और बाद में ईसाई हूँ।' रॉके को इसका श्रेय जाता है कि उसने इतिहास लेखन में आत्मपरकता के स्थान पर वस्तुनिष्ठता को महत्व दिया। उसके लेखन में जातीय अथवा धार्मिक पूर्वाग्रहों का कोई स्थान नहीं है। पूर्ण तटस्थता अपनाते हुए और पूर्वाग्रहों को नकारते हुए उसने तथ्यों को ज्यों का त्यों प्रस्तुत करने की एक ईमानदार कोशिश की है।

अभ्यास प्रश्न

निम्नांकित पर चर्चा कीजिए–

1. नेबूर तथा रॉके से पूर्व इतिहास लेखन में मुख्य कमियां।

2. रॉके के महत्वपूर्ण इतिहास–ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय।
3. रॉके के इतिहास ग्रंथों के प्रमुख दोष

2.6 सारांश

मध्यकाल तक इतिहास को साहित्य अथवा दर्शन की एक शाखा ही माना जाता था। बार्टहोल्ड नेबूर ने इतिहास को गौण विषय से एक स्वतन्त्र विषय के रूप में स्थापित करने में सफलता प्राप्त की थी। नेबूर के बाद रॉके को यह श्रेय दिया जाता है कि उसने इतिहास में व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक दृष्टि से आलोचनात्मक दृष्टिकोण को प्रचलित किया। लियोपोल्ड वॉन रॉके ने अपने समकालीन इतिहासकारों की तुलना में विविध ऐतिहासिक स्रोतों का अत्यधिक विस्तृत अध्ययन किया। इनमें संस्मरण, दैनन्दिनी, व्यक्तिगत एवं औपचारिक पत्र, सरकारी दस्तावेज़, कूटनीतिक विज्ञप्ति और प्रत्यक्षदर्शियों का आँखो–देखा वृतान्त सम्मिलित थे। रॉके की रचनाओं में 'कॉन्सिपिरेसी ऑफ़ वेनिस–1618', 'हिस्ट्री ऑफ़ दि पोप्स, देयर चर्च एण्ड देयर स्टेट इन दि सिक्सटीन्थ एण्ड सेवेन्टीन्थ सेन्चुरीज़','जर्मन हिस्ट्री ऐट दि टाइम ऑफ़ दि रिफ़ॉर्मेशन','दि ओटोमन एण्ड दि स्पैनिश एम्पायर्स इन दि सिक्सटींथ एण्ड सेविन्टींथ सेन्चुरीज़', 'हिस्ट्री ऑफ़ फ्रांस', 'हिस्ट्री ऑफ़ इंग्लैण्ड तथा 'दि जर्मन पॉवर्स एण्ड दि प्रिन्सेज़ लीग' तथा 'यूनीवर्सल हिस्ट्रीः दि ओल्डेस्ट हिस्टोरिकल ग्रुप ऑफ़ नेशन्स एण्ड दि ग्रीक' प्रमुख हैं।

रॉके ने स्रोतों की विश्वसनीयता अर्थात् उनकी निश्चयात्मकता नितान्त आवश्यक माना है। उसकी दृष्टि में अनुमान का इतिहास लेखन में कोई स्थान नहीं है और अनुमान व निष्कर्ष का अधिकार केवल पाठक का है। रॉके का यह मानना है कि ऐतिहासिक युगों को पूर्व–निर्धारित आधुनिक मूल्यों एवं आदर्शों की कसौटी पर नहीं परखा जाना चाहिए बल्कि आनुभविक साक्ष्यों पर आधारित इतिहास के परिप्रेक्ष्य में उनका आकलन किया जाना चाहिए।

रॉके न तो रोमानी आन्दोलन का अनुकरण करता है, न दैवकृत इतिहास की रचना करता है और न ही सामाजिक डार्विनवाद से सहमत होता है। वह वह बुद्धिवाद व यथार्थवाद की महाद्वीपीय परम्परा का अनुगमन करता है। रॉके हीगेल द्वारा प्रतिपादित इतिहास दर्शन की कटु आलोचना करता है। उसका कहना है कि हीगेल ने इतिहास में मानव–क्रिया की भूमिका की उपेक्षा की है। जब कि मानव–क्रिया की उपेक्षा कर केवल विचार और अवधारणा के आधार पर हम प्रामाणिक इतिहास की रचना नहीं कर सकते।

नेबूर और रॉके का यह मत है कि इतिहासकार का यह दायित्व है कि वह प्राथमिक स्रोतों के आधार पर ऐतिहासिक तथ्यों की सत्यता का परीक्षण कर उन्हें ज्यों का त्यों प्रस्तुत करे। चूंकि रॉके राजनीतिक शक्ति को इतिहास का प्रमुख प्रतिनिधि मानता है, इसलिए उसने अपने इतिहास ग्रंथों में सामाजिक एवं आर्थिक बलों की उपेक्षा कर राजाओं और अन्य राजनीतिक नेताओं के कार्यों को, अर्थात् राजनीतिक इतिहास को सर्वाधिक महत्व दिया है। अपने ग्रंथ – 'दि ओरिजिन्स ऑफ़ दि वार ऑफ़ दि रिवोल्यूशन' में रॉके ने फ्रांसीसी क्रान्ति की भर्त्सना की है और उसको प्रशा के सन्दर्भ में उपयुक्त नहीं माना है। प्रशा के सन्दर्भ में वह सक्षम तथा ईमानदार निरंकुश राजतन्त्र का पक्षधर है।

रॉके इतिहास को ईश्वरीय लीला के रूप में देखता है। रॉके इतिहास में महान विभूतियों की भूमिका को महत्वपूर्ण एवं निर्णायक मानता है। रॉके विभिन्न देशों के इतिहास की विशिष्टताओं को सार्वभौमिक इतिहास की आवश्यक कड़ियां मानकर सार्वभौमिक इतिहास की ओर बढ़ता है। रॉके की अध्ययन गोष्ठी की तकनीक ने इतिहास के उन्नत विद्यार्थियों को ऐतिहासिक स्रोतों के आलोचनात्मक अध्ययन की प्रणाली में एक क्रान्ति का सूत्रपात किया।

अधिकांश आधुनिक इतिहासकारों पर रॉके की तकनीक का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। जर्मन विचारधारा ने इतिहास लेखन को एक व्यवसाय के रूप में प्रतिष्ठित किया और उसने इतिहास के औपचारिक शास्त्रीय अध्ययन की स्थापना की। इतिहास लेखन में पूर्ण तटस्थता का अनुचित दावा करने के बावजूद रॉके आधुनिक युग के महानतम इतिहासकारों में प्रतिष्ठित होने का अधिकारी है। रॉके ने इतिहास लेखन में आत्मपरकता के स्थान पर वस्तुनिष्ठता को महत्व दिया। उसके लेखन में जातीय अथवा धार्मिक पूर्वाग्रहों का कोई स्थान नहीं है। पूर्ण तटस्थता अपनाते हुए और पूर्वाग्रहों को नकारते हुए उसने तथ्यों को ज्यों का त्यों प्रस्तुत करने की एक ईमानदार कोशिश की है।

2.7 पारिभाषिक शब्दावली

कॉन्सपिरेसी – षडयन्त्र
रिफ़ॉर्मेशन – धर्म सुधार
रोमानी आन्दोलन – 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक विश्व–व्यापी आन्दोलन जिसमें कि भावना, आत्माभिव्यक्ति एवं व्यक्तिगत विशिष्टता को प्रमुखता दी गई थी।
व्यष्टि से समष्टि – व्यक्तिगतता से विश्व–व्यापकता

2.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. देखिए 2.3.1 नेबूर से पूर्व के इतिहास–लेखन के दोष
2. देखिए 2.4.1 रॉके का प्रारम्भिक जीवन तथा उसकी रचनाएं
3. देखिए 2.4.3 रॉके के इतिहास ग्रंथों के गुण एवं दोष

2.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

कॉलिंगवुड, आर. जी. – दि आइडिया ऑफ़ हिस्ट्री, लन्दन, 1978
गूच, जी. पी. – दि हिस्ट्री एण्ड दि हिस्टोरियन्स ऑफ़ दि नाइन्टीन्थ सेन्चुरी, लन्दन, 1913
इगर्स, जॉर्ज, जी., जेम्स, एम. पॉवेल – लियोपोल्ड रॉके एण्ड दि शेपिंग ऑफ़ दि हिस्टॉरिकल डिसिप्लिन, न्यूयॉर्क, 1990
श्रीधरन, इ. – ए टैक्स्ट बुक ऑफ़ हिस्टोरियोग्राफ़ी, नई दिल्ली, 2013

2.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

लियोपोल्ड वॉन रॉके (सम्पादनः रॉजर वाइन्स) – 'दि सीक्रेट ऑफ़ वर्ड हिस्ट्रीः सेलेक्टेड राइटिंग्स ऑन दि आर्ट एण्ड साइंस ऑफ़ हिस्ट्री', न्यूयॉर्क, 2010
लियोपोल्ड वॉन रॉके (सम्पादनः इगर्स, जॉर्ज, जी.) – 'दि थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस ऑफ़ हिस्ट्री', न्यूयॉर्क, 2011
कार, ई. एच. (अनुवादकः चक्रधर, अशोक) – 'इतिहास क्या है', नई दिल्ली, 1993
थापर, रोमिला (सम्पादक) – 'इतिहास की पुनर्व्याख्या' नई दिल्ली, 1991
बुद्धप्रकाश – 'इतिहास दर्शन' इलाहाबाद, 1962
वर्मा, लालबहादुर – 'इतिहास के बारे में', इलाहाबाद, 2000
शर्मा, रामविलास – 'इतिहास दर्शन', नई दिल्ली, 1995

2.11 निबंधात्मक प्रश्न

रॉके के इतिहास–दर्शन की समीक्षा कीजिए।

इकाई 3 इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या (मार्क्सवादी सिद्धान्त)

3..1. प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3. कार्ल मार्क्स से पूर्व के इतिहास लेखन में व्याप्त प्रमुख दोष
3.3.1 इतिहास में ईश्वरीय इच्छा की महत्ता
3.3.2 धार्मिक एवं राजनीतिक गतिविधियों को अनावश्यक महत्व
3.4 कार्ल मार्क्स की विचारधारा पर पूर्ववर्ती विचारकों का प्रभाव
3.4.1 कार्ल मार्क्स से पूर्व निजी सम्पत्ति के अधिकार के उन्मूलन विषयक विचार
3.4.2 मार्क्स से पूर्व के विचारकों की समाजवादी भावना
3.4.3 समाजवादी आन्दोलन का प्रारम्भिक चरण
3.5 कार्ल मार्क्स के समाजवाद विषयक विचार और समाजवादी आन्दोलन में उसकी सक्रिय भूमिका
3.5.1 कार्ल मार्क्स के समाजवाद विषयक विचार
3.5.2 प्रथम इण्टरनेशनल
3.5.3 कार्ल मार्क्स की रचनाएं
3.6 वर्ग–संघर्ष और इतिहास की भौतिकतावादी व्याख्या
3.6.1 वर्ग–संघर्ष
3.6.2 ऐतिहासिक भौतिकतावाद
3.6.3 मार्क्सवादी इतिहासकार
3.7 सारांश
3.8 पारिभाषिक शब्दावली
3.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.10 संदर्भ ग्रंथ सूची
3.12 निबंधात्मक प्रश्न
3.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

3..1. प्रस्तावना

कार्ल हेनरिख मार्क्स (1818–83) एक जर्मन दार्शनिक, अर्थ–शास्त्री, समाज–शास्त्री, इतिहासकार, पत्रकार तथा क्रान्तिकारी समाजवादी था। मार्क्सवाद ने इतिहास लेखन में एक युगान्तकारी मोड़ ला दिया। भौतिक कारक को इतिहास में निर्धारक कारक के रूप में प्रतिष्ठित करना उसके इतिहास लेखन की वह विशेषता है जो उससे पूर्व के इतिहास लेखन में सर्वथा अनुपस्थित थी। मार्क्स द्वारा इतिहास की दिशा निर्धारित करने में भौतिकवादी कारक की निर्णायक भूमिका के सिद्धान्त का विकास किए जाने तक दैवी कारक को यह स्थान प्राप्त था। जब कि मार्क्स की दृष्टि में – 'भगवान की अवधारणा मनुष्य की निरी कल्पना थी और इससे भी अधिक वह शोषण व दोहन का एक उपकरण थी जिसको कि शासक वर्ग ने श्रमिक वर्ग को नियन्त्रित करने के एक कुचक्र के अन्तर्गत विकसित किया था।' मार्क्स की दृष्टि में 'पहला ऐतिहासिक कृत्य है – स्वयं भौतिक जीवन का उत्पादन।'

आधुनिक इतिहास लेखन पर इस विचार के क्रान्तिकारी प्रभाव का हम आज सर्वत्र अनुभव कर सकते हैं। आधुनिक युग में मार्क्स की अर्थशास्त्र विषयक रचनाओं ने श्रमिक और पूंजी के पारस्परिक सम्बन्धों की समझ को एक आधार प्रदान किया है और परवर्ती अर्थशास्त्रियों के आर्थिक चिन्तन को अत्यधिक प्रभावित किया है। मार्क्स की कृति 'दास कैपिटल' में इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की गई है। मार्क्स के समाज, अर्थशास्त्र तथा राजनीति विषयक सिद्धान्तों के कुल जोड़ को हम 'मार्क्सवाद' के रूप में जानते हैं। मार्क्स ने समाजवाद के सिद्धान्तों और उसके उद्देश्यों, उनकी उत्पत्ति की ऐतिहासिक अनिवार्यता एवं प्राप्ति के तरीकों तथा नए समाजवादी समाज की रूपरेखा प्रस्तुत की। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर उसने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि पूंजीवादी समाज का विनाश तथा निकट भविष्य में समाजवादी क्रान्ति की सफलता अवश्यम्भावी है। मार्क्स की कृति 'दास कैपिटल' में इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की गई है। मार्क्सवाद में विश्लेषण एवं विवेचना का प्रमुख आधार इतिहास है और उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का मूल आधार भी इतिहास ही है। इतिहास को मार्क्स ने एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा था किन्तु उसकी इतिहास की अवधारणा का मुख्य आधार आर्थिक जीवन है। आर्थर मार्विक ने मार्क्सवादी इतिहासकारों को इस बात का श्रेय दिया है कि उन्होंने प्रत्येक उपलब्ध स्रोत का सदुपयोग कर एक नयी प्रणाली के अन्तर्गत आम आदमी की इतिहास में फिर से वापसी की है।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको कार्ल मार्क्स से पूर्व इतिहास लेखन के दोषों से परिचित कराना तथा समाजवादी विचारधारा के प्रारम्भिक विकास से अवगत कराना है और फिर कार्ल मार्क्स के लेखन तथा परवर्ती मार्क्सवादी इतिहास–चिन्तकों तथा इतिहासकारों के लेखन के माध्यम से इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की, तथा मार्क्सवादी इतिहास लेखन के विभिन्न सोपानों की आपको जानकारी देना है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप अग्रांकित के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे–

- कार्लमार्क्स से पूर्व इतिहास लेखन के दोष।

- कार्ल मार्क्स की विचारधारा पर पूर्ववर्ती विचारकों का प्रभाव।
- समाजवादी आन्दोलन की पृष्ठभूमि।
- कार्ल मार्क्स की समाजवादी विचारधारा एवं ऐतिहासिक भौतिकवाद की अवधारणा
- मार्क्सवादी इतिहासकारों का इतिहास लेखन में योगदान

3.3. कार्ल मार्क्स से पूर्व के इतिहास लेखन में व्याप्त प्रमुख दोष

3.3.1 इतिहास में ईश्वरीय इच्छा की महत्ता

प्राचीन एवं मध्यकालीन इतिहास लेखन में ऐतिहासिक घटनाओं को उनके अन्तिम परिणाम तक पहुंचाने में ईश्वरीय इच्छा को अत्यधिक महत्व दिया गया है। प्राचीन भारतीय इतिहासकारों, ईसाई इतिहासकारों तथा मध्यकालीन मुस्लिम इतिहासकारों ने 'ईश्वरीय इच्छा', 'दि विल ऑफ़ गॉड' अथवा 'खुदा की मर्ज़ी' को इतिहास में निर्णायक माना है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक यह विचारधारा क्षीण नहीं हुई थी। इतिहासकारों द्वारा स्पेन के पतन, अमेरिका की स्वतन्त्रता, फ़्रांसीसी क्रान्ति तथा नैपोलियन के पतन में भी ईश्वरीय इच्छा को आरोपित करने का प्रयास किया गया था। इस विचारधारा ने इतिहास लेखन में विभिन्न प्रकार के तथ्यों को एक ही रंग में रंगने के प्रयास को प्रोत्साहित किया।

3.3.2 धार्मिक एवं राजनीतिक गतिविधियों को अनावश्यक महत्व

कार्ल मार्क्स से पूर्व इतिहासकारों ने पोप, चर्च, धर्म–ग्रंथों, धर्म–विजयों, मठों, दरगाहों, मठाधीशों, सम्राटों, बादशाहों, सुल्तानों, शासक वर्ग से जुड़े हुए व्यक्तियों, युद्धों, सन्धियों, षडयन्त्रों, दरबारों और शासक वर्ग से जुड़े साहित्य व कलाओं को अपनी रचनाओं में महत्व दिया था। आम आदमी – किसानों, मज़दूरों, गुलामों आदि का उल्लेख करना उनके लिए अनावश्यक था। यद्यपि सांस्कृतिक इतिहास के किंचित पहलुओं पर इन इतिहासकारों की दृष्टि गई थी किन्तु उनके लिए सामान्यतः सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास का नाम मात्र का महत्व था।

3.4 कार्ल मार्क्स की विचारधारा पर पूर्ववर्ती विचारकों का प्रभाव

3.4.1 कार्ल मार्क्स से पूर्व निजी सम्पत्ति के अधिकार के उन्मूलन विषयक विचार

पुनर्जागरण काल के ब्रिटिश विचारक टॉमस मूर ने अपने ग्रंथ – 'यूटोपिया' (1516) में सामूहिक स्वामित्व पर आधारित समाज की परिकल्पना की है। 17 वीं शताब्दी के इंग्लैण्ड में 'डिगर्स' नामक शुद्धाचारवादी धार्मिक दल ने भूमि विषयक निजी सम्पत्ति के अधिकार को समाप्त किए जाने की मांग की थी। 18 वीं शताब्दी के प्रबोधन युग में भी फ़्रांसीसी विचारक जीन जैकस रूसो ने निजी सम्पत्ति के विचार की आलोचना की थी। टॉमस पेन की 1791 में प्रकाशित पुस्तक – 'राइट्स ऑफ़ मैन' में भूमि के समाजीकरण, जागीरदारों की मृत्यु पर भारी मृत्यु–कर की व्यवस्था की वकालत की गई। स्पैंस तथा ओगिल्वी ने भी भूमि पर समाज के अधिकार की हिमायत की।

विलियम गोडविन ने निजी सम्पत्ति को समाप्त किए जाने की संस्तुति की। समाजवादी विचारधारा के जनक, अठारहवीं शताब्दी के फ़्रासीसी विचारक बैब्यूफ़ ने सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण, सामाजिक समानता एवं सम्पत्ति के अधिकार के उन्मूलन का प्रबल समर्थन किया था।

3.4.2 मार्क्स से पूर्व के विचारकों की समाजवादी भावना

सर्वप्रथम इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप विकसित नई आर्थिक व्यवस्था और उससे उत्पन्न सामाजिक शोषण की आलोचना का प्रारम्भ हुआ। टॉमस पेन की 1791 में प्रकाशित पुस्तक – 'राइट्स ऑफ़ मैन' में श्रमिकों को पेंशन व महिला–श्रमिकों को प्रसव–काल अवकाश दिए जाने की वकालत की। स्विस इतिहासकार सिसमोंडी ने 1818 में एडम स्मिथ की मुक्त–व्यापार की नीति और उसके द्वारा आर्थिक क्षेत्र में राज्य द्वारा अहस्तक्षेप की नीति अपनाए जाने की वकालत करने पर भर्त्सना की। उसने पूंजीपतियों द्वारा श्रमिकों के निर्बाध शोषण की भी निन्दा की और उनकी मज़दूरी बढ़ाए जाने की ज़ोरदार हिमायत की। मैनचेस्टर के उद्योगपति रॉबर्ट ओवन ने अपने निजी कारखाने में वेतन में वृद्धि कर, उनके काम के घण्टों में कमी कर तथा उनके लिए साफ़–सुथरे मकान व आमोद–प्रमोद के साधन उपलब्ध कर मज़दूरों की दशा सुधारने के प्रयास किए। अपनी पुस्तकों – 'दि न्यू व्यू ऑफ़ सोसायटी' तथा 'दि बुक ऑफ़ न्यू मॉरल वर्ड' में रॉबर्ट ओवन ने मज़दूरों की सहकारी समितियों के गठन तथा कारखानों में मज़दूरों को हिस्सेदारी दिए जाने की संस्तुति की तथा पहली बार 'समाजवाद' शब्द का प्रयोग किया। रॉबर्ट ओवन के प्रयासों के साथ–साथ ब्रिटिश व्यापार एवं उद्योग में अभूपूर्व विकास के कारण इंग्लैण्ड में 1819 में मज़दूरों के कल्याण हेतु 'फ़ैक्ट्री एक्ट' पारित किया गया। फ़्रांस के मानवतावादी एवं आशावादी विचारक सेन्ट साइमन ने अपने ग्रंथ – 'दि न्यू क्रिश्चियैनिटी'(1825) में श्रमिकों के कल्याण तथा निजी सम्पत्ति विषयक कानूनों में सुधार की मांग रखी। फ़्रांस के ही एक अन्य विचारक चार्ल्स फूरिए ने पूंजीवादी समाज की शोषक प्रवृत्तियों को उजागर कियाऔर श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए सहकारी समुदायों को संगठित करने की योजना प्रस्तुत की। फ़्रांस के लुई ब्लां को राज्य–समाजवाद के उदय का श्रेय दिया जाता है। उसने आर्थिक क्षेत्र में वैयक्तिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का विरोध किया और राज्य में श्रमिक के 'काम के अधिकार' और उस अधिकार की प्राप्ति के लिए 'राष्ट्रीय कारखानों' अथवा सामाजिक कार्यशालाओं की स्थापना करके स्वार्थी प्रतियोगी पूंजीवाद की बुराइयों को समाप्त करने की एक ईमानदार कोशिश की। उसके ग्रंथ – 'ऑर्गेनाइज़ेशन ऑफ़ लेबर' (1839) में तत्कालीन फ़्रांस का समाजवादी आन्दोलन प्रतिबिम्बित होता है।

3.4.3 समाजवादी आन्दोलन का प्रारम्भिक चरण

जर्मनी में 1830 की क्रान्ति के बाद ब्यूख्नर ने 'मनुष्य का अधिकार' नामक एक गुप्त समिति का गठन किया था। इस समिति का यह विश्वास था कि राजनीतिक क्रान्ति के साथ सामाजिक क्रान्ति

का होना भी आवश्यक है। इस समिति के घोषणापत्र का एक वाक्य उसके लक्ष्य को व्यक्त करता है – 'झोंपड़ियों में सुख–शान्ति हो और राजप्रसादों का नाश हो।' जर्मनी में समाजवादी आन्दोलन का सूत्रपात फ़र्डिनैन्ड लसैल ने किया था। उसने लिप्ज़िंग में 1863 में 'जनरल एसोसियेशन ऑफ़ वर्कर्स' की स्थापना की। लसैल का यह मत था कि – 'राज्य का यह प्रमुख कर्तव्य है कि वह अपने नागरिकों का अधिकतम कल्याण व हित करे। लसैल ने समाजवादी आन्दोलन को सफल बनाने में मध्यवर्गीय उदारवादी दलों के योगदान की तुलना में स्वयं श्रमिकों की भूमिका को अधिक महत्व दिया था। पेरिस में कार्यरत जर्मन मज़दूरों ने 1836 में 'लीग ऑफ़ दि जस्ट' की स्थापना की और बाद में इसकी शाखाएं जर्मनी, इंग्लैण्ड और बेलजियम में भी स्थापित हुईं। कार्ल मार्क्स तथा फ्रेडरिक एन्गेल्स इसके सदस्य थे। 1847 में इसका नाम बदलकर 'कम्युनिस्ट लीग' रख दिया गया। 'कम्युनिस्ट लीग' के घोषणापत्र के प्रमुख उद्देश्य थे –

'पूंजीवर्ग का जड़ से विनाश, मज़दूर वर्ग का शासन, वर्गभेद पर आधारित मध्य–वर्गीय पुरातन समाज का उन्मूलन और ऐसे एक नए समाज की स्थापना जिसमें न कोई वर्ग हो और न ही निजी सम्पत्ति विषयक अधिकार।'

इंग्लैण्ड में 1846 में स्थापित संस्था 'सोसायटी ऑफ़ फ़ेटर्नल डेमोक्रेट्स' के एक सदस्य ने शोषितों की अन्तर्राष्ट्रीय एकजुटता की आवश्यकता पर बल देते हुए उनसे यह अपील की थी –मैं हर देश के उत्पीड़ित वर्गों से यह अपील करता हूँ कि वे समान उद्देश्य के लिए एकजुट हो जाएं।'

1848–49 में यूरोपीय क्रान्तियों की असफलता, क्रीमिया के युद्ध (1854–56) में रूस की पराजय, पीडमॉन्ट राज्य के नेतृत्व में द्वितीय इटालियन स्वतन्त्रता संग्राम (1859–60) में राष्ट्रवादियों की सफलता, 1861 में जार एलेक्ज़ेण्डर द्वितीय द्वारा रूस में कृषि दासों की विमुक्ति और 1863 में पोलैण्ड में हुए विद्रोह जैसी घटनाओं ने समाजवादियों को पुन– सक्रिय होने की प्रेरणा दी।

समाजवादी आन्दोलन का ध्येय पूंजीवाद को समाप्त करना था और श्रम–आन्दोलन का लक्ष्य पूंजीपतियों के साथ संघर्ष करना या ऐसा सौदा करना था जिससे कि श्रमिक वर्ग की जीवन–पद्धति और कार्य–स्थिति में सकारात्मक परिवर्तन हो सके। श्रमिकों की शोचनीय दशा से आहत होकर और मानवतावादी भावना से प्रेरित होकर अनेक बुद्धिजीवियों ने शोषित एवं दलित वर्ग की स्थिति में सुधार लाने के सार्थक प्रयास किए। इसके अतिरिक्त पीड़ित श्रमिक वर्ग ने स्वयं भी अपनी समस्याओं का निराकरण करने के लिए श्रमिक संगठनों का गठन प्रारम्भ कर दिया था। उन्होंने समाज के बहु–संख्यक सर्वहारा वर्ग के हित में आय के समान वितरण की व्यवस्था का समर्थन किया। समाजवादियों ने फ़्रांसीसी क्रान्ति से अर्जित नागरिक एवं कानूनी समानता से आगे बढ़कर सामाजिक एवं आर्थिक समानता की स्थापना की आवश्यकता पर बल दिया।

3.5 कार्ल मार्क्स के समाजवाद विषयक विचार और समाजवादी आन्दोलन में उसकी सक्रिय भूमिका

3.5.1 कार्ल मार्क्स के समाजवाद विषयक विचार

कार्ल मार्क्स की विचारधारा पर फ़्रांसीसी समाजवादी विचारकों – सेंट साइमन, चार्ल्स फूरिए, लुई

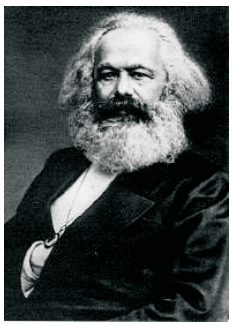

ब्लां तथा ब्रिटिश समाजवादी विचारक राबर्ट ओवेन के चिन्तन का भी प्रभाव पड़ा था। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में हुई औद्योगिक क्रान्ति ने समस्त विश्व के और विशेषकर पाश्चात्य समाज और अर्थ–व्यवस्था के स्वरूप में आमूल परिवर्तन कर दिया था। औद्योगिक क्रान्ति ने समाज में पूंजीपति एवं मज़दूर वर्ग को जन्म दिया। आर्थिक विषमता बढ़ने के साथ–साथ पूंजीपति वर्ग द्वारा मज़दूर वर्ग का अनवरत शोषण होने लगा। मार्क्स की विचारधारा पर इस बदली हुई सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का भी गहन प्रभाव पड़ा था। मार्क्स अपने पूर्ववर्ती जर्मन दार्शनिक हीगेल के द्वन्द्वात्मक आदर्शवाद से प्रभावित था जिसने कि यह प्रतिपादित किया था कि समाज का विकास संघर्ष के माध्यम से ही होता है।

3.5.2 प्रथम इण्टरनेशनल

समाजवादी आन्दोलन के इतिहास की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना ब्रिटिश, फ्रांसीसी, बेलजियन तथा स्विस मज़दूर संगठनों को एकजुट करके 1864 में स्थापित 'प्रथम इण्टरनेशनल' की स्थापना थी जो कि कार्ल मार्क्स की देन थी। 'प्रथम इण्टरनेशनल' में मार्क्स ने मज़दूरों की ओर से दिए गए अपने भाषण में इस समिति के सिद्धान्तों और लक्ष्यों की रूपरेखा प्रस्तुत की। मार्क्स ने मज़दूर वर्गों का आवाहन किया कि वो अपनी मुक्ति की लड़ाई स्वयं लड़ें। मज़दूर वर्ग के संघर्ष में विश्व–व्यापी चरित्र पर बल दिया गया। इस इण्टरनेशनल का लक्ष्य – 'शासक वर्ग का सम्पूर्ण उन्मूलन' घोषित किया गया। प्रथम इण्टरनेशनल को उसकी स्थापना के समय से ही तत्कालीन सरकारों ने अपने लिए एक खतरा माना और उसके दमन के अनेक प्रयास किए गए। अनेक देशों में उसे अवैध घोषित कर दिया गया। इसने अपने अल्पकालीन जीवन (1864 से 1875) के दौरान यूरोप और उत्तरी अमेरिका के मज़दूर आन्दोलनों पर गहरा प्रभाव डाला।

कार्ल मार्क्स की मृत्यु 1883 में हो गई थी किन्तु 1889 में आयोजित 'द्वितीय इण्टरनेशनल' उसी के प्रयासों की अगली कड़ी थी। विभिन्न देशों के समाजवादी दलों को एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के तहत सूत्रबद्ध करने के लिए 1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति की शताब्दी के दिन 14 जुलाई, 1889 को पेरिस में 20 देशों के 400 प्रतिनिधियों द्वारा 'द्वितीय इण्टरनेशनल' की स्थापना की गई जिसमें सैन्यवाद और युद्ध को पूंजीवाद की उपज माना गया पर साथ ही साथ पूंजीवाद का विनाश कर समाजवाद की स्थापना के लिए सशस्त्र क्रान्ति को अपरिहार्य माना गया।

3.5.3 कार्ल मार्क्स की रचनाएं

कार्ल मार्क्स की अनेक रचनाओं में हम 'कम्युनिस्ट मैनिफ़ैस्टो (सह–लेखक–फ्रेडरिक एन्गेल्स), 'दास कैपिटल' तथा 'दि जर्मन आइडियोलोजी' को उसकी प्रमुख रचनाएं कह सकते हैं। 'दास कैपिटल' के प्रथम खण्ड का सर्वप्रथम प्रकाशन 1867 में हुआ। मार्क्स की मृत्यु के उपरान्त उसके द्वारा छोड़ी गई पाण्डुलिपियों के आधार पर एन्गेल्स ने उसके शेष दो खण्डों का प्रकाशन

करवाया। इनके अतिरिक्त उसने 'ऐन इन्ट्रोडक्शन टु ए क्रिटीक ऑफ़ हीगेलियन फ़िलॉसॅफ़ी ऑफ़ राइट्स' (1843) 'पॉवर्टी ऑफ़ फ़िलॉसॅफ़ी– ए क्रिटीक ऑफ़ प्राउडहॉन'(1847),'डिस्कोर्स अपॉन दि क्वेश्चन ऑफ़ फ्री एक्सचेन्ज' (1848) 'क्लास स्ट्रगल इन फ़्रांस–1848–50 (1850), 'होली फ़ैमिली', 'ऐन इन्ट्रोडक्शन टु क्रिटीक ऑफ़ पॉलिटिकल इकॉनॅमी' (1859), 'वैल्यू, प्राइस एण्ड प्रॉफ़िट', 'होली फ़ैमिली' आदि की भी रचना की है। एक पत्रकार के रूप में मार्क्स ने 'न्यूयॉर्क डेली ट्रिब्यून', 'दि स्पेक्टेटर' में विचारोत्तेजक लेख लिखे तथा 'एनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना' में भी उसके अनेक लेख सम्मिलित किए गए हैं।

3.6 वर्ग–संघर्ष और इतिहास की भौतिकतावादी व्याख्या

3.6.1 वर्ग–संघर्ष

प्रसिद्ध ब्रिटिश विचारक बर्टेण्ड रसेल अपनी पुस्तक 'प्रपोज़्ड रोड ट् फ्रीडम' में लिखता है – 'समाजवाद उन्नीसवीं शताब्दी के दर्शन का एक प्रेरक बल था जिसने कि मानव जाति को एक श्रेष्ठतर व्यवस्था देने के लिए कल्पनाशीलता के साथ ठोस रूप से व्यावहारिक प्रयास किया था।' मार्क्स ने समाजवाद के सिद्धान्तों और उसके उद्देश्यों, उनकी उत्पत्ति की ऐतिहासिक अनिवार्यता एवं प्राप्ति के तरीकों तथा नए समाजवादी समाज की रूपरेखा प्रस्तुत की। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर उसने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि पूंजीवादी समाज का विनाश तथा निकट भविष्य में समाजवादी क्रान्ति की सफलता अवश्यम्भावी है। मार्क्स इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट करता है कि ऐतिहासिक प्रक्रिया में प्राचीन समाज का आधार 'दासता', सामन्तवादी समाज का आधार 'भूमि' तथा मध्यवर्गीय समाज का आधार 'पूंजी' है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मार्क्स ने हमको बताया है कि – समाज का इतिहास आर्थिक कारकों से निर्धारित होता है और यह कि – इतिहास वर्ग–संघर्ष का अभिलेख है। इस प्रकार मार्क्स की समाजशास्त्रीय प्रणाली के दो आधार स्तम्भ हैं – इतिहास का भौतिकवादी विचार और वर्ग–संघर्ष।

समाजवादी विचारधारा को हम असह्य एवं दमनकारी शोषण के खिलाफ़ उठा हुआ विद्रोह का स्वर कह सकते हैं। समाजवाद के अन्तर्गत उत्पादन जनता के हाथ में होता है और मनुष्य का मनुष्य के द्वारा शोषण, सामाजिक उत्पीड़न, विशेषाधिकार प्राप्त अल्पसंख्यकों की सत्ता, गरीबी और लाखों–करोड़ों लोगों की निरक्षरता का हमेशा–हमेशा के लिए उन्मूलन कर दिया जाता है। समाजवाद में वैज्ञानिक व तकनीकी प्रगति बेरोज़गारी बढ़ाने के स्थान पर जन–जन की खुशहाली और समृद्धि में वृद्धि लाती है।

मार्क्स अपने सृजनात्मक मानववाद की स्थापना में यह स्पष्ट करता है कि इतिहास मनुष्य की एक कृति है और इतिहास का लक्ष्य भी मनुष्य ही है। वह कहता है – 'इतिहास वर्ग संघर्ष का अभिलेख है।' 'कम्युनिस्ट मैनिफ़ैस्टो' में बताया गया है कि विश्व के समस्त मज़दूरों का लक्ष्य पूंजीवाद को उखाड़ फेंकना और समाजवाद की स्थापना करना है। इस घोषणापत्र का यह आह्वान अमर है –

'संसार के मज़दूरो एक हो जाओ। तुम्हें खोना कुछ नहीं है, सिवाय अपनी गुलामी की ज़न्जीरों के, और प्राप्त करने के लिए तुम्हारे सामने संसार पड़ा है।'

3.6.2 ऐतिहासिक भौतिकतावाद

मार्क्सवादी अथवा ऐतिहासिक भौतिकतावादी लेखन, इतिहास लेखन की वह शाखा है जो मार्क्सवाद के मुख्य सिद्धान्त –'ऐतिहासिक परिणामों को निर्धारित करने में सामाजिक वर्ग व आर्थिक दबावों की निर्णायक भूमिका' में विश्वास रखती है। मार्क्सवादी इतिहास लेखन ने श्रमिक वर्ग को हर स्थान पर केन्द्र–बिन्दु बनाने की प्रवृत्ति, दमित राष्ट्रीयताओं की महत्ता और आम आदमी के इतिहास (हिस्ट्री फ्रॉम बिलो) के अध्ययन के प्रणालीतन्त्र के सिद्धान्तों के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। मार्क्सवादी इतिहास लेखन की प्रमुख समस्या इतिहास की प्रकृति को लेकर बहस पर है और वह बहस यह है कि – 'क्या इतिहास नियतिवाद से संचालित होता है अथवा उसकी प्रकृति द्वन्द्वात्मक है।' मार्क्सवादी इतिहास सामान्यतः नियतिवादी है क्योंकि यह प्रदर्शित करता है कि इतिहास एक निश्चित अन्त की ओर बढ़ता है और वह अन्त है – 'एक वर्गहीन मानव–समाज' की स्थापना।

मार्क्सवादी इतिहास लेखन का मुख्य उद्देश्य ऐतिहासिक दृष्टान्तों के माध्यम से दलित एवं शोषित वर्ग में आत्म–चेतना का संचार कर उन्हें अपने अधिकारों के लिए स्वयं संघर्ष करने के लिए प्रेरित करना है।

कार्ल मार्क्स के पूर्ववर्ती इतिहासकारों ने शासकों एवं राष्ट्रों के उत्थान एवं पतन की चक्रीय घटनाओं पर अपना ध्यान केन्द्रित किया था। फ्रेडरिक एन्गेल्स ने अपने ग्रंथ –'दि पीज़ेन्ट वार इन जर्मनी' में प्रारम्भिक प्रोटैस्टैन्ट जर्मनी में उभरते हुए पूंजीवादी वर्ग के सन्दर्भ में सामाजिक संघर्ष का विश्लेषण किया था। इसने 'हिस्ट्री फ्रॉम बिलो' (आम आदमी का इतिहास) की अवधारणा, वर्ग–विश्लेषण तथा द्वन्द्वात्मक विश्लेषण में इतिहासकार की अभिरुचि की ओर संकेत किया। मार्क्स ने इतिहास की सोद्देश्यवादी व्याख्या करते हुए कहा है कि – 'हर वस्तु एक निश्चित अन्त की ओर गतिमान होती है और वह अन्त है एक वर्गहीन मानव–समाज।'

मार्क्स की अवधारणा है कि आर्थिक परिस्थितियों तथा उत्पादन की विधियों ने अपने–अपने समय की सामाजिक संरचना को निर्धारित किया है। उसकी दृष्टि में पाश्चात्य यूरोप में एक–एक करके पाँच अवस्थाएं आईं जिनमें कि उसकी भौतिक परिस्थितियों का विकास हुआ है।

इनमें पहली अवस्था थी – आदिम साम्यवाद, जहां कि सम्पत्ति का सभी के मध्य बटवारा किया जाता था और तब नेता की अवधारणा अस्तित्व में ही नहीं थी।

दूसरी अवस्था में पहली अवस्था का विकास दास तथा दास–स्वामी समाज में हुआ जहां कि वर्ग का विचार तथा राज्य की अवधारणा का विकास हुआ।

तीसरी अवस्था सामन्तवाद के उदय की है जिसमें कि आभिजात्य वर्ग ने धर्मतन्त्र के साथ मिलकर निम्न वर्ग का दोहन किया। यह युग भू–स्वामियों तथा कृषि–दासों का था और इसी काल में राष्ट्रीय राज्यों का उदय हुआ।

चौथी अवस्था में मध्यवर्गीय क्रान्ति के बाद पूंजीवादी युग के पदार्पण की है जब कि पूंजीपतियों ने

(अथवा उनके पूर्ववर्ती व्यापारियों ने) सामन्ती व्यवस्था को उखाड़ फेंका और निजी सम्पत्ति व संसदीय लोकतन्त्र के साथ–साथ एक बाज़ारी–अर्थव्यवस्था की स्थापना की। यह युग स्वामी और श्रमिक का है।

मार्क्स आने वाले समय में अन्तिम पाँचवी अवस्था के विषय में भविष्यवाणी करता है कि इसमें सर्वहारा वर्ग द्वारा क्रान्ति का सूत्रपात होगा जिसका परिणाम समाजवाद की प्राप्ति और अन्ततः साम्यवाद की स्थापना होगा। इस अवस्था में किसी भी प्रकार की सम्पत्ति पर किसी एक का नहीं अपितु समुदाय का स्वामित्व होगा।

मार्क्सवाद में विश्लेषण एवं विवेचना का प्रमुख आधार इतिहास है और उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों मूल आधार भी इतिहास ही है। इतिहास को मार्क्स ने एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा था किन्तु उसकी इतिहास की अवधारणा का मुख्य आधार आर्थिक जीवन है।

ऐतिहासिक (द्वन्द्वात्मक) भौतिकवाद वह प्रणालीतन्त्रीय दृष्टिकोण है जो कि समाज, अर्थशास्त्र तथा इतिहास का अध्ययन करने के लिए सर्वप्रथम कार्ल मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा के रूप में प्रस्तुत किया था। यह सामाजिक–आर्थिक विकास का वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन (तकनीक तथा उत्पादक क्षमता में) का समाज व अर्थ–व्यवस्था को सुव्यवस्थित करने पर निर्णायक प्रभाव पड़ता है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद मानव'समाज में विकास और परिवर्तन के कारणों का अध्ययन करता है। यह विकास और परिवर्तन जीवन की आवश्यक वस्तुओं के सामूहिक उत्पादन, सामाजिक वर्गों तथा उनके बीच सम्बन्धों, राजनीतिक संरचनाओं तथा समाज में चिन्तन–प्रणालियों के माध्यम से देखा जा सकता है।

1948 में 'लाइफ़ मैगज़ीन' में ह्यूबर्ट के ने मानव–इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या का सार इन शब्दों में दिया है – 'मानव इतिहास एक नदी के समान है। यदि हम इसे ऊपर से देखें तो हमको हर दिन यह एक जैसी दिखाई देगी परन्तु वास्तव में यह तटों को तोड़ती हुई, जल–मार्ग को चौड़ा और गहरा करती हुई निरन्तर बहती रहती है और परिवर्तित होती रहती है। इसमें किसी एक दिन जो पानी दिखाई देता है वह दूसरे दिन ठीक वैसा कभी भी नहीं होता। इसमें से कुछ जल भाप बनकर निरन्तर उडता रहता है और फिर वही बारिश के रूप में वापस लौटता है। अगर हम साल दर साल देखें तो इस नदी में होने वाले परिवर्तन हमको शायद ही दिखाई पड़ेंगे किन्तु एक दिन जब इसके तट बिल्कुल कमज़ोर पड़ जाएंगे और दीर्घ काल तक तेज़ बारिश होगी तो इसमें बाढ़ आएगी, यह अपने तटों को तोड़ देगी और सम्भवतः यह एक नया मार्ग चुन लेगी। नदी का यह जीवन मार्क्स के प्रसिद्ध द्वन्द्वात्मक (ऐतिहासिक) भौतिकवाद का प्रतिनिधित्व करता है।'

3.6.3 मार्क्सवादी इतिहासकार

कार्ल मार्क्स के समकालीन हेनरी मार्गन ने 'एंशियेन्ट सोसायटी' में आदिम समाज की भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत कर, मार्क्सवादी इतिहास लेखन का प्रारम्भ कर दिया था।

व्लादीमिर लेनिन की पुस्तक 'व्हाट इज़ टु बी डन' (1902) ने पूंजीवाद को उखाड़ फेंकने के लिए एक आमूल क्रान्ति की आवश्यकता पर बल दिया गया था। लेनिन ने 'एप्रिल थीसिस' में बोल्शेविक

दल की योजना प्रस्तुत की थी। इसमें लेनिन ने यह विचार प्रस्तुत किया था कि समाजवादी क्रान्ति को हम सोवियतों (पंचायतों)द्वारा अनन्तिम संसदीय सरकार से सत्ता छीन कर समस्त देश में ऊपर से नीचे तक – 'श्रमिकों, खेतिहर मज़दूरों और किसानों के प्रतिनिधियों से बने गणतन्त्र की स्थापना करके हासिल कर सकते हैं।'

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ब्रिटिश इतिहाकार आर0 एच0 टानी की रचनाओं – 'दि एग्रेरियन प्रॉबलम इन दि सिक्सटींथ सेन्चुरी (1912) तथा 'रिलीजन एण्ड दि राइज़ ऑफ़ कैपिटलिज़्म' (1926) में आर्थिक इतिहास में उसकी नीतिपरक अभिरुचि एवं तल्लीनता प्रतिबिम्बित होती है।

क्रिस्टोफ़र हिल की रचनाओं – 'इकॉनॅमिक प्रॉबलम्स ऑफ़ दि चर्च' (1956), 'प्योरिटैनिज़्म एण्ड रिवोल्यूशन' (1958), 'इन्टैलैक्चुअल ओरिजिन्स ऑफ़ दि इंग्लिश रिवोल्यूशन' (1965) तथा 'दि वर्ड टर्न्ड अपसाइड डाउन' (1972) में इतिहास के विकास में आर्थिक कारकों की महत्ता दर्शाई गई है। ई0 एच0 हॉब्सबॉम की पुस्तक 'लेबरिंग मैन' (1964), श्रमिक वर्ग का विश्लेषणात्मक इतिहास है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के ब्रिटिश इतिहासकार ई0 पी0 टॉमसन ने 'दि मेकिंग ऑफ़ दि इंग्लिश वर्किगं क्लास' (1963) में आम आदमी का इतिहास लिखकर अनेक परवर्ती इतिहासकारों के लिए पथप्रदर्शक की भूमिका निभाई है। वर्ग–चेतना, वर्ग–संघर्ष और वर्ग–निर्माण पर टॉमसन का लेखन विचारोत्तेजक एक चुनौती भरा है। टॉमसन ने क्रिस्टोफ़र हिल, एरिक हॉब्सबॉम, रॉडनी हिल्टन आदि के साथ मिलकर 'मार्क्सिस्ट हिस्टोरिकल ग्रुप' की स्थापना की जिसने आगे चलकर 'पास्ट एण्ड प्रज़ेण्ट' जैसी पत्रिका का प्रकाशन किया।

प्रसिद्ध मार्क्सवादी इतिहासकार ई0 एच0 कार ने 'व्हाट इज़ हिस्ट्री' (1961) में यह दर्शाया है हर इतिहासकार तथ्यों का आकलन और उनकी व्याख्या अपने–अपने समय और परिस्थितियों के अनुरूप ही करता है। कार की दृष्टि में वस्तुनिष्ठ इतिहास की रचना असम्भव है क्योंकि इतिहासकार इतिहास को वैसा ही रूप देता है जैसा कि वह चाहता है।

भारत में मार्क्सवादी इतिहास लेखन की परम्परा के प्रारम्भिक प्रयासों में बी0 एन0 दत्त की दो पुस्तकों – 'डायलेक्टिक्स ऑफ़ लैण्ड ओनरशिप इन इण्डिया' तथा 'कास्ट एण्ड क्लास इन एंशियेन्ट इण्डिया' का उल्लेख किया जा सकता है। डी0 डी0 कोसाम्बी ने पुरातत्वशास्त्र, भौतिक वस्तुओं, प्राचीन व्यापार मार्गों के क्षेत्रीय सर्वेक्षणों, मानव जाति के वर्णन तथा गणित की सहायता से भारतीय इतिहास के अध्ययन में मार्क्सवादी प्रणाली का उपयोग किया। उनकी पुस्तकों में – 'एन इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री' (1956) तथा 'कल्चर एण्ड सिविलाइज़ेशन ऑफ़ एंशियेन्ट इण्डिया' (1964) सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। प्राचीन भारत के इतिहास को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने में आर0 एस0 शर्मा का विशेष योगदान है। शर्मा की पुस्तकों में 'इण्डियन फ्यूडलिज़्म' (1965), 'लाइट ऑन अर्ली इण्डियन सोसायटी एण्ड इकॉनॅमी' (1966), तथा 'शूद्राज़ इन एंशियेन्ट इण्डिया' (1980) उल्लेखनीय हैं। रोमिला थापर की 'अशोक एण्ड दि डिक्लाइन ऑफ़ दि मौर्याज़' (1963), 'एंशियेन्ट इण्डियन सोशल हिस्ट्री' (1978) आदि प्राचीन

भारतीय इतिहास की प्रमुख मार्क्सवादी पुस्तकें हैं।
मध्यकालीन भारतीय इतिहास में इरफ़ान हबीब की पुस्तक 'एग्रेरियन सिस्टम ऑफ़ मुगल इण्डिया' ने व्यक्तित्व प्रधान इतिहास की परम्परा को तोड़कर आम आदमी की आर्थिक समस्याओं और गतिविधियों को महत्व दिया है। अपने ग्रंथ 'इण्टरप्रेटिंग इण्डियन हिस्ट्री' में वह इतिहास लेखन में घटनाओं के वृतान्त से अधिक उनकी व्याख्या की महत्ता पर प्रकाश डालता है। इरफ़ान हबीब की रचनाओं में आम आदमी को, विशेषकर किसान को और उसके गाँव को, उसके राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक में परिवेश में समझने का प्रयास किया गया है। नूरुल हसन, हरबंस मुखिया, बी0 एल0 ग्रोवर आदि ने मध्यकालीन भारतीय इतिहास के विभिन्न पहलुओं पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रकाश डाला है।
आधुनिक भारत के इतिहास का मार्क्सवादी दृष्टिकोण हमको रजनी पाम दत्त की 'इण्डिया टु डे', एम0 एन0 राय की 'पॉवर्टी ऑर प्लेन्टी' तथा 'गांधिज़्म, नेशनलिज़्म, सोशलिज़्म' , ए0 आर0 देसाई की – 'सोशल बैकग्राण्ड ऑफ़ इण्डियन नेशनलिज़्म' तथा 'पीज़ेन्ट स्ट्रगल्स इन इण्डिया', बिपन चन्द्रा की 'राइज़ एण्ड ग्रोथ ऑफ़ इकॉनॅमिक नेशनलिज़्म इन इण्डिया', तथा सुमीत सरकार की 'स्वदेशी मूवमेन्ट इन बैंगाल', के0 एम0 पनिकर की – 'अगेन्स्ट लॉर्ड एण्ड स्टेट' (1989) तथा 'कोलोनियलिज़्म, कल्चर एण्ड रेज़िस्टेन्स' आदि रचनाओं में मिलता है।
ग्रैम्सकी, ई0 पी0 टॉमसन तथा एरिक हॉब्सबाम जैसे ब्रिटिश सामाजिक इतिहासकारों से प्रभावित होकर रंजीत गुहा और उनके साथियों ने इतिहास तथा मानव–विज्ञान का संयोजन कर उत्तर–औपनिवेशिककालीन भारत के इतिहास लेखन को एक नयी दिशा प्रदान की। इस विचारधारा के इतिहासकारों ने आम आदमी (विशेषकर, नीचे के तबके के लोग, जैसे आदिवासी, पर्वत–वासी, औद्योगिक मज़दूर, खेतिहर मज़दूर आदि) की भूमिका के दृष्टिकोण से भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का विवेचनात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया है। आधुनिक इतिहास लेखन पर कार्ल मार्क्स द्वारा इतिहास की भौतिकतावादी व्याख्या के क्रान्तिकारी प्रभाव का हम आज सर्वत्र अनुभव कर सकते हैं।

अभ्यास प्रश्न

निम्नांकित पर चर्चा कीजिए–

1. कार्ल मार्क्स से पूर्व निजी सम्पत्ति के अधिकार के उन्मूलन विषयक विचार।
2. कार्ल मार्क्स की रचनाओं का संक्षिप्त परिचय।
3. प्रथम इण्टर नेशनल।

3.7 सारांश

कार्ल मार्क्स एक जर्मन दार्शनिक, अर्थ–शास्त्री, समाज–शास्त्री, इतिहासकार, पत्रकार तथा क्रान्तिकारी समाजवादी था। भौतिक कारक को इतिहास में निर्धारक कारक के रूप में प्रतिष्ठित करना उसके इतिहास लेखन की वह विशेषता है जो उससे पूर्व के इतिहास लेखन में सर्वथा

अनुपस्थित थी। आधुनिक युग में मार्क्स की अर्थशास्त्र विषयक रचनाओं ने श्रमिक और पूंजी के पारस्परिक सम्बन्धों की समझ को एक आधार प्रदान किया है और परवर्ती अर्थशास्त्रियों के आर्थिक चिन्तन को अत्यधिक प्रभावित किया है। मार्क्स की कृति 'दास कैपिटल' में इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की गई है। 'कम्युनिस्ट मैनिफ़ैस्टो (सह–लेखक–फ्रेडरिक एन्गेल्स), तथा 'दि जर्मन आइडियोलोजी' उसकी अन्य प्रमुख रचनाएं हैं। मार्क्स के समाज, अर्थशास्त्र तथा राजनीति विषयक सिद्धान्तों के कुल जोड़ को हम 'मार्क्सवाद' के रूप में जानते हैं। मार्क्स ने समाजवाद के सिद्धान्तों और उसके उद्देश्यों, उनकी उत्पत्ति की ऐतिहासिक अनिवार्यता एवं प्राप्ति के तरीकों तथा नए समाजवादी समाज की रूपरेखा प्रस्तुत की। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर उसने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि पूंजीवादी समाज का विनाश तथा निकट भविष्य में समाजवादी क्रान्ति की सफलता अवश्यम्भावी है। मार्क्सवाद में विश्लेषण एवं विवेचना का प्रमुख आधार इतिहास है और उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों मूल आधार भी इतिहास ही है। इतिहास को मार्क्स ने एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा था किन्तु उसकी इतिहास की अवधारणा का मुख्य आधार आर्थिक जीवन है।

टॉमस मूर,'डिगर्स' नामक शुद्धाचारवादी धार्मिक दल, जीन जैकस रूसो, टॉमस पेन विलियम गोडविन, बैब्यूफ, सिसमोंडी, रॉबर्ट ओवन, सेन्ट साइमन, चार्ल्स फूरिए तथा लुई ब्लां आदि की समाजवादी विचारधारा ने मार्क्स को प्रभावित किया था।

जर्मनी में फ़र्डिनैन्ड लसैल ने 1863 में 'जनरल एसोसियेशन ऑफ़ वर्कर्स' की स्थापना की। पेरिस में कार्यरत जर्मन मज़दूरों ने 1836 में 'लीग ऑफ़ दि जस्ट' की स्थापना की। 1864 में स्थापित 'प्रथम इण्टरनेशनल' कार्ल मार्क्स की देन थी। मार्क्स ने मज़दूर वर्गों का आवाहन किया कि वो अपनी मुक्ति की लड़ाई स्वयं लड़ें। कार्ल मार्क्स की मृत्यु 1883 में हो गई थी किन्तु 1889 में आयोजित 'द्वितीय इण्टरनेशनल' उसी के प्रयासों का सुपरिणाम था।

मार्क्सवादी अथवा ऐतिहासिक भौतिकतावादी लेखन, इतिहास लेखन की वह शाखा है जो मार्क्सवाद के मुख्य सिद्धान्त –'ऐतिहासिक परिणामों को निर्धारित करने में सामाजिक वर्ग व आर्थिक दबावों की निर्णायक भूमिका' में विश्वास रखती है। मार्क्सवादी इतिहास सामान्यतः नियतिवादी है क्योंकि यह प्रदर्शित करता है कि इतिहास एक निश्चित अन्त की ओर बढ़ता है और वह अन्त है – 'एक वर्गहीन मानव–समाज' की स्थापना।

हेनरी मार्गन, व्लादीमिर लेनिन, आर0 एच0 टानी, क्रिस्टोफ़र हिल, ई0 एच0 हॉब्सबॉम, ई0 पी0 टॉमसन, ई0 एच0 कार, बी0 एन0 दत्त, डी0 डी0 कोसाम्बी, आर0 एस0 शर्मा, रोमिला थापर, इरफ़ान हबीब, एम0 एन0 राय,ए0 आर0 देसाई, बिपन चन्द्रा, के0 एम0 पनिकर, रंजीत गुहा आदि इतिहासकारों ने मार्क्स की परम्परा को आगे बढ़ाया है।

3.8 पारिभाषिक शब्दावली

उटोपिया – कल्पना लोक
'प्रथम इण्टरनेशल' – 'अन्तर्राष्ट्रीय कामगार समिति'
आइडियोलोजी – सिद्धान्तवाद

क्लास स्ट्रगल – वर्ग–संघर्ष
मैनिफ़ैस्टो – घोषणापत्र
फ़्यूडलिज़्म – सामन्तवाद

3.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. देखिए 3.4.1 कार्ल मार्क्स से पूर्व निजी सम्पत्ति के अधिकार के उन्मूलन विषयक विचार
2. देखिए 3.5.3 कार्ल मार्क्स की रचनाएं
3. देखिए 3.5.2 प्रथम इण्टरनेशनल

3.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

कॉलिंगवुड, आर0 जी0 – दि आइडिया ऑफ़ हिस्ट्री, लन्दन, 1978
गूच, जी0 पी0 – दि हिस्ट्री एण्ड दि हिस्टोरियन्स ऑफ़ दि नाइन्टीन्थ सेन्चुरी, लन्दन, 1913
श्रीधरन, ई0 – ए टैक्स्ट बुक ऑफ़ हिस्टोरियोग्राफ़ी, नई दिल्ली, 2013
कार, ई0 एच0 (अनुवादकः चक्रधर, अशोक) – 'इतिहास क्या है', नई दिल्ली, 1993
थापर, रोमिला (सम्पादक) – 'इतिहास की पुनर्व्याख्या' नई दिल्ली, 1991
पामदत्त, रजनी – ' आज का भारत', दिल्ली, 2001
लेनिन – 'मार्क्स, एंगेल्स–मार्क्सवाद', मॉस्को, 1971
3.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
वर्मा, लालबहादुर – 'इतिहास के बारे में', इलाहाबाद, 2000
शर्मा, रामविलास – 'इतिहास दर्शन', नई दिल्ली, 1995
शर्मा, आर0 एस0 – 'शूद्रों का प्राचीन इतिहास', नई दिल्ली, 1998
सरकार, सुमीत – 'सामाजिक इतिहास लेखन की चुनौती', दिल्ली, 2001
हबीब, इरफ़ान – 'भारतीय इतिहास की प्रमुख व्याख्याएं', नई दिल्ली, 1999
गुहा, रंजीत, गायत्री चक्रबर्ती (सम्पादक) – 'सेलेक्टेड सॅबॅल्टर्न स्टडीज़', दिल्ली, 1988

3.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।

इकाई 4 बीसवीं शताब्दी का इतिहास लेखनः स्पैंग्लर और टायनबी के संदर्भ में

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 प्राचीन काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक युगों के चक्रीय सिद्धान्त
4.3.1 प्राचीन भारतीय तथा ग्रीक युग–चक्रवादी सिद्धान्त
4.3.2 ईसाई तथा मुस्लिम युग–चक्रवादी सिद्धान्त
4.3.3 ज़ियाम्बत्तिस्ता विको तथा हर्डर के युग–चक्रवादी सिद्धान्त
4.4. ओस्वॉल्ड ऑर्नाल्ड स्पेंगलर का युग चक्रवादी सिद्धान्त
4.4.1 स्पेंगलर का संस्कृतियों के उत्थान–पतन विषयक विचार
4.4.2 स्पेंगलर का विश्व–इतिहास विषयक विचार
4.4.3 स्पेंगलर की दृष्टि में प्रत्येक संस्कृति की अपनी–अपनी विशिष्टताएं
4.4.4 'डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट'
4.4.5 स्पेंगलर की अन्य रचनाएं
4.4.6 एक इतिहाकार के रूप में स्पेंगलर का आकलन
4.5 टायनबी का युग चक्रवादी सिद्धान्त
4.5.1 टायनबी द्वारा सभ्यताओं के उत्थान एवं पतन की व्याख्या
4.5.2 चुनौती एवं प्रतिक्रिया
4.5.3 सभ्यता के विघटन के कारण
4.5.4 सभ्यता का पतन
4.5.5 टायनबी की रचनाएं
4.5.6 एक इतिहास–दार्शनिक के रूप में टायनबी का आंकलन
4.6 सारांश
4.7 पारिभाषिक शब्दावली
4.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.9 संदर्भ ग्रंथ सूची
4.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
4.11 निबंधात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक इतिहास एक स्वतन्त्र वैज्ञानिक विषय के रूप में स्थापित हो चुका था और इसकी प्रणाली व तकनीक पर सी0 वी0 लैंग्लोइस, चार्ल्स सीग्नोबोस, तथा लॉर्ड एक्टन द्वारा इतिहास के सिद्धान्त के पुनर्परीक्षण के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य हुआ। डर्खेम, वेबर और फ्रॉयड ने ऐतिहासिक विश्लेषण की परम्परागत प्रणाली को एक नया आयाम दिया। स्पेंगलर ने प्रथम विश्व युद्ध के बाद और टायनबी ने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विशेषज्ञता के इस युग में इतिहास में संश्लेषण और उद्देश्य की आवश्यकता पर बल दिया। ओस्वॉल्ड स्पेंगलर तथा ऑर्नाल्ड जे0 टायनबी की रचनाएं प्राथमिक स्रोतों पर आधारित इतिहास तथा सार्वभौमिक इतिहास के समाकलन के दो उदाहरण हैं। स्पेंगलर की रचनाओं में सामान्यीकरण की अधिकता है जब कि टायनबी स्रोत पर आधारित इतिहास लेखन तथा सार्वभौमिक इतिहास लेखन के समाकलन के साथ मानव सभ्यताओं के अध्ययन की ओर अग्रसर होता है। दोनों ही इतिहासकारों ने इतिहास के प्रस्तुतीकरण में सोद्देश्यवादी सिद्धान्तों को समाहित करने का प्रयास किया है। स्पेंगलर और टायनबी वास्तव में विश्व युद्ध प्रारम्भ होने से ठीक पहले के समय के उत्तर–आधुनिक शैली के अनुदारवादी विचारक हैं। इस युद्ध की भयावह विनाश लीला ने बीसवीं शताब्दी के विचारकों को दार्शनिक स्तब्धता और निराशा की स्थिति में डाल दिया था। स्पेंगलर की रचना 'दि डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट' में भी विचारकों की ऐसी ही मनःस्थिति का प्रतिबिम्बन है। 'डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट' में इस धारणा को प्रस्तुत किया गया है कि संस्कृतियों के इतिहास को जन्म, विकास और पतन के निश्चित नियम संचालित करते हैं और इन नियमों का गहन अध्ययन व विश्लेषण कर हम इतिहास के विषय में सटीक भविष्यवाणी कर सकते हैं। स्पेंगलर द्वारा सार्वाभौमिक इतिहास की व्यवस्थित व्याख्या का प्रयास सराहनीय है।

टायनबी ने 'ए स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री' में स्पेंगलर के ग्रंथ 'दि डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट' में प्रतिपादित चक्रीय सिद्धान्त का अनुकरण किया था किन्तु उसे उसका प्राचीन यान्त्रिक नियतिवाद का आदर्श स्वीकार्य नहीं था। टायनबी ने अनुभवाश्रित एवं प्रेरक आदर्श का चयन किया। इस कार्य–प्रणाली में 26 सभ्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है क्योंकि टायनबी यह मानता है कि ऐतिहासिक अध्ययन की सुबोधगम्य इकाइयां राष्ट्र अथवा काल नहीं बल्कि समाज अथवा सभ्यताएं हैं। टायनबी की इतिहास रूपी पहेली की प्रमुख कुंजी अपने द्वारा प्रतिपादित 'चुनौती और प्रतिक्रिया' की परिकल्पना है। टायनबी ने चुनौती और प्रतिक्रिया की परिकल्पना द्वारा विभिन्न सभ्यताओं के जन्म, विकास, विघटन और पतन के चक्र को समझने का प्रयास किया है। टायनबी का यह मानना है कि किसी सभ्यता का विकास तब होता है जबकि उसके समक्ष आई हुई चुनौती का उसके द्वारा दिया गया जवाब न केवल सफल हो अपितु आगे अधिक कठिन चुनौती का मुकाबला करने के लिए उसके नागरिक तत्पर हों। टायनबी सभ्यताओं के विकास और उनके पतन को एक आध्यात्मिक प्रक्रिया के रूप में देखता है। आज हम इतिहास को कला और विज्ञान दोनों के सम्मिलन के रूप में जानते हैं और इस निष्कर्ष तक पहुंचने में टायनबी के दृष्टिकोण ने हमारी सहायता की है।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको प्राचीन काल व मध्यकाल में युगों के विभिन्न चक्रीय सिद्धान्तों की संक्षिप्त चर्चा करते हुए आधुनिक काल के, विशेषकर स्पेंगलर तथा टायनबी के युगों के चक्रीय सिद्धान्तों से परिचित कराना है। इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप अग्रांकित के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे–

- प्राचीन काल से लेकर बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक युगों के चक्रीय सिद्धान्तों के विषय में।
- आदि काल से लेकर 'डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट' की रचना से पूर्व तक की मानव सभ्यताओं के जन्म, विकास, पतन व अन्त के विषय में।
- स्पेंगलर द्वारा आठ संस्कृतियों के विवरण, विशेषकर पाश्चात्य संस्कृति–सभ्यता के पतन के विषय में।
- टायनबी द्वारा 26 सभ्यताओं के उत्थान एवं पतन के विश्लेषणात्मक अध्ययन के विषय में।

4.3 प्राचीन काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक युगों के चक्रीय सिद्धान्त

4.3.1 प्राचीन भारतीय तथा ग्रीक युग–चक्रवादी सिद्धान्त

प्राचीन भारतीय परम्परा में इतिहास को एक निरन्तर गतिशील चक्र के रूप में माना गया है। भारतीय युग चक्रीय सिद्धान्त प्राचीन वैदिक, जैन एवं बौद्ध दर्शन में दृष्टव्य है। भारतीय संस्कृति में चार युगों की कल्पना की गई है –

कृत युग – कृत युग को मानव इतिहास का स्वर्ण युग माना गया है।

त्रेता युग – युगचक्र के इस द्वितीय चरण में मानवीय गुणों तथा सामाजिक सुखों की अवनति परिलक्षित होने लगी।

द्वापर युग – युगचक्र के इस तृतीय चरण में मानवीय कष्टों, संघर्षों का दौर प्रारम्भ हुआ और मानव–जीवन को सन्मार्ग पर चलाने हेतु संस्कारों का सृजन तथा नियमों की व्यवस्था की गई।

कलियुग – युगचक्र के इस अन्तिम चरण में मानवता अपने पतन की पराकाष्ठा पर पहुंच जाती है, धर्म की अवनति होने लगती है और सामाजिक वैमनस्य बढ़ने लगता है।

भारतीय युगचक्रवादी सिद्धान्त से अवतारवाद की अवधारणा घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है। किसी भी युग में जब अधर्म और अनाचार अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच जाते हैं तो भगवान साधुजनों की रक्षार्थ व दुष्टों के विनाशार्थ अवतार लेते हैं।

यूनानी इतिहासकारों – हेसिओड, थ्यूसीडाइडीस तथा तथा पोलिबियस ने युग– चक्रवादी सिद्धान्त में अपनी आस्था व्यक्त की है। भारतीयों की भांति ही यूनानी विचारकों ने भी इतिहास को चार युगों में विभाजित किया है। इन चार युगों के नाम हैं – स्वर्ण युग, रजत युग, कांस्य युग एवं लौह युग।

4.3.2 ईसाई तथा मुस्लिम युग–चक्रवादी सिद्धान्त

मध्य काल में ईसाई परम्परा के इतिहासकार सन्त अगस्ताइन ने देव नगर और पाप नगर के विरोधाभास का प्रतिपादन करते हुए इतिहास में सात अवस्थाओं का उल्लेख किया है।
अरबी इतिहासकार इब्न खलदून यह मानता है कि सभ्यताएं शरीर की भांति विकसित, प्रौढ़ एवं क्षीण होकर अपनी निश्चित जीवन–अवधि व्यतीत करती हैं और अन्ततः नष्ट हो जाती हैं।
4.3.3 ज़ियाम्बत्तिस्ता विको तथा हर्डर के युग–चक्रवादी सिद्धान्त
युगों के चक्रात्मक क्रम के सिद्धान्त का प्रमुख आशय यह है कि जिस प्रकार दिन के बाद रात और रात के बाद दिन आते हैं, दुख के बाद सुख और सुख के बाद दुख आते हैं और एक ऋतु एक बाद दूसरी तथा दूसरी के बाद तीसरी ऋतु आती है, ठीक उसी तरह विभिन्न युग एक के बाद एक आते हैं और इतिहास की गति को नियमित करते हैं। इतिहास–दर्शन के संस्थापक और महान इतिहासकार, इटली निवासी ज़ियाम्बत्तिस्ता विको (1608–1644) के अनुसार देश को और मानव–सभ्यता को विकास के निश्चित चरणों से होकर गुज़रना पड़ता है। ये चरण हैं – जन्म, परिपक्वता, पराभव और पतन। विको ने आधुनिक काल में इतिहास के चक्रीय सिद्धान्त को पुनर्जीवित किया था। विको इतिहास को तीन युगों – 'हीरोइक युग', 'क्लासिक युग' और 'पतन का युग' में विभाजित करता है। मानव सभ्यता के विकास के प्रत्येक चरण के आचार–व्यवहार, कानून, अर्थ–व्यवस्था, साहित्य व कला सम्बन्धी अपनी–अपनी विशेषताएं होती हैं। उसने सांस्कृतिक दृष्टि से हर युग और हर देश में अन्तर देखा। इसका तात्पर्य यह है कि देश और काल के अनुसार ही किसी प्रकार का ऐतिहासिक आकलन किया जाना उचित है।
अठारहवीं शताब्दी में प्रशा के दार्शनिक एवं ब्रह्मविज्ञानी हर्डर ने प्रत्येक राष्ट्रीय संस्कृति को – अपने अन्तर्निहित लक्षण 'राष्ट्रीय चरित्र' के साथ एक जैविक इकाई माना जिसकी कि अभिव्यक्ति भाषा, साहित्य, कला और नैतिक–संहिता में होती है। हर्डर जातीय श्रेष्ठता के सिद्धान्त में विश्वास नहीं करता है। हर्डर के अनुसार किसी भी देश का राष्ट्रीय चरित्र उसके इतिहास को अत्यधिक प्रभावित करता है। हर्डर इतिहासकारों को निर्देश देते हुए कहता है –'किसी देश के बारे में लिखने से पहले तुम उस देश के साथ सहानुभूति रखो, उसके युग में जाओ, उसके भूगोल में जाओ, उसके सम्पूर्ण इतिहास में जाओ, यह अनुभव करो कि तुम वहीं हो।'

4.4. ओस्वॉल्ड ऑर्नाल्ड स्पेंगलर का युग चक्रवादी सिद्धान्त

4.4.1 स्पेंगलर का संस्कृतियों के उत्थान–पतन विषयक विचार

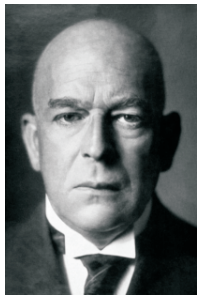

ओस्वॉल्ड ऑर्नाल्ड स्पेंगलर (1880–1936) एक जर्मन इतिहासकार और इतिहास–दार्शनिक था। उसकी प्रसिद्धि का मुख्य आधार 1918 तथा 1922 में प्रकाशित प्रारब्ध पर लिखी उसकी युद्ध विरोधी पुस्तक 'डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट' है। इस पुस्तक में स्पेंगलर ने सम्पूर्ण विश्व के इतिहास का अध्ययन किया है। अपने इस ग्रंथ में उसने एक नए सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वह सिद्धान्त है – 'प्रत्येक मानव–सभ्यता की एक सीमित जीवन–अवधि होती

है और अन्ततः प्रत्येक सभ्यता का पतन होता है।' स्पेंगलर इतिहास को शाश्वत मानता है जिसमें विभिन्न संस्कृतियों का उत्थान और पतन होता रहता है। स्पेंगलर विश्व इतिहास को रेखीय आकार (जिसके अनुसार इतिहास को विभिन्न कालों – प्राचीन, मध्य और आधुनिक में विभाजित किया जाता है।) में कल्पित नहीं करता है। स्पेंगलर विश्व इतिहास को महान संस्कृतियों का एक नाटक मानता है। इस नाटक में प्रत्येक संस्कृत स्वयमेव पल्लवित होती है। प्रत्येक संस्कृति एक जैव इकाई के समान है जिसके कि विभिन्न जीवन–चक्र होते हैं। प्रत्येक संस्कृति का अपना बचपन, जवानी और बुढ़ापा होता है और एक समय ऐसा भी आता है जब कि उस संस्कृति की मृत्यु हो जाती है, अर्थात् वह पूरी तरह नष्ट हो जाती है। प्रत्येक संस्कृति आरम्भ में बर्बरता के दौर से गुज़रती है और कालान्तर में विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं, कला, विज्ञान आदि का विकास होता है। अपने अंतिम दौर में संस्कृति विकृत होकर अपनी सृजनशीलता को खोकर पतन की ओर अग्रसर होती है जिसमें सर्वत्र विकृतियां दिखाई देने लगती हैं और संस्कृति की सृजनशीलता समाप्त हो जाती है। अन्ततः संस्कृति नष्ट हो जाती है। स्पेंगलर, जातियों, भाषाओं, भू–प्रदेशों आदि को वृक्ष–रूपी संस्कृतियों की फूल–पत्तियां मानता है। वह संस्कृतियों को जैविक मानते हुए विश्व इतिहास को उनकी सामूहिक जीवनियां मानता है। संस्कृतियों के जीवन में वसन्त, ग्रीष्म, पतझड़ और शीत ऋतु आते हैं।

4.4.2 स्पेंगलर का विश्व–इतिहास विषयक विचार

स्पेंगलर आठ प्रमुख संस्कृतियों का उल्लेख करता है। ये आठ संस्कृतियां हैं – मिस्र की, बेबीलोनियन, भारतीय, चीनी, ग्रीको–रोमन (क्लासिकल), अरबी, मैक्सिकन और पाश्चात्य (यूरोपियन–अमेरिकन)। इनमें से प्रत्येक संस्कृति अपने–अपने प्रमुख परिसर अथवा मूल प्रतीक पर आधारित है और यही उसके विज्ञान, दर्शन, कला, आस्था, जीवन–पद्धति, विचार और कार्यों को निर्दिष्ट करते हैं। स्पेंगलर इन सभी संस्कृतियों के युगों के चक्र को निश्चित मानता है। प्रत्येक संस्कृति का जीवन औसतन 1000 वर्ष का होता है। स्पेंगलर का यह विचार है कि जब किसी संस्कृति की आत्मा का विकास रुक जाता है तो वह अपने अन्तिम रूप में सभ्यता में प्रविष्ट होती है। स्पेंगलर पाश्चात्य सभ्यता को ही एकमात्र सभ्यता मानने वालों से सहमत नहीं है। स्पेंगलर मिस्र, बेबीलोनिया तथा मिनोन सभ्यताओं को मृत सभ्यताएं, पोलीनीसियन, एस्किमो, नामाड, स्पार्तन तथा ओसमानली सभ्यताओं को अवरुद्ध (जिनका विकास रुक गया हो) सभ्यताएं तथा आधुनिक पाश्चात्य ईसाई समाज, कट्टरपंथी ईसाई समाज, मुस्लिम, हिन्दू तथा सुदूर पूर्व की सभ्यताओं को वर्तमान काल में भी जीवित सभ्यताएं मानता है। जब संस्कृति सभ्यता के स्तर पर आ जाती है तो उसमें रहने वालों के मन–मस्तिष्क में धर्म का स्थान धर्महीन विज्ञान, समष्टि के स्थान पर व्यष्टि, वास्तविक शाश्वत मूल्यों के स्थान पर धन–सम्पदा सम्बन्धी मूल्य और मातृत्व जैसी पवित्र व निश्छल भावना के स्थान पर काम–भावना विकसित हो जाती है। जैसे दिया बुझने पहले एक बार फिर तेज़ हो जाता है उसी प्रकार सभ्यता अपने पतन से पूर्व एक बार फिर धर्म की ओर उन्मुख होती है जिसके कारण धर्म सुधार आन्दोलन का विकास होता है और रहस्यवादी

प्रवृत्तियां भी प्रबल हो जाती हैं किन्तु यह प्रवृत्ति एक संस्कृति के पतन और दूसरी संस्कृति के जन्म की सूचक है।

स्पेंगलर ने जिन 8 संस्कृतियों का उल्लेख किया है, उनमें से उसने मुख्यतः चार संस्कृतियों की विस्तृत चर्चा की है। इनमें प्रथम भारतीय संस्कृति है, द्वितीय संस्कृति – पुरातन यूरोपीय संस्कृति (ग्रीको–रोमन) है, तृतीय मध्यकालीन संस्कृति है (इसमें ईसाई और मुस्लिम संस्कृतियां सम्मिलित हैं)और चौथी संस्कृति पाश्चात्य संस्कृति है। स्पेंगलर के अनुसार बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक अपने जन्म से 1000 वर्ष पूरा करने के बाद पाश्चात्य संस्कृति शीत ऋतु के पड़ाव तक अर्थात् अपने पतन के चरण तक पहुंच गई है। स्पेंगलर के अनुसार आधुनिक पाश्चात्य देश वासी फ़ॉस्टियन (अपनी आत्मा बेचकर भौतिक सुख खरीदने वाले) हैं। अपनी भौतिक प्रगति पर गर्व करने वाले इन पाश्चात्य देशवासियों की दुखद स्थिति पर स्पेंगलर शोक व्यक्त करता है क्योंकि वो स्वयं अपने भीतर–भीतर जानते हैं कि वो जिस लक्ष्य तक पहुंचने का अनवरत एवं अनथक प्रयास कर रहे हैं, उस तक वो कभी पहुंचेंगे नहीं।

4.4.3 स्पेंगलर की दृष्टि में प्रत्येक संस्कृति की अपनी–अपनी विशिष्टताएं

स्पेंगलर का यह मानना है कि किसी एक संस्कृति की भावना किसी दूसरी संस्कृति को हस्तान्तरित नहीं हो सकती। हर संस्कृति का मूल प्रतीक विशिष्ट और अन्य सभी सभ्यताओं सें अलग होता है। मिस्र की संस्कृति का मूल प्रतीक – पाषाण है, ग्रीक संस्कृति का मूल प्रतीक – सौन्दर्य का आदर्श है, भारतीय संस्कृति का मूल प्रतीक – आत्मा की मुक्ति है और पाश्चात्य संस्कृति का मूल प्रतीक – कंदरा अथवा गुंबद है।

4.4.4 'डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट'

'डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट' में इस धारणा को प्रस्तुत किया गया है कि संस्कृतियों के इतिहास को जन्म, विकास और पतन के निश्चित नियम संचालित करते हैं और इन नियमों का गहन अध्ययन व विश्लेषण कर हम इतिहास के विषय में सटीक भविष्यवाणी कर सकते हैं। स्पेंगलर के अनुसार 'उत्थान के बाद पतन होता है' का सिद्धान्त संस्कृतियों–सभ्यताओं के इतिहास पर भी लागू होता है। गर्वोन्मत्त मिस्र, सुन्दर ग्रीस और महान रोम की सभ्यताएं , सभी एक दिन काल के गर्त में समा गईं। जूडिया, फ़ोनेसिया, कार्थेज, बेबीलोनिया, असीरिया और पर्शिया की सभ्यताएं भी विनष्ट हो गईं। स्पेंगलर यह प्रश्न उठाता है – 'क्या उत्थान और पतन का यह नियम आधुनिक इटली, स्पेन, फ़्रांस, इंग्लैण्ड और जर्मनी जैसे देशों वाले यूरोप पर लागू नहीं होगा?'

'डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट', ऑटो सीक की रचना 'दि डिक्लाइन ऑफ़ दि एन्टीक्विटी' से प्रभावित थी। इसमें समकालीन विश्व–व्यापी युद्ध–विरोधी मानसिकता का प्रतिबिम्बन है। 'इस पुस्तक के दूसरे खण्ड में स्पेंगलर ने एक ऐसा वैश्विक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जिसमें प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात जर्मनी और ऑस्ट्रिया के निवासियों की भावनाओं की प्रतिध्वनि है। स्पेंगलर ने मित्र राष्ट्रों की विजय के खोखलेपन को भी दर्शाया है। इस पुस्तक में लोकतन्त्र को पतनशील सभ्यता का

द्योतक माना गया है। जर्मनी में लोकतन्त्र की असफलता के पश्चात बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक के प्रारम्भ में स्पेंगलर ने तानाशाही अथवा अधिनायक तन्त्र के उत्थान का समर्थन किया है।

4.4.5 स्पेंगलर की अन्य रचनाएं

1920 में स्पेंगलर ने 'प्रशियनडम एण्ड सोशलिज़्म' की रचना की जिसमें कि उसने समाजवाद और सत्तावाद के एक सुगठित राष्ट्रवादी रूप के पक्ष में तर्क प्रस्तुत किए हैं। अपनी पुस्तक 'मैन एण्ड दि टैक्नीक' (1931) में स्पेंगलर ने संस्कृति पर तकनीकी विकास और औद्योगिकीकरण के हानिकारक प्रभाव को दर्शाया है। स्पेंगलर की दर्शन सम्बन्धी एक पुस्तक – 'दि मैटाफ़िज़िकल आइडिया ऑफ़ हेराक्लिटिस फ़िलोसॅफ़ी' है।

अपने निजी पत्रों में स्पेंगलर ने यहूदी–विरोधी विचारधारा की खुलकर भर्त्सना की है। स्पेंगलर ने आने वाले समय में एक ऐसा विश्व युद्ध होने की चेतावनी दी थी जिसमें कि पाश्चात्य सभ्यता के विनष्ट होने का संकट था।

4.4.6 एक इतिहाकार के रूप में स्पेंगलर का आकलन

गोबिल जैसे नाज़ी, स्पेंगलर को अपना बौद्धिक अग्रदूत मानते थे किन्तु 1933 में उसे जर्मनी तथा समस्त यूरोप के भविष्य के विषय में निराशावादी दृष्टिकोण रखने, जातीय श्रेष्ठता की नाज़ी विचारधारा का समर्थन न करने, और अपनी विवादास्पद आलोचनात्मक रचना – 'दि आवर ऑफ़ डिसीज़न' के लेखन के आरोप में जर्मनी से निर्वासित कर दिया गया। हिटलर के राजनीतिक उत्थान के बावजूद वह अपने दृष्टिकोण पर निरन्तर कायम रहा।

स्पेंगलर द्वारा सार्वाभौमिक इतिहास की व्यवस्थित व्याख्या का प्रयास सराहनीय है। स्पेंगलर द्वारा सन्निकट निष्ठुर तानाशाही की भविष्यवाणी हिटलर के उत्थान और उसके सत्ताग्रहण से सत्य सिद्ध हुई। परन्तु अब स्पेंगलर की पुस्तक अधिकांशतया एक कपोल–कल्पना जैसी प्रतीत होती है, विशेषकर उसके द्वारा की गई पाश्चात्य सभ्यता के सन्निकट अनिष्टसूचक विनाश की निराशाजनक भविष्यवाणी। इतिहास विशेषज्ञों ने स्पेंगलर की अप्रामाणिक तरीकों की आलोचना की है क्योंकि वह तथ्यों को गलत प्रकार से प्रस्तुत करने की कोई चिन्ता नहीं करता है। मानव–समाज को एक जैविक इकाई के रूप में प्रस्तुत करने की स्पेंगलर की असफल कोशिश के कारण सामाजिक सिद्धान्त के क्षेत्र में 'डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट' के महत्वपूर्ण योगदान पर भी शंकाएं उठी हैं। समीक्षकों ने स्पेंगलर के अवश्यम्भावी पतन के नियतिवादी सिद्धान्त की आलोचना की है और साथ ही साथ उसके द्वारा ज्ञानोदय, प्रगति के सिद्धान्त तथा सैकड़ों वर्षों के संघर्ष के बाद हासिल की गई लोकतान्त्रिक स्वतन्त्रता के परित्याग को भी दोषपूर्ण माना है।

स्पेंगलर की फ़ॉस्टियन (अपनी आत्मा बेचकर दुनियावी समृद्धि प्राप्त करने का सौदा), चक्रीय, तथा पाश्चात्य सभ्यता के अवश्यम्भावी विनाश की अवधारणाओं ने आने वाली पीढ़ी के दार्शनिकों, इतिहासकारों, साहित्यकारों, चित्रकारों, फ़िल्मकारों और समीक्षकों को अत्यधिक प्रभावित किया है। उसकी विचारधारा से प्रभावित दार्शनिकों में मार्टिन हीडेगर, लुडविग विट्जेन्सटीन तथा

फ्रांसिस पार्कर यॉकी के नाम प्रमुख हैं। उससे प्रभावित लेखकों तथा कवियों में अर्नेस्ट हेमिंग्वे, विला कार्थर, हेनरी मिलर, एच0 जी0 वेल्स तथा मैल्कम लोली, हैरमन कान ('दि ईयर 2000' मे फ़ास्टियन अवधारणां), जॉन डॉस पैसोस, एफ़0 स्कॉट फ़िट्ज़ेराल्ड, विलियम एस0 बरो, जैक कैरोक, कवि विलियम बटलर यीट्स आदि प्रमुख हैं। चित्रकार कोकोशका तथा फ़िल्मकार फ़्रिट्ज़ लैग पर भी स्पेंगलर की विचारधारा का प्रभाव पड़ा है।

4.5 टायनबी का युग चक्रवादी सिद्धान्त

4.5.1 टायनबी द्वारा सभ्यताओं के उत्थान एवं पतन की व्याख्या

ऑर्नाल्ड, जे0 टायनबी (1889–1968) एक ब्रिटिश इतिहाकार तथा इतिहास–दार्शनिक था। वह लन्दन स्कूल ऑफ़ इकॉनॉमिक्स तथा यूनीवर्सिटी ऑफ़ लन्दन में अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास का प्रोफ़सर रहा था। टायनबी ने ग्रीक एवं लैटिन साहित्य का गहन अध्ययन कर और अनेक बार विश्व–भ्रमण कर इतिहास के प्रति अपने दृष्टिकोण को परिपक्व एवं व्यापक बनाया था। टायनबी ने 'ए स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री' में स्पेंगलर के ग्रंथ 'दि डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट' में प्रतिपादित चक्रीय सिद्धान्त का अनुकरण किया है किन्तु उसे उसका प्राचीन यान्त्रिक नियतिवाद का आदर्श स्वीकार्य नहीं है। टायनबी ने ब्रिटिश परम्परा के अनुभवाश्रित एवं प्रेरक आदर्श का चयन किया है। इस कार्य–प्रणाली में 26 सभ्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है क्योंकि टायनबी यह मानता है कि ऐतिहासिक अध्ययन की सुबोधगम्य इकाइयां राष्ट्र अथवा काल नहीं बल्कि समाज अथवा सभ्यताएं हैं।

टायनबी मानव–इतिहास और मानव–अस्तित्व के सन्दर्भ में सभ्यताओं को अपेक्षाकृत हाल ही में हुई घटना मानता है। टायनबी पाश्चात्य सभ्यता को ही एकमात्र सभ्यता मानने वालों से सहमत नहीं है। टायनबी मिस्र, बेबीलोनिया तथा मिनोन सभ्यताओं को मृत सभ्यताएं, पोलीनीसियन, एस्किमो, नामाड, स्पार्तन तथा ओसमानली सभ्यताओं को अवरुद्ध (जिनका विकास रुक गया हो) सभ्यताएं तथा आधुनिक पाश्चात्य ईसाई समाज, कट्टरपंथी ईसाई समाज (इसमें रूस तथा दक्षिण–पूर्वी यूरोप के देश सम्मिलित हैं), मुस्लिम, हिन्दू तथा सुदूर पूर्व (इसमें जापान, कोरिया व चीन सम्मिलित हैं) की सभ्यताओं को वर्तमान काल में भी जीवित सभ्यताएं मानता है।

4.5.2 चुनौती एवं प्रतिक्रिया

टायनबी की इतिहास रूपी पहेली की प्रमुख कुंजी अपने द्वारा प्रतिपादित 'चुनौती और प्रतिक्रिया' की परिकल्पना है। उसने चुनौती और प्रतिक्रिया की परिकल्पना द्वारा विभिन्न सभ्यताओं के जन्म, विकास, विघटन और पतन के चक्र को समझने का प्रयास किया है। सभ्यता की, एक इकाई के

रूप में पहचान कर, वह प्रत्येक सभ्यता के इतिहास को चुनौती और प्रतिक्रिया के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करता है। सभ्यताओं का तब उत्थान होता है जब सृजनशील अल्पसंख्यक कठिन से कठिन चुनौती का सामना करने के लिए ऐसे समाधानों की खोज कर लेते हैं जिनसे कि सम्पूर्ण समाज में नव–चेतना का संचार हो जाता है। अपने इस विचार की पुष्टि के लिए टायनबी भौतिक चुनौती के रूप में सुमेरियन सभ्यता का दृष्टान्त देता है। सुमेरिया के निवासियों के समक्ष दक्षिण ईराक का दुर्दमनीय दलदल उनके अस्तित्व के लिए सबसे बड़ा खतरा था। सुमेरिया के नव–प्रस्तरयुगीन सृजनशील अल्पसंख्यकों ने वहां के निवासियों को संगठित कर विशाल सिंचाई योजनाओं को साकार किया और दलदल की समस्या का स्थायी समाधान किया। सामाजिक चुनौती के रूप में टायनबी रोमन साम्राज्य के विघटन के कारण उत्पन्न अराजकता के संकट का निवारण करने के लिए कैथोलिक चर्च के योगदान का उल्लेख करता है जिसने कि जर्मन–जातीय राज्यों को धार्मिक समुदाय की एक इकाई के रूप में संगठित किया।

टायनबी का यह मानना है कि किसी सभ्यता का विकास तब होता है जबकि उसके समक्ष आई हुई चुनौती (यह चुनौती भौगोलिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक अथवा किसी अन्य प्रकार की भी हो सकती है) का उसके द्वारा दिया गया जवाब न केवल सफल हो अपितु आगे अधिक कठिन चुनौती का मुकाबला करने के लिए उसके नागरिक तत्पर हों। जब एक सभ्यता के नेता चुनौतियों का सृजनात्मक रूप से जवाब देने में असफल रहे तो राष्ट्रवाद, सैनिकवाद के उदय अथवा अल्पसंख्यक स्वेच्छाचारियों के अत्याचार के कारण उसका पतन हुआ। टायनबी सभ्यताओं के विकास और उनके पतन को एक आध्यात्मिक प्रक्रिया के रूप में देखता है।

टायनबी की शोध प्रविधि अनुभववादी है। वह प्राचीन से प्राचीन युग के साथ स्वयं को सम्बद्ध करके उनमें हुई घटनाओं का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। टायनबी का यह दावा है कि हम अतीत के अनुभव के आधार पर भविष्य के विषय में अनुमान लगा सकते हैं।

4.5.3 सभ्यता के विघटन के कारण

टायनबी का यह मानना है कि कोई भी सभ्यता अपनी उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुंचने के बाद विघटन की ओर अग्रसर होती है। यह विघटन की स्थिति तब आती है जब चुनौतियों का सफलतापूर्वक प्रत्युत्तर देने में सभ्यता असफल हो जाती है। इस असफलता के मुख्यतः तीन कारण हैं –

1. सृजनशील अल्प–संख्यकों रचनात्मकता का अभाव।
2. सर्वहारा बहु–संख्यकों द्वारा सृजनात्मक अल्प–संख्यकों का अनुकरण न करना।
3. सामाजिक एकता में कमी आने के कारण एकजुट होकर चुनौतियों का सामना करने की शक्ति का लुप्त हो जाना।

4.5.4 सभ्यता का पतन

टायनबी का विश्वास है कि समाजों का विनाश प्राकृतिक कारणों से नहीं अपितु हत्या अथवा आत्मघात के कारण होता है और इसमें भी ज़्यादातर आत्मघात ही इसका कारण होता है।

4.5.5 टायनबी की रचनाएं

टायनबी की रचनाएं हैं – 'ए स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री', 'सिविलाइज़शन ऑन ट्रायल', 'दि वर्ड एण्ड दि वैस्ट', क्रिश्चियैनिटी अमॉन्ग दि रिलीजन्स ऑफ़ दि वर्ड'',नैशनैलिटी एण्ड वार', 'ए हिस्टोरियन्स व्यू ऑफ़ रिलीजन', 'ग्रीक हिस्टोरिकल थॉट', 'ईस्ट टु वैस्टः ए जर्नी राउण्ड दि वर्ड', 'हेलेनिज़्म', 'ए हिस्ट्री ऑफ़ सिविलाइज़ेशन', 'ऑटोबायग्राफ़ी', 'सर्वे ऑफ़ इण्टर–नेशनल अफ़ेयर्स'(वार्षिक पत्रिका जिसकी कि अन्तिम कड़ी 'मैनकाइन्ड एण्ड दि मदर अर्थ' है।) आदि। 'ए स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री' में इतिहास की प्रकृति, इतिहास के अर्थ तथा ऐतिहासिक परिवर्तन के कारण व उसकी महत्ता का अध्ययन किया गया है। '1914 (प्रथम विश्व युद्ध के प्रारम्भ होने का वर्ष) के बाद सभ्यता पर संकट छा गया है', टायनबी की इस अनुभूति ने उसे सभ्यता के उद्‌गम और विकास की समस्याओं का अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया। क्यों किंचित सभ्यताएं विकसित होती हैं जब कि वैसी ही लाभदायी परिस्थितियों के बावजूद अन्य किंचित सभ्यताओं का पतन हो जाता है? टायनबी के ग्रंथ का विशिष्ट विषय संस्कृतियों के उद्‌गम, विकास और विघटन का दार्शनिक अन्वेषण है। इस अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ ने चक्रीय विकास एवं सभ्यताओं के पतन के विश्लेषण पर आधारित इतिहास–दर्शन प्रस्तुत किया। इस ग्रंथ ने ओसवाल्ड स्पेंगलर के पृथक एवं स्वतन्त्र सभ्यताओं के दृष्टिकोण के विरुद्ध सांस्कृतिक विलयनीकरण पर अत्यधिक महत्व दिया है और इसने ऐतिहासिक सिद्धान्त को अत्यधिक प्रभावित किया है।

4.5.6 एक इतिहास–दार्शनिक के रूप में टायनबी का आंकलन

अनेक विद्वानों द्वारा 'डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट' को इतिहास के विश्वकोश और बीसवीं शताब्दी के महानतम ऐतिहासिक ग्रंथ के रूप में मान्यता दी गई है। 1947 में 'टायनबी पर 'टाइम्स मैगज़ीन' में प्रकाशित एक लेख में 'ए स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री' को इंग्लैण्ड में कार्ल मार्क्स की पुस्तक 'कैपिटल' के बाद ऐतिहासिक सिद्धान्त पर रचित सबसे उत्तेजनात्मक ग्रंथ बताया गया था। बीसवीं शताब्दी के पाँचवें तथा छठे दशक में टायनबी सम्भवतः सबसे अधिक पढ़ा जाने वाला तथा सबसे चर्चित विद्वान रहा है।

टायनबी के लेखन में धार्मिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण की परम–व्याप्ति के कारण 1960 के बाद उसकी लोकप्रियता में अप्रत्याशित कमी आई और आज उसकी रचनाएं विवादास्पद मानी जाती हैं। उसके आलोचकों ने उसके अनुभववादी सिद्धान्त की विश्वसनीयता पर सन्देह व्यक्त किया है। टायनबी ने विभिन्न सभ्यताओं के आध्यात्मिक पक्ष पर विशेष बल दिया है और राष्ट्र, उद्योग, भौतिक उन्नति तथा मनुष्य की बौद्धिक शक्ति के विकास की उपेक्षा की है।एच0 ई0 बार्न्स ने टायनबी के ग्रंथ को ऐतिहासिक ग्रंथ के स्थान पर ईश–स्तुति का ग्रंथ माना है। टायनबी का कटु आलोचक पीटर गेल उसे धर्मदूत कहकर उसका उपहास उड़ाता है। गेल का मानना है कि इतिहास में अनन्त जटिलताएं हैं और ऐतिहासिक घटनाएं इतनी जल्दी–जल्दी बदलती हैं कि सार्वभौमिक इतिहास को किसी निश्चित प्रणाली के अन्तर्गत बांधने से निराशा ही हमारे हाथ

लगती है इसलिए वह टायनबी द्वारा अपने सभी तर्कों तक केवल अनुभवात्मक पद्धति द्वारा पहुंचने के दावे को खोखला बताता है। टेलर ने टायनबी की नियतिवाद में आस्था की आलोचना की है। सभ्यताओं विकास में मनुष्य की अपनी स्वतन्त्र एवं महत्वपूर्ण भूमिका होती है किन्तु टायनबी इस सत्य को सर्वथा नकार देता है। टायनबी ने 26 सभ्यताओं का चयन किसी वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर नहीं किया है अपितु अपनी सुविधानुसार किया है। टायनबी ने मुख्यतः यूनानी सभ्यता का गहन करके अपना अनुभववादी सिद्धान्त विकसित किया है और फिर इस सिद्धान्त को उसने अन्य सभ्यताओं पर लागू किया है। सभ्यता के जन्म, उत्थान, विकास और विनाश विषयक टायनबी की अवधारणा की प्रामाणिकता पर प्रश्न उठाए जाने स्वाभाविक हैं। किसी भी सभ्यता में यदि परिवर्तन आते हैं तो टायनबी उसे मृत मान लेता है और एक नई सभ्यता के जन्म की घोषणा कर देता है। वास्तव में सभ्यताएं कभी पूरी तरह से विनष्ट नहीं होतीं और वो आगामी समय की सभ्यताओं के लिए विरासत में बहुत कुछ छोड़ जाती हैं।

टायनबी ने यूरोप–केन्द्रित इतिहास लेखन की परम्परा पर सबसे गहरी चोट की थी। संकीर्ण पश्चिम–मुखी इतिहास के स्थान पर वास्तव में सार्वभौमिक इतिहास की रचना द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात अविकसित क्षेत्र के देशों के उत्थान के सन्दर्भ में और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। उसने विभिन्न समाजों के उद्‌गम, विकास और पतन का अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति से किया है। आज हम इतिहास को कला और विज्ञान दोनों के सम्मिलन के रूप में जानते हैं और इस निष्कर्ष तक पहुंचने में टायनबी के दृष्टिकोण ने हमारी सहायता की है। टायनबी ने इतिहास को एक नई दृष्टि दी है। 'ए स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री' आधुनिक ऐतिहासिक शोध की अति विशिष्टता की प्रवृत्ति को सन्तुलित करने में सफल सिद्ध हुई है। टायनबी द्वारा सभ्यताओं के तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से हम अपनी संकुचित एवं संकीर्ण मानसिकता का परित्याग कर अपनी सभ्यता के अतिरिक्त दूसरी सभ्यताओं के इतिहास के प्रति अभिरुचि और सम्मान की भावना जागृत कर सकते हैं और सम्पूर्ण मानव–जाति के विकास की गाथा समझने की क्षमता का विकास कर सकते हैं। अमेरिकी राजनीतिक विचारक हैन्स मॉर्जेन्थ्यू ने टायनबी को महान दार्शनिक मानते हुए उसकी उपलब्धियों को कालजयी बताया है।

अभ्यास प्रश्न

निम्नांकित पर चर्चा कीजिए–

1. भारतीय युग चक्रवादी सिद्धान्त।
2. स्पेंगलर का संस्कृतियों के उत्थान–पतन विषयक विचार।
3. टायनबी की रचनाएं।

4.6 सारांश

स्पेंगलर तथा टायनबी की रचनाएं प्राथमिक स्रोतों पर आधारित इतिहास तथा सार्वभौमिक इतिहास के समाकलन के दो उदाहरण हैं। स्पेंगलर की रचनाओं में सामान्यीकरण की अधिकता है जब कि टायनबी स्रोत पर आधारित इतिहास लेखन तथा सार्वभौमिक इतिहास लेखन के

समाकलन के साथ मानव सभ्यताओं के अध्ययन की ओर अग्रसर होता है। दोनों ही इतिहासकारों ने इतिहास के प्रस्तुतीकरण में सोद्देश्यवादी सिद्धान्तों को समाहित करने का प्रयास किया है।

विश्व युद्ध की भयावह विनाश लीला ने बीसवीं शताब्दी के विचारकों को दार्शनिक स्तब्धता और निराशा की स्थिति में डाल दिया था। स्पेंगलर की रचना 'दि डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट' में भी विचारकों की ऐसी ही मनःस्थिति का प्रतिबिम्बन है। इसमें स्पेंगलर ने एक नए सिद्धान्त – 'प्रत्येक मानव–सभ्यता की एक सीमित जीवन–अवधि होती है।' का प्रतिपादन किया है। स्पेंगलर इतिहास को शाश्वत मानता है जिसमें विभिन्न संस्कृतियों का उत्थान और पतन होता रहता है। प्रत्येक संस्कृति का अपना बचपन, जवानी और बुढ़ापा होता है और एक समय ऐसा भी आता है जब कि उस संस्कृति की मृत्यु हो जाती है। स्पेंगलर आठ प्रमुख संस्कृतियों का वह उल्लेख करता है। ये आठ संस्कृतियां हैं – मिस्र की, बेबीलोनियन, भारतीय, चीनी, ग्रीको–रोमन, अरबी, मैक्सिकन और पाश्चात्य।

स्पेंगलर का यह विचार है कि जब किसी संस्कृति की आत्मा का विकास रुक जाता है तो वह अपने अन्तिम रूप में सभ्यता में प्रविष्ट होती है। स्पेंगलर पाश्चात्य सभ्यता को ही एकमात्र सभ्यता मानने वालों से सहमत नहीं है। स्पेंगलर के अनुसार बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक पाश्चात्य संस्कृति शीत ऋतु के पड़ाव तक अर्थात् अपने पतन के चरण तक पहुंच गई है।

समीक्षकों ने स्पेंगलर के अवश्यम्भावी पतन के नियतिवादी सिद्धान्त की आलोचना की है। स्पेंगलर की फ़ॉस्टियन, चक्रीय, तथा पाश्चात्य सभ्यता के अवश्यम्भावी विनाश की अवधारणाओं ने आने वाली पीढ़ी के दार्शनिकों, इतिहासकारों, साहित्यकारों, चित्रकारों, फ़िल्मकारों और समीक्षकों को अत्यधिक प्रभावित किया है।

टायनबी ने 'ए स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री' में स्पेंगलर के ग्रंथ 'दि डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट' में प्रतिपादित चक्रीय सिद्धान्त का अनुकरण किया है किन्तु उसे उसका प्राचीन यान्त्रिक नियतिवाद का आदर्श स्वीकार्य नहीं है। टायनबी ने 'ए स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री' में अनुभवाश्रित एवं प्रेरक आदर्श का चयन किया है। इस कार्य–प्रणाली में 26 सभ्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है क्योंकि टायनबी यह मानता है कि ऐतिहासिक अध्ययन की सुबोधगम्य इकाइयां राष्ट्र अथवा काल नहीं बल्कि समाज अथवा सभ्यताएं हैं। टायनबी ने चुनौती और प्रतिक्रिया की परिकल्पना द्वारा विभिन्न सभ्यताओं के जन्म, विकास, विघटन और पतन के चक्र को समझने का प्रयास किया है। टायनबी का यह मानना है कि किसी सभ्यता का विकास तब होता है जबकि उसके समक्ष आई हुई चुनौती का उसके द्वारा दिया गया जवाब न केवल सफल हो अपितु आगे अधिक कठिन चुनौती का मुकाबला करने के लिए उसके नागरिक तत्पर हों। टायनबी सभ्यताओं के विकास और उनके पतन को एक आध्यात्मिक प्रक्रिया के रूप में देखता है। टायनबी पाश्चात्य सभ्यता को ही एकमात्र सभ्यता मानने वालों से सहमत नहीं है।

टायनबी की शोध प्रविधि अनुभववादी है। टायनबी का यह दावा है कि हम अतीत के अनुभव के आधार पर भविष्य के विषय में अनुमान लगा सकते हैं।

टायनबी ने विभिन्न सभ्यताओं के आध्यात्मिक पक्ष पर विशेष बल दिया है और राष्ट्र, उद्योग, भौतिक उन्नति तथा मनुष्य की बौद्धिक शक्ति के विकास की उपेक्षा की है। एच0 ई0 बार्न्स तथा

पीटर गेल, टायनबी के विचारों में एक धर्मदूत की मानसिकता के दर्शन करते हैं। टेलर ने टायनबी की नियतिवाद में आस्था की आलोचना की है। टायनबी ने 26 सभ्यताओं का चयन किसी वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर नहीं किया है अपितु अपनी सुविधानुसार किया है। टायनबी ने मुख्यतः यूनानी सभ्यता का गहन करके अपना अनुभववादी सिद्धान्त विकसित किया है और फिर इस सिद्धान्त को उसने अन्य सभ्यताओं पर लागू किया है।

अनेक विद्वानों द्वारा 'डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट' को इतिहास के विश्वकोश और बीसवीं शताब्दी के महानतम ऐतिहासिक ग्रंथ के रूप में मान्यता दी गई है। टायनबी को यह श्रेय दिया जाता है कि उसने यूरोप–केन्द्रित इतिहास लेखन की परम्परा पर सबसे गहरी चोट की थी। टायनबी द्वारा सभ्यताओं के तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से हम अपनी संकुचित एवं संकीर्ण मानसिकता का परित्याग कर अपनी सभ्यता के अतिरिक्त दूसरी सभ्यताओं के इतिहास के प्रति अभिरुचि और सम्मान की भावना जागृत कर सकते हैं और सम्पूर्ण मानव–जाति के विकास की गाथा समझने की क्षमता का विकास कर सकते हैं।

4.7 पारिभाषिक शब्दावली

पुनर्परीक्षण – फिर से जांच करना।

'डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट' – पश्चिम (पाश्चात्य सभ्यता) का पतन।

नियतिवाद – भाग्यवाद

'ए स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री' – इतिहास का अध्ययन

4.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. देखिए 4.3.1 प्राचीन भारतीय युग चक्रवादी सिद्धान्त
2. देखिए 4.4.1 स्पेंगलर का संस्कृतियों के उत्थान–पतन विषयक विचार
3. देखिए 4.5.5 टायनबी की रचनाए

4.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

टॉयनबी, ऑर्नाल्ड, जे0 – ए स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री, 12 खण्ड, लन्दन, 1946

टॉयनबी, ऑर्नाड, जे0 – क्रिश्चियैनिटी अमॉन्ग दि रिलीजन्स ऑफ़ दि वर्ड, न्यूयॉर्क, 1956

श्रीधरन, ई0 – ए टैक्स्ट बुक ऑफ़ हिस्टोरियोग्राफ़ी, नई दिल्ली, 2013

कार, ई0 एच0 – व्हाट इज़ हिस्ट्री, लन्दन, 1962

कॉलिंगवुड, आर0 जी0 – दि आइडिया ऑफ़ हिस्ट्री, लन्दन, 1978

टॉम्सन, जे0 डब्लू0 – ए हिस्ट्री ऑफ़ हिस्टॉरिकल राइटिंग्स, न्यूयॉर्क, 1954

4.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

वर्मा, लालबहादुर – 'इतिहास के बारे में', इलाहाबाद, 2000
शर्मा, रामविलास – 'इतिहास दर्शन', नई दिल्ली, 1995

4.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. 'डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट' के सन्दर्भ में स्पेंगलर के संस्कृतियों के उत्थान एवं पतन विषयक विचारों की समीक्षा कीजिए।
2. एक इतिहास–दार्शनिक के रूप में टायनबी का आकलन कीजिए।

ब्लॉक दो

यूरोपः आधुनिकता की ओर

इकाई 1 सांमतवाद का पतन

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्यः
1.3 सांमतवाद का पतन
1.4 सामंतवाद के पतन के कारण
1.4.1 सांमतों के मध्य अविराम युद्धों की श्रृंख्ला
1.4.2 नये हथियारों का अविष्कार
1.4.3 किसान विद्रोह
1.4.4 व्यापार की भूमिका
1.4.5 मुद्रा–व्यवस्था का उदय
1.4.6. प्रौद्योगिकी और भूमि तथा श्रम की उत्पादकता
1.4.7. जनसंख्या में वृद्धि
1.4.8. पुनर्जागरण और धर्मसुधार
1.5 सारांश
1.6 शब्दावली
1.7 संदर्भ ग्रंथ सूची
1.8 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

'फ्युडल' (सामंती) शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द फियाडेलिस (Feodalis) से हुई है परंतु मध्ययुगीन यूरोप में इस शब्द का प्रयोग कानूनी अर्थ में किया जाता था। 'सामंतवाद' शब्द का प्रचार मुख्यतया 18वीं शताब्दी के फ्रांसीसी दार्शनिक बूलैंवीयै (Boulaiuvilliers) और मौन्टेसक्यू (Montesquieu) के द्वारा किया गया। इस शब्द का प्रयोग मध्ययुग के दौरान छोटे–छोटे राजकुमारों और अधिपतियों की संप्रभुता में साझेदारी को व्याख्यायित करने के लिए कर रहे थे। कुल मिलाकर सामंतवाद एक राजनीतिक ढॉचा या सामाजिक स्वरूप है जो 9वीं शताब्दी और 13वीं शताब्दी के बीच पश्चिमी और मध्य यूरोप में एक महत्त्वपूर्ण प्रणाली के रूप में मौजूद थी।

जिस प्रकार से सामंतवाद के विकास का एक लंबा एवं जटिल इतिहास रहा है उसी प्रकार इसका पतन भी एक लंबी प्रक्रिया के तहत हुआ। सांमतवाद का पतन इतिहासकारों के बीच एक विवाद का प्रश्न रहा है। विद्वानों का मानना है कि 14वीं शताब्दी में सामंतवाद का धीरे–धीरे पतन होने लगा और कुछ समय बाद यूरोप से यह व्यवस्था समाप्त हो गई। कुछ विद्वानों का मानना है कि व्यापार के फिर से उभरने और विकसित होने तथा फलस्वरूप नगरों का विकास सामंतवाद के

पतन का मुख्य कारण था। अन्य विद्वानों का प्रौधोगिकी का स्तर, कृषि में उत्पादकता, जनसंख्या संबधी बदलाव और ग्रामीण परिदृश्य में परिवर्तन जैसे अन्य मुद्दे सामंतवाद के पतन के लिए जिम्मेदार थे।

1.2 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय को पढ़ने के बाद आप

- यूरोप में सांमतवाद के पतन की प्रकिया को जान सकेंगे।
- इसमें व्यापार की भूमिका को समझ सकेगें।
- पुनर्जागरण एवं पूँजीवाद का उत्थान कैसे सांमती ढॉचा को नष्ट किया।

1.3 सांमतवाद का पतन

13वीं शताब्दी यूरोप में मध्यकाल का चरमोरकर्ष माना जाता है, किंतु इसी शताब्दी के अंतिम वर्षो में कुछ ऐसी नवीन प्रगतिशील शक्तियों का उदय हो रहा था जो मध्यकालीन व्यवस्था के पतन और नये युग के आगमन का संकेत दे रही थी। 14वीं एवं 15वीं शताब्दी में प्रायः उन सारी शक्तियों का विघटन हुआ जो मध्यकालीन व्यवस्था की मुख्य विशेषताएँ थी। ये विशेषताएँ थी – राजनीतिक सत्ता का विखंडीकरण, निजी लोगों के हाथों में सार्वजनिक शक्ति एवं एक ऐसी सैन्य व्यावस्था जिसमें सैन्य शक्ति निजी हाथों में ठेके पर दे दी गई है, इत्यादि। मध्यकालीन संस्थाओं के विघटन के साथ–साथ नए आदर्शो और संस्थाओं का उदय हो रहा था। ये दो सदियॉ अंशतः मध्यकालीन और अशंतः आधुनिक साबित हुई। इन दोनों शताब्दियों में कुछ विशिष्ट मध्यकालीन संस्थाओ जैसे बड़े–बड़े साम्राज्य, विश्वव्यापी धर्म, गिल्डों के अधिकार, मैनोरियल व्यवस्था और रूढ़िवाद के पतन के गर्त में गिरते देखते हैं। लगभग हर स्थिति में मध्यकालीन संस्थाएँ नवजागृत प्रगतिशील शक्तियों को नियंत्रित करने या रोकने में सक्षम रही। मध्यकालीन व्यवस्था के केन्द्र में सामंतवादी व्यवस्था थी और इसका पतन संपूर्ण मध्यकालीन व्यवस्था के पतन की व्याख्या करता है।

1.4 सामंतवाद के पतन के कारण

1.4.1 सांमतों के मध्य अविराम युद्धों की श्रृंख्ला

सामंत प्रथा की एक बड़ी कमजोरी यह थी कि सांमत बराबर आपस में लड़ते रहते थे। इनके कारण धन–जन की काफी क्षति होते गया। 200 वर्षों के धर्मयुद्ध में बहुत सारे सामंत मारे गये। इस युद्ध का अंत होते–होते इंग्लैड़ और फ्रांस के सामंतों के बीच लड़ाई छिड़ गई जो लगभग 100 वर्षो तक चली। इसमें अनेक सांमत मारे गए। फिर 15वीं सदी में इंग्लैड के गुलाबों के युद्ध से भी वहॉ के सामंतवर्ग को बड़ी क्षति पहुँची। यह बड़ा भीषण युद्ध था, क्योंकि इसके द्वारा प्रतिद्वन्द्वी सांमतों

के दल इंग्लैंड के शासनतंत्र को अपनी–अपनी मुट्ठी में लाना चाहते थे। एक ओर इन्होंने आपस में लड़कर अपनी शक्ति बर्बाद की तो दूसरी ओर इन्होंने राजाओ को सामंती मामलो में हस्तक्षेप करने का मौका दिया। इन सामंती युद्धों के कारण यूरोप में हिंसा, अव्यवस्था और उपद्रव का वातावरण पैदा हुआ। फलतः सामान्य लोगों में सांमतों के प्रति घृणा और उब की भावना पैदा हुई। इसी परिवेश में कानून–व्यवस्था के स्थानापन्न के रूप में शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। फलतः राष्ट्रीय–राज्यों के उदय का मार्ग प्रशस्त होने लगा। अगर इंग्लैंड में यार्क और लंकाशायर वंश के सांमत आपस में नही लड़ते तो वहॉ ट्यूडर निरकुंशतंत्र का उदय नहीं होता।

1.4.2 नये हथियारों का अविष्कार

एक ओर तो लगातार हो रहे युद्धों के कारण सामंतों की संख्या घटती जा रही थी और दूसरी ओर नए हथिआरों के आविष्कार के कारण उनका सामाजिक एवं सामरिक महत्त्व भी घट रहा था। घुड़सवार सामंत अपने भाले, बर्छे और तलवारों से लड़ते थे और इस कारण वे युद्ध में कुशल समझे जाते थे। अब लंबे धनुष का प्रचलन आरंभ हुआ। इससे तीरंदाज किसान भी घुड़सवार सामंत का मुकाबला करने लगा और सामाजिक दृष्टि से अब नाइट की पुरानी प्रधानता जाती रही।

इन सामंतों की सामरिक प्रधानता का दूसरा कारण था कि वे अपने दुर्भेध किलों में रहकर अपनी सुरक्षा आसानी से करते थे, किंतु मंगोल यूरोप में सबसे पहले बारूद लाये और अरब युद्ध में बारूद के गोलों का व्यवहार होने लगा। गोला–बारूद द्वारा सामंती किलों पर दखल जमाना आसान हो गया, इसलिए अब सामंती किले की दुर्भेधता जाती रही।

मध्य युग के अंत में बंदुकों का व्यवहार होने लगा। पहले इसका व्यवहार जर्मनी में हुआ और गुलाबों की लड़ाई में इंग्लैंड में एडवर्ड चतुर्थ ;प्टद्ध के भाड़े के सिपाहियों ने इसका प्रयोग किया। बंदुकों के कारण पैदल सेना प्रमुख सेना बन गई और पुराने ढंग की घुड़सवार सेना का महत्त्व जाता रहा। सामंतो को दबाने के लिए राजा पैदल सेना का संगठन करने लगा और उनके लिए बंदुक और बारूद जुटाने लगा। इसके लिए पैसे की आवश्यकता थी और पैसे शहरी व्यापारियों के पास थे। सामंतो के विरोधी व्यापारी ने पैसे से राजा का हाथ मजबूत किया जिससे सामंती व्यवस्था को धक्का लगा।

1.4.3 किसान विद्रोह

सामंतों के पतन का एक प्रमुख कारण था किसानों का विद्रोह। कृषि अधिशेष का सामंतो के द्वारा अधिक दोहन का बुरा असर किसानों पर पड़ा। छोटे एवं मध्यम किसान भी इससे प्रभावित हुए क्योंकि अधिशेष दोहन के दर में वृद्धि से उनके पास मुश्किल से कुछ बचता था। एम.एम. पोस्टन के अनुसार सामंती कुलीन वर्ग के द्वारा आश्रित किसानों से कुल उपज का आधा भाग ले लिया जाता था। इसके साथ–साथ लगातार कृषि के कारण भूमि की उर्वरकता भी कम होती जा रही थी

क्योंकि उर्वरकता हासिल करने के लिए किसान जमीनों को बहुत दिनों तक परती नहीं छोड़ सकते थे। साथ ही किसानो की सीमित आय के कारण उन्नत बीज, उर्वरक और तकनीक पर खर्च नहीं करते सकते थे। परिणामस्वरूप कृषि उत्पादन में गिरावट दर्ज हुआ और खाद्य पदार्थो के असमान वितरण और आबादी में लगातार वृद्धि के कारण संकट को जन्म दिया। साथ ही साथ सामंती वर्ग के द्वारा कृषि के क्षेत्र में कोई रूचि का न लेना तथा भोग विलास में ज्यादा खर्च करना भी महत्तवपूर्ण भूमिका निभा रहा था। रोडनी हिल्टन ने अनुमान लगाया कि सामंतो के द्वारा कुल आय का मात्र पॉच प्रतिशत उत्पादन में निवेश किया जाता था बाकि गैर उत्पादक मदों में।

उपरोक्त वर्णित परिस्थितियों के कारण 14वीं सदी के शुरू में पूरे यूरोप में कृषि मूल्यों में काफी बढ़ोती हुई। इससे ग्रामीण तथा शहरी वर्ग दोनों प्रभावित हुआ। खाद्य पदार्थो में हो रहे लगातार वृद्धि के कारण 14वीं सदी के पूर्वार्द्ध में अकाल पड़ने लगे थे। 1315–16 का अकाल काफी भयंकर था। अकालों के कारण आबादी में गिरावट हुआ। इसके अलावा, 1347 में पूर्वी यूरोप में प्लेग की महामारी फैल गई और 1348 तक पश्चिमी यूरोप में फैल गया। महामारी का यह श्रृंखला 1350–51 तक चला। इसे यूरोप में 'काली मौत' के नाम से जाना जाता है। इसमें यूरोप की एक चौथाई आबादी नष्ट हो गई। 14वीं सदी के अंत तक यूरोप की आबादी में 40: तक गिरावट दर्ज हुआ।

पश्चिम में आश्रित किसानों ने 14वीं सदी के इस संकट का मुकाबला सामंती करों के बढ़ते बोझ के खिलाफ प्रतिरोध करके किया। अधिकांश किसानों के विद्रोह स्वतःस्फूर्त और व्यक्तिगत थे। किसान शुल्क अदा करने से मना करके दूसरी जगह भाग जाते। आगे चलकर बड़ी संख्या में यह विद्रोह संगठित किसान विद्रह हुए जिससे सामंतो का अधिकार भूदासों पर कमजोर हुआ। 1320 के दशक में फ्रांस, बल्जियम, इंग्लैंड आदि क्षेत्रों में अनेक किसान विद्रोह हुए। सर्वाधिक महत्वपूर्ण विद्रोह 1358 में फ्रांस में हुआ जिसे ग्रैंड जैकरी के नाम से जाना जाता है।

1.4.4 व्यापार की भूमिका

बेल्जियम इतिहासकार हेनरी पिरेन ने सामंतवाद के पतन के लिए व्यापार के प्रसार एवं शहरी केन्द्रों के उदय को जिम्मेदार माना है। इन्होने अपनी पुस्तक, 'मेडिवल सिटीजः देयर ऑरिजिन ऐंड रिवाइवल ऑफ ट्रेड' में सामंतवाद के पतन में व्यापार की भूमिका को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना हैं। पिरेन के अनुसार लंबी दूरी का व्यापार जिसे वे ''ग्रैंड ट्रेड'' कहते थे, की फिर से पुनरूत्थान हुआ और शहरी केन्द्र उभर आए। इससे लोगों के निजी जिंदगी में परिवर्तन हुआ और व्यक्ति स्वतंत्रता का जीवन को मूल मानने लगा। जर्मनी में यह कहावत प्रचलित हुई कि 'शहर की हवा लोगों का आजाद बनाती है।' वास्तव में व्यापार का वातावरण स्वतंत्रता का वातावरण था और सामंती प्रथा का वातावरण असंतोष और संकीर्णता का। इसलिए दोनों में संघर्ष हाने लगा। शहर के लोगों को भी सामंती सेवाऍ करनी पड़ती थी जिससे वे मुक्त होना चाहते थे। उदाहरण के लिए उन्हें अपनी जमीन बेचने की स्वतंत्रता नहीं थी, जिससे वे अपनी पूँजी को करोबार में लगा सकें। उनके व्यापार संबधी मुकदमों का फैसला भी मैनर की सामंती कचहरियों में होता था। इसके

अतिरिक्त इन्हें अपने उद्योग एवं धन्धें और व्यापार में मजदूरों की आवश्यकता थी, किंतु सामंती व्यवस्था दासता के कारण मजदूर जमीन से बँधे हुए थे। इन कारणों से भी व्यापारियों और सामंतो के बीच संघर्ष हुआ और व्यापारियों के द्वारा किसान विद्रोही को समर्थन भी मिला।

13वीं–15वीं शताब्दी तक सौदागरों के द्वारा अपना संगठन बनाया गया और राजा की सहायता से अपनी मॉगों को मनवाया भी गया। इससे समंतवाद को बड़ा धक्का लगा। व्यापार में तेजी के पीछे धर्मयुद्ध का भी बड़ा योगदान माना जाता है। इससे भूमध्यसागर का रास्ता मुस्लिमों से निकलकर यूरोपीयों के हाथों में चला गया। परिणामस्वरूप उत्तरी यूरोप और पुरब के बीच व्यापार में तेजी आया। पुराने शहर पुनः उन्नति करने लगे और साथ ही नए शहरों का उदय होने लगा। 15वीं शताब्दी में पेरिस की आबादी तीन लाख, वेनिस की एक लाख, नब्बे हजार, प्राग एवं ब्रुसेल्स की एक लाख और लंदन की आबादी 35000 थी।

पिरेन की सामंतवाद और व्यापार के बीच आधारभूत द्विभाजन संबंध को सबसे गंभीर चुनौति मार्क्सवादी इतिहासकार मॉरिस डॉब ने दी। 1946 में उन्होने अपनी पुस्तक 'स्टडीज इन द डेवेलवपेंट ऑफ कैपिटलिज्म' में सामंतवाद के पतन में व्यापार की भूमिका को उठाया। उनके अनुसार अपने आप में व्यापार किसी भी आर्थिक व्यवस्था को नहीं बदल सकता है क्योंकि व्यापार के साथ–साथ दास प्रथा, सामंतवाद, पूँजीवाद इत्यादि कायम रह सकता है। उन्होने यह भी तर्क दिया कि 17वीं–18वीं शताबदी में पूर्वी यूरोप में व्यापार के पुनरूत्थान से सामंतवादी व्यवस्था का अंत होने के बजाए वहॉ 'दूसरी कृषि दास' व्यवस्था का जन्म हुआ। इनके अनुसार कृषि दास प्रथा सामंतवाद का प्रमुख लक्षण है।

मार्क्सवादी विश्लेषण के तहत डॉब ने कहा कि पश्चिमी यूरोप में सामंतवाद के पतन का कारण 'अंदरूनी संकट' था। इस अंदरूनी संकट को डॉब ने सामंती वर्गा एवं किसान वर्ग के बीच के संघर्ष के रूप में व्याख्यायित करते है। डॉब शहरों के उदय को भी सामंतवाद के पतन के लिए एक प्रमुख कारण मानते है। परंतु जहॉ एक ओर पिरेन इस परिघटना को व्यापार के साथ जोड़कर देखते हैं वहीं दूसरी ओर डॉब व्यापार से इसका कोई संबंध नहीं मानते है।

अमेरिकी विद्वान पॉल स्वीजी ने भी पिरेन की अवधारणा और व्यापार/सामंतवाद के बीच असंगति का समर्थन किया। उनका तर्क है कि सामंतवाद का पतन वाणिज्यिक अर्थव्यवस्था के विस्तार के कारण हुआ। जापान के इतिहासकार कोचरू ताकाहाशी ने यह कहकर बहस को एक नया मोड़ दे दिया कि पूँजीवाद का जन्म केवल बुर्जुआ वर्ग के उदय के जरिए सामंतवाद के खंडहरों के ऊपर नहीं हुआ बल्कि यह राज्य समर्थित पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का परिणाम था। जापान के संदर्भ में तेजी पुनर्स्थापना के बाद पूँजीपति वर्ग ने नहीं बल्कि राज्य ने वहॉ पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के उदय में निर्णायक भूमिका अदा की।

यदि डॉब ने व्यापार और सामंतवाद की संगति के संबंध में विचार रखे तो दूसरे फ्रांसीसी इतिहासकार गी बुआ आगे बढ़कर दोनों का सीधा संबंध को स्थापित किया। डॉब के अनुसार सामंतवाद का पतन उत्पादन की सांमतवादी पद्धति के भीतर के अन्तर्विरोधों का परिणाम था। गि बुआ ने अपने लेख में फ्रांस के एक गॉव लूर्नांद (Lournand) का परीक्षण संक्रमण के काल में किया और यह बताया कि व्यापार के विकास से अधिपतियों और किसानों का सांमती गठजोड़

कमजोर होने के बजाए और मजबूत हो गया। पिरेन का यह मानना था कि मध्यकालीन यूरोप में प्रौद्योगिकी का स्थान निम्न था और भूमि तथा श्रम की उत्पादकता काफी कम थी, से डॉब, रोडनी हिल्टन आदि सहमति दर्ज करते हैं।

1.4.5 मुद्रा–व्यवस्था का उदय

जैसे–जैसे व्यापार की वृद्धि हुई मुद्रा–व्यवस्था का प्रचलन हुआ। सामंती व्यवस्था के आर्थिक आधार में मुद्रा की प्रघानता नहीं थी। किसान वर्ग काम करके एवं सामंतशाह उनसे सेवाएँ लेकर अपनी जरूरतों को पूरा करते थे। परंतु सिक्कों के प्रचलन से परिस्थितियॉ बदल गयी। मुद्रा अर्थव्यवस्था में सामंतो ने भूमि को व्यावस्था के रूप में देखना शुरू किया। वे अब अपनी जागीर से अधिक से अधिक मुनाफा चाहने लगे। अतः उन्होने अपनी जमीन की घेराबंदी शुरू की और उस घिरे हुए प्लाट में खेती के नये तरीके अपनाये। उन्होंने महसूस किया किया कि अब खेती में उतने लोगों की आवश्यकता नहीं है, जितने लोग पहले लगाए जाते थे। अतः उन्होने अपनी जागीर (Manor) में संलग्न किसानों को बाहर करना शुरू किया। इस प्रकार से एक ओर मैनोरियल व्यवस्था का अंत हुआ और दूसरी ओर कृषि के व्यावसायीकरण से सामंती मूल्य एवं दृष्टिकोण विखड़ने लगा। मैनर व्यवस्था से मुक्त किसान नए व्यवस्था की खोज में शहर की ओर पलायन करने लगे। इस कारण से मुद्रा–प्रधान अर्थव्यवस्था के कारण ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में एक नई लहर पैदा हुई जो सामंतवाद के विरूद्ध थे। अब गतिहीन, कृषि प्रधान और सामूहिक सामंती व्यवस्था के स्थान पर एक गतिशील, शहरी, प्रतियोगी और मुनाफा व्यावस्था अर्थव्यवस्था अर्थात् पूँजीवाद का उदय हुआ। ऐसी स्थिति में सामंतवाद जीर्ण–शीर्ण और अनुपयोगी साबित होने लगा। धीरे–धीरे यह स्पष्ट होने लगा कि उदयीमान आर्थिक एवं सामाजिक शक्तियों का विकास शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार के द्वारा ही हो सकता है। किसान व्यापारी, उद्योगपति, मजदूर, सभी राजा को ही अपना हितचिंतक मानने लगे और उन्होंने व्यापार, उद्योग, खेती तथा सामाजिक संरचना पर केन्द्रीय सरकार के अधिकाधिक नियंत्रण की मॉग की। इंग्लैंड एवं फ्रांस जैसे देश के राजाओं ने इस चुनौति का स्वीकारा और उन्होंने राष्ट्रीय स्तर पर सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति को नियंत्रित किया। सामाजिक स्तरीकरण (Social Stratification), आर्थिक स्थानीयवाद (economic localization) और निहित स्वार्थो के विभिन्न घटकों पर आधारित सामंतवाद के पतन का संकेत राष्ट्रीय–राज्यों के उदय से मिल रहा था।

परिणाम यह हुआ कि पश्चिमी यूरोप के देशों में राजा और व्यापारिक वर्ग (थर्ड स्टेट) के बीच अन्योन्याश्रित संबंध कायम हुआ। पारस्परिक समझौते के द्वारा दोनों सामंतों की रही–सही शक्ति को तोड़ने लगे। अपने देश में एक मजबूत केन्द्रीय (राष्ट्रीय) शक्ति की स्थापना की चेष्टा करने लगे। उदाहरण के लिए, 1389 ई0 में इंग्लैड की सरकार ने यह कानून पास किया कि समूचे इंग्लैंड में एक समान माप–तौल चलेगी और जो इसका उल्लंघन करेगा उसे छः महीने की सजा मिलेगी । उसी प्रकार 1439 ई0 में फ्रांस के राजा ने एक कानून पास किया कि व्यापारियों को सामंतो के द्वारा ज्यादा लुटने से बचाया जाए। उसी साल फ्रांस में राष्ट्रीय कर जिसे टैली कहते

है पहले पहल लगाया गया जो नियमित रूप से सबको पैसे के रूप में देना पड़ता था। अब राजा नियमित रूप से वेतनधारी सेना रखने लगा और राजकर्मचारियों को भी बहाल करने लगा। वह मध्यमवर्ग से जज, मंत्री और नागरिक अधिकारिक को भी भर्ती करने लगा। 15 वीं शताब्दी में फ्रांस के जाकी कोर नामक लियोन शहर का बैंकर अपने समय का बहुत धनी व्यक्ति राजा का मंत्री बना। इस तरह 15वीं शताब्दी का अंत होते–होते इंग्लैड, फ्रांस, बैल्जियम और स्पेन में पूरे के पूरे राज्य एक आर्थिक इकाई बन गए और राजा की प्रधानता कायम हो गयी। स्थानीयता पर आधारित सामंतवाद धाराशायी होने लगा।

1.4.6. प्रौद्योगिकी और भूमि तथा श्रम की उत्पादकता

मध्ययुगीन यूरोप में प्रौद्योगिकी के निम्न स्तर की बात को हेनरी पिरेन तथा मॉरिस डॉब दोनों ने ही समर्थन किया परन्तु इस बात पर उन्होंने कुछ नहीं कहा कि इस लंबे अंतराल में प्रौद्योगिकी में काफी परिवर्तन दर्ज हुआ। पॉचवीं से आठवीं या नवीं शताब्दी के मध्य दक्षिणी यूरोप और भूमध्यसागर के आसपास मे क्षेत्रों में बीजःउपज का अनुपात लगभग 1:1.6 या अधिक से अधिक 1:2.5 था। अर्थ है 10 किलो बीज बोने पर अधिकतम सिर्फ 25 किलो अन्न का उत्पादन। इस समय उपलब्ध प्रौद्योगिकी अतिसाधारण थी। इस समय हल के रूप में खुरचने वाला हल का इस्तेमाल होता था जिससे जमीन की गहरी खुदाई नहीं हो पाती थी। इससे जमीन की उर्वरकता का अधिकतम दोहन नहीं हो पाता था। फलस्वरूप बड़े–बड़े खेतों में फसल लगाना पड़ता था और श्रम भी ज्यादा लगता था। श्रमिकों के अधिक मॉग के कारण सामाजिक स्तर पर भी तनाव बना रहता था।

परंतु मध्य काल में कृषि प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में विकास हुआ। कृषि के क्षेत्र में भारी हल का प्रयोग, दो–खेत व्यवस्था के स्थान पर तीन–खेती व्यवस्था, बारी–बारी से फसल उगाना (crop rotation) नई फसलें जैसे मटर, बीन्स आदि का उपजाने की शुरूआत हुई। भारी हल खींचने के लिए बैल तथा बाद में घोड़े का प्रयोग किया गया। इससे 12वीं शताब्दी में श्रम और भूमि की उत्पादकता में वृद्धि हुई। अब बीजःफसल का अनुपात 1:4 हो गया यानि अधिशेष की मात्रा तिगुनी हो गई थी। इसके अलावा पनचक्की एवं पवनचक्की के प्रयोग के कारण मानव श्रम की आवश्यकता भी कम हो गई। परिणामस्वरूप कृषि के लिए अतिरिक्त मानव संसाधन उपलब्ध थे। परंतु इस तरह की प्रौद्योगिकी के इस्तेमाल हेतु अधिक पूँजी की जरूरत होती थी जिसके कारण किसानों के बीच पहले से मौजूद मतभेद को और अधिक विस्तरित कर दिया। अब छोटे किसान भी कृषि में अधिक पूँजी निवेश करने लगा और बाजार में उत्पाद को बेचने लगा। परंतु कृषि के वाणिज्यिकरण के कारण और असमय फसल के नष्ट होने के चलते उसे भूमिहीन मजदूर बनने को बाध्य होना पड़ता था। इस प्रकार मजदूर, भूमि और उपज तीनों बाजार के द्वारा निर्धारित होने लगे इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप किसानों के बीच भेद और तीव्र हो गया जो सामंतवाद के पतन के लिए जिम्मेदार साबित हुआ।

1.4.7. जनसंख्या में वृद्धि

1960–70 के दशक में नव–माल्थसवादियों ने भी सामंतवाद के पतन की व्याख्या अपने तरीके से की। इनका मानना है कि जनसंख्या के पैटर्न में आए बदलाव के कारण सामंती अर्थव्यवस्था का पतन हुआ। ये आगे कहते हैं कि आर्थिक ढॉचे में दीर्घकालीक परिवर्तन में जनसंख्या की बड़ी भूमिका थी। इमैनुएल लि रॉय लादूरी (Emmanuel Le Roy Ladurie) ने यह तर्क दिया कि मध्ययुगीन यूरोप में बढ़ी हुई आबादी का बोझ सहन करने में कृषि अपने को असमर्थ पा रही थी। जनसंख्या में वृद्धि के साथ–साथ उत्पादकता में गिरावट, जोतों का विखंडन, मजदूरी मे गिरावट और लगान में वृद्धि के कारण कृषि संकट पैदा हो गया। इसलिए 1314–15 ई0 में अकाल और 1348–51 में प्लेग ने ऐसा कहर बरपाया कि यूरोप की एक चौथाई जनसख्या समाप्त हो गई। इससे मध्ययुगीन यूरोप का संपूर्ण संतुलन बिगड़ गया और पूँजीवाद की और संक्रमण हुआ।

1.4.8. पुनर्जागरण और धर्मसुधार

पुनर्जागरण एवं धर्मसुधार आंदोलन भी सामंतवाद के पतन में अपना योगदान दिया। पुनर्जागरण ने मानवतावाद और राष्ट्रीय–राज्यों के उदय का मार्गा प्रशस्त किया। इसके साथ ही साथ तर्क और विवेक पर आधारित एक ऐसी विचारधारा का जन्म हुआ जो सामंती विचारधारा से मेल नहीं खाती थी। धर्मसुधार आंदोलन में उस चर्च की महत्ता पर कुठाराघात किया जो सामंती व्यावस्था का एक मुख्य आधार था। मठो की जमीन जब्त कर ली गयीः पादारियों के विशेषाधिकार छिन लिये गये और रूढ़िवादी विचारधारा पर प्रहार हुए। दूसरे शब्दों में सामंतवाद के आधारस्तंत्रों को हिला दिया गया।

1.5 सारांश

कुल मिलाकर इतिहासकार जनसंख्या में परिवर्तन और व्यापार की भूमिका को सामंती अर्थव्यवस्था के रूपान्तरण के लिए जिम्मेदार मानते है। आर्थिक इतिहासकार एम.एम. पोस्टन एवं ई.ले. राय लादूरी जनसंख्या के विस्तार एंव संकुचन के संदर्भ में सामंती व्यवस्था के पतन हेतु व्याख्यायित करते है। दूसरी तरफ हेनरी पिरेन और ई0 वैलरस्टीन जैसे इतिहासकार व्यापार की भूमिका पर बल देते है। एक अन्य इतिहासकार राबर्ट ब्रेनर ने 1976 में अपने लेख 'एग्रेरियन क्लास स्ट्रक्चर एंड इकानोमिक डेवलपमेंट इन प्री–इंडस्ट्रियल यूरोप' में यह दलील दी है कि 'जनसंख्या मॉडल' एवं 'व्यापार मॉडल' एवं व्यापार मॉडल सामंती व्यवस्था के भीतर के परिवर्तन को स्पष्ट करने में असमर्थ है। इन्होने इन परिवर्तनों के पीछे मध्यकाल में हो रहे वर्ग–संघर्ष को वास्तविक कारण मानते है। इस वर्ग संघर्ष के दो मुख्य समूह थे किसान और सामंती समुदाय। ब्रेनर की भॉति पेरी एंडरसन भी सामंतवाद से पूँजीवाद की संक्रांति में राजनीतिक कारकों की भूमिका मानते है। वह शहरों और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के महत्व को आंशिक रूप से मानते है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सामंतवाद का पतन उन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक व धार्मिक तथा बौद्धिक वातावरण में हुआ, जिनका उदय एंव विकास बड़ी तेजी से 13वीं शताब्दी में होने लगा। धर्मयुद्ध, वाणिज्यिक क्रांति, पूँजीवाद की ओर संक्रमण, राष्ट्रीय–राज्यों का उदय, जनसंख्या में परिवर्तन, कृषि अर्थव्यवस्थां में बदलाव, अकाल, महामारी आदि ऐतिहासिक घटनाक्रमों ने एक साथ मिलकर सामंतवाद के पतन में अपना योगदान दिया। सामंतवाद का पतन उन देशों में पहले हुआ जहाँ उपयुक्त आधुनिक शक्तियों का झौंका पहले आया। पश्चिमी यूरोपीय देशों सामंतवाद का पतन पहले हुआ और मध्य एवं पूर्वी यूरोपीय देशों में बाद में।

सत्य / असत्य बताएँ:

- सामंतवाद की मुख्य विशेषताएँ थी– राजनीतिक सत्ता का विखंडीकरण एवं निजी लोगों के हाथों में सैन्य शक्ति का संकेन्द्रण।
- सामंतावाद के पतन हेतु सामंतों के बीच अनवरत युद्ध ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।
- इंग्लैंड में गुलाबों की लड़ाई के दौरान राजा एडवर्ड पंचम था।

रिक्त स्थानों की पूर्ति करेः

- 1358 में ग्रैंड जैकारी नामक विद्रोह ..... में हुआ था।
- मेडिवल सिटीजः देअर ओरिजन एण्ड रिवाइवल ऑफ ट्रेड के लेखक ..... है।
- किसानों के बीच विभेदीकरण किस प्रकार सामंतवाद के पतन को आगे बढ़ाया ?
- सामंतवाद के पतन के लिए आंतरिक संघट किस प्रकार अपनी भूमिका निभाई ?

1.6 शब्दावली

सामंतवाद – 9वीं शताब्दी से 14वीं शताब्दी के मध्य पश्चिमी और मध्य यूरोप में एक राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक प्रणाली थी जिसमें अधिपतियों की संप्रभुता के साथ–साथ राजनीतिक विखंडीकरण प्रमुख विशेषता थी।

बूलैंवीयै (Boulainvillers) : अठारहवीं शताब्दी का एक फ्रांसीसी दार्शनिक

मौन्टेसक्यू : फ्रांसिसी दार्शनिक (1689–1755)। 'द स्पिरिट ऑफ लॉस' इनकी प्रसिद्ध कृति है।

मैनोर : सामंती व्यवस्था में आर्थिक उत्पादन एवं सामाजिक जीवन का एक आधारभूत इकाई। इसमें कई छोटे–छोटे आश्रित खेत होते थे जिस पर अधिपति का सीधा अधिकार होता था और कृषि दासों और इससे बंधे किसानो से खेती कराई जाती थी।

गुलाबों की लड़ाई (1455–85) : 15वीं शताब्दी में इंग्लैंड में सामंतो के लड़ाई में एडवर्ड चतुर्थ के द्वारा बंदूक का प्रयोग किया गया था जिसमें सामंतो कां बहुत क्षति पहुँची।

जैकरी विद्रोह : 14 वीं सदी के पूर्वार्ध में पश्चिमी यूरोप में सामंती आहरण के बढ़ते बोझ के खिलाफ किसानों के द्वारा प्रतिरोध खड़ा किया गया था। इसी विद्रोह के क्रम में 1358 में फ्रांस में जो किसान विद्रोह हुआ था, ग्रैंड जैकरी के नाम से जाना जाता है।

कैरोलिंजी (Carolingian) : सातवीं शताब्दी में यह फ्रैंकिश शासकीय वंश सत्ता में आया। शार्लमान्य के नेतृत्व में उसने पश्चिम में रोपन साम्राज्य के पहले के अधिकांश क्षेत्रों को अपने

अधीन कर लिया। नवीं शताब्दी के अंत में इस साम्राज्य का पतन हो गया।

भार्लमान्य : फ्रैंक्स का महान राजा चार्ल्स (771–814) जिसने पश्चिम में रोमन क्षेत्रों को समेटकर एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया।

धर्मयुद्धः 11वीं और 13वीं शताब्दी के बीच ईसाइयों की प्रतिरक्षा में मुसलमानों के विरूद्ध लड़ा जाने वाला युद्ध।

काली मौत (Black death) : यूरोप में 14वीं शताब्दी के मध्य में प्लेग महामारी के रूप में फैली थी और अनुमानतः इसमें यूरोप की आबादी का एक तिहाई से एक चौथाई के बीच लोगों की मृत्यु हो गई थी।

मैनर : सामंती व्यावस्था में आर्थिक उत्पादन के साथ–साथ सामाजिक जीवन का भी एक आधारभूत इकाई थी जिस पर कई छोटे–छोटे आश्रित खेत शामिल होते थे। इस पर अधिपति का कृषि दासों पर सीधा अधिकार होता था।

1.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

- हेनरी पिरेन, मेडिवल सिटिज : देयर आरिजिन ऐंड द रिवाइवल ऑफ ट्रेड, प्रिंसटन, 1926
- मॉरिश डॉब, स्टडीज इन द डेवलमेंट ऑफ कैपिटलिज्म, लंदन, राउटलेज, 1963
- रोडनी हिल्टन, (संपा) दि ट्रांजिशन फ्राम फयूडलिज्म टू कैपिटलिज्म, लंदन, वर्सो 1984
- मार्क ब्लाक, फ्यूडल सोसाइटी, 2 खंड, शिकागो, 1961
- हरबंस मुखिया, ''मॉरिस डॉबस एक्सप्लेनेशन ऑफ दि डिकलाइन ऑफ फयूडलिज्म इन वेस्टर्न यूरोप ए क्रिटीक,'' आई.एच.आर. खंड 6, नं. 1–2, जुलाई 1979– जनवरी 1980 पृ0 154–184.
- अरविंद सिन्हा,: संक्रातिकालीन यूरोप, दिल्ली, मनोहर 2010.

1.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. हेनरी पिरेन ने सामंतवाद के पतन हेतु व्यापार के उत्थान एवं शहरी केन्द्रों के उदय का किस प्रकार जिम्मेदार माना है ?

इकाई 2 पुनर्जागरण

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 पुनर्जागरण
2.3.1 पुनर्जागरण के तत्व
2.3.2 पुनर्जागरण के कारणः
2.3.3 पुनर्जागरण और धर्मयुद्ध
2.3.4 अरब संपर्क
2.3.5 कुबलाई खॉ का दरबार
2.4 पुनर्जागरण की विशेषताऍ
2.4.1 तर्क पर बल
2.4.2 प्रयोग पर बल
2.4.3 मानवतावाद का समर्थन
2.5 पुनर्जागरण का स्वरूप
2.6 पुनर्जागरण की अभिव्यक्ति
2.6.1 साहित्य के क्षेत्र में
2.6.2 कला के क्षेत्र में
2.6.3 स्थापत्य एवं मूर्तिकला
2.6.4 दर्शन
2.6.5 विज्ञान
2.7 पुनर्जागरण का महत्व एवं परिणाम
2.7.1 भौतिकवादी दृष्टिकोण का विकास
2.7.2 बुद्धिजीवी दृष्टिकोण का विकास
2.7.3 पुरातन के प्रति मोह जगाना
2.7.4 अभिव्यक्ति की प्रतिष्ठा
2.7.5 राज्य एवं धर्म का पृथ्क्करण एवं राष्ट्रीयता का विकास
2.8 निष्कर्ष
2.9 शब्दावली
2.10 ग्रंथ सूची
2.11 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

युरोपः आधुनिकता की ओर खण्ड के अन्तर्गत यह दूसरी इकाई है जिसमें हम पुनर्जागरण से संबंधित विभिन्न पहलुओं को समझने की कोशिश करेंगे। पुनर्जागरण का शब्दिक अर्थ होता हैः पुनर्जिवित होना, पुनर्जागृत होना इत्यादि। इस रूप में पुनर्जागरण शब्द का अर्थ, महत्तव और प्रयोग मध्यकाल से आधुनिक काल के बीच संक्रमण के दौरान व्यक्त होने वाला बौद्धिक, कलात्मक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों से जुड़ा हुआ है। इसने यूरोप के इतिहास में महत्वपूर्ण और खासकर मानव–जीवन से संबंधित समस्याओं के संबंध में लोगों के दृष्टिकोण में व्यापक परिवर्तन लाया । इसके साथ–साथ इसकी अभिव्यक्ति केवल कला, साहित्य, दर्शन, विज्ञान के क्षेत्र में ही नहीं हुई परंतु राजनीतिक, अर्थिक, सामाजिक आदि क्षेत्रों में भी हुई। इसे वृहत तौर पर मध्ययुग की विराधी विचारधारा माना गया है और विशेषतः इटली के संदर्भ में पुनर्जागरण चेतना को मानववाद से जोड़ दिया गया है। सही अर्थो में पुनर्जागरण विश्व और मानव की खोज था। इसने आधुनिक सभ्यता का आधार निर्मित किया जिसकी अभिव्यक्ति गणतंत्रवादी स्वतंत्रता के रूप में हुई। यह अध्ययन की एक प्रणली ही नहीं वरन् एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति भी था।

2.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप

- बता सकेंगे कि पुनर्जागरण का अर्थ क्या होता है।
- समझा सकेंगे कि मध्यकाल से आधुनिक काल के संक्रमण में पुनर्जागरण का क्या महत्तव रहा।
- समझ सकेंगे कि पुनर्जागरण के उदय होने के क्या कारण थे ?
- बता पायेंगे कि पुनर्जागरण की विशेषताओं, स्वरुप और महत्व क्या थे।

2.3 पुनर्जागरण

पुनर्जागरण एक आंदोलन नहीं बल्कि एक मनोदशा, जिसमें वर्तमान की मनोदशा, अतीत की मनोदशा, बुद्धिजीवी की मनोदशा सम्मिलित था। पुनर्जागरण ने अपनी बुद्धि, तर्क के आधार पर अपने युग के सारे परंपरागत व्यवस्थाओं पर प्रश्न खड़ा किया तथा एक वैकल्पिक एवं आधुनिक व्यवस्था के कार्यक्रम की शुरुआत की। इसके परिणामस्वरुप मध्यकाल की आस्थावादी मनोदशा, तर्कवादी आधुनिक काल की मनोदशा में रुपान्तरित हो गया। इसके साथ ही साथ सांस्कृतिक एवं वैचारिक भावनाओं को मूर्त्त रुप देने में पुनर्जागरण एक सर्वाधिक सशक्त आधार बना। पुनर्जागरण मनुष्य की बौद्धिक और कलात्मक ऊर्जाओं की एक ऐसी अभिव्यक्ति थी जिसके द्वारा यूरोप ने मध्यकाल से निकल कर आधुनिक काल में प्रवेश किया इसने जीवन के राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक पक्षों में भी व्यापक परिवर्तन लाया।

पुनर्जागरणकालीन साहित्य मनुष्य और मनुष्य से संबंध सभी अवयवों से जुडा था और इसकी

रचना जनसामान्य की भाषाओं मे हुई थी। इस दृष्टि से पुनर्जागरण कालीन साहित्य मध्ययुगीय साहित्य से भिन्न था जिसमें धर्म की बहुलता थी और जिसकी रचना लैटिन भाषा में हुई थी। इसके अलावा, कला भी धार्मिक बंधनों से मुक्त होकर अधिक यथार्थवादी हो गयी। कला अब जीवन्त एवं आकर्षक हो गयी। लियोनार्दो द विंची (विंचि), माइकल ऐंजलों एवं राफेल आदि इस युग के प्रसिद्व कलाकार थे। इस युग में मूर्तिकला स्थापत्य कला की अधीनता से मुक्त होकर एक स्वतंत्र कला के रुप में स्थापित हुई और साथ ही एक धर्मनिरपेक्ष उद्वेश्य से भी प्रेरित होने लगी। पुनर्जागरण चेतना के प्रभाव में गोथिक स्थापत्य का अवसान हो गया।

पुनर्जागरण शब्दावली से उन सभी बौद्धिक परिवर्तन का बोध होता है जो मध्ययुग के अन्त में दृष्टिगोचर हो रहे थे। परिवर्तन से तात्पर्य सामान्तवाद की अवनति, प्राचीन साहित्य का अध्ययन, राष्ट्रीय राज्यों का उत्थान, आधुनिक विज्ञान का प्रारंभ, नये व्यापारिक मार्गो की खोज, प्रारंभिक पूँजीवाद की शुरुआत इत्यादि। इतिहासकार डेविस के शब्दों में पुनर्जागरण शब्द "मानव स्वातन्त्रय प्रिय साहसी विचारों को जो मध्ययुग में धर्माधिकारियों द्वारा जकड़े एवं बंदी बना लिए गये थे, व्यक्त करता है।" फ्रांस के प्रसिद्ध इतिहासकार मूल्स मिशिलेट ने पुनर्जागरण की व्याख्या करते हुए दो ऐसे व्यापक आयामों की ओर संकेत दिया है जिनमें पुनर्जागरण सुधारवादी समग्र प्रयत्न आ जाते है। ये दो आयाम है – "दुनिया की खोज" और "मनुष्य की खोज।" दुनिया की खोज से तात्पर्य था – 15वीं–16वीं शताब्दी की उन भौगोलिक उपलब्धियों से है जिसने अटलांटिक, प्रशांत और हिंद महासागर को व्यापार के लिए खोल। और पुरानी दुनिया के लोगों को अमेरिका की नई दुनिया, दक्षिणी अफ्रीका और आस्ट्रेलिया का परिचय कराया। "मनुष्य के खोज" के अन्तर्गत मानव शक्ति के उस पक्ष को लिया गया, जिसके द्वारा उसने मध्यकालीन पोपशाही को अस्वीकार किया तथा विकसीत एवं स्वतंत्र दृष्टि से अवलंवन किया।

2.3.1 पुनर्जागरण के तत्व

- उत्सुकता एवं जिज्ञासा और खोजी दृष्टि का उदय। (Curiosity and spirit of enquity)
- साहसिक मनोभावों का उदय। (Spirit of adventure)
- व्यक्तिवाद (Individualism)– आत्मतुष्टि और अपनी उपलब्धियों से गौरव की अनुभूति व्यक्तिवाद का सार है।
- धर्मनिरपेक्षता– इसका अभिप्राय है (क) सांसारिक कार्यो में अधिक अभिरुचि लेना तथा (ख) वैसे पादरियों की आलोचना जो आत्मत्याग की बात करते है परंतु उनका पालन नहीं करते।
- मानवतावाद– इसका अर्थ हैं मनुष्य की विशिष्ट गरिमा को पहचानना। इस समय मनुष्य को सभी प्राणियों से सर्वश्रेष्ठ माना गया तथा उसकी प्रतिभा का सम्मान किया जाने लगा।
- ऐतिहासिक आत्मचेतना (Historical Self consciousness)– यह इतिहास के प्रति बदलती हुई दृष्टि का परिचायक था।

बोध प्रश्नः

1 पुनर्जागरण का क्या अर्थ है ?
2 पुनर्जागरणकालीन कला एवं सहित्य की क्या विशेषताएँ थी ?
3 व्यक्तिवाद और मानववाद के विकास में पुनर्जागरण क्या भूमिका निभायी ?

2.3.2 पुनर्जागरण के कारण

पुनर्जागरण का एक प्रमुख कारण आर्थिक तथा व्यापारिक समृद्धि थी। धर्मयुद्धों के क्रम में यूरोप के पूर्वी देशों के साथ व्यापारिक संबंध स्थापित हुए। व्यापारियों का जमघट जेरूसलम तथा एशिया माइनर के तटों पर होने लगा था। परिणामस्वरूप व्यापार में वृद्धि हुई। व्यापारिक समृद्धि के कारण यूरोपीय व्यापारियों का विभिन्न देशों से संपर्क हुआ जहाँ वे नये विचारों और प्रगतिशील तत्वों से अवगत हुए। व्यापारिक वृद्धि के कारण नये नगरों का जन्म हुआ। उदाहरण हेतु वेनिस, मिलान, फलोरेंस, न्यूरेमबर्ग आदि का संपर्क विभिन्न क्षेत्रों से स्थापित हुआ। इसके कारण विचारों का भी आदान प्रदान संभव हुआ तथा ज्ञान के विकास में सहायता मिली। व्यापारिक विकास से व्यापारिंयों के पास धन का संकेद्रण बढा। नवोदित व्यापारी वर्ग अब विधार्जन का लाभ उठाया। मध्ययुग में केवल पादरियों को यह अवसर प्राप्त था। अब जनसाधारण भी सहजता से ज्ञान अर्जित कर सकता था।

13वीं –14वीं शताब्दियों में व्यापारिक नगर शक्तिशाली नगर–राज्य बन गए और वे आस–पास के ग्रमीण इलाकों के राजनीतिक और आर्थिक जीवन पर अपना प्रभुत्व जमाने लगे। इस प्रकार शहरी केद्रों में रहने से इटली का अभिजातवर्ग सार्वजनिक मामलों में हिस्सा लेने लगा। नये धनाढय समुदायों ने अभिजातवर्ग का दर्जा हासिल करने की कोशिश की। इसके अलावा इटली में कुलीन वर्ग की स्थिति भी यूरोप के लोगों के कुलीन वर्ग से अलग थी। इटली के व्यवसायिक वर्ग के द्वारा नये विचारों, साहित्य कला को प्रोत्साहन दिया गया। इस प्रकार इटली में नयी विचारधारा के उद्भव के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि तैयार हुई।

इसके अतिरिक्त इटली का भौगोलिक अवस्थिति इसे पूर्व और पश्चिम के बीच का प्रकृतिक द्वारा बना दिया था। वेनिस, फलोरेंस, जेनोआ अदि नगरों का एशियाई देशों के साथ निर्बाध रूप के व्यापार चलता था।

2.3.3 पुनर्जागरण और धर्मयुद्ध

पुनर्जागरण की स्थापना में धर्मयुद्ध का बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इन धर्मयुद्धों के परिणामस्वरूप यूरापवासियों का पूरब के लोगों के साथ संपर्क हुआ, जो ज्ञान के प्रकाश से आलोकित थे। धर्मयुद्धों ने भौगोलिक खोजों को प्रोत्साहन दिया। परिणामस्वरूप यूरोपीय लोगों द्वारा लंबी यात्राएँ किया जाने लगा और बौद्धिक विकास को बढ़ावा मिला। अरस्तु के वैचारिक ग्रंथ, अरबी अंकगणित, बीजगणित, दिशासूचक यंत्र, कागज आदि का यूरोपीय लोगों से संपर्क हुआ।

1453 में पूर्वी रोमन साम्राज्य के पतन के बाद बाइजेंटाइन साम्राज्य की राजधानी कुस्तुनतुनिया पर

उस्मानी तुर्की ने अपना आधिपत्य कायम किया। कुस्तुनतुनिया यूनानी, ज्ञान, दर्शन, विज्ञान, स्थापत्य कला एवं संस्कृति का मुख्य केन्द्र थी। परंतु तुर्को के उपेक्षापूर्ण नीति के कारण विद्वानों, कलाकारों, दर्शनिको और स्थापत्यकारों को कुस्तुनतुनिया छोड़ने के लिए मजबूर किया। यहॉ के बुद्धिजीवी, कलाकार, कारीगर इटली, फ्रॉस, इंग्लैण्ड आदि पश्चिमी यूरोप के देशों में जाकर बस गए। पुनः इनके द्वारा क्लासिकल साहित्य एवं कला के विकास को बढ़ावा दिया गया। कुछ लोग 1453 की इस घटना को इतना महत्वपूर्ण मानते हैं कि पुनर्जागरण का प्रारंभ इसी समय से मानने लगे।

2.3.4 अरब संपर्क

मध्यकाल में अरबों के संपर्क से यूरोपीयों ने कागज बनाने की कला सीख ली। फिर जर्मनी के जॉन गुटेनबर्ग ने 15वीं शताब्दी के मध्यकाल में टाईप मशीन का अविष्कार किया। प्रारंभिक मुद्रण यंत्र के विकास ने बौद्धिक विकास का मार्ग प्रशस्त किया। धीरे–धीरे छापाखाना का प्रसार इंग्लैंड, जर्मनी, स्पेन, फ्रांस आदि देशों में भी हो गया। कागज और मुद्रण यंत्र के अविष्कार ने प्रकाशन तंत्र को विकसित किया। पुस्तक–मुद्रण के आविष्कार के बाद अधिकाधिक लोगों के लिए यह जानना सम्भव हो गया कि दुनिया में क्या हो रहा है। ज्ञान अब मठों और विश्वविद्यालयों के दीवारों के पीछे ही सीमित न रह कर पढ़े–लिखे लोगों के कहीं अधिक व्यापक दायरे में फैलने लगा। अब राजनीतिक और दार्शनिक विचार ज्यादा से ज्यादा लोगों के पास पहुॅचने लगा परिणामस्वरूप रुढ़िवादिता और अंधविशवास को ठेस पहुॅचा।

2.3.5 कुबलाई खॉ का दरबार

नवीन चेतना के प्रचार एवं प्रसार में मंगोल शासक कुबलाई खॉ के दरबार का भी महत्वपूर्ण योगदान माना जाता है। इनका दरबार विद्वानों, धर्म प्रचारकों, व्यापारियों का केन्द्र बन गया था। मंगोल राज्यसभा पोप के दूतों, भारत के बौद्ध भिक्षुओं, पेरिस, इटली के विद्वानो तथा चीन के दस्तकारों, भारत के गणितज्ञों एवं ज्यातिषचार्यो आदि सभी से सुशोभित था। अतः इस युग में पूर्व एवं पश्चिम का वास्तिवक संपर्क हुआ जिसका यूरोप के लोगों पर काफी प्रभाव पड़ा।

बोध प्रश्नः

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1 पुनर्जागरण के उदय के प्रमुख कारण क्या थे ?

लघुउत्तरीय प्रश्न

2 धर्मयुद्ध से आप क्या समझते है ?

3 कुस्तुनितिनिया के पतन के क्या कारण थे ?

रिक्त स्थान भरिए
क टाइपमशीन के आविष्कारक ..... है।
ख पूर्वी रोमन साम्राज्य का पतन ..... ई0 में हुआ था।

2.4 पुनर्जागरण की विशेषताएँ

2.4.1 तर्क पर बल

पुनर्जागरण ने मध्ययुगीन धर्म और परंपराओं से नियंत्रित चिंतन को मुक्त कर तर्क को बढ़ावा दिया। इस युग के प्रारंभ में अरस्तु के तर्क का गहरा प्रभाव पड़ा। पेरिस, आक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज आदि विश्वविद्यालय ने तर्क के सर्वोच्चता को स्थापित किया।

2.4.2 प्रयोग पर बल

रोजर बेकन प्रयोगात्मक खोज प्रणाली का अगदूत था। प्रयोग के आधार पर ही गैलिलियों ने कॉपरनिकस के सिद्धांत को अकाट्य साबित किया।

2.4.3 मानवतावाद का समर्थन

मानवतावाद का अर्थ है– मानव जीवन में रुचि लेना, मानव की समस्याओं का अध्ययन करना, मानव का आदर करना। 15वीं शताब्दी के मानवतावादी आंदोलन के महत्व में तीन बातें उल्लेखनीय हैं– क. इटली के मानवतावादियों ने मानव के बौद्धिक विकास और सतत् चिंतन मे सहयोग किया। ख. मानवतावादियों द्वारा की गई ग्रीक साहित्य की पुनः स्थापना ने चर्च के लेखों और साहित्य का स्थान ले लिया। ग. आलोचनावाद का शुरूआत हुआ।

2.5 पुनर्जागरण का स्वरूप

पुनर्जागरण के लौकिक दृष्टिकोण का सबसे महत्वपूर्ण आधार था मानवतावाद। मानवतावाद ने न सिर्फ मानव का बल्कि एक व्यक्ति के महत्व को भी स्थापित किया। अतः व्याक्तिवाद पुनर्जागरण की सांसारिक भावना का दूसरा महत्वपूर्ण स्वरूप है। सांसारिक पुनर्जागरणकालीन सभ्यता शहरी थी। यह मध्यकालीन देहाती सभ्यता से भिन्न प्राचीन यूनानी और रोमन साम्राज्य से मिलती जुलती थी। पुनर्जागरण आंदोलन का मुख्य स्वरूप मध्यवर्गीय था। यह जनसाधारण का आंदोलन नहीं बल्कि मध्यमवर्गीय धनी लोगों के संरक्षण में चलने वाला आंदोलन था। धनी मध्यवर्ग ने समाज में अपने प्रभुत्व की स्थापना हेतु चर्च, पोप और सांमतों की तरह साहित्य और सत्ता को संरक्षण प्रदान किया। इसके अतिरिक्त पुनर्जागरण का स्वरुप तर्कप्रधान इसाईविरोधी तथा सामंतविरोधी था।
यूरोप के देशों में पुनर्जागरण आंदोलन का स्वरुप थोड़ा भिन्न था। इटली की तुलना में यूरोप के उत्तरी देशों में चित्रकारी, मूर्तिकला और स्थापत्य में कम महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसके विपरीत मानवतावादी दर्शन और साहित्य ने अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

बोध प्रश्न–
1 पुनर्जागरण के स्वरुप पर चर्चा करें।
2 क्या पुनर्जागरण एक मानवतावादी आंदोलन था ?

सत्य/असत्य बताइए–
क. रोजर बेकन प्रयोगात्मक खोज प्रणाली का अग्रदूत था।
ख. पुनर्जागरण मानववाद को स्थापित किया।

2.6 पुनर्जागरण की अभिव्यक्ति

पुनर्जागरण काल में पुराने से सामंजस्य का नवीन के निर्माण की शुरूआत हुई। इसने न केवल साहित्य, कला, दर्शन एवं विज्ञान को अपितु मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया।

2.6.1 साहित्य के क्षेत्र में

पुनर्जागरण काल में निज साहित्य की रचना हुई। उसका विशिष्ट महत्व है। इससे पूर्व सहित्य का सृजन केवल लैटिन भाषाओं में होता आ रहा था किंतु पुनर्जागरण काल में इनका अध्ययन अध्ययापन यूरोपीय भाषाओं में किया जाने लगा। विभिन्न देशों के लोग अपनी–अपनी मातृभाषाओं में सहित्य का सृजन करने लगे जिससे इटालियन, फ्रेंच, स्पेनिश, पुर्तगाली, जर्मन, अंग्रेजी, डच, स्वीडीश, आदि भाषाओं का विकास हुआ। पेट्रार्क को इतावली पुनर्जागरण साहित्य का पिता कहा जाता है। पेट्रार्क की कविताओं में नवीनता दृष्टिगोचर होती है। पेट्रार्क ने समूचे यूरोप में मानवतावादी विचारधारा को प्रोत्साहित किया। बोकाचियो गद्य साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। दॉते को इतावली कविता का पिता कहा जाता है। दॉते की प्रसिद्ध कृति डिवाइन कामेड़ी है जिसमें एक काल्पनिक जगत की यात्रा का वर्णन है। दॉते की अन्य प्रसिद्ध रचना है द मोनालिसा। लेखकों की दिलचस्पी अब जीते–जागते लोगों में, उनकी खुशियों और गमों में थी। उन्होंने अपने समय की तूफानी जिंदगी के बारे में लिखा, अपनी कविताओं लोगों की सशक्त भावनाओं को व्यक्त किया।

पुनर्जागरण काल के साहित्य की दूसरी प्रमुख विशेषता विषय वस्तु की थी। मध्यकालीन साहित्य का मुख्य विषय धर्म था पंरतु इस युग के साहित्य में धार्मिक विषय के स्थान पर मनुष्य के जीवन और इस युग के साहित्यकारों के विचार मध्ययुगीन धर्मसंबधी वाद–विवाद एवं मान्यताओं से मुक्त थे। अब साहित्य आलोचना प्रधान, मानवतावादी और व्यक्तिवादी हो गया स्पेन के लेखक सर्वातेस ने 'डॉन क्विजोट' में सामंतवादी मूल्यों की खिल्ली उड़ाई हैं। लोक साहित्य से उन्होनें मठवासियों और सामंतों की ओर लक्षित व्यंग्य और उपहास को ग्रहण किया।

फ्रॉसीसी साहित्य के क्षेत्र में रेवेलास और मॉन्टेन इसी युग की देन है। रेवेलास ने धार्मिक कट्टरता एवं पुरातनंपथियों के विरोध में आवाज उठायी। उसने अधिकतम संपन्न लोगों, धार्मिक कट्टरता एवं अंधविश्वास पर व्यंगय किये। अंग्रेजी साहित्यकारों में टोमस मूर ने पुनर्जागरण के कार्य को आगे

बढ़ाया। इनकी प्रमुख रचना यूटोपिया है। इसमें इग्लैंड के जनजीवन में सामाजिक बुराईयों और आर्थिक दोषों का निरुपण किया। फ्रांसिस बेकन इस युग का सर्वोत्तम निबंधकार थे। इसने तर्क, अनुभव और प्रमाण पर जोर दिया। शेक्सपीयर द्वारा अपनी कृतियों में मानव के सभी संभव भावों और उनकी क्षमताओं तथा दुर्बालताओं का विवेचन किया है। शेक्सपीयर ने मनुष्य के चरित्र को उत्तम दर्शाने के लिए वही कार्य किया जो माइकल एंजेलो ने फ्रांस में किया।

2.6.2 कला के क्षेत्र में

चित्रकला पुनर्जागरण काल में सबसे अधिक विकास चित्रकला के क्षेत्र में हुआ। 15वीं शताब्दी तक चित्रकला न केवल धार्मिक विषयों पर सीमित थी परंतु रंगों और विषयों का चयन भी सीमित था। उस काल के चित्रों में उदासी एवं एकरसता झलकती है। परंतु पुनर्जागरण काल में कालाकार की अपनी स्वतंत्र पहचान हो गई। इस समय तक आर्थिक समृद्धि एवं धर्मनिरपेक्ष भाव की आंशिक विजय के कारण कला बहुत हद तक धर्म की सेवा से मुक्त हो गई। पुनर्जागरण काल के कलाकारों ने कला कों जीवन का रूप समझा । उन्होने प्रकाशिकी और ज्यामिति का अध्ययन किया और चित्रों में प्रक्षेपों का उपयोग प्रांरभ किया। मानव के हाव भावों की आंतरिक व्यवस्था को समझने के लिए शरीर–रचना विज्ञान के अध्ययन पर जोड़ दिया गया। इंद्रिय सुख प्राप्त करना कला का न्यायोचित उद्देश्य हो गया। पुनर्जागरण कला के प्रांरभिक चित्रकारों में जिऐटो महत्वपूर्ण है। इन्होनें पंरपरागत शैली से हटकर मानव एवं प्रकृति पर अनेक चित्र चित्रित किए। जियेटों को चित्रकला का जन्मदाता कहा जाता है। इस काल में लियोनार्दो द विंची (द लास्त सपर, मोनालिसा,) माइकल एंजेलो (लास्ट जजमेंट) और राफेल के चित्रों मे पुनर्जागरण चेतना की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई।

मोना लीसा

2.6.3 स्थापत्य एवं मूर्तिकला

पुनर्जागरण चेतना के विकास के साथ कला के क्षेत्र में महत्वपूर्ण विकास हुआ। इस काल में स्थापत्य एवं मूर्तिकला एक दूसरे से स्वतंत्र होकर अलग–अलग विधा के रूप में स्थापित हुई। पुनर्जागरण चेतना के प्रभाव में गोथिक स्थापात्य का अवसान हो गया। स्थापात्य की नई शैलियों का विकास पहले इटली मे और बाद में यूरोप के अन्य भागों में हुआ। इस युग का प्रमुख मूर्तिकार डोनाटेलों तथा गिबर्ती था।

डेविड

2.6.4 दर्शन

बुद्धिवादी विकास ने व्यापारियों और दर्शनिकों को प्रोत्साहित किया। इटली के दार्शनिकों ने विश्व को यथार्थ से जोड़ा और प्रकृति को सुव्यवस्थित दैविक नियमों से नियंत्रित बताया। पुनर्जागरण काल के मानववादियों ने अरस्तु की जगह सिसरो को अपना आदर्श माना और नैतिक दर्शन पर बल दिया। आगे बहुत से दार्शनिक प्लेटोवादी हो गए और फलोरेंस मे प्लेटोनिक सोसाइटी की स्थापना हुई। मैकियावेली एक यथार्थवादी राजनीतिक दार्शनिक था जो अपनी पुस्तक 'द प्रिंस' और 'डिसकोर्सेज' में अपने विचार व्यक्त किए हैं। उसने मध्ययुग की आधारभूत राजनीतिक अवधारणा पर चोट की। उसने राज्य की अवधारणा आधुनिक रुप में प्रस्तुत की । उत्तरी यूरोप में इरासमस एवं बेकन महत्वपूर्ण विचारक हुए। इरासमस ने चर्च के धार्मिक आडम्बर पर चोट की और बेकन ने आगमनात्मक दर्शन पर जोर दिया।

2.6.5 विज्ञान

पुनर्जागरण के काल में विज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई। इस वैज्ञानिक विकास के प्रमुख कारण थे–

1. प्रोटेस्टेंट धर्म ने मनुष्य को धार्मिक नियंत्रण से मुक्त कर स्वतंत्र रुप से विचार करने का अवसर प्रदान किया ।

2. इस युग के विचारकों का मानना था कि ज्ञान प्राप्त करने का सबसे अच्छा तरीका अन्वेषण, अध्ययन– अध्ययापन है न कि महज चिंतन करना फ्रांसिस बेकन ने कहा था ज्ञान की प्राप्ति केवल प्रयोग करने से ही हो सकती है। बेकन के अनुसार जो व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, उसे स्वयं से प्रश्न करना चाहिए। खगोल विज्ञान के क्षेत्र में कॉपरनिकस ने एक क्रांति ला दी जब उसने घोषणा की कि पृथ्वी अपनी धुरी पर चक्कर लगाती है और वह सूर्य की परिक्रमा करती है। जर्मन वैज्ञानिक केपलर द्वारा गणित की सहायता से ग्रह द्वारा सूर्य की परिक्रमा करने की क्रिया की पुष्टि की गई। आइजेक न्यूटेन ने यह साबित किया कि सभी खगोलीय पिंड गुरूत्वाकर्षण के अन्तर्गत यात्रा करते है। मानव शरीर और रक्त–संचारण के बारे में भी कई अविष्कार हुए। इस प्रकार वैज्ञानिक मनोवृति ने दीर्धकाल से स्वीकृत विचारों और प्रथाओं की आलोचनात्मक परीक्षा की और मनुष्य को कला, व्यवसाय, शिक्षा और जीवन के अनेक क्षेत्रों से नये विचारो के संबध में परीक्षण करने के लिए प्रेरित किया।

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. पुनर्जागरण साहित्य ने किस प्रकार नई चेतना का विकास किया।

बहुविकलपीय प्रश्न

क. इतावली पुनर्जागरण साहित्य के पिता कौन थे ?

1 पेट्रार्क 2 अरस्तु 3 दॉते 4 इरासमस

ख. डिवाइन कॉमेडी के रचनाकार कौन है ?
1 बुकासियो 2 टॉमस मूर 3 दॉते 4 शेक्सपीयर
ग. यूटोपिया के लेखक कौन है ?
1 सर्वातेस 2 टॉमस मूर 3 दॉते 4 शेक्सपीयर

सत्य/असत्य बताइए
1. लियोनार्डो द विंची को चित्रकला का जन्मदाता कहा जाता है।
2. लास्ट जजमेंट माइकल एंजेलों की कृति है।

रिक्त स्थानों को भरें
1. प्लेटोनिक सोसाइटी की स्थापना ..... में हुई थी।
2. 'द प्रिंस' के रचनाकार ..... हैं।

2.7 पुनर्जागरण का महत्व एवं परिणाम

हम समग्र रूप से पुनर्जागरण का विश्लेषण करे तो कुछ बातें स्पष्ट हो जाती है। पुनर्जागरण ने प्राचीन प्रेरणाओं पर आधारित एक ऐसा प्रयोग आंरभ किया जो उस युग की परिस्थितियों से सांमजस्य कर सका। साथ ही नितांत मौलिक एवं प्रगतिशील दिशाएँ भी तलाश सका।

2.7.1 भौतिकवादी दृष्टिकोण का विकास

पुनर्जागरण ने मनुष्या को उसकी महत्ता से अवगत कराया। यह कहा जा सकता है कि पुनर्जागरण मूलतः मध्यकाल के ईश्वर केन्द्रित सभ्यता से आधुनिक युग के मानव केन्द्रित सभ्यता की ओर एक परिवर्तन था। पुनर्जागरण चेतना से उत्पन्न व्यक्तिवाद ने यूरोपीय मानस को आंदोलित कर दिया। आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद पूँजीवादी चेतना से जुड़ गया। पुनर्जागरण के अधिकांश विद्वानों ने मानव संसार को अधिक सुंदर एवं समृद्ध बनाने की शिक्षा दी जिससे भौतिकवादी दृष्टिकोण का विकास हुआ।

2.7.2 बुद्धिजीवी दृष्टिकोण का विकास

पुनर्जागरण ने तर्क और वितर्क को प्रतिष्ठित किया तथा पुरानी धार्मिक विचारधारा और पंरपराओ को झकझोर कर उन पर कठोर आघात किया। विचार, स्वतंत्रता को पुनर्जागरण का आधार स्तंभ माना जाता है। पुनर्जागरण काल की नई खोजों, वैज्ञानिक दृष्टिकोण और तार्किक विवेचना ने धर्मग्रथों के अनेकों सिद्धांतों और विश्वासों को हिला दिया। उसने वैज्ञानिक और बौद्धिक आंदोलन का मार्ग प्रशस्त किया।

2.7.3 पुरातन के प्रति मोह जगाना

पुनर्जागरण से पूर्व लोगों को पुरातन ज्ञान में कोई अभिरूचि नहीं थी। इटलीवासी अपने प्राचीन स्मारकों को विस्मृत कर चुके थे, परंतु इस आंदोलन ने उनका ध्यान इस ओर आकृष्ट किया।

2.7.4 अभिव्यक्ति की प्रतिष्ठा

पुनर्जागरण ने अभिव्यक्ति की भावना को प्रतिष्ठित किया। इसका अर्थ है कि अब केवल लोगों को निःस्तब्ध भाव से बातों को सुनते जाना ही संतुष्टि प्रदान कर सकता था।

2.7.5 राज्य एवं धर्म का पृथ्क्करण एवं राष्ट्रीयता का विकास

पुनर्जागरण काल में चर्च और राज्य के बीच पृथक्कता की कल्पना की गई। पुनर्जागरण के बाद ना केवल कैथोलिक चर्च का एकाधिकार टूटा और सरल संप्रदायों का जन्म हुआ बल्कि निकट भविष्य में राज्य और धर्म के बीच एक स्पष्ट विभाजक रेखा अंकित हुई। धर्म और पोप की सत्ता के प्रभाव में कमी आने से लोगों में राष्ट्रीयता की भावना का विकास हुआ। पुनर्जागरण चेतना ने बहुत सी आधुनिक संस्थाओं के आधार निर्मित किए जिनमें एक है– आधुनिक राष्ट्रीय–राज्य।

2.8 निष्कर्ष

हम कह सकते है कि पुनर्जागरण ने यूरोप के लोगों में एक नई ज्ञानपिपासा पैदा की, तर्क को प्रतिष्ठित किया। मानवतावाद को विश्व के पटल पर स्थापित किया। विचार और स्वतंत्रता के मूल्यों को आगे बढ़ाया और भौतिकवाद का मार्ग प्रशस्त किया। पुनर्जागरणकालीन विचारधारा ने भविष्य में धर्मसुधार आंदोलन, वैज्ञानिक क्रांति, बौद्धिक क्रांति, राष्ट्रीय–राज्यों के उदय और पूँजीवाद तथा मध्यवर्ग के उदय का मार्ग प्रशस्त किया।

2.9 शब्दावली

गोथिक स्थापत्य – जिसमें कमानीदार छतें, नुकीले मेहराव और टेकें मुख्य विशेषताएँ हो।
व्यक्तिवाद – अपनी उपलब्धियों से आत्मतुष्टि और गौरव की अनुभूति।
धर्मनिरपेक्षता – धार्मिक कार्यो की अपेक्षा संसारिक कार्यो में रुचि लेना तथा धर्म के क्षेत्र में सभी मतों का समान आदर।
पोपशाही – मध्यकालीन यूरोप में जीवन के प्रत्येक क्षेत्रों में पोप की सर्वोच्चता।
मानवतावाद – मनुष्य की सर्वोच्चता को स्थापित करना। जीवन के लक्ष्य को मानव की भलाई के लिए काम करना था।
धर्मयुद्ध – 11वीं–12वीं शताब्दी में इसाई धर्म के प्रमुख स्थल येरुशलम को लेकर मुस्लिम और इसाई के बीच युद्ध।

2.10 ग्रंथ सूची

पीटर, बर्क. – द यूरोपियन रेनसॉ : सेन्टर एण्ड पेरिफरी, ब्लैकवेल, 1992.
जे0 आर0 हैल – रेनासॉ यूरोप, फौनटाना प्रेस, 1968.
लाल बहादुर वर्मा – यूरोप का इतिहास, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 1998.
जे0 एच0 पलम्ब – द पेंग्विन बुक ऑफ रेनासॉ, इंग्लैंड, 1964.
पार्थ सारथी गुप्ता (सं) – आधुनिक पश्चिम का यूरोप, नई दिल्ली, 1983.
जी0 एन0 क्लार्क – अर्ली मॉडर्न यूरोप, ऑक्सफोर्ड, 1976.
देवेश विजय (सं) – प्रारंभिक आधुनिक यूरोप मे सांस्कृति परिवर्तन, दिल्ली 2006.

2.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. पुनर्जागरण पर एक विस्तृत निबंध लिखिये।

इकाई 3 धर्म सुधार आन्दोलन

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 धर्म सुधार का अर्थ, उद्देश्य एवं स्वरूप
3.4 धर्म सुधार आन्दोलन के कारण
3.4.1 वैज्ञानिक प्रगति
3.4.2 शिक्षा का प्रसार
3.4.3 आर्थिक परिवर्तन
3.4.4 चर्च का सांगठनिक दोष
3.4.5 राजनीतिक कारण
3.4.6 तात्कालिक कारण
3.5 मार्टिन लूथर
3.6.1 लूथर के विचार एवं उनका प्रसार
3.7 प्रोटेस्टेन्ट चर्च का जन्म
3.7.1 काल्विन वाद
3.8 लूथर और काल्विन
3.9 ऐग्लिंकन चर्च
3.10 धर्म सुधार आन्दोलन के परिणाम
3.10.1 प्रतिवादी धर्म सुधार आन्दोलन
3.10.2 ईसाई एकता का अन्त
3.10.3 असहिष्णुता का विकास
3.10.4 व्यक्ति की महत्ता का विकास
3.10.5 शासकों की शक्ति का विकास
3.10.6 राष्ट्रीय भाषा एवं साहित्य का प्रचार–प्रसार
3.11 सारांश
3.12 बोध प्रश्नों के उत्तर
3.13 शब्दावली
3.14 सन्दर्भ ग्रन्थ

3.1 प्रस्तावना

पुनर्जागरण से पहले यूरोपीय समाज में धर्म का, मनुष्य के जीवन पर अत्यधिक प्रभाव था तथा पश्चिमी एवं मध्य यूरोप में कैथोलिक ईसाई चर्च का पूर्ण वर्चस्व था। व्यक्ति जन्म लेने के साथ ही चर्च की शरण पाता और मृत्यु पर्यन्त चर्च से नियंत्रित रहता था। ईसाई जगत में इस धर्म के साम्राज्य के संगठनात्मक क्षेत्र का अध्यक्ष रोम का विशप होता था, जिसे पोप के नाम से पुकारा जाता था। पोप का निर्वाचन विशेष पादरियों द्वारा किया जाता था जिन्हें कर्डिनल कहा जाता था, पोप कैथोलिक चर्च का सर्वोच्च नियम निर्माता, न्यायाधीश तथा वित्त व्यवस्था का सर्वोच्च प्रशासक होता था लेकिन धीरे–धीरे ईसाई जगत की एकता, चर्च सार्वभौमिकता तथा पोप की सर्वोच्चता अपनी अभ्यान्तरिक कमजोरियों के कारण धीरे–धीरे गौरवहीन होने लगा था। चर्च के पदाधिकारियों का जीवन अनैतिक एवं विलासिता पूर्ण था। धर्म सुधार आन्दोलन को गति प्रदान करने में एक कारण और था जिसे हम राष्ट्रीय चेतना कह सकते हैं। बढ़ती राष्ट्रीय चेतना, नवीन बुद्धिवादिता एवं ज्ञान की जिज्ञासा ने धर्म में व्याप्त बुराईयों एवं भ्रष्टता के प्रति असन्तोष जाग्रत किया जिससे यूरोप में धर्म सुधार आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। वस्तुतः धर्म सुधार आन्दोलन मध्य युग के पतझड़ के समय आरम्भ हुआ। इस इकाई में सम्पूर्ण यूरोप में ईसाई धर्म की एकता एवं कैथोलिक चर्च के वर्चस्व की क्षीणता तथा नये विचारों एवं आदर्शों को आत्मसात करते हुए कैथोलिक चर्च के भीतर व्याप्त भ्रष्टता तथा पादरियों के नैतिक पतन के प्रति यूरोप के लोगों द्वारा प्रतिकार तथा एक सच्चे धर्म को स्थापित करने के प्रयत्न का विश्लेषण करेंगे।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई में हम यूरोप में हुए धर्म सुधार आन्दोलन में आये इसके कारण एवं परिणामों के विषय में चर्चा करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :–

(1) धर्म सुधार के अर्थ स्वरूप एवं उद्देश्य को समझ सकेंगे।
(2) विभिन्न धर्म सुधारकों से परिचित एवं उनके कार्यों को जान पायेंगे।
(3) धर्म सुधार के कारण एवं परिणामों से परिचित हो पायेंगे।

3.3 धर्म सुधार का अर्थ, उद्देश्य एवं स्वरूप

सोलहवीं शताब्दी में यूरोप में व्याप्त आन्तरिक एवं वाह्य उथल–पुथल के कारण ईसाई संगठन से एक बड़ा परिवर्तन हुआ जिसमें परिणाम स्वरूप ईसाई धर्मावलम्बी दो भागों में विभाजित हो गये। कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट। कैथोलिक धर्म परम्परागत ईसाई धर्म का सुधरा रूप था जिसमें पोप का कोई स्थान नहीं था। धर्म सुधार की यह लम्बी प्रक्रिया धर्म सुधार आन्दोलन के नाम से विख्यात है।

वारनर एवं मार्टिन के अनुसार – ''धर्म सुधार पोप की संसारिकता व भ्रष्टाचार के विरूद्ध एक नैतिक विद्रोह था।''

होज के अनुसार – ''वस्तुतः सोलहवीं सदी के आरम्भ में विवेक जागृति के कारण बहुसंख्यक ईसाईयों में कैथोलिक चर्च के प्रति कटुता थी तथा वे चर्च की संस्था को
पूर्णरूप से सुधारना चाहते थे। इसी सुधार प्रयास के परिणामस्वरूप जो धार्मिक आन्दोलन हुआ तथा ईसाई धर्म के भीतर जो नये–नये धार्मिक सम्प्रदाय बने, उसे समष्टि रूप से धर्म सुधार आन्दोलन कहा जाता है।''
वस्तुतः धर्म सुधार यूरोप के इतिहास में दो महत्वपूर्ण धाराओं की ओर इंगित करता है। पहली घटना थी प्रोटेस्टेन्ट क्रान्ति जिसने ईसाई धर्म में दरार उत्पन्न कर दी और दूसरी थी–अनेक देशों का रोमन कैथोलिक चर्च से नाता तोड़कर राष्ट्रीय आधार पर अलग चर्च की स्थापना करना।
मूलतः धर्म सुधार आन्दोलन में दो प्रमुख उद्देश्य थे, ईसाई लोगों के नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन को पुनः समुन्नत करना तथा रोम के पोप के व्यापक धर्म सम्बन्धी अधिकारों को विनष्ट करना।
प्रो0 हर्नशा ने आन्दोलन के स्वरूप के बारे में लिखा है कि ''प्रोटेस्टेन्ट आन्दोलन जर्मनी की ट्यूटन जाति का रोमनों के आधिपत्य के विरूद्ध, सांसारिक प्राणियों का पादरियों के विरूद्ध, धनी किन्तु मितव्ययी लोगों का सिद्धान्तहीन अपव्ययी लोगों के विरूद्ध, तथा नैतिक स्वतंत्रता के समर्थकों का पोप के अत्याचारों के विरूद्ध विद्रोह था। इन सबसे बढ़कर यह धर्म परायण जाति का एक ऐसी प्रथा के विरूद्ध विद्रोह था जिसे क्षमा पत्रों की बिक्री कहा जाता था।''

3.4 धर्म सुधार आन्दोलन के कारण

पुनर्जागरण से 14वीं एवं 15वीं शताब्दी में यूरोपीय जगत में तमाम परिवर्तन दृष्टिगोचर हुए। राष्ट्रीय राज्यों का उदय, एक मजबूत मध्य वर्ग का विकास, वैचारिक परिवर्तन एवं सबसे बढ़कर चर्च में व्याप्त बुराईयों के कारण धर्म सुधार आन्दोलन शुरू हुआ। धर्म सुधार आन्दोलन के निम्न कारण हैं :–

3.4.1 वैज्ञानिक प्रगति

पुनर्जागरण से जगत एवं ईश्वर सम्बन्धी प्राचीन धारणाओं एवं मान्यताओं में व्यापक परिवर्तन हुआ जैसे टालमी का यह विचार कि पृथ्वी सौरमण्डल का केन्द्र है, कोपर निकस ने यह सिद्ध कर दिया कि पृथ्वी नहीं सूर्य ही केन्द्र है तथा मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। यूरोप में इस वैज्ञानिक प्रगति ने चर्च की मान्यताओं को धूमिल किया।

3.4.2 शिक्षा का प्रसार

15वीं शताब्दी के पूर्व तक यूरोपीय शिक्षा जगत का केन्द्र धार्मिक शिक्षा थी, किन्तु पुनर्जागरण के फलस्वरूप धर्म निरपेक्ष शिक्षा को बढ़ावा मिला जिसने ईसाई धर्म की कुरीतियों का भण्डाफोड़ किया। छापेखाने के आविष्कार ने धार्मिक पुस्तकों को सामान्य जनता तक पहुँचाया, कई यूरोपीय राज्यों में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई जो कालान्तर में धर्म सुधार आन्दोलन में अधिकांश नेताओं की गतिविधियों के केन्द्र बने।

3.4.3 आर्थिक परिवर्तन

मध्य युगीन योरप का सामाजिक ढाँचा सामन्ती था। जिससे आर्थिक व्यवस्था कृषि प्रधान तथा उद्योग भी श्रेणी व्यवस्था से बँधा था। व्यक्तिगत स्वतंत्रता जैसी कोई चीज नहीं थी, किन्तु शक्तिशाली राज्यों के उदय से सामन्ती ढाँचा टूटने लगा जिससे कृषकों एवं कर्मकारों को स्वतंत्रता मिली, इस व्यवस्था ने व्यापारिक उन्नति से मार्ग प्रशस्त किया। व्यापार एवं उद्योग की उन्नति में एक मजबूत मध्यवर्ग का विकास हुआ। इस धनी वर्ग ने ईसाई एवं चर्च की प्रतिकूल परम्पराओं को नष्ट करने में धर्म सुधार आन्दोलन में सक्रिय सहभागिता की।

3.4.4 चर्च का सांगठनिक दोष

मध्यकालीन यूरोप के चर्च का सम्पूर्ण संगठन पूर्णतः दूषित हो चुका था। चर्च नियंत्रण एवं शोषण का शक्तिशाली साधन बन चुका था, प्रत्येक व्यक्ति को चर्च के अधीन लाने का प्रयास हुआ। चर्च में फैले भ्रष्टाचार का सीधा सम्बन्ध आर्थिक शोषण से था, प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आय का दशमांश चर्च को देना पड़ता था। चर्च के बड़े पदों पर इटली का अधिकार था। लोगों को इस बात का भी शोक था कि उनका धन रोम चला जाता था, भ्रष्टाचार सारे चर्च में व्याप्त था चर्च का कोई भी पद बिक सकता था, सारा तंत्र विलासिता का शिकार था। पादरियों का जीवन पूर्णतः भ्रष्ट था तथा वे विलाशिता में डूबे हुए थे, इसीलिए धर्म में सुधार की आवश्यकता थी।

3.4.5 राजनीतिक कारण

पोप का राजनीतिक प्रभाव एवं राजाओं द्वारा पोप के प्रभाव से स्वतंत्र होने की आकांक्षा भी धर्म सुधार आन्दोलन का प्रमुख कारण था मध्य युग में पोप को व्यापक राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे जैसे राज्यों में आन्तरिक एवं वाह्य हस्तक्षेप, राजा को धर्म से बहिष्कृत करने का अधिकार, किसी राज्य की जनता को राजा के विरूद्ध विद्रोह करने का आदेश किन्तु 16वीं शताब्दी में स्थितियाँ बदल चुकी थी। यूरोप के कुछ भागों में राष्ट्रीय राज्यों का उदय हो चुका था। ये राज्य चर्च एवं पोप के हस्तक्षेप को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। अतः उन्होने धर्म सुधार आन्दोलन में सक्रिय सहयोग दिया,. बिना राज्य की सहायता के धर्म सुधार आन्दोलन सफल नहीं हो सकता था।

3.4.6 तात्कालिक कारण

धर्म सुधार आन्दोलन का तात्कालिक कारण था–पोप के अधिकृत पदाधिकारी, टेट जेल द्वारा जर्मनी में पाप मोचन पत्रों अथवा अनुग्रह पत्रों का विक्रय। जब सन् 1517 में टेटजेल नामक पोप का एजेन्ट विटन वर्ग में क्षमा पत्रों को खुलेआम बेंचने लगा तो मार्टिन लूथर ने इसका डटकर विरोध किया तथा धन से मोक्ष की जगह श्रद्धा द्वारा दोष मुक्ति का सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

3.5 मार्टिन लूथर

मार्टिन लूथर का जन्म जर्मनी में 10 नवम्बर, 1483 को एक गरीब किसान परिवार में हुआ था, इसने इरफर्ट विश्वविद्यालय से शिक्षा ग्रहण की। 1511 में इसने रोम की यात्रा की तथा वहाँ पोप के नैतिक पतन को देखकर निराश हुआ। लूथर प्रारम्भ में पोप का विरोधी नहीं था किन्तु क्षमा पत्र बेंचकर धन इकट्ठा करने के पोप की आज्ञा ने लूथर को चर्च का विरोधी बना दिया।
लूथर ने क्षमा पत्र बिक्री के विरोध में 'द नान्टी फाइव थीसिस' में चर्च द्वारा सभी उपायों से धन एकत्र करने की आलोचना की तथा तीन अन्य लघु पुस्तिकाओं में उन मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जिन्हें आगे चलकर प्रोटेस्टेन्ट वाद के नाम से अभिहित किया गया। मार्टिन लूथर ने आन्दोलन को सफल बनाने के लिए अथक प्रयास किया तथा भाषणों, लेखों एवं पत्रिकाओं द्वारा समाज के सभी कार्यों में जागृति उत्पन्न की।

3.6.1 लूथर के विचार एवं उनका प्रसार

(1) उसने ईसा और बाइबिल की सत्ता स्वीकारने तथा पोप और चर्च की दिव्यता एवं निरंकुशता को नकारने की बात कही।
(2) चर्च द्वारा निर्धारित कर्मो के स्थान पर उसने ईश्वर में आस्था को मुक्ति का साधन बताया।
(3) 'सप्त संस्कारों' में से उसने केवल तीन नामकरण, प्रायश्चित और प्रसाद को ही माना।
(4) उसने चर्च के चमत्कार में अविश्वास व्यक्त किया।
(5) रोम के चर्च के प्रभुत्व का अन्त करके राष्ट्रीय चर्च की शक्ति को सबल बनाया जाना चाहिये।
(6) धर्मग्रन्थ सबके लिए है, सब उसका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।
(7) चर्च के भ्रष्टाचार को रोकने के लिए पादरी लोगों को विवाह करके सभ्य नागरिकों की तरह रहने की अनुमति दी जानी चाहिए।

आने वाले वर्षो में मार्टिन लूथर एक स्वतंत्र चर्च स्थापित करने की बात कहता रहा। उसने कैथोलिक चर्च की श्रेणीबद्ध व्यवस्था को अस्वीकार किया। जर्मन भाषा को चर्च के कार्य–व्यवहार की भाषा बनाया। मठवाद का अंत किया। धरती पर ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में पुरोहितों के विशेष पदों को समाप्त किया। देववाद के सिद्धान्तों एवं धर्मग्रन्थों की सत्ता को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गयी। तीर्थ यात्रा एवं अवशेषों की पूजा को गौण माना। कुल मिलाकर लूथर धर्म को एक सरल रूप देने के प्रयत्न में लगा रहा।

3.7 प्रोटेस्टेन्ट चर्च का जन्म

मार्टिन लूथर के आन्दोलन से उपजे इस धार्मिक विवाद को समाप्त करने के लिए 1526 में स्पीयर में एक सभा हुई किन्तु कोई समाधान नहीं निकला, 1529 में स्पीयर में ही दूसरी सभा हुई इस सभा ने धर्म सुधार आन्दोलन के विरूद्ध कई कठोर निर्देश पारित किये। इस सभा के एक पक्षीय निर्णयों के विरूद्ध लूथर वादी शासकों एवं समर्थकों ने तीव्र विरोध किया। इस विरोध या प्रतिवाद

(प्रोटेस्ट) के कारण इस सुधार आन्दोलन का नाम प्रोटेस्टेन्ट पड़ा। औपचारिक तौर पर यह विरोध 19 अप्रैल 1529 को हुआ, अतः ऐतिहासिक दृष्टि से प्रोटेस्टेन्ट शब्द का जन्म इसी तिथि से माना जाता है और अन्ततः 1555 की ऑग्सबर्ग की सन्धि के द्वारा प्रोटेस्टेन्ट धर्म को मान्यता मिली।
लूथर वाद के समान ही यूरोप के दूसरे भागों में धर्म सुधार आन्दोलन हुए। स्ट्रिजरलैण्ड में इसका प्रणेता हुलड्रीक ज्विंगली था। ज्विंगली ने वाइबिल की सर्वोच्चता का समर्थन किया तथा कैथोलिक धर्म की रूढ़ियों को अस्वीकृत कर दिया। वह पोप शाही, समूह प्रार्थना, सन्तों की पूजा, उपवास, तीर्थ यात्रा, मठो का अनुशासन, पाप शुद्धि जैसे कैथोलिक सिद्धान्तों का विरोध एवं खण्डन किया। उसने नये रिफार्म्ड चर्च की स्थापना की, कोपल की सन्धि के द्वारा स्विट्जरलैण्ड भी दो भागों कैथोलिक व प्रोटेस्टेन्ट में बंट गया।

3.7.1 काल्विन वाद

ज्विंगली की विचार धारा को जान काल्विन ने व्यवस्थित करके सशक्त रूप से न केवल स्विट्जरलैण्ड बल्कि बाहर भी स्थापित किया। काल्विन को दृढ़ विश्वास था कि उसे अपने विचार अकाट्य तर्कों के आधार पर रखने होंगे, तभी वे कैथोलिक चर्च का विरोध कर सकेंगे। यहाँ यह सारणीय है कि लूथरवाद में पोप और संगठन के विरोध के अतिरिक्त धर्म के कर्मकाण्डों के विषय में उल्लेखनीय परिवर्तन का प्रस्ताव नहीं था, परन्तु काल्विन धर्म शास्त्र के बाहर किसी भी कर्मकाण्ड को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं था। काल्विन वाद विशेष रूप से मध्य वर्ग में काफी लोकप्रिय हुआ यह स्ट्रिजरलैण्ड एवं फ्रांस में धीरे–धीरे फैलने लगा, जर्मनी में भी काल्विन वाद का प्रसार एवं अन्त में मान्यता मिली। उत्तरी नीदरलैण्ड एवं स्काटलैण्ड में इस विचार धारा का तेजी से प्रसार हुआ। इस तरह सत्रहवीं शताब्दी तक आते–आते अपने कट्टर अनुशासन के कारण काल्विन वाद सारे यूरोप में फैल गया जबकि लूथरवाद मुख्यतया जर्मनी का राष्ट्रीय धर्म है।

3.8 लूथर और काल्विन

दोनों ने करीब–करीब एक ही समय कैथोलिक चर्च का विरोध कर पृथक् सम्प्रदाय खड़े किये। दोनों ने ईसा मसीह और बाइबिल को पूर्णतः स्वीकार किया। लेकिन पोप की सत्ता को नकारा। दोनो ने विशेषकर मध्यमवर्ग को प्रभावित किया। दोनों ने आडम्बर का विरोध किया लेकिन उनके सुधार एवं इसके तरीके भिन्न–भिन्न थे – (1) लूथर चर्च को बिना पूरी तरह नकारे जर्मनी के राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखते हुए थोड़े से परिवर्तन करके संतुष्ट रहा, जबकि काल्विन अधिक परिवर्तन का पक्षधर रहा।

(2) लूथर चमत्कारों को प्रतीक के रूप में स्वीकार करने को तैयार था, किन्तु काल्विन ने चमत्कारों को बिल्कुल नकार दिया।
(3) लूथर आस्था को मुक्ति का आधार मानता था। काल्विन के लिए कर्म या आस्था से कोई फर्क नहीं पड़ता था, क्योंकि वह मानता था कि व्यक्ति की नियति पहले से ही निश्चित होती हैं
(4) लूथर ने अपने अनुयायियों के चरित्र एवं आचार–व्यवहार पर विशेष ध्यान नहीं दिया लेकिन काल्विन ने चारित्रिक अनुशासन को अत्यधिक महत्व दिया।

3.9 ऐग्लिंकन चर्च

जर्मनी और स्विट्जरलैण्ड की तुलना में इग्लैण्ड में धर्म सुधार आन्दोलन के विकास में चर्च और संगठन के धार्मिक दोषों के स्थान पर राजनीतिक महत्वाकांक्षा ज्यादा बलवती थी। ट्यूटर वंश के शासक हेनरी अष्टम (1509–47) अपनी प्रमुख परिचारिका एवं बोलिन से प्यार करता था तथा उससे विवाह करना चाहता था किन्तु यह तभी सम्भव हुआ जब उसका अपनी पत्नी कैथरिन से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता, लेकिन पोप इस विवाह विच्छेद के लिए तैयार नहीं था, फलतः हेनरी ने 1534 में पोप से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और इंग्लैण्ड के शासक को इंग्लैण्ड के चर्च का सर्वोच्च अधिकारी घोषित किया। इस प्रकार एक झटके में यह सम्बन्ध टूट गया।

हेनरी की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी एडवर्ड अष्टम् ने इस विचारधारा को आगे बढ़ाया तथा एक सामान्य प्रार्थना पुस्तक में प्रकाशित कर 42 सिद्धान्तों की घोषणा की जिसमें प्रोटेस्टेन्ट विचारधारा को स्थापित किया गया। एलिजाबेथ के समय में आंग्ल धर्म का अन्तिम रूप सुनिश्चित हुआ। 42 सिद्धान्तों को थोड़ा संशोधित कर 39 सिद्धान्तों के नाम से लागू किया। इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक इग्लैण्ड में एक ऐसे राष्ट्रीय चर्च की स्थापना हुई जो कर्मकाण्ड में रोमन और धर्मशास्त्रीय संदर्भ में काल्विन वादी था।

मार्टिन लूथर ज्विंगली, काल्विन एवं हेनरी अष्टम् के प्रयत्नों से यूरोप में अधिकांश देशों (स्पेन एवं फ्रांस को छोड़कर) में प्रोटेस्टेन्ट धर्म जड़ पकड़ने लगा। इंग्लैण्ड, नार्वे, स्वीडन तथा उत्तरी जर्मनी में प्रोटेस्टेन्ट धर्म कायम हुआ तथा स्वतंत्र राष्ट्रीय चर्च की स्थापना हुई।

3.10 धर्म सुधार आन्दोलन के परिणाम

3.10.1 प्रतिवादी धर्म सुधार आन्दोलन

प्रोटेस्टेन्ट आन्दोलन एवं इसकी सफलता ने कैथोलिकों को भी संगठित किया तथा अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए कैथोलिकों ने भी धर्म सुधार आन्दोलन का सूत्रपात किया जिसे प्रतिवादी धर्म सुधार आन्दोलन बढ़ते ही कैथोलिकों ने ट्रेंट कौंसिल में एक सभा कर चर्च में सुधार हेतु कई निर्णय लिए जिससे कैथोलिक चर्च में काफी सुधार हुआ। इंग्लोशियस त्नोयोका ने जैसइट संघ के माध्यम से कठोर अनुशासन के द्वारा विदेशों एवं मुस्लिम देशों में भी ईसाई धर्म को फैलाया।

3.10.2 ईसाई एकता का अन्त

धर्म सुधार आन्दोलन के द्वारा ईसाई जगत में दरार पड़ गयी, अब यूरोप में ईसाई धर्म कई स्वतंत्र भागों में बँट गया।

3.10.3 असहिष्णुता का विकास

धर्म सुधार आन्दोलन ने कैथोलिक एवं प्रोटेस्टेन्टों के बीच पारस्परिक वैमनस्य उत्पन्न किया। इस घृणा एवं शत्रुता ने एक दूसरे का कत्लेआम किया तथा इस धार्मिक असहिष्णुता ने एक लम्बे समय तक के लिए यूरोप की शान्ति को भंग रखा।

3.10.4 व्यक्ति की महत्ता का विकास

व्यक्ति पर धर्म का प्रभाव कम होने से व्यक्ति को महत्व प्राप्त हुआ, अब उसके चिन्तन के आयाम चारों दिशाओं में अपने पैर पसार सकते थे।

3.10.5 शासकों की शक्ति का विकास

इस आन्दोलन में परिणाम स्वरूप शासकों की शक्ति बढ़ी तथा धर्म विषयक मसले पर उन्हें स्वतंत्रता मिली। धर्म सुधार आन्दोलन से व्यापार एवं वाणिज्य को प्रोत्साहन मिला। चर्च सूद एवं मुनफे का विरोधी था, अतः मध्य वर्ग ने इस आन्दोलन को प्रोत्साहन दिया। नवीन धर्म सम्प्रदायों ने व्यय पर उदार दृष्टिकोण अपनाया तथा मितव्ययता तथा कठोर श्रम पर जोर दिया। जोकि व्यवसाय में वृद्धि एवं पूँजीवाद के विकास के लिए आवश्यक थे।

3.10.6 राष्ट्रीय भाषा एवं साहित्य का प्रचार–प्रसार

धर्म सुधार आन्दोलन का एक बड़ा परिणाम राष्ट्रीय भाषा और साहित्य के प्रचार–प्रसार के रूप में हुआ। लोगों को मातृभाषा के प्रति श्रद्धा पनपी जिससे साहित्य के क्षेत्र में मातृभाषा के प्रयोग पर जोर दिया जाने लगा।

निम्न प्रश्नों में सही और गलत का निशान लगावें –

प्र01– ईसाई धर्म जगत के ढांचे का प्रमुख पोप होता था। ( )
प्र02– धर्म सुधार आन्दोलन का तात्कालिक कारण पाप मोचन पत्रों की बिक्री था।( )
प्र03– मार्टिन लूथर फ्रांस के गरीब किसान परिवार में पैदा हुआ था। ( )
प्र04– एंग्लिकन चर्च की स्थापना स्पेन में हुयी। ( )

3.11– सारांश

यह कहा जा सकता है कि धर्म सुधार आन्दोलन उस अभिव्यक्ति का एक परिणाम था, जो 15वीं शताब्दी के अन्त एवं 16वीं शताब्दी के प्रारम्भ में संघर्षों तथा उथल–पुथल के रूप में यूरोप में दिखाई दे रहा था। धर्म के क्षेत्र में संघर्ष का एक कारण यह भी था कि धर्म की ही जकड़ सबसे भयानक थी। दीर्घकाल से अपनी सीमाओं का अतिक्रमण कर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को आक्रान्त करने वाले चर्च का स्वरूप बदलने का समय आ गया था। धर्म सुधार आन्दोलन धर्म के मूल स्वरूप के लिए चुनौती नहीं था, विरोध केवल व्यवहार एवं कार्यान्वयन का था। सुधारवादी सम्प्रदाय केवल धार्मिक कारणों से ही अलग नहीं हुए अपितु आर्थिक और राजनीतिक कारणों ने भी बहुत बड़ी भूमिका अदा की।

यथार्थ में धर्म सुधार आन्दोलन ने मानव वादियों की अपेक्षा अधिक द्रुतगति से मध्ययुग से सम्बन्ध विच्छेद किया। अब मनुष्य में सोचने की कोई सीमा न रह गयी थी और वह जीवन के सभी पहलुओं में प्रयोग करने को स्वतंत्र था।

3.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

प्र01– सही (✓)
प्र02– सही (✓)
प्र03– गलत (X)
प्र04– गलत (X)

3.13 शब्दावली

पुर्नजागरण – ''फिर से जागना'' सर्वप्रथम बैसारी ने 16वीं शताब्दी में वास्तुकला एवं शिल्पकला आदि में परिवर्तनों को रिनासिता की संज्ञा दी थी।
इन्क्वीजिशन– धर्म विरोधियों के दमन हेतु स्पेन में 1480 में इन्क्वीजिशन नामक विशेष धार्मिक न्यायालय की स्थापना हुई।
काल्विन वाद– स्विट्जरलैण्ड में जॉन काल्विन द्वारा चलाये गये धर्म सुधार को काल्विन कहा जाता है।
एंग्लिकन चर्च– इंग्लैण्ड में धार्मिक विवाद से उत्पन्न राष्ट्रीय चर्च।

3.14 सन्दर्भ ग्रन्थ

विश्व इतिहास – जैन एवं माथुर
आधुनिक पश्चिम का उदय – पार्थसारथि गुप्ता
ए हिस्ट्री आफ वर्ल्ड सिविलाइजेशन – जे0ई0 स्वेन
द आउट लाइन आफ हिस्ट्री – एस0जी0 वेल्स

3.15 निबंधात्मक प्रश्न

प्र01– धर्म सुधार आन्दोलन में मार्टिन लूथर के योगदान की चर्चा करें?
प्र02– धर्म सुधार आन्दोलन के कारण एवं परिणामों की विवेचना करें?
प्र03– काल्विन के विचार एवं उसके कार्यो को स्पष्ट करें?
प्र04– इंग्लैण्ड में एंग्लिकन चर्च की स्थापना पर एक टिप्पणी लिखें।
प्र05– लूथर वाद एवं काल्विन वाद में क्या अन्तर था?

इकाई–4 प्रबोधन का युग

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 प्रबोधन का युग
4.4 प्रबोधन से संबंधित विचार
4.5 कुछ प्रमुख विचारक
4.5.1 पियरे बेयल
4.5.2 मॉण्टेस्क्यू
4.5.3 वॉल्टेयर
4.5.4 जीन जैकस रूसो
4.5.5 दिदरो
4.5.6 क्वेसने
4.6 प्रबोधन का प्रभाव
4.7 सारांश
4.8 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
4.9 शब्दावली
4.10 संदर्भ ग्रंथ सूची
4.11 निबंधात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

18वीं सदी के वैविध्य और परस्पर विरोधी प्रकृति वाला प्रबोधन जो सामान्यः तर्क के युग के नाम से जाना जाता है, वस्तुतः पिछली सदी की बौद्धिक उत्तेजना का ऋणी है। 17वीं सदी की वैज्ञानिक क्रान्ति ने ऐसे प्रारूप प्रस्तुत किये जिनके द्वारा समस्या का समाधान तार्किक विचारों और प्रयोगों के द्वारा संभव हो सका। वास्तव में फ्रांसिसी दार्शनिक, गणितज्ञ और वैज्ञानिक रेने देकार्ट ने मानव की तार्किक क्षमता को उसके अस्तित्व का प्रमुख प्रमाण माना। वैज्ञानिक क्रान्ति तो वास्तव में 16वीं सदी के मध्य में ही प्रारंभ हो चुकी थी जब कॉपरनिकस ने प्राचीन काल से मान्य टॉलेमी के विचार कि पृथ्वी ही ब्रह्माण्ड का केन्द्र है का खण्डन कर यह बताया कि वास्तव में सूर्य, ब्रह्माण्ड का केन्द्र है। इस वैज्ञानिक क्रान्ति ने 1687 में सर आइजैक न्यूटन की प्रिंसंपिया के प्रकाशन के साथ चरमोत्कर्ष प्राप्त किया, प्रिंसपिया में यान्त्रिक ब्रह्माण्ड को सार्वजनीन गति के नियमों द्वारा सविस्तार समझाया गया। प्रिंसपिया से उद्भूत विचारों ने उस युग में मौलिक बौद्धिक परिवर्तन

प्रारंभ कर दिये। 18वीं सदी के प्रारंभिक दौर से ही अनुमान का केन्द्र धार्मिकता से हटकर धर्मनिरपेक्ष होने लगा था, यह नया दृष्टिकोण इस बात से समझा जा सकता है कि फ्रांस का शासक लुई XIV एक ठेठ 17वीं सदी का शासक था जो शासक के रूप में राज्य का प्राथमिक कर्तव्य धार्मिक नेतृत्व को मानता था, उसके द्वारा 1685 में नॉट के अभिलेखों का खण्डन किया गया जिससे हजारों प्रोटेस्टेण्टों को फ्रांस से भागना पड़ा, यह उदाहरण उसके राज्य की धार्मिक एकता के प्रति उसकी सोच को बतलाता है, जबकि दूसरी ओर 18वीं सदी में प्रशा का शासक फ्रेडरिक महान् मूलतः एक धर्मनिरपेक्ष शासक था। वह स्वयं को राज्य का प्रथम सेवक मानता था, उसके अनुसार उसकी प्रजा का धर्म उनका व्यक्तिगत मामला है और राज्य का इससे कुछ लेना–देना नहीं है। उसकी मुख्य रूचि अपनी सैन्य क्षमता का विकास, जनता की समृद्धि और सुरक्षा में थी।

अब विज्ञान और बौद्धिक जांच–पड़ताल लोगों को एकबद्ध करने के सार्वजनिक आधार बन गये जो पहले कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट में विभाजित थे। अब आनन्द की खोज इस जगत में की जाने लगी। तर्क ने एकीकरण का सिद्धान्त प्रस्तुत किया और साथ ही मानव को आनन्द वृद्धि की कुंजी के साथ वह स्थान प्राप्त किया जो पहले धर्म को प्राप्त था। यह माना जाने लगा कि तर्क के सही प्रयोग से समाज की समस्याओं का निदान किया जा सकता है और सभी मनुष्य समृद्धता और खुशहाली से जी सकते हैं। इस आशावाद ने बढ़ते हुए आर्थिक अवसरों की अनुभूति उत्पन्न की। 18वीं सदी का यूरोप अब तक का सबसे सम्पन्न और जनसंख्या वाला यूरोप बन गया। बढ़ती हुई आर्थिक संवृद्धि ने यह भावना विकसित की कि वैज्ञानिक तरीके न केवल भौतिक जगत की कुंजी है वरन् यह धर्मशास्त्र, इतिहास, राजनीति और सामाजिक समस्याओं का हल भी प्रदान कर सकती है। तर्कपूर्ण वैज्ञानिक अन्वेषण के फलस्वरूप उत्पन्न उन्नति से किसानों ने कृषि में सुधार किया और उद्यमियों ने उत्पादों और नयी तकनीकों के साथ प्रयोग करने प्रारंभ कर दिये।

4.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई प्रबोधन से संबंधित है इसको पढ़ने के बाद आप अग्रांकित जानकारियां प्राप्त कर सकेंगे–

- प्रबोधन काल के विचार
- प्रबोधन युग के प्रमुख विचारक
- प्रबोधन का प्रभाव

4.3 प्रबोधन का युग

फ्रांसीसी इतिहासकार परम्परागत रूप से प्रबोधन के काल को 1715 ई0 जब लुई XIV की मृत्यु हुई थी और 1789 ई0 जब फ्रांस की क्रांति की शुरूआत हुई थी, के मध्य रखते हैं, जबकि कुछ आधुनिक इतिहासकार 1620 के दसक से प्रबोधन के युग का प्रारंभ मानते हैं जब वैज्ञानिक क्रान्ति

का प्रारंभ हुआ था। प्रबोधन के कुछ प्रमुख व्यक्तियों में जिन लोगों के नाम शामिल हैं उनमें महत्वपूर्ण हैं, फ्रांस के मॉण्टेस्क्यू (1689–1755); वॉल्टेयर (1694–1778); दिदरो (1713–1784); रूसो (1712–1778); कांडिलैक (1714–1780) और काण्डोर्सेट (1743–1794); ब्रिटेन के डेविड ह्यूम (1711–76) और एडम स्मिथ (1723–1790); जर्मनी के लेसिंग (1729–1781), और काण्ट (1724–1804); इटली के गैम्बटिस्टा विको (1668–1744); बेकारिया (1734–1794) और पगानो (1748–1799)।

प्रबोधन का युग अपने पूर्वगामी वैज्ञानिक क्रान्ति से अत्यन्त निकटता से संबंधित था। कुछ पूर्व के दार्शनिकों जिन्होंने प्रबोधन को प्रभावित किया उनमें बेकन (1562–1626), देकार्ट (1596–1650), जॉन लॉक (1632–1704); स्पीनोजा (1632–1677); पियरे बेयल (1647–1706) और सर आइजक न्यूटन (1642–1727) शामिल हैं।

प्रबोधन के युग का सबसे महत्वूर्ण प्रकाशन 'इनसाइक्लोपीडिया' था, जिसे दिदरो, डि एलम्बर्ट तथा 150 वैज्ञानिकों एवं दार्शनिकों के एक दल द्वारा संकलित किया गया था, यह 1751 और 1772 के बीच 35 खण्डों में प्रकाशित किया गया था। इसके द्वारा प्रबोधन के विचार सम्पूर्ण यूरोप और उसके बाहर भी प्रसारित हुए। इनसाइक्लोपीडिया के अलावा जो अन्य महत्वपूर्ण पुस्तकें थीं उनमें वाल्टेयर द्वारा लिखित 'लेटर्स ऑन इंग्लिश', रूसो द्वारा लिखित 'डिस्कोर्स ऑन इक्वैलिटी', तथा 'सोशल काण्ट्रेक्ट', मॉण्टेस्क्यू की 'स्पिरिट ऑफ लॉ' शामिल थी।

4.4 प्रबोधन से संबंधित विचार

प्रबोधन युग के दार्शनिकों ने सर्वाधिक महत्व स्वतन्त्रता, विकास, तर्क, सहिष्णुता और चर्च तथा राज्य की बुराइयों को समाप्त करने में दिया। हांलाकि इन उददेश्यों को प्राप्त करने के साधनों में उनके विचारों में वैभिन्य मिलता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उत्पन्न चिंतन ने इस युग के विचारों को परिवर्तित कर दिया था, अब धर्मनिरपेक्ष चिंतन और विवेकपूर्ण पूछताछ को बढ़ावा दिया जाने लगा। इस काल के लेखक सामाजिक बुराइयों को उद्घाटित करने लगे। उन्होंने तर्क, सहिष्णुता और मानवता को सबसे आगे रखा। प्रबोधन युग में आम जनता के विचारों और दृष्टिकोण में विज्ञान तथा तर्क को बढ़ावा देने के कारण इतना अधिक परिवर्तन आ गया कि अनेकों लोग इसे बौद्धिक क्रान्ति भी कहने लगे। इस युग में चिंतन का केन्द्र मनुष्य था और मानव कल्याण को परम लक्ष्य माना गया। यह माना गया कि राज्य, चर्च तथा अन्य संस्थाओं को निरंतर मानव कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। अब मानव गरिमा, मानवीय अधिकार तथा मानवीय आदर्शों को स्थापित किया जाने लगा, इन्होंने मध्यकालीन परंपराओं, सामंतवादी समाज, रूढ़िवादी धर्म और निरंकुश राजतन्त्र सभी का तिरस्कार करना प्रारंभ किया।

इस युग का यह सामान्य विचार था कि विश्व एक विशाल मशीन की भांति है जो कुछ प्राकृतिक नियमों के अनुसार संचालित होती है, ये नियम शाश्वत एवं अपरिवर्तनीय हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह इन प्राकृतिक नियमों का पता लगाये, अपने क्रियाकलापों को इन नियमों के अनुसार संचालित करे और इन नियमों का अतिक्रमण करने का प्रयत्न न करे। बुद्धि और तर्क द्वारा इन प्राकृतिक

नियमों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, जो नियम तर्क एवं बुद्धि की कसौटी में खरे उतरते हैं, वे ही सही है और मनुष्यों के लिए श्रेयस्कर हैं, लेकिन जो तर्क, बोधगम्य न होकर केवल प्राचीन मान्यताओं, विश्वासों और परम्पराओं पर आधारित हैं वे मनुष्य के लिए हितकारी नहीं हो सकते हैं। मनुष्य एक बुद्धिवान प्राणी है जिसके द्वारा वह प्राकृतिक नियमों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। सभी मुनष्य एक समान उत्पन्न होते हैं, उनमें जो अन्तर मिलता है वह केवल शिक्षा और उन्नति के समान अवसर न मिल पाने की वजह से है। समाज में सभी मनुष्यों का समान स्थान और महत्व होता है।

4.5 कुछ प्रमुख विचारक

प्रबोधन का युग बौद्धिक क्रियाकलाप का युग है, इस युग में अनेकों दार्शनिकों, लेखकों, वैज्ञानिकों ,विचारकों एवं चिंतकों ने जनसामान्य के मध्य ज्ञान, बुद्धि, तर्क के प्रति जागृति उत्पन्न करने का कार्य किया था। कुछ प्रमुख विचारकों के विषय में आपको यहां पर जानकारी दी जा रही है–

4.5.1 पियरे बेयल

फ्रांस का पियरे बेयल, लुई ग्प्ट का समकालीन था। वह सत्य का पक्षपाती था और वैज्ञानिक चिंतन पर विश्वास रखता था। उसका मानना था कि किसी भी धर्म के अनुयायियों को अपने विरोधियों के साथ शक्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि इसमें प्रतिक्रिया होती है जिसका कोई अंत नहीं होता। अपनी पुस्तक 'व्हॉट होली कैथोलिक फ्रांस अण्डर दी रिजीम ऑफ लुई फोरटीन्थ रियली इज?' में उसने लुई ग्प्ट द्वारा नॉट की घोषणा की आलोचना की है। उसकी, 'हिस्टोरिकल एण्ड क्रिटिकल डिक्शनरी' में उसने वैज्ञानिकों, इतिहासकारों, धर्मशास्त्रियों और दार्शनिकों के जीवन तथा उनकी कृतियों एवं विचारों का सूक्ष्म विवेचन किया है।

4.5.2 मॉण्टेस्क्यू

मॉण्टेस्क्यू भी फ्रांस का एक प्रसिद्ध विचारक था। 'पर्शियन लेटर्स' नामक उसकी पुस्तक फ्रांस के तत्कालीन धर्म, रीति–रिवाजों, परम्पराओं तथा निरंकुश शासन पर व्यंग करती है। उसकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना, 'स्पिरिट ऑफ लॉज' है। इसमें सामाजिक, भौगोलिक, राजनीतिक तथा आर्थिक शक्तियों के संबंधों पर चर्चा की गयी है। साथ ही दासता, धार्मिक अत्याचार और निरंकुशतावाद पर आक्रमण किया गया है। उसने राजा के दैवी अधिकारों की निंदा की है और संवैधानिक राजतन्त्र का समर्थन किया है। इस पुस्तक में उसने 'शक्ति पार्थक्य' के सिद्धान्त को भी प्रतिपादित किया है। स्पिरिट ऑफ लॉज की गणना विश्व के महानतम् ग्रन्थों में की जाती है।

4.5.3 वॉल्टेयर

फ्रांस का वॉल्टेयर एक महान् लेखक, कवि, दार्शनिक, पत्रकार, नाटककार, आलोचक और व्यंगकार था। उसने अपने लेखन द्वारा राज्य और चर्च में व्याप्त भ्रष्टाचार, अभिजात्य वर्ग के विशेषाधिकार इत्यादि की घोर आलोचना की। उसकी कुछ प्रमुख पुस्तकों में, 'लैटर्स ऑन इंग्लिश', 'एज ऑफ लुई ग्प्ट', 'ट्रिटाइज ऑन टॉलरेन्स' हैं। वॉल्टेयर को समस्त यूरोप में विवेक, प्रबुद्धता और प्रकृति के सिद्धान्त के प्रचार–प्रसार का श्रेय दिया जा सकता है। उसने निरन्तर अन्याय, कटटरता, विशेषाधिकार और धार्मिक दुराग्रह का प्रभावशाली ढंग से विरोध किया, उसके समय के लोग सम्मान से उसे 'राजा वॉल्टेयर' कहते थे।

4.5.4 जीन जैकस रूसो

जीन जैकस रूसो को फ्रांस का सबसे प्रबुद्ध दार्शनिक माना जाता है। उसने अनेक निबन्ध, लेख तथा उपन्यासों के साथ–साथ स्वयं की जीवनी भी लिखी। उसकी सर्वाधिक प्रसिद्ध पुस्तक, 'सोशल काण्ट्रेक्ट' है। इसी पुस्तक कें प्रारंभ में लिखा गया है कि, 'मनुष्य स्वतन्त्र पैदा होता है परन्तु वह सर्वत्र जंजीरों में जकड़ा हुआ है।' इस पुस्तक के अनुसार आदिम काल में मनुष्यों को स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व प्राप्त था, लेकिन जैसे–जैसे मनुष्य सभ्य होता गया उसने एक समवेत शक्ति उत्पन्न करने के लिए समझौता किया और इस प्रकार राज्य का जन्म हुआ। रूसो के अनुसार राज्य का जन्म सत्ता तथा उन लोगों के बीच एक समझौता था, जिन्होंने उसका निर्माण किया था। अतः सत्ताधिकारी यहां तक कि स्वयं राजा भी जनता के प्रतिनिधि हैं। अतः यदि जनता के प्रतिनिधि स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व–भाव में हस्तक्षेप करते हैं तो जनता को चाहिए कि वह उन्हें बदल दे। रूसो निरंकुश राजतन्त्र का घोर विरोधी था। वह जनतन्त्र को आदर्श शासन प्रणाली मानता था। रूसो की महानता के विषय में नेपोलियन ने कहा था कि, 'रूसो का जन्म न होता तो फ्रांस की राज्य क्रांति का होना असंभव था'।

4.5.5 दिदरो

दिदरो भी फ्रांस का एक प्रमुख दार्शनिक था। वह **'इनसाइक्लोपीडिया'** का प्रमुख संकलनकर्ता था। सभी मध्यकालीन संस्थाओं का उसने घोर विरोध किया था, उसका मानना था कि समस्त कटुता को निरकुंश शासकों एवं पादरियों ने उत्पन्न किया था। उसकी इनसाइक्लोपीडिया में धार्मिक असहिष्णुता, अन्धविश्वास, दासों के व्यापार, पादरियों का भ्रष्ट जीवन, अवांछित करों और अभिजात वर्ग के विशेषाधिकारों को निशाना बनाया गया है। इस ग्रन्थ में विज्ञान और तर्कवाद को सर्वाधिक महत्व दिया गया है।

4.5.6 क्वेसने

क्वेसने फ्रांस का एक भू–अर्थशास्त्री था , उस काल में भू–अर्थशास्त्रियों का मानना था कि भूमि और कृषि ही धन के वास्तविक स्रोत होते हैं , क्योंकि व्यापार में केवल स्थान परिवर्तन के कारण वस्तु का मूल्य बढ़ता है और उसे धन का उत्पादन नहीं कहा जा सकता है।वास्तव में देखा जाय तो सभी चीजें प्रकृति की ही देन हैं,अतः धन का मूल स्रोत तो प्रकृति ही है, जहां से हमें कृषि उत्पाद, मत्स्य उत्पाद और खनिज पदार्थ प्राप्त होते हैं और वास्तव में ये ही धन उत्पन्न करते हैं अतः राज्य को चाहिए कि वह उत्पादन के इन क्षेत्रों में हस्तक्षेप न करे और उन्मुक्त व्यापार को प्रोत्साहित करे। क्वेसने का मानना था कि किसानों पर कर्ज का बोझ कम होना चाहिए क्योंकि यदि किसान गरीब है तो राज्य के साथ–साथ राजा भी गरीब हो जायेगा।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

अग्रांकित प्रश्नों में रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए।

1. व्हॉट होली कैथोलिक फ्रांस अण्डर दी रिजीम ऑफ लुई फोरटीन्थ रियली इज?' के लेखक..... .....हैं।
2. स्पिरिट ऑफ लॉज' के लेखक.....हैं।
3. लेटर्स ऑन इंग्लिश' के लेखक.....हैं।
4. डिस्कोर्स ऑन इक्वैलिटी' के लेखक.....हैं।
5. सोशल काण्ट्रेक्ट के लेखक.....हैं।
6. 'मनुष्य स्वतन्त्र पैदा होता है परन्तु वह सर्वत्र जंजीरों में जकड़ा हुआ है।'यह कथन .....ने कहा है।
7. 'रूसो का जन्म न होता तो फ्रांस की राज्य क्रांति का होना असंभव था' ।यह कथन .....ने कहा है।
8. ..... 'इनसाइक्लोपीडिया' का प्रमुख संकलनकर्ता था।
9. 'एज ऑफ लुई ग्प्ट के लेखक.....हैं।
10. ट्रिटाइज ऑन टॉलरेन्स' के लेखक.....हैं।
11. 'हिस्टोरिकल एण्ड क्रिटिकल डिक्शनरी' के लेखक.....हैं।
12. 'पर्शियन लेटर्स' के लेखक.....हैं।
13. प्रिसंपिया के लेखक.....हैं।

4.6 प्रबोधन का प्रभाव

18वीं सदी बुद्धिवाद और तर्कवाद की सदी थी, जैसा कि ऊपर बताया गया है विभिन्न दार्शनिकों, विद्वानों ने अपने लेखन द्वारा इस काल में व्यापक जनजागृति उत्पन्न कर दी थी। यह स्वाभाविक है कि इस जागृति का प्रभाव यूरोप के विभिन्न शासकों में भी पड़ा। इस काल के प्रमुख शासक जिनमें इस जागृति का प्रभाव पड़ा था, उनमें रूस की साम्राज्ञी कैथरीन, ऑस्ट्रिया का सम्राट

जोसेफ द्वितीय, प्रशा का राजा फ्रेडरिक द्वितीय, स्पेन का राजा चार्ल्स तृतीय, पुर्तगाल का शासक जोसेफ प्रथम, स्वीडन का राजा गुस्ताव तृतीय तथा टस्कनी का शासक चार्ल्स इमैन्युअल तृतीय प्रमुख थे। यद्यपि ये सभी शासक स्वेच्छाचारी और निरंकुश थे और अपनी इच्छा को ही कानून मानते थे पर जागृति की लहर ने इन्हें प्रबुद्ध निरंकुश बना दिया, इन्होंने अपने–अपने देशों की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अवस्था को नये विचारों के अनुसार परिवर्तित करने का प्रयास किया। सभी ने कम या अधिक मात्रा में प्रशासनिक सुधारों को क्रियान्वित किया। कानूनी कार्यप्रणाली में एकरूपता लाने का प्रयास किया, कानूनों को संहिताबद्ध किया, कर–पद्धति को न्याय संगत बनाया। जन साधारण की शिक्षा व्यवस्था, कृषि दासों के प्रति मानवीयता, साहित्य का विकास, चिकित्सालयों का निर्माण आदि कार्यों को किया जाने लगा।

धर्म एवं अध्यात्म का क्षेत्र भी दार्शनिकों की आलोचना का प्रमुख क्षेत्र था, अतः यहां भी व्यापक प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इस युग के प्रारंभ में लोगों की जो धार्मिक मान्यताऐं थी वे वस्तुतः इसाई धर्मग्रन्थों में लिखी बातों पर आधारित थीं और उनका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं था। बौद्धिक क्रान्ति ने लोगों को यह समझाया कि इन प्रमाणों का तब तक कोई मूल्य नहीं जब तक कि उनमें लिखी बातें तर्क एवं बुद्धि की कसौटी में खरी न उतरें, इन ग्रन्थों की उन बातों को छोड़ने को कहा गया जो तार्किक न हों, बातों को स्वीकार करने से पहले उनकी सत्यता परीक्षण एवं तर्क से जांचना आवश्यक हो गया।

4.7 सारांश

फ्रांसीसी इतिहासकार परम्परागत रूप से प्रबोधन के काल को 1715 ई0 जब लुई ग्प्ट की मृत्यु हुई थी और 1789 ई0 जब फ्रांस की क्रांति की शुरूआत हुई थी, के मध्य रखते हैं, जबकि कुछ आधुनिक इतिहासकार 1620 के दसक से प्रबोधन के युग का प्रारंभ मानते हैं जब वैज्ञानिक क्रान्ति का प्रारंभ हुआ था। 18वीं सदी के प्रारंभिक दौर से ही अनुमान का केन्द्र धार्मिकता से हटकर धर्मनिरपेक्ष होने लगा था। प्रबोधन युग के दार्शनिकों ने सर्वाधिक महत्व स्वतन्त्रता, विकास, तर्क, सहिष्णुता और चर्च तथा राज्य की बुराइयों को समाप्त करने में दिया। इस युग के प्रमुख विचारकों में फ्रांस के मॉण्टेस्क्यू (1689–1755); वॉल्टेयर (1694–1778); दिदरो (1713–1784); रूसो (1712–1778); कांडिलैक (1714–1780) और काण्डोर्सेट (1743–1794); ब्रिटेन के डेविड ह्यूम (1711–76) और एडम स्मिथ (1723–1790); जर्मनी के लेसिंग (1729–1781), और काण्ट (1724–1804); इटली के गैम्बटिस्टा विको (1668–1744); बेकारिया (1734–1794) और पगानो (1748–1799) आदि शामिल थे।

4.8 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1. पियरे बेयल
2. मॉण्टेस्क्यू

3. वॉल्टेयर
4. जीन जैकस रूसो
5. जीन जैकस रूसो
6. जीन जैकस रूसो
7. नेपोलियन
8. दिदरो
9. वाल्टेयर
10. वॉल्टेयर
11. पियरे बेयल
12. मॉण्टेस्क्यू
13. न्यूटन

4.10 शब्दावली

आशावाद : यह विचार की भविष्य अच्छा होगा
इनसाइक्लोपीडिया : विश्वकोश
बोधगम्य : बुद्धि के तर्क–वितर्क से समझ में आने योग्य
अभिजात्य वर्ग : पोप, पादरी, राजा, उच्च अधिकारी एवं धनी लोग
दैवी अधिकार : ईश्वर द्वारा दिये गये अधिकार

4.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. विश्व का इतिहास 1500–1950 : जैन एवं माथुर, जैन पुस्तक मंदिर, चौड़ा रास्ता, जयपुर।
2. आधुनिक पश्चिम का उदय – पार्थसारथि गुप्ता
3. ए हिस्ट्री आफ वर्ल्ड सिविलाइजेशन – जे0ई0 स्वेन
4. द आउट लाइन आफ हिस्ट्री – एस0जी0 वेल्स
5. हेज, सी.जे.एच.–ए पोलिटिकल एण्ड कल्चरल हिस्ट्री ऑफ मार्डन यूरोप, भाग 1एवं 2

4.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. प्रबोधन से आप क्या समझते हैं? इस युग के प्रमुख विचारकों के बारे में बताइये।

BLANK
94

ब्लाक तीन

विश्व राष्ट्र राज्यों का उदयए प्रारंभिक औपनिवेशीकरण और राजनीतिक सुधार

इकाई 1 निरंकुश राष्ट्रीय राज्यों का उदय

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 निरंकुशवाद की विशेषताएं
1.4 नवीन निरंकुश राजतंत्रों के उदय के कारण
1.5 प्रमुख निरंकुश राष्ट्र–राज्यों का उदय
1.5.1 इंग्लैण्ड
1.5.2 फ्रांस
1.5.3 स्पेन
1.5.4 रूस
1.5.5 प्रशा
1.6 समीक्षा
1.7 निरंकुशता का पतन
1.8 सारांश
1.9 शब्दावली
1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ
1.11 बोध प्रश्न
1.12 बोध प्रश्नों के उत्तर
1.13 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

राष्ट्रीय राज्यों का उत्कर्ष आधुनिक युग की एक बहुत बड़ी विशेषता है, मध्ययुग में सर्वत्र सामन्तवाद का वर्चस्च था। सामन्त, राजा की ही तरह अनेक शक्तियों का उपयोग करते हुए स्वयं को लगभग स्वतंत्र मानते थे। किन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी में इस व्यवस्था के विरूद्ध घोर प्रतिक्रिया हुई। इसका एक प्रमुख कारण था, पन्द्रहवी–सोलहवीं शताब्दी में राष्ट्रीयता की भावना का उदय। देश–प्रेम एवं देश–भक्ति की भावना ने मध्य युग का अन्त कर आधुनिक युग की घोषणा की। इसने सामंतकाल की अत्यधिक अव्यवस्था व अराजकता को समाप्त कर दिया। सामन्तवाद को नष्ट करने के साथ–साथ राष्ट्र–राज्यों ने आर्थिक विकास में बड़ा योग दिया। उत्पादन के लिए सुधरे हुए तरीकों का इस्तेमाल हुआ और तरीकों में सुधार हुए। राष्ट्रीय राज्यों के उदय के कारण राष्ट्रीय सीमाएं और अधिक तर्क संगत हो गयी। राष्ट्रीय राज्य एक संस्कृति

के व्यक्तियों को संगठित करने में बहुत सहायक सिद्ध हुए। अपने राष्ट्र के प्रति निष्ठा का विकास हुआ।

1589 ई0 से 1715 ई0 के मध्य नये एवं सबल राजतंत्रीय राष्ट्रीय राज्यों का उत्थान तेजी से हो रहा था। इंग्लैण्ड, फ्रांस, स्पेन, आदि पश्चिमी यूरोपीय राष्ट्रों में राजनीतिक संगठन, राष्ट्रीय एकता, देशभक्ति तथा सुदृढ़ राजतंत्रों की प्रगति हो रही थी। परन्तु मध्य, दक्षिण एवं पूर्वी यूरोप के राज्य अभी भी उतने संगठित एवं सशक्त न हो पाए जितने पश्चिमी यूरोप के राष्ट्र। ये राष्ट्र राजनीतिक अनैक्यता, अराजकता तथा अविकसित व्यवस्थाओं के कारण असम्बद्ध राज्य बने हुए थे।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई में हम यूरोप में नवीन निरंकुश राज्यों के उदय एवं उसके कारणों की चर्चा करेंगें।
इस इकाई को पढ़ने के बाद आप –

1–निरंकुश राज्य का अर्थ एवं उसकी विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे।
2–इस इकाई के अध्ययन से हम निरंकुश राज्यों के उदय के कारणों से परिचित हो पायेंगे।
3–यूरोप में नये निरंकुश राज्यों एवं उनके शासकों के कार्य एवं योगदान जान सकेंगे।
4–नवीन राष्ट्रीय राज्यों की सीमाओं एवं इसकी प्रगति को समझ पायेंगें।

1.3 निरंकुशवाद की विशेषताएं

1–राजा ही सर्वोच्च होता है। वह सेना तथा अन्य बड़े–बड़े अफसरों की सहायता से शासन कार्य चलाता है। किन्तु उस पर किसी का अंकुश नहीं होता है। राजा ही अन्तिम रूप से कानून का निर्माण करने वाला होता है।

2–सेना निरंकुश राज्य की मूलभूत विशेषता है।

3–नौकरी–पेशा वर्ग की स्थापना शासकों द्वारा की गयी। इस वर्ग में दो प्रकार के पद थे – (क) प्रशासनिक, (ख) सैनिक, कुछ देशों में नौकरी पेशा वर्ग के सदस्य कुलीन न होकर साधारण जनता में से भी लिए जाते थे, ताकि वे राजा का विरोध न कर सकें

4–निरंकुशवाद की एक विशेषता वाणिज्यवाद भी थी, वाणिज्यवाद एक प्रकार का आर्थिक युद्ध था, जिसमें एक राज्य स्वयं आत्मनिर्भर होकर, दूसरे देशों को अपने ऊपर आर्थिक रूप से निर्भर होने के लिए प्रेरित करता था।

1.4 नवीन निरंकुश राजतंत्रों के उदय के कारण

व्यापारिक क्रांति ने निरंकुश राजतंत्र के उदय में महती भूमिका निभाई। वाणिज्यवादी नीतियों के उपयोग ने राजाओं को प्रचुर धनराशि प्रदान की, जिसका प्रयोग वे सेना को संगठित करने तथा अपनी राजनीतिक सत्ता के विस्तार के लिए कर सकते थे। व्यापार के विस्तार ने भी सुदृढ़ सरकार की अनिवार्यता को बढ़ावा दिया। व्यापार–वाणिज्य की उन्नति के साथ–साथ मध्यम वर्ग की सामाजिक–आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होती गयी एवं मध्यम वर्ग ने अपने व्यापार–वाणिज्य के

उत्थान तथा सुरक्षा हेतु सबल राजतंत्र के स्थापना में बड़ा सक्रिय सहयोग दिया। मध्यम वर्ग ने सामन्तो के विरूद्ध राजतंत्रों की बड़ी सेवाएं की एवं राष्ट्रीयता की भावना का सृजन किया। इसके बदले में राजाओं ने व्यापार–वाणिज्य को संरक्षण प्रदान किया।

मध्य युगीन धर्मयुद्धों ने सामन्त–तन्त्र को दुर्बल कर राजाओं की शक्ति को बढ़ाया। कुछ यूरोपीय देशों में प्रोटेस्टेट आन्दोलन ने राजकीय सत्ता के विकास में सहयोग किया। इसने कैथोलिक चर्च की एकता को भंग कर दिया, शासकों के ऊपर पोप की प्रमुखता को समाप्त कर दिया और राष्ट्रीयता की भावना को बल दिया।

सबल राजतंत्र के प्रति चर्च का विरोध क्षीण हो रहा था। चर्च ने सामन्ती अराजकता के विरूद्ध राजतन्त्र का समर्थन किया।

राष्ट्रीयता का उत्थान राजतंत्रों के उत्कर्ष का प्रधान कारण था। धर्म सुधार ने राष्ट्रीयता की भावना को जागत किया। सभ्यता पहले धर्म–प्रधान थी, अब वह राष्ट्र–प्रधान बन गयी। मठों के टूटने से राष्ट्रीय राज्यों की आय तथा शक्ति में वृद्धि हुई। निरंकुश राजतंत्र के विकास में राज्य के दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त ने बड़ा योगदान दिया।

पुनरूत्थान एवं धर्म सुधार काल के कुछ विद्वान लेखकों ने भी राजाओं के हाथों को सुदृढ़ करने में सहयोग दिया। इटालियन लेखक मैकिया वेली फ्रांसीसी लेखक बोडिन और अंग्रेज लेखक हाब्स ने क्रमशः दी प्रिंस, दी स्टेट, और लेवियाथन नामक पुस्तके लिखीं। इन लेखकों ने शक्तिशाली निरंकुश राजतंत्र का पूर्ण समर्थन किया।

1.5 प्रमुख निरंकुश राष्ट्र–राज्यों का उदय

1.5.1 इंग्लैण्ड

राष्ट्रीय एकता स्थापित करने वाला पहला राज्य इंग्लैण्ड था। इंग्लैण्ड में राष्ट्रीय एकता एवं राष्ट्रीय सरकार की स्थापना का कार्य पश्चिमी यूरोप के अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक तेजी से हुआ। सन् 1337 से 1453 तक फ्रांस और इंग्लैण्ड के बीच हुए दीर्घकालीन सामन्तीय एवं राजवंशीय युद्धों (शतवर्षीय युद्ध) के परिणाम बड़े महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। शतवर्षीय युद्ध की समाप्ति के तुरन्त बाद ही इंग्लैण्ड में व्यापक सामंतीय युद्ध का प्रारम्भ हुआ। इसमें प्रायः सभी सामन्तों ने भाग लिया। यह सामन्तीय युद्ध ''गुलाबों का युद्ध'' (1455–1485) कहलाता है। उसमें यार्क राजवंश एवं लंकास्टर राजवंश के परस्पर विरोधी सामन्तों एवं समर्थकों के बीच दीर्घकालीन ध्वंसात्मक युद्ध हुआ।

हेनरी ट्यूडर (हेनरी सप्तम्) के सिंहासन पर बैठने के साथ ही एक नये राजवंश ''ट्यूडर वंश'' (1485–1603 ई0) का उदय हुआ। इंग्लैण्ड के इतिहास में एक नये युग की शुरूआत हुई। देश की सभी प्रगतिशील शक्तियोंने जिनमें अभिजात वर्ग का वह हिस्सा भी शामिल था। हेनरी सप्तम् (1485–1509 ई0) ने सर्वप्रथम देश में शान्ति–व्यवस्था एवं सुरक्षा की स्थापना के उद्देश्य से शक्शिाली राजतंत्र स्थापित करने की चेष्टा की। गुलाबों का युद्ध के परिणाम से हेनरी सप्तम् को दो बड़े लाभ हुए –

1–इस युद्ध के परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड में अनेक शक्तिशाली तथा प्रभावशाली सामन्तगण मारे गये, या अशक्त हो गये। अतः राजा ने उनके अधिकारों को कुचल दिया एवं उनकी जागीरे जब्त कर ली।

2–इसमें मध्ययुगीन सामन्तों का दमन करके एक नये वर्ग अर्थात् मध्यवर्ग को जन्म दिया, जिसने अपने हितों के लिए राजा का साथ दिया। इसी जन समर्थन के आधार पर ट्यूडर राजाओं ने सोलहवीं शताब्दी में निरंकुश राजतन्त्र स्थापित किया। उसने विभिन्न अधिनियमों के द्वारा सामन्तों का दमन किया, उनसे सैन्य अधिकार छीन लिये तथा सामन्तों के स्थान पर मध्य वर्ग के लोगों को ऊँचे पदों पर नियुक्त किया। इस प्रकार उसने इंग्लैण्ड में सामन्त तन्त्र को हमेशा के लिए समाप्त करके निरंकुशता को परिपुष्ट किया।

हेनरी सप्तम् के बाद हेनरी अष्टम् (1509–1547 ई0) के शासनकाल में इंग्लैण्ड में धर्म सुधार आन्दोलन हुआ, जिसके महत्वपूर्ण संवैधानिक एवं धार्मिक प्रभाव पड़े। इस आन्दोलन में राजा और पार्लियामेन्ट को देश के धार्मिक जीवन पर नियन्त्रण का अधिकार दे दिया। इसके कुछ वर्षो बाद मठों एवं समर्पित पूजागृहों के विसर्जन ने राजा को धन एवं समर्थन दोनो ही प्रदान किये। ट्यूडर वंश की अन्तिम शासिका ने भी राजा की शक्ति में वृद्धि की। उसने इंग्लैण्ड को समुद्रों का स्वामी और संसार का सबसे प्रमुख व्यापारिक राष्ट्र बनाने में सहायता दी।

ट्यूडर शासकों के शासनकाल में संसद सशक्त राजाओं के प्रभाव में रही। ट्यूडर काल में इंग्लैण्ड की व्यापारिक प्रगति तो हुई ही, दुनिया के देशों में उसका महत्व भी बढ़ा। अंग्रेजों को अपने देश पर गर्व था और ट्यूडर लोग दुनिया में इंग्लैण्ड की शक्ति और गौरव के प्रतीक थे। परन्तु स्टुअर्ट शासनकाल (1603–1688 ई0) के अन्तिम शासक जेम्स द्वितीय के समय इंग्लैण्ड में रक्तहीन गौरवपूर्ण क्रांति (1688 ई0) हुई। जिसमें पार्लियामेन्ट की जीत हुई तथा वह अंग्रेज शासकों पर सर्वोच्च बन गयी। इस प्रकार लोकतंत्र ने निरंकुशता पर विजय पाना आरम्भ कर दिया।

1.5.2 फ्रांस

फ्रांस का विकास इंग्लैण्ड से भिन्न तरीके से हुआ था। फ्रांस की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि इस पर आसानी से आक्रमण हो सके, क्योंकि यह चारो ओर से समुद्र द्वारा उस तरह सुरक्षित नहीं जैसे इंग्लैण्ड। शक्ति और अधिकार एक व्यक्ति को सौंपे गये थे, न कि पार्लियामेंट को, क्योंकि इससे शक्तिशाली राजा आपातकाल में तत्काल कार्यवाही कर सकता था। यह एक उल्लेखनपीय तथ्य है कि 1500 ई0 में फ्रांस एक राष्ट्रीय राजतंत्र था तथा वहाँ राष्ट्रीय साहित्य का अभ्युदय हुआ। राष्ट्रीय भावनाओं के विकास की विशेषता यह थी कि इसका केन्द्र राजा था। शतवर्षीय युद्ध ने फ्रांस की बड़ी बर्बादी की, किन्तु राज्य की शक्ति पहले किसी भी समय की अपेक्षा अधिक हो गयी। फ्रांसीसी राजाओं ने युद्ध की आवश्यकताओं के कारण ''एस्टेट्स जनरल'' को बुलाये बिना भी लोगों पर कर लगाने का अधिकार प्राप्त कर लिया। इस प्रकार वे एक स्थायी सेना रखने में समर्थ हुए। अब राजा के अलावा किसी दूसरे को सेना खड़ी करने और उसे बनाये रखने का अधिकार

नहीं था। एक नियमित सेना और उसके निर्वाह के लिए उचित धन के द्वारा फ्रांस के राजा असीम शक्ति के रास्ते पर अग्रसर थे।

निरंकुश राजसता की स्थापना को अधिक सुदृढ़ आधार प्रदान किया– लुई ग्याहरवें (1461–1483 ई0) ने उसके शासनकाल में फ्रांस को तीव्र वाणिज्य की उन्नति और देश में शान्ति व्यवस्था की स्थापना के उद्देय से सर्व साधारण जनता, विशेषकर मध्यम वर्ग ने सामंतों के विरूद्ध राजतंत्र का समर्थन किया। अतः लुई ने व्यावहारिक बुद्धि, कुशलता तथा सफल कूटनीति द्वारा सामंतों की शक्तियों एवं जागीरों को छीन लिया। साथ ही, उसने सामन्तीय न्यायालयों को समाप्त कर राजकीय न्यायालयों की प्रभुता कायम की। उसने चर्च पर भी अंकुश लगाया। लुई ने कई ऐसे कदम उठाये जिनमें फ्रांस शक्तिशाली बना। इन कदमों में उद्योग धन्धों के विकास हेतु संरक्षण प्रदान करना, जहाजों का निर्माण, बन्दरगाहों को विकसित करना, समस्त राज्य में एक सी मुद्रा, नाप–तौल कानून इत्यादि व्यवस्थाएं शामिल थी। फ्रांस के इतिहास में लुई ग्यारहवें का शासनकाल एक युगान्तकारी घटना समझी जाती है, क्योंकि उसने फ्रांसीसी राज्य सीमाएं विस्तृत की एवं निरंकुश राजतंत्र तथा सुदृढ़ राष्ट्र की नींव डाली। जब लुई मरा तब फ्रांस का मानचित्र बहुत कुछ वैसा ही था, जैसा आज दिखायी पड़ता है। सोलहवीं शताब्दी में धार्मिक युद्ध से उत्पन्न अव्यवस्था ने निरंकुश राजतंत्र को और अधिक मान्यता, समर्थन एवं बल प्रदान किया। हेनरी चतुर्थ (1589–1610) का उल्लेख फ्रांसीसी राजाओं के इतिहास में महान राजा के रूप में ही नहीं, लोकप्रिय राजा के रूप में भी होता रहा है। उसने एक नये राजवंश की शुरूआत की जो दो सौ वर्षो तक फ्रांस पर शासन करता रहा। वह बूर्वो वंश का संस्थापक था, जिसने फ्रांस को ही नहीं यूरोप को भी सबसे शक्तिशाली राजा प्रदान किये। उसके सबसे महत्वपूर्ण कार्यो में एक था – राजाओं की शक्ति की प्रभुता को पुनः स्थापित करना।

हेनरी चतुर्थ के बाद 1617 ई0 में बालिग होने पर लुई तेरहवें ने राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली। लुई तेरहवें में प्रशासकीय क्षमता एंव योग्यता का अभाव था, किन्तु सौभाग्य से उसे कार्डिनल रिशलू नामक एक असाधारण व्यक्ति की अमूल्य सेवाएं प्राप्त की, जिसे उसने 1624 ई0 में प्रधानमंत्री बनाया। वह मृत्यु पर्यन्त (1642 ई0) इस पद पर बना रहा। योग्य और ओजस्वी रिशलू के अपनी सरकार के सम्बन्ध में दो लक्ष्य थे–

1– राजा को फ्रांस में सम्प्रभु बनाना।

2– फ्रांस को यूरोप में सर्वश्रेष्ठ बनाना।

रिशलू ने ऐसी तमाम गढ़ियों को बर्बाद कर दिया जो राष्ट्र के लिए आवश्यक नही थी तथा चालबाजों को गुप्तचरों द्वारा ठिकाने लगा दिया। राजा की शक्ति का विरोध करने वाला दूसरा वर्ग काल्विनदायी प्रोस्टेन्टों का था, जिन्हें ''ह्यूगनाट'' कहा जाता था। रिशलू ने ह्यूगनाटों को दबा दिया। रिशलू ने एस्टेट्स जनरल की बैठकें बुलाने से इंकार कर दिया। इस बात से राजा मनमाना काम करने को स्वतंत्र हो गया। राजा कानून बनाने और उन्हें लागू करने लगा। वह कर लगाने और उन्हें खर्च करने लगा। इस तरह रिशलू निरंकुश राजतंत्र का प्रमुख निर्माता था।

रिशलू की मृत्यु के बाद अगले राजा लुई चौदहवें (1643–1715 ई0) की अल्प– वयस्कता के समय, कार्डिनल मेजारिन ने सन् 1661 तक फ्रांस का कार्यभार संभाला। उसने रिशलू की

नीतियों को जारी रखा और जन विरोध (फ्रोंदे) के बावजूद लुई के निरंकुश राजतंत्र को दृढ़ किया। उसने विरोध को दबा दिया तथा राजनीतिक एवं वित्तीय मामलों में न्यायिक संस्था पार्लेमा के हस्तक्षेप का अधिकार छीन लिया। इस तरह राजतंत्र शक्तिशाली हो गया। रिशलू एवं मेजारिन के कायो ने ही लुई चौदहवें के निरंकुश राजतंत्र को सम्भव बनाया।

लुई 16वें (1774–1793 ई0) के समय फ्रांसीसी क्रांति ने फ्रांस में निरंकुशता का अन्त किया। अस्तु अब तक फ्रांस एक शक्तिशाली राष्ट्र–राज्य बन चुका था।

1.5.3 स्पेन

पिरेनीज पहाड़ के दक्षिण में भूमध्य सागर, अटलांटिक सागर और पुर्तगाल से घिरा पठारी इलाका स्पेन है। स्पेन आधुनिक काल के प्रारम्भ में यूरोप के सबसे शक्शिाली एवं उन्नत देशों में से एक था। स्पेन का अतीत स्वर्णिम रहा, किन्तु यह अल्पकालीन ही रहा, क्योकि स्पेन की महानता के भौतिक स्त्रोत उस देश में नहीं थे। दीर्घकालीन एकीकरण के प्रयासों के पश्चात् सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में स्पेन में राष्ट्रीय राजतंत्र का उत्कर्ष सम्भव हुआ।

1469 ई0 में अरागान के युवराज फर्डिनेण्ड एवं कास्तील की उत्तराधिकारिणी इसाबेला के मध्य विवाह सम्पन्न हो गया। विवाहोपरान्त दोनो राज्यों – अरागान एवं कास्तील का एकीकरण स्वभाविक था। यह एक महत्वपूर्ण घटना थी। इनकी संयुक्त सेनाओं ने मूरो को परास्त किया एवं ग्रेनेडा पर 1492 ई0 में अधिकार कर लिया। इसी के साथ स्पेन को पूर्ण धार्मिक एवं राष्ट्रीय एकता प्राप्त हुई। अब स्पेन एक पूर्ण स्वतंत्र राष्ट्र बन गया।

यह उल्लेखनीय तथ्य है कि 14वीं एवं 15वीं शताब्दी में तुर्को के बढ़ते प्रभाव से आक्रान्त ईसाई जगत में जहाँ पूर्व में मुसलमानों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था और साम्राज्य की राजधानी वियना भी सुरक्षित नहीं थी, वहाँ पश्चिम में स्पेन के सैनिकों ने मुसलमानों के सदियों पुराने प्रभाव का अन्त कर दिया और ईसाई प्रभाव की पुर्नस्थापना की। कोई भी अन्य वस्तु स्पेनिस राजतन्त्र के लिए इससे बढ़कर गौरव और उन्नति नहीं ला सकती थी। पोप अलेक्जेण्डर षष्ठ ने फर्डिनेन्ड एवं ईसाबेला को कैथोलिक राजाओं की उपाधि प्रदान की। किन्तु इस महत्वपूर्ण समय में स्पेन के राजा अपनी राजवंशी महात्वाकांक्षाओं में फंस गये, जिसने अगली दो शताब्दियों तक थका देने वाले संघर्षो में स्पेन को व्यस्त रखा।

स्पेन ने यूरोपीय राजनीति में अपनी महत्वपूर्ण स्थिति बनाने के लिए अपना ध्यान वैदेशिक तथा औपनिवेशिक विस्तार की ओर आकृष्ट किया। कोलम्बस की खोज ने अमेरिका में वृहत्तर स्पेनिस साम्राज्य स्थापित करने का मार्ग प्रशस्त किया। शीघ्र ही अमेरिका के अधिकांश भाग पर स्पेन का प्रभुत्व स्थापित हो गया। इन प्रदेशों में सोने–चाँदी की बहुलता थी। इस प्रकार स्पेन को एक ऐसा कल्पवृक्ष प्राप्त हुआ जिसने उसको आधुनिक काल के प्रारम्भ में यूरोप के सबसे शक्तिशाली एवं उन्नति देशों की श्रेणी में ला खड़ा करने में उल्लेखनीय योगदान दिया।

फर्डिनेन्ट एवं ईसाबेला ने राज्य के समस्त राजनीतिक अधिकारों को केन्द्रित करने तथा समस्त राज्य में धार्मिक एकता स्थापित करने की नीति अपनायी। उन्होंने राजपद की गौरव वृद्धि के लिए

एक शक्तिशाली केन्द्रित शासन स्थापित किया। उदण्ड स्वतन्त्र सामन्तों को दबाकर राज्य में शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित की एवं लुटेरों का दमन कर व्यापार वाणिज्य तथा आवागमन के साधनों में वृद्धि की।

स्पेन के एकीकरण व राष्ट्रीयकरण के मार्ग में अन्तिम महत्वपूर्ण कदम सन् 1512 ई0 में उठाया गया, जब स्पेन ने फ्रांस को परास्त कर नैवारे पर अधिकार स्थापित कर लिया। ईसाबेला और फर्डिनेन्ड के संयुक्त प्रयासों के परिणामस्वरूप आधुनिक एवं शक्तिशाली स्पेन राष्ट्र का निर्माण संभव हुआ।

फर्डिनेंड की मृत्यु के बाद उसकी बड़ी पुत्री का पुत्र चार्ल्स प्रथम (1516–1556 ई0) के नाम से स्पेन की गद्दी पर बैठा। 1519 ई0 में चार्ल्स–। पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट चुना गया। पवित्र सम्राट के रूप में वह चार्ल्स पंचम कहलाया। उसने स्पेन के अतिरिक्त पवित्र रोमन साम्राज्य, नीदरलैण्ड्स, बर्गडी, नेपल्स, सिसली, सार्डीनिया, सम्पूर्ण स्पेनिश अमेरिका, फिलिपाइन्स और अफ्रीका के कुछ भागों पर शासन किया। निःसन्देह उसने दुनिया के सबसे बड़े भू–भाग पर शासन किया। चार्ल्स के शासनकाल में स्पेन अपने गौरव की पराकष्ठा पर पहुँचा। किन्तु यह पराकष्ठा स्थायी नहीं रह सकी।

1.5.4 रूस

आधुनिक काल की पूर्व संध्या पर रूस का राज्य एक सुदृढ़ केन्द्रीय शक्ति से रहित था और वह आन्तरिक सामन्तीय संघर्षो, डेनमार्क, नार्वे द्वारा रूस पर आक्रमणों एवं तातारों की विजय के कारण एक कमजोर एवं प्रभावहीन राज्य था। सोलहवीं शताब्दी में पुनर्जागरण की जो लहरे पश्चिमी यूरोप में प्रवाहित हो रही थी, रूस उन परिवर्तनों से अछूता रहा। उसका यूरोप के देशों में कोइ सम्बन्ध न था। वह लम्बे समय तक पिछड़ा हुआ राज्य रहा। किन्तु सोलहवीं सदी के आरम्भ में, ईवान महान (1492–1505 ई0) ने रूस की यथास्थिति को समाप्त किया। उसने सर्वप्रथम तातार प्रमुख का अंत किया एवं रूप में मस्कोवी निरंकुश साम्राज्य की स्थापना की। उसने ही पहले–पहल जार की उपाधि धारण की, जिसका रूसी भाषा में अर्थ है – सर्वोच्च सत्ताधारी स्वतंत्र शासक। ईवान महान् के पश्चात् ईवान भयंकर (1505–1584) ने जारशाही की शक्ति में पर्याप्त वृद्धि के साथ ही रूसी सीमा का विस्तार किया।

ईवान भयंकर की मृत्यु (1584 ई0) के पश्चात् रूस में 1613 ई0 तक का काल गृह–युद्ध एवं अराजकता का रहा। 1613 ई0 में इस दुर्व्यवस्था का अन्त करने के उद्देश्य से रूसी समान्तों ने परस्पर सहमति से सोलह वर्षीय माइकेल रोमानोम को जार पद पर नियुक्त किया। इस वंश का शासन रूसी क्रांति (1917 ई0) तक चलता रहा।

पीटर महान का शासनकाल (1682–1725 ई0) रूस के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इतिहासकार हेजन के शब्दों में पीटर की गणना विश्व इतिहास के अत्यधिक कर्मठ और शक्तिशाली शासकों में है।पीटर रूस को एक बड़ी शक्ति बनाना चाहता था। पीटर का कहना था कि ''पश्चिम के साथ स्वतंत्रता पूर्वक और सरलता से मिलने–जुलने के लिए यह आवश्यक है कि रूस कहीं एक

खिड़की खोले, तभी उसमें बाहर से प्रकाश आ सकेगा।'' अर्थात् रूस के पास यूरोपीय समुद्रों में स्थित एक ऐसा बन्दरगाह होना चाहिए जो पूरे वर्ष जहाजों के उपयोग में आ सके। इसलिए पीटर की विदेश नीति का मुख्य उद्देश्य रूस के लिए पश्चिम की ओर ''खुली खिड़की'' या समुद्रतट प्राप्त करना था।

सन् 1697 में पीटर पश्चिमी यूरोप की यात्रा पर गया। इस यात्रा में उसका उद्देश्य तुर्की के विरूद्ध यूरोप के ईसाई राज्यों से सहायता प्राप्त करना था। यात्रा का असर जबरदस्त हुआ, क्योंकि पीटर इस इरादें को मन में भर कर लौटा व अपने देश को पश्चिम प्रणाली के अनुरूप ढालेगा। सदियों से बाकी दुनिया से कटा मस्कवी राज्य अपने द्वार यूरोप के लिए खोल देने की तैयारी में खड़ा था। पीटर ने अनुभव किया कि पश्चिम यूरोप रूस की अपेक्षा कहीं ज्यादा समृद्ध, शिक्षित और शक्तिशाली था। पीटर ने स्वदेश लौटकर किया। नूसी विचारों एवं प्रथाओं का खण्डन किया। उसने समाज में सभ्य आचार–व्यवहार पर जोर दिया। स्त्रियों को प्रेरित किया कि वे पर्दा प्रथा छोड़ कर पाश्चात्य वेशभूषा में बाहर आएं। बड़े–बड़े सामन्तों को यूरोपीय सभ्यता सिखाई गयी। उसने अपने दरबारियों को लम्बा रूसी चोंगा पहनने बन्द करने और छोटे यूरोपीय वस्त्र पहनने एवं दाढ़ी साफ करने का हुक्म दिया, जो लोग दाढ़ी रखना चाहते थे, उन्हें कर देने के लिए विवश किया।

पीटर ने रूस में यूरोपीय शिक्षा पद्धति को लागू किया। नगरों में स्कूल खोले गये, इंजीनियरिंग और चिकित्सा विद्यालयों की स्थापना की गयी और फ्रेंच शिक्षा का माध्यम बनी। पीटर के द्वारा एक विज्ञान अकादमी की स्थापना के लिए 1724 ई0 में निर्देश दिये गये थे, जिन्हें उसकी मृत्यु के बाद पूरा किया गया। उसके शासनकाल में ही सर्वप्रथम रूसी समाचार–पत्र का प्रकाशन शुरू हुआ और सार्वजनिक थियेटर खोला गया। देश में यूरोपीय पंचाग लागू किया गया। पीटर रूस का ऐसा पहला शासक था, जिसने आर्थिक श्रोत में एक संगठित नीति अपनायी। उसने कृषि का महत्व समझा और उसे प्रोत्साहित किया। उसके प्रोत्साहन से उद्योगों का विकास हुआ।

पीटर ने नियमित सेना की स्थापना की और उसके समुचित प्रशिक्षण की व्यवस्था की। किसानों के हष्ट–पुष्ट लड़के रूस की स्थायी सेना में भर्ती किये जाने लगे। सैनिकों के लिए यूनीफार्म की व्यवस्था की गयी, जर्मनी का अनुसरण करके उसने सेना एवं नौसेना में वृद्धि की, उसे अस्त्र–शस्त्रों से सुसज्जित किया और नये ढंग की शिक्षा दी। इस तरह पीटर के तीनों उद्देश्य प्रथम – एक तंत्र की स्थापना, द्वितीय – पाश्चात्यीकरण और तृतीय – पश्चिम तथा दक्षिण में विस्तार लगभग पूर्ण हुए।

इतिहासकार हेज ने लिखा है – ''रूस के सैन्यवादी शासन का निर्माण, रूसी चर्च की स्वतन्त्रता व सत्ता का अन्त, रूसी समाज का कायाकल्प, रूसी रहन–सहन, व्यवहार एवं परम्पराओं का यूरोपीयकरण, सुदृढ़, निरंकुश जारशाही की स्थापना, साम्राज्यवादी विस्तार, इत्यादि कार्यो का श्रेय पीटर महान को ही प्राप्त है।

1.5.5 प्रशा

प्रशा का उत्थान भी सत्रहवीं एवं अट्ठारहवीं सदी में हुआ। ब्रैण्डनवर्ग की डची के आधार पर इसका विकास हुआ और एक साम्राज्य के रूप में परिवर्तित हो गया। सत्रहवीं सदी में फ्रेडरिक विलियम (1640–1688 ई0) प्रशा का शासक बना। उसे ''इलेक्टर महान्'' भी कहा जाता था। उसने प्रशा की स्थिति को सुदृढ़ करने का निश्चय किया। उसने निरंकुश राजतंत्र स्थापित कर प्रशासनिक सुधार की शुरूआत की। निरंकुश राजतंत्र हेतु उसने एक विशाल सेना का संगठन किया। उसने स्थानीय प्रशासन को चलाने के लिए अपने मनोनीत व्यक्ति नियुक्त किये। प्रान्तीय प्रशासन में लोकप्रिय एस्टेट्स को धीरे–धीरे नष्ट किया। उसने आर्थिक सुधारों की तरफ भी ध्यान दिया। उसने कृषकों को ऐसी जमीनों पर काम करने के लिए छः वर्ष तक करों से मुक्ति दी जो तीस वर्षीय युद्ध के कारण बंजर हो गयी थी। उसने सरकारी नियंत्रण के अन्तर्गत कारखानों को बढ़ावा दिया।

प्रशा के शासकों में फेडरिक महान (1740–1786 ई0) सर्वाधिक उल्लेखनीय है। उसके समय प्रशा का विकास चरम सीमा पर पहुँच गया। अपने शासन के प्रारम्भ से ही वह युद्धरत हो गया था, लेकिन उसने कृषि एवं उद्योग को भुलाया नहीं। किसानों और जमींदारों को वैज्ञानिक ढंग से खेती करने के लिए प्रोत्साहित किया। पहली बार आलू की खेती बड़े पैमाने पर शुरू की और आज भी जर्मन लोगों का मुख्य भोजन है। पशुपालन को बढ़ावा दिया गया। वह कर वसूल करने वाले कर्मचारियों पर कड़ी नजर रखता था, वह स्वयं एक–एक पैसे का हिसाब रखता था, चाहे उसका निजी खर्चा हो या राज्य का, इसलिए दूसरे भी अपव्यय करने से डरते थे। सांस्कृतिक विषयों में उसकी सहज रूचि थी। उसके अनुरोध पर ही बाल्तेयर उसके दरबार में मित्र की भाँति रहने लगा, यद्यपि बाद में दोनो में बन न सकी। खाने की मेज पर वह राजनीति से अधिक साहित्य की चर्चा करना पसन्द करता था। राजधानी बर्लिन में अकादमियाँ स्थापित हुई, और लेखकों, कलाकारों को संरक्षण दिया जाने लगा। विज्ञान में उसकी विशेष रूचि थी, इसलिए ऐसी परम्पराएं डाली गयी जिनका विकास होने पर दुनिया के सबसे बड़े वैज्ञानिक देशों में प्रशा का नाम गिना जाने लगा।

विदेश नीति के मामलों में फेडरिक का उद्देश्य प्रशा की सीमाओं का विस्तार करना था। फ्रेडरिक ने साइलेशिया को आस्ट्रिया से बलात् छीन लिया। प्रशा की समृद्धि के लिए साइलेशिया का प्रदेश बहुत महत्वपूर्ण हो सकता था। सप्तवर्षीय युद्ध की समाप्ति के नौ वर्ष पश्चात् पोलैण्ड का प्रथम विभाजन प्रशा, आस्ट्रिया और रूस के मध्य हो गया। फेडरिक को इस विभाजन से पश्चिमी पोलैण्ड का क्षेत्र मिला और प्रशा की सीमाएं पूर्व में रूस के करीब पहुँच गयी।

यह तथ्य है कि फ्रेडरिक दुनिया के कुछ सबसे प्रसिद्ध शासकों में है। जर्मनी को एक राष्ट्रीय शक्ति के रूप में विकसित करने के कारण जर्मन इतिहासकारों ने इसकी अत्यधिक प्रशंसा की है। वह एक कुशल सैनिक, दक्ष सेनानायक, चतुर राजनीतिज्ञ, महान् सुधारक और प्रबद्ध निरंकुश शासक था। फेडरिक ने सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि उसने यह सिद्ध कर दिया कि जर्मनी में आस्ट्रिया का एकाधिकार नहीं चल सकता। यह खेद ही रहा कि उसने देश में कट्टर निरंकुशता स्थापित करके लोगों में राजनीतिक चेतना को विकसित नहीं होने दिया।

1.6 समीक्षा

दुर्भाग्य से राष्ट्रीय राज्यों का उदय यूरोप में शांति स्थापित नहीं कर सका। मध्यम वर्ग द्वारा समर्पित राष्ट्रीय राजाओं ने सामन्ती युद्धों को समाप्त करने तथा आंतरिक शान्ति और व्यवस्था के नाम पर युद्ध किया। परन्तु सामन्ती युद्धों के बाद राष्ट्रीय और वंशानुगत युद्धों की शुरूआत हुई। आधुनिक काल के प्रारम्भ में चार शक्तिशाली राष्ट्रीय राजतंत्र– स्पेन, पुर्तगाल, फ्रांस और इंग्लैण्ड का उदय हुआ और इन्होंने यूरोपीय राजनीति पर प्रधान्य कायम किया।

सोलहवीं एवं सत्रहवीं शताब्दियों में यूरोप में उदीयमान राष्ट्रीय शासकों ने राष्ट्रीय चेतना की नींव रखी। यही चेतना राष्ट्रीय राज्यों के निर्माण में सहायक सिद्ध हुई। युद्धों में बढ़ते व्यय ने सभी देशों में कर को अधिकाधिक बढ़ा दिया था एवं इस प्रश्न को लेकर राजतंत्रीय राज्यों का समाज की नवोदित शक्तियों के साथ संघर्ष आरम्भ हुआ। नवोदित वर्ग कर की सीमा सीमित रखना चाहते थे। करारोपण के प्रश्न को लेकर सभी जगह शासकों का विरोध हो रहा था। किन्तु लगभग सभी स्थानों पर विरोध का संगठित रूप देने की सुविधाएं उपलब्ण न थी। इंग्लैण्ड एक अपवाद था। वहाँ नवोदित वर्ग जिसमें व्यापारी, पढ़ा–लिखा मध्यम वर्ग, कुछ भू–स्वामी आदि थे, ने राजतंत्र पर अन्य देशों की तुलना में शीघ्र ही नियंत्रण स्थापित कर लिया। राष्ट्रीय राज्यों के उदय से कुछ सुपरिणाम भी निकलें। सामन्तवाद समाप्त हुआ। आर्थिक विकास के कारण उत्पादन बढ़ा। तकनीकी क्षेत्र में नवीन प्रणालियाँ खोजी गयी। अब राष्ट्रों की सीमाएं भी अधिकाधिक निश्चित और तर्क संगत हो गयी। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि आज की राष्ट्रीय चेतना कल के निरंकुशवाद की देन है।

1.7 निरंकुशता का पतन

अतः अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लोकप्रिय सरकारों की माँग ने निरंकुशता की जड़े कमजोर कीं। कालान्तर में जनता ने निरंकुशता पर सीधा प्रहार करना शुरू कर दिया। जनता ने अनुचित कानूनों तथा राजा के असीमित अधिकारों का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। विरोध करने वालों में समाज के वे हिस्से भी शामिल थे, जिन्होंने पहले शक्तिशाली राजाओं का समर्थन किया था। जनता ने शासकों के निरंकुश अधिकारों में कटौती तथा राजसत्ता में हिस्सा देने की माँग शुरू की। शासकों और जनता का परस्पर विराधे सबसे पहले इंग्लैण्ड में सामने आया। इसके बाद अमेरिका की क्रांति एवं फ्रांस की क्रांति ने निरंकुशता को एक जोरदार धक्कता पहुँचाया।

1.8 सारांश

रोमन साम्राज्य एवं पोपशाही की अवनति के परिणामस्वरूप यूरोप राजनैतिक पटल पर महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे। सामन्तवाद के पतन, पुर्नजागरण एवं धर्म सुधार की कड़ी में ही नवीन निरंकुश राजतन्त्र का बीज भी छुपा है। सामन्तों के पतन एवं धर्म सुधार आन्दोलन में राजाओं की शक्ति को बढ़ाया। राजाओं ने अपनी शक्ति को बढ़ाने के लिए राष्ट्रीयता को साधन के रूप में अपनाया तथा सैनिक शक्ति बढ़ाकर राष्ट्रीय सीमा का विस्तार किया।

1.9 शब्दावली

गुलाबों का युद्ध – यार्क लोगों का प्रतीक सफेद गुलाब था और लंकास्टर लोगों का ला गुलाब। इसी कारण यह युद्ध ''गुलाबों का युद्ध'' कहलाता है।

धर्मयुद्ध – चौदहवीं सदी के आरम्भ में स्पेन में तीन प्रमुख ईसाई राज्य थे – पूर्व में अरागान (Aragon) मध्य में कास्तील (Castile)] उत्तर में नैवारे (Navarre), दक्षिण में सिफ्र एक मुसलमान (मूर) राज्य ग्रेनेडा था। यद्यपि इन ईसाई राज्यों में प्रतिद्वन्दिता थी, परन्तु ग्रेनेडा में मुस्लिम राज्य कें विरूद्ध इनका संघर्ष जारी था।

वैवाहिक सम्बन्ध – इन वैवाहिक सम्बन्धों में सबसे महत्वपूर्ण उसकी लड़की का आस्ट्रिया के राजघराने के साथ सम्बन्ध स्थापित करना है। उसकी ज्येष्ठ पुत्री जोआना एवं आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग युवराज फिलिप प्रथम (सम्राट मैक्सीमिलयन एवं साम्राज्ञी मेरी का पुत्र) का वैवाहिक सम्बन्ध यूरोपीय इतिहास एवं हैप्सवर्ग राजवंश के उत्थान एवं प्राधान्य में महत्वपूप्र सिद्ध हुआ। युवराज फिलिप की माता नीदरलैण्ड्स की उत्तराधिकारिणी थी और पिता सम्पूर्ण आस्ट्रियन साम्राज्य एवं पवित्र रोमन साम्राज्य का अधिपति था। अतः उत्तराधिकारी के रूप में फिलिप सम्पूर्ण नीदरलैण्ड्स आस्ट्रियन साम्राज्य तथा पवित्र रोमन साम्राज्य का अधिकारी था। फिलिप और जोआना से 1500 ई0 में चार्ल्स का जन्म हुआ, यही चार्ल्स कालान्तर में चार्ल्स पंचम के नाम से प्रद्धि हुआ। यह संयोग ही था कि चार्ल्स को निकटतम उत्तराधिकारी के रूप में अपने पिता, माता, नाना और पितामह की क्रमशः मृत्यु से उनका सम्पूर्ण विशाल साम्राज्य हाथ लग गया।

इन्क्वीजिशन – धर्म विरोधियों के दमन हेतु स्पेन में 1480 ई0 में इन्क्वीजिशन (Inquisition) नामक विशेष धार्मिक न्यायालय स्थापित किये गये।

स्टेट्स जनरल – फ्रांस की राष्ट्रीय सभा।

1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

1– ए हिस्ट्री आफ वर्ल्ड सिविलाइजेशन – जे0ई0 स्वेन
2– द आउट लाइन आफ हिस्ट्री – एच0जी0 वेल्स
3– विश्व इतिहास – जैन एवं माथुर
4– आधुनिक पश्चिम का उदय – पार्थसारथि गुप्ता

1.11 बोध प्रश्न

निम्न प्रश्नों में सही और गलत का निशान लगायें –

प्र01– शतवर्षीय युद्ध इंग्लैण्ड एवं फ्रांस के मध्य हुआ था। ( )
प्र02– ईसाबेला एवं फर्डिनेन्ड स्पेन के शासक थे। ( )
प्र03– लुई चौदहवाँ प्रशा का शासक था। ( )

प्र04– पीटर महान को आधुनिक रूस का जन्मदाता कहा जाता है। ( )
प्र05– रिशलू एवं मेजारिन ने फ्रांस में निरंकुश राजतंत्र बनाने में सर्वाधिक भूमिका निभाई ( )

निम्न प्रश्नों के उत्तर दीजिए –

प्र06– निरंकुश वाद की क्या विशेषताऐं हैं?
प्र07– निरंकुश राजतंत्र के उदय के कारणों की समीक्षा करें?
प्र08– निरंकुशता का पतन क्यों हुआ? कारण बताऐं।
प्र09– आधुनिक रूस के निर्माण में पीटर महान की भूमिका की जाँच करें?
प्र010– फ्रेडरिक महान की नीतियों एवं कार्यो ने प्रशा को आधुनिक यूरोप का एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाया? इस कथन की समीक्षा करें।

1.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

प्र01– सही (✓)
प्र02– सही (✓)
प्र03– गलत (X)
प्र04– गलत (✓)
प्र05– सही (✓)
प्र06– देखें बिन्दु–3
प्र07– देखें बिन्दु–4
प्र08– देखें बिन्दु–7
प्र09– देखें बिन्दु–5.4
प्र010– देखें बिन्दु–5.5

1.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. निरंकुश राष्ट्रीय राज्यों के उदय पर विस्तार से चर्चा कीजिए।

इकाई 2 भौगोलिक खोजें ,प्रारंभिक औपनिवेशिक साम्राज्य, वाणिज्यिक क्रान्ति

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 भौगोलिक खोजें

2.3.1 भौगोलिक खोजों की तत्कालीन आवश्यकता एवं उनके लिए अनुकूल परिस्थितियां

2.3.2 भौगोलिक खोजों में पुर्तगाल व स्पेन की भूमिका

2.3.3 भौगोलिक खोजों में नीदरलैण्ड, फ्रांस, इंग्लैण्ड तथा रूस की भूमिका

2.3.4 भौगोलिक खोजों के परिणाम

2.3 प्रारम्भिक औपनिवेशिक साम्राज्य

2.4.1 यूरोपीय राज्यों की साम्राज्य विस्तार की महत्वाकांक्षा

2.4.2 पुर्तगाल तथा स्पेन के औपनिवेशिक साम्राज्य –

2.4.3 डच तथा फ्रांसीसी औपनिवेशिक साम्राज्य

2.4.4 ब्रिटिश औपनिवेशिक साम्राज्य

2.5 औपनिवेशिक शासन के सामान्य लक्षण

2.5.1 धर्म–परिवर्तन

2.5.2 दास–व्यापार एवं दास प्रथा

2.5.3 विजित जाति का दमन

2.5.4 औपनिवेशिक शासकों द्वारा उपनिवेशों का दोहन तथा वहां अपने सामाजिक, धार्मिक,सांस्कृतिक, शैक्षिक एवं प्रशासनिक मूल्यों की स्थापना

2.5.5 यूरोप में पूंजीवाद, वाणिज्यवाद का उदय और परवर्ती काल में औद्योगिक क्रान्ति के लिए अनुकूल परिस्थितियां

2.5.6 यूरोपीय देशों में निरंकुश राजतन्त्र को बढ़ावा

2.5.7 यूरोप में कला का विकास

2.5.8 यूरोपीय देशों के मध्य पारस्परिक स्पर्धा में वृद्धि

2.5.9 उपनिवेशों में सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक और राजनीतिक जागृति का सूत्रपात

2.6 वाणिज्यिक क्रान्ति

2.6..1 वाणिज्यिक क्रान्ति का उद्भव एवं उसकी परिभाषा

2.6.2 वाणिज्यिक क्रान्ति का विकास

2.6.3 वाणिज्यिक क्रान्ति के परिणाम
2.7 सारांश
2.7 पारिभाषिक शब्दावली
2.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.9 संदर्भ ग्रंथ सूची
2.10 उपयोगी पाठ्य सामग्री
2.11 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

इतिहास को गति, दिशा एवं अर्थ प्रदान करने में भौगोलिक उपकरणों तथा भौगोलिक खोजों ने अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। नवीन भौगोलिक खोजें आने वाले परिवर्तनों का वाहक बनीं। यूरोपीय देशों में पुर्तगाल ने भौगोलिक खोजों के क्षेत्र में अग्रणी भूमिका निभाई थी। आगे चलकर स्पेन, नीदरलैण्ड, फ्रांस और इंग्लैण्ड ने भी नई खोजें करने में अपना योगदान दिया था। 1453 में तुर्कों द्वारा कॉन्स्टैन्टिनोपल पर अधिकार करने के बाद पश्चिमी यूरोपीय देशों के लिए यूरोप और पूर्व के मध्य एशिया माइनर और सीरिया से होकर जाने वाला भू–क्षेत्रीय मार्ग अवरुद्ध हो चुका था। बार्तोलोम्यू डियाज, कोलम्बस, वास्कोडिगामा, वोराज़ानो, हॅरमन कोर्टेस, जे0 कार्तियर, जॉन स्मिथ आदि ने अफ्रीका, एशिया तथा अमेरिका में अज्ञात क्षेत्रों की खोज की।

भौगोलिक खोजों से यूरोपीय देशों को अफ्रीका, एशिया तथा अमेरिका में सैनिक दृष्टि से कमज़ोर किन्तु प्राकृतिक संसाधनों में समृद्ध क्षेत्रों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर अपने–अपने औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित करने का अवसर मिला। प्रारम्भिक औपनिवेशिक साम्राज्यों के काल को हम औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व तक का काल मान सकते हैं। उपनिवेशवाद ने यूरोपीय राज्यों के संसाधनों में अपार वृद्धि की। राजनीतिक दृष्टि से इसने शासकों को अधिक साधन–सम्पन्न बनाकर यूरोप में निरंकुश राजतन्त्र को सुदृढ़ बनाया। पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में आने से औपनिवेशिक प्रजा को भी भौतिक प्रगति का महत्व समझ में आने लगा और धीरे–धीरे उपनिवेशों में सामाजिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक चेतना का विकास होने लगा।

यूरोप में वाणिज्यिक क्रान्ति का सूत्रपात भौगोलिक खोजों के दौर से पहले ही हो चुका था किन्तु भौगोलिक खोजों ने वाणिज्यिक क्रान्ति को और सशक्त व व्यापक बना दिया था। 16 वीं एवं 17 वीं शताब्दी में वाणिज्यिक क्रान्ति अपनी उन्नति और विकास के चरम शिखर पर पहुंच गई। वाणिज्यिक क्रान्ति के दौर में व्यापक स्तर पर व्यापार–वाणिज्य का संगठन विकसित हुआ। यह वाणिज्यिक क्रान्ति, सामान्य व्यावसायिक गतिविधियों में, तथा वित्तीय सेवाओं (बैंकिंग, बीमा, निवेश आदि) की वृद्धि में परिलक्षित हुई। वाणिज्यवाद ने उपनिवेशवाद को बढ़ावा दिया। वाणिज्यिक क्रान्ति के प्रमुख परिणामों में सामन्तवाद का पतन, पूंजीवाद का उदय, यूरोपीय सभ्यता

का प्रसार, दास–प्रथा का पुनर्प्रचलन थे किन्तु इसका सबसे प्रमुख परिणाम औद्योगिक क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार करना था।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको मध्यकाल के उत्तरार्ध व पुनर्जागरण काल के दौरान यूरोपीय देशों के आर्थिक, भौगोलिक तथा राजनीतिक विकास से, विशेषकर, भौगोलिक खोजों, प्रारम्भिक औपनिवेशिक साम्राज्यों की स्थापना, तथा वाणिज्यिक क्रान्ति से परिचित कराना है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप अग्रांकित के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे–

1– पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर सत्रहवीं शताब्दी के दौरान हुई भौगोलिक खोजों के कारणों तथा उनके परिणामों के विषय में।

2. यूरोपीय देशों द्वारा सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक एशिया, अफ़्रीका तथा अमेरिका में औपनिवेशिक साम्राज्यों की स्थापना तथा उसके परिणामों के विषय में।

3– वाणिज्यिक क्रान्ति के उद्भव, विकास, परिणाम तथा भौगोलिक खोजों व उपनिवेशवाद से उसके घनिष्ठ सम्बन्ध के विषय में।

2.3 भौगोलिक खोजें

2.3.1 भौगोलिक खोजों की तत्कालीन आवश्यकता एवं उनके लिए अनुकूल परिस्थितियां

लॉर्ड एक्टन ने इतिहास में नई दुनिया की खोज को, विश्व को मध्यकाल से आधुनिक काल में प्रविष्ट कराने की दिशा में एक निर्णायक कारण माना है। अब यूरोपीय अपनी आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक महत्वाकांक्षाओं को साकार कर सकते थे। 13 वीं शताब्दी के अन्त में दिशासूचक यन्त्र 'कुतुबनुमा' तथा बाद में एस्ट्रोलोव (अक्षांश जानने का यन्त्र) तथा सैक्सटैन्ट के आविष्कार, उन्नत मानचित्रों के निर्माण, अधिक पाल वाले और चप्पू से चलने वाले जहाजों के निर्माण से अब यह सम्भव हो गया कि लम्बी समुद्र यात्रा द्वारा पश्चिम से पूर्व की ओर पहुंचा जाए। भौगोलिक ज्ञान तथा नौ–संचालन में पूर्वी देशवासियों की उपलब्धियों ने महान भौगोलिक खोजों को सम्भव बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया था। वाइकिंग्स तथा वेनीशियन व्यापारी मार्कोपोलो के अनुभवों ने पन्द्रहवीं व सोलहवीं शताब्दी में यूरोपीयों को नई भौगोलिक खोजों के लिए प्रेरित किया था। यूरोपीय देशों में माल के उत्पादन में वृद्धि, सोने और चाँदी जैसी बहुमूल्य धातुओं की कमी, सोने, चाँदी,मसाले, मछली, लकड़ी, सूती एवं रेशमी वस्त्र, हाथी दाँत, कालीन, फ़र (लोम), विलासिता की सामग्री आदि मिलने की आशा में नए भू–क्षेत्रों की तलाश और यूरोप से भारत तथा पूर्वी एशिया के लिए नए समुद्री मार्गों खोजने की आकांक्षा ने पश्चिमी यूरोप के प्रतिस्पर्धी व्यापारियों को व्यापार–बिचौलियों के शोषण से बचने के लिए और एशिया के देशों से खुद सीधे सम्पर्क स्थापित करने के उद्देश्य, नाविक अभियानों के भेजे जाने के प्रमुख कारण थे।

2.3.2 भौगोलिक खोजों में पुर्तगाल व स्पेन की भूमिका

हेनरी दि नेविगेटर

यूरोपीय देशों में पुर्तगाल ने भौगोलिक खोजों के क्षेत्र में अग्रणी भूमिका निभाई थी। 1415 में अफ्रीका के समुद्री तट स्यूटा पर पुर्तगाल का अधिकार हो जाने के बाद भौगोलिक खोजों के लिए अनुकूल वातावरण विकसित हो गया था। 'हेनरी दि नेवीगेटर' के नाम से प्रसिद्ध पुर्तगाल के राजकुमार हेनरी (1399–1460) ने सैग्रेस के तट पर एक अनुसन्धान केन्द्र की स्थापना की और वहां से खगोलशास्त्रियों, पोत निर्माताओं, मानचित्र विशेषज्ञों आदि की सहायता से नाविक अभियान भेजने प्रारम्भ किए। उसके प्रयासों का सुपरिणाम अज़ोर और मडेरिया द्वीपों की खोज के रूप में दिखाई पड़ा। राजकुमार हेनरी के इन अभियानों का उद्देश्य धर्म–प्रचार, वैज्ञानिक खोज और देश की प्रतिष्ठा व उसके अधीन भू–क्षेत्रों की वृद्धि करना था।1453 में तुर्कों द्वारा कॉन्स्टैन्टिनोपल पर अधिकार करने के बाद पश्चिमीयूरोपीय देशों के लिए यूरोप और पूर्व के मध्य एशिया माइनर और सीरिया से होकर जाने वाला भू–क्षेत्रीय मार्ग अवरुद्ध हो चुका था। सन् 1488 में पुर्तगाली नाविक बार्तोलोम्यू डियाज़ ने केप ऑफ़ गुड होप की खोज की थी। डियाज़, डी कैम आदि ने इसी वर्ष में अफ्रीकी महाद्वीप के समूचे पश्चिमी और दक्षिणी तटीय क्षेत्र की खोज कर ली थी। 'मैनुअल दि फ़ॉर्चुनेट' के संरक्षण में 1498 में पुर्तगाली नाविक वास्कोडिगामा ने अरब मार्गदर्शकों की सहायता से दक्षिण अफ्रीका होते हुए पश्चिमी यूरोप से भारत के लिए समुद्री मार्ग की खोज की थी। कालीकट के समुद्री तट पर पहुंचकर उसने भारत में औपनिवेशिक शासन की नींव का पहला पत्थर रखा। वास्कोडिगामा ने कहा था कि वह मसालों की प्राप्ति और ईसाई धर्म के प्रसार हेतु भारत पहुंचा है। वास्कोडिगामा द्वारा भारत के लिए समुद्री मार्ग की खोज से उत्साहित होकर पुर्तगाली 16 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में श्री लंका व सुदूर पूर्व में जावा व सुमात्रा तक पहुंच गए। 1517 में उन्होंने चीन के कैंटन में अपनी स्थायी बस्ती स्थापित की और 1542 तक वह जापान भी पहुंच गए।

2.3.3 भौगोलिक खोजों में नीदरलैण्ड, फ्रांस, इंग्लैण्ड तथा रूस की भूमिका

नीदरलैण्ड के नाविकों – विलेम जैन्सज़ून तथा एबेल टस्मन ने सत्रहवीं शताब्दी में ऑस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड तथा पैसिफ़िक आइलैण्ड्स की खोज की थी। 'डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी' की ओर से ब्रिटिश नाविक हडसन ने वर्तमान काल के न्यूयॉर्क की खोज की थी। फ्रांसीसी नाविकों – वोराज़ानो तथा जे0 कार्तियर ने उत्तरी अमेरिका के पूर्वी तट तथा सेंट लारेन्स नदी की खोज की थी। इटालियन नाविक जॉन कैबॉट ने इंग्लैण्ड के शासक हेनरी सप्तम की ओर से 1499 में न्यू फ़ाउण्डलैण्ड की खोज की थी। सोलहवीं शताब्दी में रूसी खोजकर्ताओं ने साइबेरिया की खोज की थी।

2.3.4 भौगोलिक खोजों के परिणाम

1. यूरोपीय खोजों ने पूर्व पर पश्चिम की श्रेष्ठता स्थापित कर दी।
2. व्यापारिक गतिविधियों के साथ यूरोपीय देशों ने नए खोजे हुए क्षेत्रों में ईसाई धर्म–प्रचार को भी अपना लक्ष्य बनाया। जेसुइट मिशन के फ्रांसिस ज़ेवियर ने मलक्का, मलाकू द्वीप, अम्बोनिया, टीमाटे, जापान, चीन और विशेषकर भारत के गोआ में ईसाई धर्म का व्यापक प्रचार किया।
3. भौगोलिक खोजों के बाद यूरोपीय व्यापार समस्त विश्व में फैल गया। इससे यूरोप में सामन्तवाद के पतन की प्रक्रिया तीव्र हो गई और पश्चिमी यूरोप में पूंजीवाद उभर कर आने लगा। सोने–चाँदी का अतुलित भण्डार आ जाने से यूरोप में आवश्यक वस्तुओं के दामों में अत्यधिक वृद्धि हो गई। व्यापार में भू–मध्यसागर के स्थान पर अटलान्टिक महासागर की महत्ता बढ़ जाने से इटली और जर्मनी जैसे देश आर्थिक दृष्टि से पिछड़ने लगे और नीदरलैण्ड व इंग्लैण्ड जैसे देश आगे बढ़ने लगे। अब भू–मध्य सागर व बाल्टिक सागर के बन्दरगाहों से अधिक महत्व लिस्बन, लन्दन व एम्सटर्डम के बन्दरगाहों का हो गया।
4. भौगोलिक खोजों ने ज्ञान की अन्य विधाओं जैसे वनस्पतिशास्त्र, जन्तुशास्त्र, मानव–जाति विज्ञान आदि में नई खोजों के अवसर उपलब्ध कराए। यूरोपीयों ने आलू, मक्का, टमाटर और तम्बाकू की खेती करना शुरू कर दिया। राष्ट्रीय संसाधनों में वृद्धि के कारण कला की विभिन्न विधाओं को शासक वर्ग तथा धनाढ्य वर्ग द्वारा प्रोत्साहन दिया जाने लगा और वैज्ञानिक आविष्कारों के लिए समुचित धन भी उपलब्ध कराया जाने लगा जिसका कि परिणाम कला व विज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति के रूप में दिखाई दिया।
5. भौगोलिक खोजों ने यूरोपीय देशों के मध्य प्रतिस्पर्धा को बढ़ाया जिसकी परिणति अनेक बार भीषण युद्धों में हुई।
6. भौगोलिक खोजों के फलस्वरूप व्यापारिक गतिविधियों में अप्रत्याशित वृद्धि ने पूंजीवाद व राष्ट्रीय वाणिज्यवाद को बढ़ावा दिया और अनेक व्यापारिक बैंकों की स्थापना हुई। वाणिज्यिक व्यवस्था के उत्थान के कारण सभी यूरोपीय शक्तियों ने निर्यात को बढ़ावा देने और आयात को घटाने के प्रयास किए।
7. भौगोलिक खोजों ने उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद के उदय को सम्भव बनाया।

2.4 प्राम्भिक औपनिवेशिक साम्राज्य

2.4.1 यूरोपीय राज्यों की साम्राज्य विस्तार की महत्वाकांक्षा

पन्द्रहवीं शताब्दी तथा सोलहवीं शताब्दी तक यूरोपीय देशा ने समुद्री मार्ग द्वारा दुनिया के एक बड़े भाग की खोज कर ली थी । पुनर्जागरण के दौरान वैज्ञानिक व तकनीकी प्रगति के परिणाम स्वरूप यूरोपीय देशों ने न केवल नौ–चालन के क्षेत्र में बहुत प्रगति कर ली थी अपितु अस्त्र–शस्त्र के क्षेत्र में भी समान रूप से प्रगति कर ली थी। अब यूरोपीय शक्तियों के पास दुनिया के शेष सभी देशों की तुलना में अधिक मारक शक्ति के हथियार थे और आधुनिक अस्त्र–शस्त्रों से सज्जित उनकी थल सेनाएं व नौ–सेनाए भी सबसे सुगठित व आधुनिक रणनीति में पारंगत थीं। इन अनुकूल

परिस्थितियों में अनेक यूरोपीय देशों में 'ग्रीड ऑफ़ गोल्ड एण्ड लस्ट फ़ॉर ग्लोरी' (धन का लोभ और यश की लालसा) की भावना के वशीभूत होकर औपनिवेशिक साम्राज्य की स्थापना की महत्वाकांक्षा उत्पन्न हुई। इसके अतिरिक्त अपने–अपने विजित क्षेत्रों में अपने धर्म अर्थात् ईसाई धर्म के प्रचार–प्रसार की आकांक्षा ने भी यूरोपीय देशों को अपने–अपने औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित करने की प्रेरणा दी थी। वास्तव में औपनिवेशिक साम्राज्यों की स्थापना के प्रारम्भिक दौर में यूरोपीय देशों का प्रमुख प्रेरक कारण धर्म–प्रचार था न कि विजित क्षेत्रों में अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करना। परन्तु बाद में आर्थिक कारणों से, विशेषकर व्यापारिक लाभ हेतु उपनिवेशों की स्थापना की जाने लगी। अपने देश में उत्पादित माल की बिक्री के लिए नए बाज़ारों की तलाश और अपने यहां तैयार उत्पादों के लिए आवश्यक कच्चे माल की सस्ते में और नियमित एवं निर्बाध आपूर्ति की समस्या, इन दोनों का ही समाधान अधिक से अधिक और बड़े से बड़े उपनिवेशों की स्थापना में मिल सकता था।

2.4.2 पुर्तगाल तथा स्पेन के औपनिवेशिक साम्राज्य

आधुनिक काल में औपनिवेशिक साम्राज्य की स्थापना का इतिहास पुर्तगाल तथा स्पेन के साहसिक प्रयासों से प्रारम्भ होता है। पूर्वी गोलार्ध एवं पश्चिमी गोलार्ध, दोनों में ही यूरोपीय उपनिवेशवाद के मूल में भौगोलिक अन्वेषण के क्षेत्र में पुर्तगाली व स्पेनिश उपलब्धियां थीं। अपने व्यापारिक लाभ और धर्म–प्रचार अभियान को स्थायित्व देने के लिए पुर्तगालियों ने अफ़्रीका, एशिया और अमेरिका में अपने उपनिवेश स्थापित करने के प्रयास किए किन्तु इसमें उनका सामना स्पेन से हो गया। स्पेन और पुर्तगाल के मध्य औपनिवेशिक साम्राज्य के विस्तार विषयक प्रतिस्पर्धा को समाप्त करने के लिए पोप ने हस्तक्षेप कर दोनों राज्यों के मध्य 7 जून, 1494 को टार्डिसिलास की सन्धि हुई जिसके अन्तर्गत खोज की गई नई दुनिया को स्पेन और पुर्तगाल (इबेरियन राज्यों) के मध्य बांट दिया गया। इस नई दुनिया का पूर्वी भाग (अफ्रीका, सुदूर पूर्व, श्री लंका आदि) पुर्तगाल के अधीन और पश्चिमी भाग (उत्तरी व दक्षिणी अमेरिका) स्पेन के अधीन रखा गया। परन्तु 1500 में पुर्तगाली नाविक कैबराल अपने भारतीय अभियान में गल्ती से ब्राज़ील पहुंच जाने से पश्चिमी गोलार्ध में पुर्तगाल के अधिकार में ब्राज़ील आने का मार्ग प्रशस्त हो गया। पूर्वी गोलार्ध में पुर्तगाली औपनिवेशिक साम्राज्य का विस्तार अफ़्रीका में मोंज़ाबीक तथा मैडागास्कर में, तथा एशिया में श्री लंका, मलेशिया (मलक्का को शामिल कर), इण्डोनेशिया, मकाउ, पूर्वी तिमोर, गोआ, दमन, दिउ, बॉम्बे (बाद में अंग्रेज़ो के अधीन) और चीन व जापान के कुछ भागों तक हो गया।

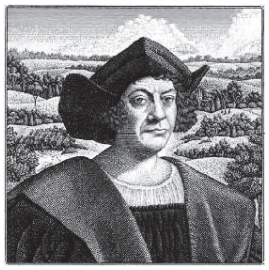

क्रिस्टोफ़र कोलम्बस

कोलम्बस द्वारा 1492 में नई दुनिया की खोज के बाद स्पेन ने पश्चिमी गोलार्ध में न्यू स्पेन, पेरू, अर्जेन्टिना, कोलम्बिया, वैस्टइंडीज़, मैक्सिको में अपने उपनिवेश स्थापित किए। सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक दक्षिणी अमेरिका का अधिकांश भाग स्पेन के औपनिवेशिक साम्राज्य का

अंग बन गया। हॅरमन कोर्टेस ने मैक्सिकों में औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित किया। स्पेन के औपनिवेशिक शासन में अमानवीयता की सभी पराकाष्ठाओं को पार कर इण्डियन अमेरिकन्स का समूल विनाश कर दिया गया। स्पेन को अपने उपनिवेशों से इतना धन प्राप्त हुआ कि वहां के शासकों ने दीर्घकालीन धर्म–युद्ध किए जो आगे चलकर स्पेनिश शक्ति के पतन का कारण बने।

2.4.3 डच तथा फ़्रांसीसी औपनिवेशिक साम्राज्य

सोलहवीं शताब्दी में अपनी नौ–सैनिक शक्ति के उत्थान के फलस्वरूप सत्रहवीं शताब्दी तक नीदरलैण्ड व्यापारिक गतिविधियों में विश्व का एक अग्रणी देश बन गया था और एम्सटर्डम जहाजरानी, बैंकिंग तथा बीमा के क्षेत्र में यूरोप का सबसे प्रमुख केन्द्र बन गया था। 1594 में 'कम्पनी फ़ॉर फ़ारलैण्ड' तथा 1602 में 'डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी' तथा 1621 में 'डच वैस्ट इण्डीज़ कम्पनी' की स्थापना के बाद डच औपनिवेशिक साम्राज्य के विस्तार का मार्ग प्रशस्त हो गया। 1619 में डचों ने जकार्ता पर अधिकार कर लिया। 1638 में उन्होंने मॉरिशस पर अधिकार कर लिया। 1641 में उन्होंने मलक्का से पुर्तगालियों को निकाल कर उस पर अधिकार कर लिया। 1658 तक उनका श्री लंका पर अधिकार हो गया। भारत में 1662 में उन्होंने नागपट्टम, केरांगनोर, ट्रैवनकोर, तथा कोचीन पर अधिकार कर लिया। 1688 के बाद डच विलियम ऑफ़ औरेन्ज के ब्रिटिश सिंहासन पर बैठने के बाद यह निश्चित किया गया कि पूर्व में कपड़ा व्यापार पर अंग्रेज़ों का और मसाला व्यापार में डचों का वर्चस्व रहेगा। फ़्रांसीसी औपनिवेशिक साम्राज्य का विस्तार उत्तरी अमेरिका में कैनाडा, मिसीसिपी नदी की घाटी, वैस्ट इण्डीज़ में – सेन्ट किट्स तथा फ़्रेन्च गुयाना तथा भारत (पॉण्डिचेरी, चन्द्रनगर) तक हो गया था। भारत में आंग्ल–फ़्रांसीसी प्रतिद्वन्द्विता में रॉबर्ट क्लाइव ने बंगाल और दक्षिण भारत में फ़्रांसीसी शक्ति को अपंग बनाने में पूर्ण सफलता प्राप्तकी थी।

वास्कोडिगामा

फ़्रांसिस ज़ेवियर

2.4.4 ब्रिटिश औपनिवेशिक साम्राज्य

ब्रिटिश औपनिवेशिक साम्राज्य की स्थापना की प्रक्रिया ट्यूडर काल में एलिज़ाबेथ प्रथम के शासन के अन्तिम वर्षों में प्रारम्भ हुई किन्तु स्टुअर्ट काल में सम्राट जेम्स प्रथम और विशेषकर, चार्ल्स द्वितीय के शासनकाल में यह गतिमान हो गई। 1583 में न्यू फ़ाउण्डलैण्ड में ब्रिटिश उपनिवेश स्थापित हुआ। प्रारम्भिक काल में व्यापारिक कम्पनियों तथा संयुक्त सार्वजनिक एवं निजी उपक्रमों

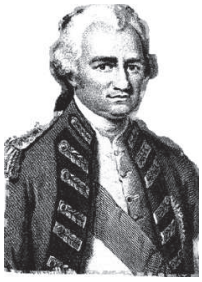
रॉबर्ट क्लाइव

ने ब्रिटिश उपनिवेशों की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इंग्लैण्ड की दृष्टि सोने–चाँदी की लालसा, व्यापारिक लाभ, गर्म मसालों, तम्बाकू और चीनी आदि के लिए अपना औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित करने पर थी किन्तु अमेरिका में इसके लिए स्पेन के औपनिवेशिक साम्राज्य के विस्तार के बाद ब्रिटेन को उत्तरी अमेरिका, मध्य अमेरिका व कैरिबियन में छोटे द्वीपों में तथा दक्षिणी अमेरिका में स्पेन से छूटे हुए क्षेत्र में ही सम्भावनाए बची थीं। सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में वर्जीनिया, बाल्टीमोर, मैरीलैण्ड, जेम्सटाउन, र्‌होड्स आइलैण्ड, मैसाचुसेट्स, न्यू जेरेसी, जॉर्जिया, जॉर्जिया, अल्बानी, कॉनेक्टिकस, न्यू नीदरलैण्ड (बाद में इसका नाम न्यूयॉर्क रखा गया), पेन्सिलवेनिया, नॉर्थ तथा साउथ कैरोलिना में ब्रिटिश कॉलोनियां स्थापित हुईं।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत में यूरोपीय उपनिवेशों की स्थापना के लिए अनुकूल परिस्थितियां बन गई थीं। आंग्ल–फ्रांसीसी प्रतिद्वन्द्विता में अंग्रेज़ों को विजय दिलाकर रॉबर्ट क्लाइव ने भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक साम्राज्य की स्थापना की नींव डाली।

2.5 औपनिवेशिक भाासन के सामान्य लक्षण

2.5.1 धर्म–परिवर्तन

पुर्तगाल तथा स्पेन के औपनिवेशिक साम्राज्य–विस्तार में रोमन कैथालिक चर्च ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। इनमें एशिया में फ्रांसिस ज़ेवियर तथा उत्तरी अमेरिका में जैनिपैरो की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण थी। ईसाई धर्म का प्रचार सभी यूरोपीय उपनिवेशों में ईसाई धर्म का व्यापक प्रचार किया गया और इस धर्म प्रचार कार्यक्रम को औपनिवेशिक शासकों का संरक्षण प्राप्त था। लाखों–करोड़ों स्थानीय प्रजा को ईसाई धर्म में दीक्षित किया गया।

2.5.2 दास–व्यापार एवं दास प्रथा

यूरोप के अधिकांश शक्तिशाली देश – पुर्तगाल, स्पेन, नीदरलैण्ड, फ्रांस, ब्रिटेन आदि दास–व्यापार में लिप्त थे। नए उपनिवेशों को बसाने में तथा खेती सहित कठिन श्रम के सभी कार्यों के लिए न्यूनतम मज़दूरी पर कार्य करने वाले दासों से अधिक उपयोगी और कोई नहीं हो सकता था। 16 वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में फ्रांसिस ड्रेक तथा जॉन हॉकिन्स ने दास–व्यापार द्वारा इंग्लैण्ड के लिए प्रचुर मात्रा में धन कमाया था। अफ्रीका से लाकर लाखों दासों का अमेरिका में निर्यात करने के कारण इंग्लैण्ड के शहर ब्रिस्टल व लिवरपूल अत्यन्त समृद्ध हो गए थे। अश्वेत दासों के साथ उनके मालिकों द्वारा जो अमानवीय व्यवहार किया जाता था उसका शब्दों में वर्णन कर पाना असम्भव है। स्पेनवासी, अमेरिकन इण्डियन्स को गुलाम बनाना अपना अधिकार समझते थे। सेपुवेदा ने कहा था – 'अमेरिकी इण्डिन्स प्राकृतिक रूप से गुलाम होते हैं।'

2.5.3 विजित जाति का दमन

उपनिवेशवाद का अर्थ है – किसी सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली राष्ट्र द्वारा अपने विभिन्न हितों को साधने के लिए किसी सैनिक दृष्टि से निर्बल किन्तु प्राकृतिक संसाधनों से परिपूर्ण राष्ट्र पर अपनी शक्ति के बल पर अधिकार कर उसके संसाधनों का अपने हित में उपयोग करना। औपनिवेशिक शक्तियों ने जातीय श्रेष्ठता के सिद्धान्त का पालन करते हुए विजित जाति को कभी भी अपने समकक्ष नहीं समझा और न स्थानीय प्रजाजनों को प्रशासन, न्याय–व्यवस्था व सेना में उच्च पद प्रदान किए। स्थानीय व्यक्तियों की निर्मम हत्या, स्त्रियों के बलात्कार के लिए भी शासक जाति को प्रायः दण्डित नहीं किया जाता था। स्पेन के औपनिवेशिक शासकों ने अमेरिकन इन्डियन्स का समूल विनाश कर दिया। इस प्रकार की अमानुषिक बर्बरता का कोई अन्य उदाहरण मिल पाना असम्भव है।

2.5.4 औपनिवेशिक शासकों द्वारा उपनिवेशों का दोहन तथा वहां अपने सामाजिक, धार्मिक,सांस्कृतिक, शैक्षिक एवं प्रशासनिक मूल्यों की स्थापना

औपनिवेशिक शासन – अनवरत दमन, दोहन, शोषण, जातिभेद, रंगभेद और धर्मभेद की निर्मम गाथा है। उपनिवेशवाद के निहितार्थों में उपनिवेश के प्राकृतिक संसाधनों का दोहन, उपनिवेशों के लिए अपने उत्पादों के लिए नए बाज़ारों का निर्माण, और उपनिवेश (अधीनस्थ देश) में अपने धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व शैक्षिक मूल्यों का विस्तार करना सम्मिलित है।

2.5.5 यूरोप में पूंजीवाद, वाणिज्यवाद का उदय और परवर्ती काल में औद्योगिक क्रान्ति के लिए अनुकूल परिस्थितियां

औपनिवेशिक साम्राज्यों की स्थापना के कारण यूरोपीय देशों में अथाह समृद्धि आई और व्यापार–संतुलन सदैव उनके पक्ष में रहने के कारण उनकी व्यापारिक गतिविधियां अपने शिखर पर पहुंच गईं। अतुलित धन–सम्पदा ने पूंजीवाद के विकास में सहयोग किया और राष्ट्रीय जीवन में व्यापार की महत्ता बढ़ने के कारण स्वाभाविक रूप से वाणिज्यवाद को भी बढ़ावा मिला। अब यूरोपीय देश अपना तैयार माल अपने उपनिवेशों के बाज़ारों में ही खपा सकते थे और अपने यहां अनुपलब्ध कच्चा माल खोजने के लिए उन्हें अपने उपनिवेशों के अतिरिक्त किसी और पर निर्भर भी नहीं रहना था। धन–सम्पदा के आधिक्य ने अधिक उन्नत औद्योगिक उपकरणों के आविष्कार के लिए अनुकूल वातावरण विकसित कर दिया था। इन अनुकूल परिस्थितियों में 18 वीं शताब्दी के अन्त में यूरोप में, विशेषकर सबसे बड़े औपनिवेशिक साम्राज्य के स्वामी इंग्लैण्ड में, औद्योगिक क्रान्ति होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।

2.5.6 यूरोपीय देशों में निरंकुश राजतन्त्र को बढ़ावा

प्रारम्भिक काल में उपनिवेशों से प्राप्त धन एवं अन्य संसाधनों से यूरोपीय शासकों की शक्ति में अपार वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप उनके लिए अपने–अपने राज्यों में निरंकुश राजतन्त्र (इंग्लैण्ड को छोड़कर जहां 1688 में संवैधानिक राजतन्त्र स्थापित हुआ था) स्थापित करना सम्भव हो सका।

2.5.7 यूरोप में कला का विकास

अतुलित धन–सम्पदा आ जाने से यूरोपीय देशों में कला की हर विधा के विकास के लिए पर्याप्त धन उपलब्ध होने लगा। औपनिवेशिक शासनकाल में यूरोपीय देशों में स्थापत्यकला, चित्रकला, मूर्तिकला का विकास हुआ, अनेक सुनियोजित सुन्दर नगरों का निर्माण हुआ। संगीत और साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में भी इस काल को यूरोपीय इतिहास का स्वर्ण युग कहा जा सकता है।

2.5.8 यूरोपीय देशों के मध्य पारस्परिक स्पर्धा में वृद्धि

औपनिवेशिक साम्राज्य विस्तार की होड़ ने यूरोपीय देशों के मध्य कटुता और पारस्परिक स्पर्धा को जन्म दिया जिसके कारण एशिया और अमेरिका में यूरोपीय देशों के मध्य अनेक युद्ध हुए। इन युद्धों में स्पेन, नीदरलैण्ड, इंग्लैण्ड, फ्रांस सभी सम्मिलित थे।

2.5.9 उपनिवेशों में सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक और राजनीतिक जागृति का सूत्रपात

औपनिवेशिक शासन में शिक्षा, सामाजिक, सांस्कृतिक, तकनीकी व राजनीतिक चेतना के क्षेत्र में अपने शासक राष्ट्रों की तुलना में अपेक्षाकृत पिछड़े हुए उपनिवेशों में नए परिवेश और सुधार हेतु अनुकूल वातावरण में जागृति आई जिसको कि हम नवजागरण का नाम देते हैं। इसी नवजागरण ने आगे चलकर उपनिवेशों में राष्ट्रीय आन्दोलन का विकास किया।

2.8 वाणिज्यिक क्रान्ति

2.6..1 वाणिज्यिक क्रान्ति का उद्‌भव एवं उसकी परिभाषा

'वाणिज्यिक क्रान्ति' का काल 13 वीं शताब्दी के अन्त से लेकर औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व तक (अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक) का माना जाता है। यह वह समय था जब यूरोपीय अर्थ–व्यवस्था, उपनिवेशवाद तथा वाणिज्यवाद का विस्तार हुआ। 'वाणिज्यिक क्रान्ति' (कॉमर्शियल रिवोल्यूशन) शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख, 20 वीं शताब्दी के मध्य में, आर्थिक इतिहासकार रॉबर्तो सैबितानो लोपेज़ ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि कॉमर्शियल रिवोल्यूशन ऑफ़ दि मिडिल एजेज़' में किया था। लोपेज़ के अनुसार वाणिज्यिक अर्थ–व्यवस्था का प्रारम्भ 13 वीं

शताब्दी के अन्त में कुन्सतुनतुनिया के रास्ते इटली के भू–मध्यसागरीय व्यापार में हुआ था जिसका कि आगे चलकर इटली के नगर राज्यों (वेनिस, पीसा, वेरोना, जेनोआ, फ़्लोरेन्स) में, और उसके बाद शेष यूरोप में भी विस्तार हो गया था।

यहूदी तथा मुस्लिम व्यापारियों ने 11वीं शताब्दी से भी पहले व्यापारी–संघ स्थापित कर लिए थे। वो बहुत पहले ही 'वाणिज्यिक क्रान्ति' में प्रयुक्त की जाने वाली ऋण–सुविधा व मुद्रा–विनिमय की प्रणाली का विकास कर चुके थे।

ईसाई शक्तियों को अपने जल–मार्गीय धर्म–युद्ध (11 वीं शताब्दी से प्रारम्भ) अभियानों के दौरान मसाले, रेशम तथा यूरोप में अन्य दुर्लभ वस्तुओं की प्राप्ति हुई जिसने मध्यकाल के उत्तरार्ध में उन्हें अपने व्यापार का विस्तार करने के लिए प्रेरित किया।

2.6.2 वाणिज्यिक क्रान्ति का विकास

1. हैन्सियाटिक लीग

जर्मनी के व्यापारियों ने 1300 में एक व्यापारिक संघ के रूप में 'हैन्सियाटिक लीग' की स्थापना की जिसमें कि लगभग 100 नगरों के व्यापारी सम्मिलित थे। इस लीग ने उत्तरी यूरोप तथा बाल्टिक सागर क्षेत्र में व्यापक स्तर पर व्यापारिक गतिविधियां की। इस लीग का उद्देश्य व्यापारियों के आर्थिक हितों की अपने–अपने शहर, देश और व्यापार–मार्गों पर रक्षा करना था। 'हैन्सियाटिक लीग' के अन्तर्गत शहरों के अपने कानून और अपनी सेनाएं थीं। सैक्सोनी तथा वैस्टफ़ेलिया के लिए ल्यूबेक सबसे बड़ा व्यापारिक केन्द्र बना। लगभग दो सौ वर्षों तक यह लीग यूरोपीय व्यापार में प्रभावशाली भूमिका निभाने में सफल रही।

2. भौगोलिक खोजें

एशिया, अफ़्रीका व अमेरिका में नए क्षेत्रों की खोज और तदन्तर उन पर यूरोपीय देशों के अधिकार के कारण यूरोपीय, एशियायी, अफ़्रीकी तथा अमेरिकी देशों का आर्थिक दृष्टि से बहु–आयामीय सम्बन्ध स्थापित हो गया।

3. पूर्वी गोलार्ध में ऑटोमन साम्राज्य के व्यापारिक एकाधिकार की समाप्ति

वाणिज्यिक क्रान्ति के परिणाम स्वरूप यूरोप की आर्थिक गतिविधियों का केन्द्र मुस्लिम भू–मध्यसागरीय क्षेत्र से हटकर पश्चिमी यूरोप (पुर्तगाल, स्पेन, नीदरलैण्ड और इंग्लैण्ड) में स्थापित हो गया। पश्चिमी यूरोप से भारत के लिए जल–मार्ग की खोज ने ओटोमन साम्राज्य और उनके सहयोगी इटली के नगर राज्यों के पूर्वी देशों में व्यापारिक एकाधिकार को समाप्त कर दिया।

4. वित्तीय सेवाओं में वृद्धि

नयी परिस्थितियों में व्यापार की आधारभूत संस्थाओं का विकास, परिष्कार और उनमें परिवर्तन किया जाना आवश्यक हो गया। वाणिज्यिक क्रान्ति के इस दौर में व्यापक स्तर पर व्यापार–वाणिज्य का संगठन विकसित हुआ। यह वाणिज्यिक क्रान्ति, सामान्य व्यावसायिक गतिविधियों में, तथा वित्तीय सेवाओं (बैंकिंग, बीमा, निवेश आदि) में वृद्धि में परिलक्षित हुई। एन्टवर्प में यूरोप का पहला मुद्रा–विनमय केन्द्र स्थापित हुआ और एम्सटर्डम में 'बैंक ऑफ़

एम्सटर्डम' की स्थापना हुई। डचों ने जॉइन्ट स्टॉक कम्पनियों की स्थापना की। 1602 में 'डच ईस्ट इण्डिया क्म्पनी' ने 'एम्सटर्डम स्टॉक एक्सचेंज में अपने शेयर निर्गत किए। अब इंग्लैण्ड में 'लॉयड ऑफ़ लन्डन' जैसी बीमा कम्पनियों ने सुदूर व्यापार को सुरक्षित बनाने में अपना योगदान देना प्रारम्भ किया। फ्रांस के वित्तमन्त्री कोलबर्ट ने 1681 में व्यापार–बीमा के लिए नए नियम जारी किए। वाणिज्यिक क्रान्ति ने प्रभावी मुद्रा प्रणाली के प्रचलन को सम्भव बनाया। अब अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में एक मानक मुद्रा का प्रचलन हुआ।

5. वाणिज्यवाद को बढ़ावा

अब यह विश्वास दृढ़ होता जा रहा था कि जो राष्ट्र जितना धनी होगा, वह उतना ही शक्तिशाली होगा। इस विचार के प्रतिपादकों में टॉमस मन तथा फ़िलिप वॉन हॉर्निक प्रमुख थे। अब व्यापार–सन्तुलन को स्थयी रूप से अपने पक्ष में रखने के लिए तैयार माल के निर्यात को और उपनिवेशों से कच्चे माल के आयात को बढ़ावा दिया जाने लगा।

6. उपनिवेशवाद को बढ़ावा

वाणिज्यवाद ने उपनिवेशवाद को बढ़ावा दिया। यह सिद्धान्त कि – उपनिवेश का अस्तित्व शासक राज्य के लाभ के लिए है' उपनिवेशों के दोहन का मूल मन्त्र बन गया। शासक राष्ट्रों ने अपने उपनिवेशों को स्वतन्त्र रूप से व्यापार करने की अनुमति नहीं दी, उन्हें अपना तैयार माल खरीदने का खरीदार और कच्चे माल की आपूर्ति करने वाला बनाकर छोड़ दिया। उपनिवेशों में शासक राष्ट्र के निवेशकों के लिए लाभकारी और सुरक्षित निवेश के अवसर प्रदान करना भी उपनिवेशवाद का एक प्रमुख लक्षण था। इस काल में व्यापारिक कम्पनियों ने ताज के प्रतिनिधि की भूमिका निभाई। उत्तरी अमेरिका और भारत में 'ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी', 'डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी', 'हडसन बे कम्पनी', 'प्लाईमाउथ कम्पनी' तथा 'लन्डन कम्पनी' जैसी व्यापारिक कम्पनियों ने औपनिवेशिक साम्राज्य के विस्तार में निर्णायक भूमिका निभाई।

2.6.3 वाणिज्यिक क्रान्ति के परिणाम

1. पूंजीवाद का उदय

सामन्तवाद का पतन और मध्यमवर्ग से सम्बद्ध पूंजीपतियों (व्यापारी, बैंकर्स, पूंजी–निवेशक, उद्योगपति, जहाज–मालिक आदि) की देश के आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका वाणिज्यिक क्रान्ति का परिणाम थी।

2. यूरोपीय सभ्यता का प्रसार

वाणिज्यिक क्रान्ति का एक परिणाम समस्त विश्व का यूरोपीकरण था। यूरोपीय धर्म (ईसाई धर्म), अर्थ–व्यवस्था, शैक्षिक, कलात्मक व सांस्कृतिक मूल्य, राजनीतिक आदर्श, प्रशासनिक एवं न्यायिक–व्यवस्था को एशिया, अफ़्रीका, अमेरिका तथा ऑस्ट्रेलिया में स्थापित किया गया।

3. दास–प्रथा का पुनर्प्रचलन

यूरोप में लगभग 500 साल तक लुप्तप्राय दास–प्रथा को उपनिवेशों में नई बस्तियां बसाने और श्रम–साध्य कार्यों से स्वयं को मुक्ति दिलाने के लिए अमानुनिषिक दास–प्रथा का पुनर्प्रचलन वाणिज्यिक क्रान्ति का एक दुखद परिणाम था।

4. औद्योगिक क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार करना

वाणिज्यिक क्रान्ति ने यूरोपीय देशों में धन–सम्पदा का अतुलित भण्डार का संय कराने में उलेखनीय भूमिका निभाई। लगभग समूची दुनिया के व्यापार पर नियन्त्रण स्थापित कर और अपने उपनिवेशों की औद्योगिक प्रगति पर भारी चोट लगा कर अब यूरोपीय राज्य अपने उद्योग के आधुनिकीकरण के लिए प्रयास कर सकते थे। वैज्ञानिक प्रगति ने और शोध के लिए आवश्यक पूंजी की उपलब्धता ने औद्योगिक क्रान्ति के लिए अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न कर दी थीं। वाणिज्यिक क्रान्ति ने आधुनिक कारखानों में वृहद मात्रा में उत्पादित माल की खपत के लिए उपनिवेशों के बाज़ार पहले ही तैयार कर दिए थे। इन अनुकूल परिस्थितियों में औद्योगिक क्रान्ति यूरोपीय इतिहास में कोई आश्चर्यजनक नहीं अपितु नितान्त स्वाभाविक घटना बनकर प्रकट हुई थी।

अभ्यास अभ्यास प्रश्न

निम्नांकित पर चर्चा कीजिए–

1. 15 वीं शताब्दी में भौगोलिक खोजों की आवश्यकता।
2. स्पेन का औपनिवेशिक साम्राज्य।
3. वणिज्यिक क्रान्ति के परिणाम।

2.7 सारांश

भौगोलिक खोजों, औपनिवेशिक साम्राज्यों की स्थापना तथा वाणिज्यिक क्रान्ति का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन सबने मिलकर मनुष्य के संकुचित दृष्टिकोण को व्यापक बनाने में तथा विश्व इतिहास को मध्य युग से आगे बढ़ाकर आधुनिक युग में प्रविष्ट कराने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। नवीन भौगोलिक खोजें आने वाले परिवर्तनों का वाहक बनीं। 13 वीं शताब्दी के अन्त में दिशासूचक यन्त्र 'कुतुबनुमा' तथा बाद में एस्ट्रोलोव, सैक्सटैन्ट आदि के आविष्कार, उन्नत मानचित्रों के निर्माण, अधिक पाल वाले और चप्पू से चलने वाले जहाजों के निर्माण से अब यह सम्भव हो गया कि लम्बी समुद्र यात्रा द्वारा पश्चिम से पूर्व की ओर पहुंचा जाए। यूरोपीय देशों में माल के उत्पादन में वृद्धि, सोने और चाँदी जैसी बहुमूल्य धातुओं की कमी, सोने, चाँदी,मसाले, मछली, लकड़ी, सूती एवं रेशमी वस्त्र, हाथी दाँत, कालीन, फ़र (लोम), विलासिता की सामग्री आदि मिलने की आशा में नए भू–क्षेत्रों की तलाश और यूरोप से भारत तथा पूर्वी एशिया के लिए नए समुद्री मार्गों खोजने की आकांक्षा ने पश्चिमी यूरोप के प्रतिस्पर्धी व्यापारियों को व्यापार–बिचौलियों के शोषण से बचने के लिए और एशिया के देशों से खुद सीधे सम्पर्क स्थापित करने के उद्देश्य, नाविक अभियानों के भेजे जाने के प्रमुख कारण थे। बार्तोलोम्यू डियाज, कोलम्बस, वास्कोडिगामा,

वोराज़ानो, जे0 कार्तियर, जॉन स्मिथ आदि ने अफ़्रीका, एशिया तथा अमेरिका में अज्ञात क्षेत्रों की खोज की। भौगोलिक खोजों के परिणामस्वरूप पूर्व पर पश्चिम की श्रेष्ठता स्थापित हो गई। यूरोपीय देशों ने नए खोजे हुए क्षेत्रों में ईसाई धर्म का व्यापक प्रचार किया। भौगोलिक खोजों के बाद यूरोप में सामन्तवाद के पतन की प्रक्रिया तीव्र हो गई और पश्चिमी यूरोप में पूंजीवाद उभर कर आने लगा। भौगोलिक खोजों ने ज्ञान की अन्य विधाओं जैसे वनस्पतिशास्त्र, जन्तुशास्त्र, मानव–जाति विज्ञान आदि में नई खोजों के अवसर उपलब्ध कराए। भौगोलिक खोजों के फलस्वरूप व्यापारिक गतिविधियों में अप्रत्याशित वृद्धि ने पूंजीवाद व राष्ट्रीय वाणिज्यवाद को बढ़ावा दिया।

पन्द्रहवीं शताब्दी तथा सोलहवीं शताब्दी तक यूरोपीय देशा ने समुद्री मार्ग द्वारा दुनिया के एक बड़े भाग की खोज कर ली थी । यूरोपीय शक्तियों की थल सेनाएं व नौ–सेनाए सबसे सुगठित व आधुनिक रणनीति में पारंगत थीं। इन अनुकूल परिस्थितियों में अनेक यूरोपीय देशों में धन–लिप्सा, शक्ति–विस्तार और ईसाई धर्म के प्रचार हेतु औपनिवेशिक साम्राज्य की स्थापना की महत्वाकांक्षा उत्पन्न हुई। अपने देश में उत्पादित माल की बिक्री के लिए नए बाज़ारों की तलाश और अपने यहां तैयार उत्पादों के लिए आवश्यक कच्चे माल की सस्ते में और नियमित एवं निर्बाध आपूर्ति की समस्या, इन दोनों का ही समाधान अधिक से अधिक और बड़े से बड़े उपनिवेशों की स्थापना में मिल सकता था। आधुनिक काल में औपनिवेशिक साम्राज्य की स्थापना का इतिहास पुर्तगाल तथा स्पेन के साहसिक प्रयासों से प्रारम्भ होता है। प्रारम्भिक काल में पूर्वी गोलार्ध में पुर्तगाल ने और पश्चिमी गोलार्ध में स्पेन ने सबसे बड़े औपनिवेशिक साम्राज्यों की स्थापना की। बाद में डच, फ़्रांसीसी, अंग्रेज़ और रूसी भी अपने–अपने औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित करने में सफल रहे। औपनिवेशिक शासकों ने ईसाई धर्म का व्यापक प्रसार किया। यूरोप के अधिकांश शक्तिशाली देश – पुर्तगाल, स्पेन, नीदरलैण्ड, फ़्रांस, ब्रिटेन आदि दास–व्यापार में लिप्त थे क्योंकि नए उपनिवेशों को बसाने में तथा खेती सहित कठिन श्रम के सभी कार्यों के लिए न्यूनतम मज़दूरी पर कार्य करने वाले दासों से अधिक उपयोगी और कोई नहीं हो सकता था। औपनिवेशिक शक्तियों ने जातीय श्रेष्ठता के सिद्धान्त का पालन करते हुए विजित जाति को कभी भी अपने समकक्ष नहीं समझा। औपनिवेशिक शासन – अनवरत दमन, दोहन, शोषण, जातिभेद, रंगभेद और धर्मभेद की निर्मम गाथा है। औपनिवेशिक साम्राज्यों की स्थापना के फलस्वरूप यूरोप में पूंजीवाद व वाणिज्यवाद के उदय, कला के विकास और परवर्ती काल में औद्योगिक क्रान्ति के लिए अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न हो गईं किन्तु औपनिवेशिक साम्राज्य विस्तार की होड़ ने यूरोपीय देशों के मध्य कटुता और पारस्परिक स्पर्धा को जन्म दिया। औपनिवेशिक शासन में उपनिवेशों में नवजागरण का सूत्रपात हुआ जिसने आगे चलकर कई अधीनस्थ देशों में राष्ट्रीय आन्दोलन का विकास किया।

'वाणिज्यिक क्रान्ति' का काल 13 वीं शताब्दी के अन्त से लेकर औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व तक (अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक) का माना जाता है। यह वह समय था जब यूरोपीय अर्थ–व्यवस्था, उपनिवेशवाद तथा वाणिज्यवाद का विस्तार हुआ। ईसाई शक्तियों को अपने जल–मार्गीय धर्म–युद्ध अभियानों के दौरान मसाले, रेशम तथा यूरोप में अन्य दुर्लभ वस्तुओं की प्राप्ति हुई जिसने मध्यकाल के उत्तरार्ध में उन्हें अपने व्यापार का विस्तार करने के लिए प्रेरित

किया था। 'वाणिज्यिक क्रान्ति' के प्रारम्भिक दौर में स्थापित हैन्सियाटिक लीग का उद्देश्य व्यापारियों के आर्थिक हितों की अपने–अपने शहर, देश और व्यापार–मार्गों पर रक्षा करना था। 'वाणिज्यिक क्रान्ति' ने यूरोपीय, एशियायी, अफ़्रीकी तथा अमेरिकी देशों का आर्थिक दृष्टि से बहु–आयामीय सम्बन्ध स्थापित किया। वाणिज्यिक क्रान्ति वित्तीय सेवाओं, जैसे बैंकिंग, बीमा, निवेश आदि की वृद्धि में परिलक्षित हुई। मुद्रा–विनमय केन्द्रों, जॉइन्ट स्टॉक कम्पनियों, की स्थापना हुई। बीमा कम्पनियों ने सुदूर व्यापार को सुरक्षित बनाने में अपना योगदान देना प्रारम्भ किया। वाणिज्यिक क्रान्ति ने प्रभावी मुद्रा प्रणाली के प्रचलन को सम्भव बनाया। अब अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में एक मानक मुद्रा का प्रचलन हुआ। अब यह विश्वास दृढ़ होता जा रहा था कि जो राष्ट्र जितना धनी होगा, वह उतना ही शक्तिशाली होगा। वाणिज्यवाद ने उपनिवेशवाद को बढ़ावा दिया। यह सिद्धान्त कि – उपनिवेश का अस्तित्व शासक राज्य के लाभ के लिए है' उपनिवेशों के दोहन का मूल मन्त्र बन गया। वाणिज्यिक क्रान्ति के प्रमुख परिणामों में सामन्तवाद का पतन, पूंजीवाद का उदय, यूरोपीय सभ्यता का प्रसार, दास–प्रथा का पुनर्प्रचलन थे किन्तु इसका सबसे बड़ा योगदान औद्योगिक क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार करना था।

2.8 पारिभाषिक शब्दावली

वित्तीय सेवाएं – बैंकिंग, बीमा, पूंजी–निवेश आदि
सैक्सटैन्ट – कोणमापक यन्त्र
फ़ार्चुनेट – भाग्यशाली
अमेरिकन इण्डियन्स – अमेरिका के मूल निवासी
मिडिल एज – मध्यकाल
बाल्टिक सागर – मध्य तथा उत्तर यूरोप के बीच का भू–मध्यसागर

2.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. देखिए 2.3.1 भौगोलिक खोजों की तत्कालीन आवश्यकता एवं उनके लिए अनुकूल परिस्थितियां।
2. देखिए 2.4.2 पुर्तगाल तथा स्पेन के औपनिवेशिक साम्राज्य।
3. देखिए 2.6.3 वाणिज्यिक क्रान्ति के परिणाम।

2.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

मैरीमैन, जॉन एम0 – 'हिस्ट्री ऑफ़ मॉडर्न यूरोप' (बुक 1), न्यूयॉर्क, 2009
मुखर्जी, एल0 – 'ए स्टडी ऑफ़ यूरोपियन हिस्ट्री' कोलकाता, 2000
सिपोला, कार्लो – 'यूरोपियन कल्चर एण्ड ओवरसीज़ एक्सपेंशन, लन्दन, 1970
लव, रोनाल्ड, एस0 – 'मैरीटाइम एक्सप्लोरेशन इन दि एज ऑफ़ डिस्कवरी 1415–1800, ग्रीनवुड, 2006

2.11 उपयोगी पाठ्य सामग्री

मैकॉले, टी0 बी0 – 'दि हिस्ट्री ऑफ़ इंग्लैण्ड फ्रॉम दि एक्सेशन ऑफ़ जेम्स सेकेन्ड, न्यूयॉर्क, 2009
जेनकिन्स, सिमोन – 'ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑफ़ इंग्लैण्ड', लनदन, 2012
लिवरमोर, एच0 वी0 – ए न्यू हिस्ट्री ऑफ़ पोर्चुगाल, लन्दन, 1969

2.12 निबंधात्मक प्रश्न

भौगोलिक खोजों, उपनिवेशवाद तथा वाणिज्यिक क्रान्ति के अन्तः सम्बन्ध पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

इकाई 3 इंग्लैण्ड में संसदीय संस्थाओं का विकास

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 प्राचीन काल से लेकर 'मैग्नाकार्टा' तक इंग्लैण्ड में संसदीय संस्थाओं का विकास

3.3.1 मैग्नाकार्टा' से पूर्व इंग्लैण्ड में राजतन्त्र का स्वरूप

3.3.2 मैग्नाकार्टा'

3.3.3 मैग्नाकार्टा' के बाद से लेकर 1625 तक इंग्लैण्ड में पार्लियामेन्ट के स्वरूप और उसकी भूमिका में परिवर्तन

3.3.3.1 मैग्नाकार्टा' से लेकर 17 वीं शताब्दी तक पार्लियामेन्ट के स्वरूप और उसकी भूमिका में परिवर्तन

3.4. गौरवपूर्ण क्रान्ति से पूर्व सत्रहवीं शताब्दी में शासक तथा पार्लियामेन्ट के मध्य संघर्ष

3.4.1 जेम्स प्रथम के शासनकाल में शासक व पार्लियामेन्ट के मध्य विवाद

3.4.2 चार्ल्स प्रथम के शासनकाल में शासक तथा पार्लियामेन्ट के मध्य संघर्ष

3.4.3 गणतन्त्र युग (1649–1660)

3.4.4 राजतन्त्र की पुनर्स्थापना (1660–1688)

3.5 गौरवपूर्ण क्रान्ति (1688)

3.5.1 गौरवपूर्ण क्रान्ति के कारण

3.5.2 गौरवपूर्ण क्रान्ति की घटना

3.5.3 बिल ऑफ़ राइट्स अथवा डिक्लेरेशन ऑफ़ राइट्स (दिसम्बर, 1689)

3.5.4 गौरवपूर्ण क्रान्ति के परिणाम

3.6 सारांश

3.7 पारिभाषिक शब्दावली

3.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

3.10 उपयोगी पाठ्य सामग्री

3.11 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

आदिम सभ्यता में और प्राचीनकालीन सभ्यताओं में लोकतन्त्रात्मक एवं गणतन्त्रात्मक प्रणाली के तत्व मिलते हैं किन्तु राजत्व के दैविक सिद्धान्त के विकास के बाद राज्य में व्यक्तियों और संस्थाओं की भूमिका केवल परामर्श देने तक सीमित रह गई क्योंकि शासक उनकी किसी भी बात अथवा सलाह को मानने के लिए बाध्य नहीं था। विश्व इतिहास में इंग्लैण्ड को संसद की जन्म भूमि कहा जाता है। इंग्लैण्ड में सन् 1066 में विलि संस्थाओंयम ऑफ़ नॉर्मन्डी ने एक सामन्ती व्यवस्था का प्रचलन किया था जिसमें उसने 'टैनेन्ट–इन–चीफ़' (भू–स्वामी) तथा चर्च के प्रतिनिधियों की एक समिति गठित कर कानून बनाने से पहले उसकी सलाह लेने की व्यवस्था की थी। सन् 1100 में हेनरी प्रथम ने 'चार्टर ऑफ़ लिबर्टीज़' के द्वारा विशिष्ट क्षेत्रों में अपनी शक्तियों को सीमित कर दिया था। 1215 में 'मैग्ना कार्टा' ने नागरिक अधिकार, लोकतन्त्र, शासक की सीमित शक्ति और समानता के अधिकार के सिद्धान्तों को विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। 13 वीं शताब्दी से लेकर 16 वीं शताब्दी तक शासन में आभिजात्य वर्ग एवं चर्च के प्रतिनिधियों की भूमिका महत्वपूर्ण हो गई, लोअर हाउस में प्रतिनिधियों के चुनाव के लिए सीमित मताधिकार का प्रावधान किया गया और पार्लियामेन्ट के दो सदन – हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स तथा हाउस ऑफ़ कॉमन्स स्थापित हुए। किन्तु सत्रहवीं शताब्दी में जेम्स प्रथम, चार्ल्स प्रथम, चार्ल्स द्वितीय व जेम्स द्वितीय के शासनकाल में पार्लियामेन्ट और शासक के मध्य सर्वोच्चता हेतु संघर्ष में अन्ततः पार्लियामेन्ट की जीत हुई। 1688 की गौरवपूर्ण क्रान्ति के फलस्वरूप इंग्लैण्ड में संवैधानिक राजतन्त्र की स्थापना हुई जिसने कि आगे चलकर समस्त विश्व में लोकतान्त्रिक मूल्यों के विकास और उनकी स्थापना में मार्ग–दर्शक की भूमिका निभाई।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको इंग्लैण्ड में 11 वीं शताब्दी से लेकर 17 वीं शताब्दी के अन्त तक, संसदीय संस्थाओं के विकास के विभिन्न चरणों से परिचित कराना है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप अग्रांकित के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे–

1– प्राचीनकाल से लेकर 'मैग्नाकार्टा' तक इंग्लैण्ड में संसदीय संस्थाओं के प्रारम्भिक विकास के विषय में।

2. 'मैग्नाकार्टा' के बाद से लेकर 1625 तक इंग्लैण्ड में पार्लियामेन्ट के स्वरूप एवं शासन में उसकी भूमिका के विषय में।

3– सत्रहवीं शताब्दी में शासक और पार्लियामेन्ट के मध्य अधिकारों के प्रश्न को लेकर छिड़े संघर्ष में पार्लियामेन्ट की जीत और अन्ततः इंग्लैण्ड में संवैधानिक राजतन्त्र की स्थापना के विषय में।

3.3 प्राचीन काल से लेकर 'मैग्नाकार्टा' तक इंग्लैण्ड में संसदीय संस्थाओं का विकास

3.3.1 'मैग्नाकार्टा' से पूर्व इंग्लैण्ड में राजतन्त्र का स्वरूप

वास्तव में प्रारम्भिक काल में इंग्लैण्ड के शासक के पास अपनी कोई स्थायी सेना नहीं थी और न ही उसके पास पर्याप्त आर्थिक साधन थे। इसलिए राज्य संचालन के लिए उसे आभिजात्य वर्ग और चर्च के प्रतिनिधियों के सहयोग पर निर्भर रहने के लिए बाध्य होना पड़ता था। इंग्लैण्ड में सन् 1066 में विलियम ऑफ़ नॉर्मन्डी ने एक सामन्ती व्यवस्था का प्रचलन किया था जिसमें उसने 'टैनेन्ट–इन–चीफ़' (भू–स्वामी) तथा चर्च के प्रतिनिधियों की एक समिति गठित कर कानून बनाने से पहले उसकी सलाह लेने की व्यवस्था की थी। सन् 1100 में हेनरी प्रथम ने 'चार्टर ऑफ़ लिबर्टीज़' के द्वारा विशिष्ट क्षेत्रों में अपनी शक्तियों को सीमित कर दिया था।

3.3.2 'मैग्नाकार्टा'

अत्यधिक करों के बोझ, असफल युद्धों और पोप से विवाद के कारण इंग्लैण्ड के शासक जॉन से क्रुद्ध होकर उसके कुछ महत्वपूर्ण बैरन उसके विरुद्ध विद्रोह करने को तत्पर हो गए। अपनी कमज़ोर स्थिति को सुधारने के उद्देश्य से जॉन ने प्रभावशाली बैरन और अपने फ़्रांसीसी व स्कॉटिश मित्र राज्यों से भेंट की और तत्पश्चात उसने लन्दन के निकट रनीमेड नामक स्थान पर 15 जून, 1215 को 'मैग्ना कार्टा' पर हस्ताक्षर किए जिसके अनुसार शासक को कर लगाने और कर एकत्र करने से पहले अपनी रॉयल काउन्सिल (जिसमें कि सामन्तवादी व्यवस्था के स्तम्भ – आर्क बिशप, अबॉट, बैरन तथा अर्ल सम्मिलित थे) की सहमति लेना आवश्यक हो गया। इसी रॉयल काउन्सिल ने बाद में विकसित होते –होते पार्लियामेन्ट का रूप धारण कर लिया। यह उल्लेख करना आवश्यक है कि नागरिक अधिकार विषयक यह ऐतिहासिक दस्तावेज़ आम आदमी के लिए नहीं अपितु केवल प्रभावशाली वर्ग तक सीमित था। 'मैग्ना कार्टा' में प्रदत्त नागरिक अधिकारों का शासकों ने कभी निष्ठापूर्वक क्रियान्यन नहीं किया किन्तु इसने सामान्य तथा संवैधानिक कानून और साथ ही राजनीतिक प्रतिनिधित्व व संसदीय प्रणाली की विकास–प्रक्रिया को अत्यधिक प्रभावित किया है।

मैग्नाकार्टा पर हस्ताक्षर

'मैग्ना कार्टा' ने लोकतन्त्र, शासक की सीमित शक्ति और समानता के अधिकार के सिद्धान्तों को विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। लैटिन तथा फ्रेंच भाषाओं में विचार–विमर्श तथा भाषण के लिए प्रयुक्त 'पार्लियामेन्ट' शब्द का ब्रिटिश इतिहास में उल्लेख, सर्वप्रथम 13 वीं शताब्दी में हुआ है।

3.3.3 'मैग्नाकार्टा' के बाद से लेकर 1625 तक इंग्लैण्ड में पार्लियामेन्ट के स्वरूप और उसकी भूमिका में परिवर्तन

3.3.3.1 'मैग्नाकार्टा' से लेकर 17 वीं शताब्दी तक पार्लियामेन्ट के स्वरूप और उसकी भूमिका में परिवर्तन

1258 में 7 अग्रणी बैरनों ने तत्कालीन शासक हेनरी तृतीय को 'प्रॉविज़न्स ऑफ़ ऑक्सफ़ार्ड' स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। इस व्यवस्था ने निरंकुश एंग्लो–नॉर्मन राजतन्त्र की व्यवस्था समाप्त कर दी गई और अब राज्य–संचालन की शक्ति 15 बैरनों की एक समिति के हाथ में आ गई। इंग्लैण्ड, वेल्स तथा स्कॉटलैण्ड के एकीकरण के उद्देश्य से एडवर्ड प्रथम (शासन काल 1272–1307) ने प्रभावशाली वर्ग का सहयोग प्राप्त करने के लिए और विद्रोहों की सम्भावना को समाप्त करने के लिए पार्लियामेन्ट को एक संस्था के रूप में विकसित होने का अवसर प्रदान किया। उसने समाज के सभी वर्गों को अपनी शिकायतों से सम्बन्धित याचिकाएं प्रस्तुत करने का अधिकार दिया। एडवर्ड प्रथम के काल से शासक की शक्ति अथवा उसकी दुर्बलता के अनुपात में पार्लियामेन्ट की शक्ति घटती या बढ़ती रही परन्तु वित्तीय मामलों में अब शासक के लिए पार्लियामेन्ट का अनुमोदन लिया जाना आवश्यक हो गया। एडवर्ड द्वितीय को अपदस्थ करने और एडवर्ड तृतीय को सिंहासनारूढ़ करने में पार्लियामेन्ट की निर्णायक भूमिका रही। एडवर्ड तृतीय के शासनकाल में पार्लियामेन्ट की शक्ति में वृद्धि हुई। 1341 में अपर चैम्बर (आभिजात्य वर्ग तथा पादरी वर्ग) तथा लोअर चैम्बर (नाइट्स तथा बर्जेज़) का गठन किया गया। 1376 में लोअर चैम्बर (तदन्तर हाउस ऑफ़ कॉमन्स) के प्रिसाइडिंग ऑफ़ीसर (तदन्तर स्पीकर) सर पीटर डी ला मारे ने शाही व्यय का हिसाब मांगा था और शासक की सैनिक नीति की आलोचना की थी। 1430 में लोअर चैम्बर के लिए सम्पत्ति विषयक न्यूतम योग्यता के आधार पर सदस्यों के चुनाव हेतु नागरिकों को मताधिकार (सीमित मताधिकार) प्रदान किया गया। 1535–42 में वेल्श पर ब्रिटिश अधिकार हो जाने के बाद वेल्श के प्रतिनिधि भी पार्लियामेन्ट में आने लगे। 1544 के बाद पार्लियामेन्ट के दोनों सदनों को क्रमशः हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स तथा हाउस ऑफ़ कॉमन्स कहा जाने लगा। पैलेस ऑफ़ वैस्ट मिनिस्टर में पार्लियामेन्ट बनाई गई। पार्लियामेन्ट के किसी भी सदन का कोई भी सदस्य संसद में बिल प्रस्तुत कर सकता था। शासक द्वारा अनुमोदित बिलों को प्रायः प्रिवी काउन्सिल के सदस्य पार्लियामेन्ट में रखते थे। किसी बिल को कानून बनाए जाने के लिए पहले उसका दोनों सदनों में बहुमत द्वारा अनुमोदन आवश्यक था और इसके बाद अन्त में उसे शासक के पास भेज दिया जाता था जिसे उसका अनुमोदन कर उसे कानून बनाने अथवा अपनी वीटो पावर का प्रयोग कर उसे रद्द करने का अधिकार था। 16 वीं तथा 17 वीं शताब्दी में कई बार शासकों ने अपनी वीटो पावर का प्रयोग कर बिलों को रद्द किया था।

एलिज़ाबेथ प्रथम ने स्वयं शक्तिशाली होते हुए भी पार्लियामेन्ट की महत्ता व उपयोगिता को स्वीकार किया था। ट्यूडर काल में पार्लियामेन्ट ने भी शासक की सर्वोच्चता को स्वीकार करने में संकोच नहीं किया था।

3.4 गौरवपूर्ण क्रान्ति से पूर्व सत्रहवीं शताब्दी में शासक तथा पार्लियामेन्ट के मध्य संघर्ष

3.4.1 जेम्स प्रथम के शासनकाल में शासक व पार्लियामेन्ट के मध्य विवाद

महारानी एलिज़ाबेथ प्रथम की मृत्यु के बाद जेम्स प्रथम के सिंहासनारूढ़ होते ही संसद तथा शासक के मध्य सर्वोच्चता के लिए संघर्ष प्रारम्भ हो गया। जेम्स प्रथम राजत्व के दैविक सिद्धान्त में विश्वास करता था और उसकी दृष्टि में राजा की आलोचना करने, उसका विरोध करने अथवा उसकी नीतियों को नियन्त्रित करने का किसी को अधिकार नहीं था। प्रतिनिधि सभाओं की उपयोगिता पर उसका कोई विश्वास नहीं था। जेम्स प्रथम के शासनकाल में इंग्लैण्ड के राष्ट्रीय चर्च का स्वरूप प्रोटैस्टैन्ट हो गया था जिससे एक ओर जहां इंग्लैण्ड में अल्पसंख्यक रोमन कैथोलिक कुपित थे वहीं दूसरी ओर प्रोटैस्टैन्टों का एक वर्ग (प्यूरिटन्स) इसलिए कुपित था कि चर्च का स्वरूप पूरी तरह प्रोटैस्टैन्ट क्यों नहीं हुआ था। जेम्स प्रथम ने प्यूरिटन्स को आंग्ल–चर्च विरोधी घोषित कर राज्य की ओर से उन्हें दी जाने वाली सुविधाएं समाप्त कर दीं। पार्लियामेन्ट में प्रोटैस्टैन्ट्स का बहुमत था जिन्होंने जेम्स के इस निर्णय का विरोध किया। 1618 में यूरोप में 30 वर्षीय युद्ध प्रारम्भ हुआ जिसको कि रोमन कैथोलिकों व प्रोटैस्टों (लूथरवादी तथा काल्विनवादी) के मध्य धार्मिक संघर्ष की पराकाष्ठा के रूप में देख सकते हैं। इस युद्ध के दौरान जेम्स प्रथम आर्थिक लाभ की सम्भावना देखकर अपने बेटे चार्ल्स का विवाह स्पेन की रोमन कैथालिक मतावलम्बी राजकुमारी मारिया अन्ना से करना चाहता था जिसका कि बहुसख्यंक प्रोटैस्टैन्ट सदस्यीय ब्रिटिश पार्लियामेन्ट ने खुलकर विरोध किया। इसके जवाब में जेम्स ने फ़रवरी, 1622 में पार्लियामेन्ट को भंग कर दिया। विवाह की आकांक्षा हेतु राजकुमार चार्ल्स की स्पेन यात्रा के बावजूद यह विवाह नहीं हो सका। इस समाचार को पार्लियामेन्ट ने अपनी जीत माना। 1624 में जेम्स प्रथम को वित्तीय समस्याओं के समाधान हेतु फिर पार्लियामेन्ट की बैठक बुलानी पड़ी। अपने शासनकाल (1603–1625) के दौरान जेम्स प्रथम को लगातार पार्लियामेन्ट की आलोचना अथवा उसके विरोध का सामना करना पड़ा। 1625 में जब जेम्स प्रथम की मृत्यु हुई तो उसने अपने उत्तराधिकारी चार्ल्स प्रथम के लिए विरासत में शासक और पार्लियामेन्ट के मध्य शाश्वत संघर्ष और पारस्परिक अविश्वास छोड़ा था।

3.4.2 चार्ल्स प्रथम के भाासनकाल में भाासक तथा पार्लियामेन्ट के मध्य संघर्ष

चार्ल्स प्रथम (1625 से 1649 तक शासनकाल) भी अपने पिता जेम्स प्रथम की भांति राजत्व के दैविक सिद्धान्त में विश्वास रखता था और उसकी दृष्टि में शासक की इच्छा के विरुद्ध पार्लियामेन्ट की आलोचना अथवा उसका विरोध कोई महत्व नहीं रखता था। उसने अपने पिता की प्यूरिटन्स तथा पार्लियामेन्ट के दमन की नीति को जारी रखा। पार्लियामेन्ट के विरोध के बावजूद चार्ल्स प्रथम ने फ़्रांस की रोमन कैथोलिक मतावलम्बी राजकुमारी के साथ अपना विवाह रचा लिया। यद्यपि चार्ल्स प्रथम प्रोटैस्टैन्ट विरोधी नहीं था किन्तु रोमन कैथोलिकों के प्रति उसकी

उदारता को पार्लियामेन्ट ने सहन नहीं किया और राज्य की नीतियों को प्रोटैस्टैन्ट मतावलम्बियों के पक्ष में करने के लिए उस पर दबाव डाला । 1628 में चार्ल्स प्रथम द्वारा अपनी शक्ति के निरंकुश प्रयोग से सशंकित हाउस ऑफ़ कॉमन्स ने 'पेटीशन ऑफ़ राइट' प्रस्तुत की जिसमें उनकी स्वतन्त्रता की पुनर्स्थापना की मांग रखी गई थी और यह चेतावनी भी दी गई थी कि सम्राट द्वारा उनकी मांग को स्वीकार न किए जाने की स्थिति में पार्लियामेन्ट किसी भी मामले में उसके साथ सहयोग नहीं करेगी। सम्राट को इस याचिका को स्वीकार करना पड़ा। पार्लियामेन्ट की याचिका को स्वीकार किए जाने को हम चार्ल्स प्रथम–पार्लियामेन्ट विवाद में पार्लियामेन्ट की पहली जीत के रूप में देख सकते हैं। परन्तु इसके बाद भी चार्ल्स व पार्लियामेन्ट के मध्य अपने–अपने अधिकारों को लेकर संघर्ष जारी रहा। पार्लियामेन्ट ने चार्ल्स को चुंगी कर (टनेज एण्ड पाउण्ड्स) वसूल करने का आजीवन अधिकार देने से इंकार कर दिया। कुपित चार्ल्स ने मार्च, 1629 में पार्लियामेन्ट को भंग कर दिया और अगले 11 वर्ष तक पार्लियामेन्ट के भंग रहते हुए ही उसने शासन किया। 11 वर्ष तक पार्लियामेन्ट के भंग रहते हुए भी चार्ल्स प्रथम को कोई राहत नहीं मिली। नौ–सेना को अधिक शक्तिशाली बनाने के उद्देश्य से चार्ल्स प्रथम द्वारा पार्लियामेन्ट की स्वीकृति के बिना लगाए गए 'शिपमनी टैक्स' का आम जनता ने खुलकर विरोध किया। 'स्कॉटिश बिशप्स वार' (1639–40) की वित्तीय आपदा के कारण उसे नए कर लगाने के लिए 13 अप्रैल, 1628 में पार्लियामेन्ट को दुबारा बुलाना पड़ा। इस सत्र में भी पार्लियामेन्ट ने चार्ल्स प्रथम के साथ किसी भी प्रकार का सहयोग नहीं किया और उसकी वित्तीय एवं विदेश नीति की कटु आलोचना की। पार्लियामेन्ट के असहयोग से कुपित होकर एक महीने से भी कम समय में 5 मई, 1628 को उसने उसे फिर भंग कर दिया। इस लघु–अवधि की पार्लियामेन्ट को 'शॉर्ट पार्लियामेन्ट' कहा गया। 3 नवम्बर, 1640 में उसने फिर पार्लियामेन्ट बुलवाई जो उसके शेष शासनकाल तथा उसके बाद 1660 तक कार्यरत रही। इसे लौंग पार्लियामेन्ट कहा गया। 'लौंग पार्लियामेन्ट' ने सर्वप्रथम चार्ल्स प्रथम के दोनों सलाहकारों – लाड तथा बेंडबर्थ को प्राणदण्ड दिलवाया। इसके पश्चात सम्राट से पार्लियामेन्ट को भंग करने का अधिकार छीन लिया गया। सम्राट और पार्लियामेन्ट में खटास आ जाने के बाद पार्लियामेन्ट समर्थक 'राउण्डहैड्स' के द्वारा अक्टूबर, 1642 में ओलिवर क्रॉमवेल के नेतृत्व में 'बैटिल ऑफ़ एजहिल' से 'इंग्लिश सिविल वार' प्रारम्भ हुई। पार्लियामेन्ट के समर्थन में मध्यम वर्ग तथा पूंजीपति वर्ग खड़ा था जब कि सम्राट के पक्ष में सामन्ती वर्ग था। क्रॉमवेल के नेतृत्व में 'आइरन साइड्स' कही जाने वाली सेना ने मॉन्सटनमूर में 1644 में तथा नेजबी में 1645 में चार्ल्स प्रथम की सेना को करारी हार दी। पराजित चार्ल्स प्रथम ने स्कॉटलैण्ड में आत्मसमर्पण कर दिया। एक समझौते के अन्तर्गत स्कॉटलैण्ड के निवासियों ने चार्ल्स प्रथम को ब्रिटिश पार्लियामेन्ट को सौंप दिया। 'आइरनसाइड्स' के दबाव में पार्लियामेन्ट ने एक न्यायालय गठित किया जिसने चार्ल्स प्रथम को प्राणदण्ड सुनाया। यह उल्लेखनीय है कि पार्लियामेन्ट के निर्वाचित सदस्यों का बहुमत चार्ल्स प्रथम को प्राणदण्ड दिए जाने के पक्ष में नहीं था। क्रॉमवेल ने 'न्यू मॉडल आर्मी' द्वारा अपने विरोधियों का दमन किया। इसको 1648 का 'प्राइड पर्ज' (दल–शोधन) का नाम दिया जाता है। 30 जनवरी, 1649 को चार्ल्स प्रथम को प्राणदण्ड दे दिया गया। शताब्दियों से इंग्लिश पार्लियामेन्ट शनैः–शनैः जिस प्रकार इंग्लिश राजतन्त्र की शक्तियों को सीमित करने का

जो प्रयास कर रही थी वह अन्ततः अपने निष्कर्ष तक 'सिविल वार' तथा चार्ल्स प्रथम के मृत्यु दण्ड के रूप में दृष्टिगोचर हुआ।

3.4.3 गणतन्त्र युग (1649–1660)

आयरलैण्ड व स्कॉटलैण्ड में चार्ल्स द्वितीय को चार्ल्स प्रथम का उत्तराधिकारी घोषित किया गया परन्तु क्रॉमवेल के कुशल सैन्य–नेतृत्व में राजतन्त्र के समर्थकों की पराजय के बाद उसे अपनी जान बचाने के लिए इंग्लैण्ड छोड़कर यूरोप के अन्य देशों में दर–दर भटकना पड़ा। पार्लियामेन्ट से अपने विरोधियों को हटाकर 1649 से 1653 तक क्रॉमवेल ने इस 'रम्प पार्लियामेन्ट' शासन का दायित्व 'काउन्सिल ऑफ़ स्टेट' को सौंपा जिसके सदस्य के रूप में उसने पार्लियामेन्ट का नेतृत्व किया। अब इंग्लैण्ड को कॉमनवेल्थ (इंग्लैण्ड, स्कॉटलैण्ड तथा आयरलैण्ड) बना दिया गया। 'रम्प पार्लियामेन्ट' के युग में ही सदस्यों को 'मेम्बर ऑफ़ पार्लियामेन्ट' कहा जाने लगा था। पार्लियामेन्ट के सदस्य चार्ल्स प्रथम के पतन को अपनी सफलता मानकर अनुशासनहीनता व उद्दण्डता की सीमा लांघने लगे थे जो कि क्रॉमवेल को स्वीकार्य नहीं था। 20 अप्रैल, 1653 को उसने पार्लियामेन्ट पर सैनिक आक्रमण करके अपने विरोधियों को वहां से निकाल बाहर किया और 'रम्प पार्लियामेन्ट' को भंग कर दिया। अब क्रॉमवेल ने मनोनीत सदस्यों की अल्पजीवी, एक सदनीय 'बेयरबोन्स पार्लियामेन्ट' का गठन किया। बाद में 16 दिसम्बर, 1653 को उसके सहयोगी नेताओं ने उसे 'लॉर्ड प्रोटैक्टर ऑफ़ कॉमनवेल्थ ऑफ़ इंग्लैण्ड, स्कॉटलैण्ड एण्ड आयरलैण्ड' के रूप में शासन करने के लिए आमन्त्रित किया। क्रॉमवेल ने 1653 से लेकर मृत्यु पर्यन्त (3 सितम्बर, 1658) तक 'लॉर्ड प्रोटैक्टर ऑफ़ कॉमनवेल्थ ऑफ़ इंग्लैण्ड, स्कॉटलैण्ड एण्ड आयरलैण्ड' के रूप में शासन किया। यद्यपि गणतन्त्र युग (1649–1660) को हम सैनिक तानाशाही का युग मानते हैं पर इसी अवधि में पार्लियामेन्ट के भविष्य का निर्धारण भी हुआ था। निम्न सदन अर्थात् 'हाउस ऑफ़ कॉमन्स' में निर्वाचित सदस्य होते थे जब कि उच्च सदन अर्थात् 'हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स के सदस्य – 'लॉर्ड्स स्प्रिचुअल' तथा लॉर्ड्स टैम्पोरल' (अधिकांश पीयर्स) होते थे जिनकी कि नियुक्ति प्रधान मन्त्री की अथवा 'हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स अपॉइन्टमेन्ट कमीशन' की सलाह पर शासक द्वारा की जाती थी।

3 सितम्बर, 1658 को ओलिवर क्रॉमवेल की मृत्यु के बाद सम्पूर्ण व्यवस्था चरमरा गई। उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र रिचर्ड क्रॉमवेल ने लगभग आठ महीने तक 'लॉर्ड प्रोटैक्टर ऑफ़ कॉमनवेल्थ ऑफ़ इंग्लैण्ड, स्कॉटलैण्ड एण्ड आयरलैण्ड' के रूप में शासन का संचालन किया परन्तु मई, 1659 को उसे अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ा और इसके साथ ही 'लॉर्ड प्रोटैक्टर' का पद भी समाप्त हो गया। इसके बाद जॉर्ज मॉन्क ने 'लौंग पार्लियामेन्ट' को पुनर्जीवित किया और उसकी देखरेख में 1660 में नवीन संसद में वह आवश्यक संवैधानिक परिवर्तन किए गए जिससे कि राजतन्त्र को पुनर्स्थापित किया जा सके और निर्वासित चार्ल्स द्वितीय को सिंहासनारूढ़ किया जा सके।

3.4.4 राजतन्त्र की पुनर्स्थापना (1660–1688)

1660 में चार्ल्स द्वितीय के सिंहासनारूढ़ होने के बाद इस परम्परागत सिद्धान्त को पुनः स्वीकार किया गया कि सरकार को राजा, हाउस ऑफ़ लॉर्ड् तथा हाउस ऑफ़ कॉमन्स, इन तीनों के द्वारा संचालित किया जाना चाहिए। चार्ल्स द्वितीय का शासनकाल (1660–1685) एक ओर जहां अराजकता का काल था वहीं इस काल में राजा की शक्ति को निरंकुश बनाने में नवीन पार्लियामेन्ट (कैवेलियर पार्लियामेन्ट) में उसके समर्थक सदस्यों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। केवल आंग्ल चर्च समर्थकों को छोड़कर शेष सभी प्रोटैस्टैन्ट मतावलम्बियों (डिसेन्टर्स) के विरुद्ध कठोर नीति अपनाई गई। 'डिसेन्टर्स' के कट्टर विरोधी 'टोरी' (अनुदार दलीय) कहलाए और जो धार्मिक सहिष्णुता के समर्थक थे वह 'व्हिग' (उदार दलीय) कहलाए। चार्ल्स द्वितीय ने छुपकर रोमन कैथोलिक मत अपना लिया था और साथ ही उसने फ़्रांस के शासक लुई चतुर्दश का अंधानुकरण करना प्रारम्भ कर दिया।

3.5 गौरवपूर्ण क्रान्ति (1688)

3.5.1 गौरवपूर्ण क्रान्ति के कारण

1. 1685 में चार्ल्स द्वितीय की मृत्यु के उपरान्त उसका भाई जेम्स द्वितीय सिंहासनारूढ़ हुआ। जेम्स द्वितीय कैथोलिक था और वह वह अपने मत के प्रचार–प्रसार हेतु कटिबद्ध था। उसका राजत्व के दैविक सिद्धान्त में अटूट विश्वास था। यह बातें पार्लियामेन्ट को स्वीकार्य नहीं थीं। इंग्लैण्ड में उभरता हुआ और समाज में एक सीमा तक अपना प्रभाव स्थापित कर चुका शिक्षित मध्यम वर्ग शासक की निरंकुशता सहन करने को तैयार नहीं था।
2. 'व्हिग' दल जेम्स द्वितीय का विरोधी था। इसी दल ने जेम्स द्वितीय के अवैध पुत्र मन्मथ को विद्रोह करने के लिए प्रेरित किया। मन्मथ ने विद्रोह करके स्वयं को इंग्लैण्ड के सिंहासन का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। जेम्स द्वितीय ने मन्मथ के विद्रोह को कुचल दिया और न्यायालय ने उसे प्राणदण्ड दिया। जनता ने इस न्यायालय को 'ब्लडी कोर्ट्स' कहा। इस प्रसंग के कारण जेम्स द्वितीय इंग्लैण्ड, स्कॉटलैण्ड व आयरलैण्ड की जनता और पार्लियामेन्ट की घृणा का पात्र बन गया।
3. चार्ल्स द्वितीय के काल में पारित 'टेस्ट अधिनियम' के अन्तर्गत केवल एंग्लिकन चर्च के अनुयायी ही सरकारी पदों पर नियुक्त किए जा सकते थे किन्तु जेम्स द्वितीय ने इस अधिनियम को स्थगित कर मन्त्रिमण्डल, न्यायालय, नगर निगम और सेना के अनेक उच्च पदों पर कैथोलिकों की नियुक्ति कर दी। पार्लियामेन्ट ने इस कृत्य को संविधान का अपमान बताया किन्तु जेम्स द्वितीय ने इस आलोचना की कोई परवाह नहीं की।
4. जेम्स द्वितीय शिक्षा के क्षेत्र में भी कैथोलिक आधिपत्य स्थापित करना चाहता था और इसीलिए उसने अपनी नीतियों के विरोधी कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के कुलपति को अपदस्थ कर दिया और परिणामतः जनता में उसके प्रति आक्रोश में और वृद्धि हुई।
5. जेम्स द्वितीय की विदेश नीति, विशेषकर उसका फ़्रांस के शासक लुई चौदहवें

6. जेम्स द्वितीय की एंग्लिकन चर्च के विरुद्ध नीतियों का कैण्टरबरी के आर्कबिशप तथा अन्य 6 पादरियों ने खुलकर विरोध किया। जेम्स ने उन सभी को राजद्रोह के आरोप में टॉवर ऑफ़ लन्दन में कैद कर लिया। जनता के दबाव में न्यायधीशों ने उन सभी को आरोप–मुक्त कर दिया।
7. जेम्स द्वितीय की पुत्री मैरी को, जिसका कि विवाह हालैण्ड के शासक प्रोटैस्टैन्ट मतावलम्बी विलियम से हुआ था, सभी लोग उसका उत्तराधिकारी मानते थे किन्तु 10 जून, 1688 को जेम्स द्वितीय को अपनी दूसरी रानी मैडोना से एक पुत्र हुआ और अब यह निश्चित हो गया कि उसका यह पुत्र ही उसका उत्तराधिकारी होगा जिसका कि लालन–पालन एक कैथोलिक की भांति होगा। पार्लियामेन्ट को यह स्वीकार्य नहीं था कि भविष्य में भी इंग्लैण्ड का शासक कैथोलिक ही हो। इन परिस्थितियों में शासक और पार्लियामेन्ट के मध्य संघर्ष हुआ और यही गौरवपूर्ण क्रान्ति का तात्कालिक कारण बना।

3.5.2 गौरवपूर्ण क्रान्ति की घटना

इंग्लैण्ड के सिंहासन पर फिर से कैथोलिक शासक के आरूझ होने की सम्भावना समाप्त करने के उद्देश्य से पादरी वर्ग, टोरी तथा व्हिग दल ने जेम्स द्वितीय को अपदस्थ कर उसके स्थान पर उसकी बड़ी बेटी मैरी के पति, प्रोटैस्टैन्ट मतावलम्बी विलियम ऑफ़ ऑरेन्ज (हॉलैण्ड का शासक) को इंग्लैण्ड के सिंहासन पर अपना अधिकार करने के लिए आमन्त्रित किया। विलियम ऑफ़ औरेन्ज ने इस निमन्त्रण स्वीकार करते हुए इंग्लैण्ड की ओर कूच किया। जेम्स द्वितीय के सैन्य अधिकारी व उसकी अपनी छोटी पुत्री एन भी विद्रोहियों के साथ हो गए। युद्ध से पूर्व ही अपनी सैनिक असमर्थता देखकर जेम्स द्वितीय 23 दिसम्बर, 1688 को इंग्लैण्ड छोड़कर फ्रांस भाग गया और बिना रक्त की एक बूंद बहे इंग्लैण्ड में सत्ता परिवर्तन (मैरी तथा विलियम ऑफ़ ऑरेन्ज के संयुक्त रूप से सिंहासनारूढ़ होने से) हो गया जिसको हम गौरवपूर्ण क्रान्ति के नाम से जानते हैं।

3.5.3 'बिल ऑफ़ राइट्स अथवा डिक्लेरेशन ऑफ़ राइट्स (दिसम्बर, 1689)

मैरी तथा विलियम ऑफ़ ऑरेन्ज द्वारा संयुक्त रूप से इंग्लैण्ड की सत्ता सम्भाले जाने से यह स्पष्ट हो गया कि पार्लियामेन्ट के निर्णयों की अवज्ञा करके कोई भी शासक अपने पद पर बना नहीं रह सकता है। इसके साथ ही राजत्व के दैविक सिद्धान्त की अवधारणा, इंग्लैण्ड के सन्दर्भ में अर्थहीन हो गई। दिसम्बर, 1689 में पार्लियामेन्ट ने 'बिल ऑफ़ राइट्स' पारित किया जिसके अनुसार भूतकालीन 'डिक्लेरेशन ऑफ़ राइट्स' के प्रावधानों की पुनः पुष्टि की गई। इसमें शासक के विशेषाधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाया गया। इसने यह व्यवस्था की कि शासक –

1. न तो पार्लियामेन्ट द्वारा पारित कानूनों को स्थगित कर सकता है,
2. न ही पार्लियामेन्ट के अनुमोदन के बिना नए कर लगा सकता है,
3. न ही याचिका प्रस्तुत करने के अधिकार का उल्लंघन कर सकता है,
4. न ही शान्तिपूर्ण काल के दौरान पार्लियामेन्ट की सहमति के बिना स्थायी सेना खड़ी कर सकता है,
5. न ही प्रोटैस्टैन्ट प्रजा–जनों का हथियार रखने का अधिकार छीन सकता है,

6. न ही संसदीय चुनावों में अनावश्यक हस्तक्षेप कर सकता है,
7. न ही पार्लियामेन्ट में बहस के दौरान दोनों सदनों में से किसी के भी सदस्य की कही हुई किसी भी बात के आधार पर उससे ज़मानत के रूप में एक बड़ी रकम की मांग कर सकता है और न उसे कठोर दण्ड दे सकता है।

3.5.4 गौरवपूर्ण क्रान्ति के परिणाम

अब इंग्लैण्ड में संवैधानिक राजतन्त्र की स्थापना हो गई। इंग्लैण्ड का शासक अब केवल प्रोटैस्टैन्ट ही हो सकता था। शासक की शक्तियों पर, राज्य के खर्च पर और शासक के निजी खर्च पर पार्लियामेन्ट का नियन्त्रण स्थापित हो गया। प्रति वर्ष पार्लियामेन्ट का अधिवेशन होना अनिवार्य हो गया। अब शासन में शासक के स्थान पर पार्लियामेन्ट की सर्वाच्चता स्थापित हो गई। अब राज–परिवार में होने वाले विवाहों के लिए भी पार्लियामेन्ट का अनुमोदन आवश्यक हो गया। अब इंग्लैण्ड उदार एवं संवैधानिक राजतन्त्र का मुख्य केन्द्र बन गया। गौरवपूर्ण क्रान्ति के उदार विचारों ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से अमेरिकी और फ्रांसीसी क्रान्ति को प्रभावित किया और आगे चल कर समस्त विश्व में लोकतान्त्रिक व्यवस्था की स्थापना हेतु आन्दोलनों की पृष्ठभूमि तैयार की।

अभ्यास अभ्यास प्रश्न

निम्नांकित पर चर्चा कीजिए–
1. 'मैग्नाकार्टा'।
2. चार्ल्स प्रथम का पतन।
3. 1689 का 'बिल ऑफ़ राइट्स'।

3.6 सारांश

विश्व इतिहास में इंग्लैण्ड को संसदीय संस्थाओं की जन्म भूमि कहा जाता है। इंग्लैण्ड में सन् 1066 में विलियम ऑफ़ नॉर्मन्डी ने एक सामन्ती व्यवस्था का प्रचलन किया था जिसमें उसने 'टैनेन्ट–इन–चीफ़' (भू–स्वामी) तथा चर्च के प्रतिनिधियों की एक समिति गठित कर कानून बनाने से पहले उसकी सलाह लेने की व्यवस्था की थी। सन् 1100 में हेनरी प्रथम ने 'चार्टर ऑफ़ लिबर्टीज़' के द्वारा विशिष्ट क्षेत्रों में अपनी शक्तियों को सीमित कर दिया था। 15 जून, 1215 की 'मैग्ना कार्टा' के अनुसार शासक को कर लगाने और कर एकत्र करने से पहले अपनी रॉयल काउन्सिल की सहमति लेना आवश्यक हो गया। इसी रॉयल काउन्सिल ने बाद में विकसित होते–होते पार्लियामेन्ट का रूप धारण कर लिया। 'मैग्ना कार्टा' ने लोकतन्त्र, शासक की सीमित शक्ति और समानता के अधिकार के सिद्धान्तों को विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इंग्लैण्ड, वेल्स तथा स्कॉटलैण्ड के एकीकरण के उद्देश्य से एडवर्ड प्रथम (शासन काल

1272–1307) ने प्रभावशाली वर्ग का सहयोग प्राप्त करने के लिए और विद्रोहों की सम्भावना को समाप्त करने के लिए पार्लियामेन्ट को एक संस्था के रूप में विकसित होने का अवसर प्रदान किया। वित्तीय मामलों में अब शासक के लिए पार्लियामेन्ट का अनुमोदन लिया जाना आवश्यक हो गया। एडवर्ड तृतीय के शासनकाल में पार्लियामेन्ट की शक्ति में वृद्धि हुई। 1430 में लोअर चैम्बर के लिए सम्पत्ति विषयक न्यूतम योग्यता के आधार पर सदस्यों के चुनाव हेतु नागरिकों को मताधिकार (सीमित मताधिकार) प्रदान किया गया। 1544 के बाद पार्लियामेन्ट के दोनों सदनों को क्रमशः हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स तथा हाउस ऑफ़ कॉमन्स कहा जाने लगा। ट्यूडर काल में पार्लियामेन्ट ने शासक की सर्वोच्चता को स्वीकार करने में संकोच नहीं किया था किन्तु महारानी एलिज़ाबेथ प्रथम की मृत्यु के बाद जेम्स प्रथम तथा चार्ल्स प्रथम के शासनकाल में संसद तथा शासक के मध्य सर्वोच्चता के लिए संघर्ष प्रारम्भ हो गया।

चार्ल्स प्रथम और पार्लियामेन्ट में खटास आ जाने के बाद पार्लियामेन्ट समर्थक 'राउण्डहैड्स' के द्वारा अक्टूबर, 1642 में ओलिवर क्रॉमवेल के नेतृत्व में 'बैटिल ऑफ़ एजहिल' से 'इंग्लिश सिविल वार' प्रारम्भ हुई और अन्ततः 1649 में चार्ल्स प्रथम का पतन हुआ और इंग्लैण्ड में अगले 11 वर्षों तक गणतन्त्र स्थापित रहा। 1660 में राजतन्त्र की पुनर्स्थापना से लेकर 1688 तक पार्लियामेन्ट और शासक के मध्य सर्वोच्चता हेतु संघर्ष जारी रहा। इस संघर्ष में कैथोलिक चार्ल्स द्वितीय व जेम्स द्वितीय और प्रोटैस्टैन्ट समर्थक पार्लियामेन्ट के मध्य धार्मिक विवाद भी ज़ोर पकड़ता गया। 1688 में उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर उठे विवाद ने क्रान्ति का रूप ले लिया जिसके फलस्वरूप जेम्स द्वितीय का पतन हुआ। 1689 के 'बिल ऑफ़ राइट्स' द्वारा शासक पर पार्लियामेन्ट की सर्वोच्चता स्थापित हुई और इंग्लैण्ड में संवैधानिक राजतन्त्र की स्थापना हुई। गौरवपूर्ण क्रान्ति के उदार विचारों ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से अमेरिकी और फ्रांसीसी क्रान्ति को प्रभावित किया और आगे चल कर समस्त विश्व में लोकतान्त्रिक व्यवस्था की स्थापना हेतु आन्दोलनों की पृष्ठभूमि तैयार की।

3.7 पारिभाषिक शब्दावली

'मैग्नाकार्टा' – महान अधिकार पत्र

अपर चैम्बर – उच्च सदन

वीटो पावर – निषेधाधिकार

रम्प पार्लियामेन्ट – बची–खुची पार्लियामेन्ट

अपॉइन्टमेन्ट कमीशन – नियुक्ति आयोग

ब्लडी कोर्ट्स – खूनी न्यायालय

3.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.देखिए 3.3.2 'मैग्नाकार्टा'।
2.देखिए 3.4.2 चार्ल्स प्रथम के शासनकाल में शासक तथा पार्लियामेन्ट के मध्य संघर्ष।
3.देखिए 3.5.3 'बिल ऑफ़ राइट्स अथवा डिक्लेरेशन ऑफ़ राइट्स (दिसम्बर, 1689)।

3.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

मैरीमैन, जॉन एम0 – 'हिस्ट्री ऑफ़ मॉडर्न यूरोप' (बुक 1), न्यूयॉर्क, 2009
मुखर्जी, एल0 – 'ए स्टडी ऑफ़ यूरोपियन हिस्ट्री' कोलकाता, 2000
सेल्स, जी0 ओ0 – 'दि किंग्स' पार्लियामेन्ट ऑफ़ इंग्लैण्ड', लन्दन, 1981
बट, आर0 – 'ए हिस्ट्री ऑफ़ पार्लियामेन्ट इन दि मिडिल एजेज़' लन्दन, 1989

3.10 उपयोगी पाठ्य सामग्री

मैकॉले, टी0 बी0 – 'दि हिस्ट्री ऑफ़ इंग्लैण्ड फ्रॉम दि एक्सेशन ऑफ़ जेम्स सेकेन्ड, न्यूयॉर्क, 2009
जेनकिन्स, सिमोन – 'ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑफ़ इंग्लैण्ड', लन्दन, 2012

3.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. गौरवपूर्ण क्रान्ति के महत्व पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

इकाई 4 औद्योगिक क्रान्ति और उसका प्रभाव

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 औद्योगिक क्रान्ति से अभिप्राय और प्रमुख परिवर्तन
4.4 पृष्ठभूमि–चार अन्य क्रान्तियां
4.4.1 कृषि क्रान्ति
4.4.2 जनांकिकीय क्रान्ति
4.4.3 व्यवसायिक क्रान्ति
4.4.4 परिवहन क्रान्ति
4.5 इंग्लैण्ड में प्रारम्भ होने के कारण
4.6 नवीन अविष्कार
4.6.1 वस्त्र उद्योग
4.6.2 वाष्प शक्ति
4.6.3 लोहा और कोयला उद्योग
4.6.4 यातायात और परिवहन में तकनीकी प्रयोग
4.6.5 संचार साधनों का विकास
4.7 विकास और प्रसार
4.8 औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव और परिणाम
4.9 सारांश
4.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.11 तकनीकी शब्दावली और कथन
4.12 संदर्भ ग्रंथ सूची
4.13 सहायक और उपयोगी पाठ्य सामग्री
4.14 निबंधात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

आधुनिक युग के प्रारम्भ से ही औपनिवेशिक साम्राज्यों की स्थापना, वैज्ञानिक प्रगति, वाणिज्यवाद और प्रारम्भिक पूंजीवाद के उदय के रूप में यूरोप की आर्थिक स्थिति में धीरे–धीरे बदलाव आ रहा था। 18वीं सदी तक आते आते यह बदलाव उत्पादन की तकनीक और स्वरूप में दिखाई देने लगा तथा इसने एक ऐसी अर्थव्यवस्था को जन्म दिया, जो कृषि पर आधारित न हो कर उद्योग प्रधान थी

और जिससे हस्त एवं कुटीर उद्योगों के स्थान पर मशीनी युग का प्रारम्भ हुआ। इंग्लैण्ड से प्रारम्भ होकर यह बदलाव धीरे–धीरे यूरोप के अन्य देशों में भी होने लगे। इन बदलावों ने यूरोप के आर्थिक स्वरूप में ही परिवर्तन नहीं किया वरन् सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक स्वरूप को भी प्रभावित किया। यह बदलाव औद्योगिक क्रान्ति कहे जाते हैं।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई में आप –

- औद्योगिक क्रान्ति का अर्थ और उन प्रमुख परिवर्तनों एवं अविष्कारों को जान सकेंगे, जिन्होंने आर्थिक क्षेत्र में क्रान्ति का रूप लिया।
- औद्योगिक क्रान्ति के लिए उत्तरदायी कारणों एवं परिस्थितियों को जान सकेंगे, जिन्होंने इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति को जन्म दिया।
- विभिन्न उद्योगों का मशीनीकरण करने वाले प्रमुख अविष्कारों और तकनीकों को जान सकेंगे।
- औद्योगिक क्रान्ति के प्रसार और विश्व में उसके प्रभाव को जान सकेंगे।

4.3 औद्योगिक क्रान्ति से अभिप्राय और प्रमुख परिवर्तन

औद्योगिक क्रान्ति से अभिप्राय 18वीं सदी में आर्थिक क्षेत्र में किए गए ऐसे प्रयोगों से है, जिन्होंने मनुष्य के आर्थिक, तकनीकी, सामाजिक और सांस्कृतिक स्वरूप में परिवर्तन कर मानव एवं पशु श्रम पर आधारित कृषि समाज को मशीनों पर आधारित औद्योगिक समाज में बदल दिया। घरेलू उद्योग और हस्तशिल्प के स्थान पर कारखाना पद्धति का विकास और शक्ति संचालित मशीनों का प्रयोग किया गया। आधुनिक व्यापार तंत्र का विकास हुआ। विशाल मात्रा में उत्पादन हुआ, जिसने मानव जीवन पर अत्यंत गहरा और स्थायी प्रभाव डाला। इसे ही औद्योगिक क्रान्ति कहा गया। औद्योगिक क्रान्ति शब्द का प्रयोग सबसे पहले 1837 में फ्रांस के समाजवादी लुई ब्लांक ने किया, परन्तु इतिहासकार अर्नाल्ड टॉयनबी द्वारा 1888 में आर्थिक परिवर्तनों के लिए इस शब्द का प्रयोग करने के पश्चात यह शब्द लोकप्रिय ही गया। अर्नाल्ड टॉयनबी ने कहा कि 18वीं शताब्दी में हुए यह परिवर्तन इतने पूर्ण थे, इतने तीव्रगामी थे कि उन्हें औद्योगिक क्रान्ति कहना उचित है। एन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेज में औद्योगिक क्रान्ति की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है ''वह आर्थिक और तकनीकी विकास, जो अठारहवीं शताब्दी में अधिक सशक्त और तीव्र हो गया था तथा जिसके फलस्वरूप आधुनिक उद्योगवाद का जन्म हुआ, को औद्योगिक क्रान्ति कहा जाता है।''

औद्योगिक क्रान्ति के अन्तर्गत जो परिवर्तन हुए उनमें प्रमुख रूप से तकनीक का विकास, लोहे का निर्माण, वाष्प और जल शक्ति का प्रयोग, रसायन उद्योग का विकास, खनन उद्योग और संचार तथा परिवहन का विकास सम्मिलित है। इन परिवर्तनों के कारण ही मशीनी युग का प्रारम्भ हुआ और औद्योगिक क्रान्ति सम्भव हो सकी। यह परिवर्तन इतने व्यापक थे कि उनके लिए क्रान्ति शब्द का प्रयोग किया गया।

तकनीकी विकास के आधार पर औद्योगिक क्रान्ति की दो अवस्थायें मानी जाती हैं–1750 से 1860 तक प्रथम औद्योगिक क्रान्ति कहा जाता है, जब इंग्लैण्ड में वस्त्र उद्योग, लौह उत्पादन और भाप शक्ति का विकास हुआ। 1860 के पश्चात बड़े पैमाने पर हुए औद्योगिक विकास को द्वितीय औद्योगिक क्रान्ति कहा जाता है। इसमें इस्पात, बिजली और ऑटोमोबाइल आदि का विकास हुआ और यूरोप के अन्य देशों के साथ–साथ अमेरिका और एशिया के देशों तक इसका विस्तार हुआ।

अभ्यास प्रश्न

1. औद्योगिक क्रान्ति से आप क्या समझते हैं?

2. औद्योगिक क्रान्ति की विभिन्न अवस्थाओं के बारे मे बताइये।

4.4 पृष्ठभूमि–चार अन्य क्रान्तियां

औद्योगिक क्रान्ति कोई सुनियोजित अथवा अचानक होने वाली घटना नहीं थी, वरन् अपने पूर्व हुई कई अन्य क्रान्तियों का परिणाम थी। इन क्रान्तियों ने औद्योगिक क्रान्ति के लिए जमीन तैयार की। यह क्रान्तियां नहीं होती तो औद्योगिक विकास इतनी तेजी से सम्भव न हो पाता।

4.4.1 कृषि क्रान्ति

17वीं सदी में इंग्लैण्ड में कृषि प्रणाली में नए प्रयोग किए गए, जिन्होंने उत्पादन में वृद्धि की। छोटे बिखरे खेतों के स्थान पर बड़े फार्म में खेती की जाने लगी। नई फसलों की खोज की गयी और खेती में उपज बढ़ाने के लिए तकनीक का प्रयोग किया गया। पशुपालन को बढ़ावा दिया गया। इसने कृषि के क्षेत्र में क्रान्ति ला दी। इस कृषि क्रान्ति ने औद्योगिक क्रान्ति के उदय में विशेष भूमिका अदा की। इससे उद्योगों के लिए कच्चा माल प्राप्त हुआ तथा कृषि उपज से प्राप्त धन ने मशीनों के निर्माण में मदद की। खेती में तकनीक के प्रयोग के कारण बेरोजगार हुए किसानों के रूप में उद्योगों के लिए सस्ते मजदूर मिल सके तथा कृषि उत्पादन बढ़ने से नगरीय जनसंख्या के लिए पर्याप्त भोजन भी उपलब्ध हो सका।

4.4.2 जनांकिकीय क्रान्ति

यूरोप में 1700 से 1800 के मध्य जनसंख्या लगभग 45 प्रतिशत बढ़ गयी थी। इंग्लैण्ड में 1751 से 1821 के मध्य जनसंख्या दुगनी हो गयी थी। बढ़ती हुयी जनसंख्या से वस्तुओं की मांग बढ़ी, जिससे उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रयोग करने की प्रेरणा मिली। बढ़ी जनसंख्या के कारण सस्ते में उद्योगों के लिए मजदूर भी प्राप्त हुए।

4.4.3व्यवसायिक क्रान्ति

भौगोलिक खोजों और राष्ट्र राज्यों के उदय ने व्यापार का इतना अधिक विकास किया कि उन्हें वाणिज्यिक क्रान्ति कहा गया। विदेशी व्यापार के विकास ने माल की मांग उत्पन्न की तथा उद्योगों के लिए पूंजी तथा कच्चा माल उपलब्ध कराया। विस्तृत बाजार ने उत्पादन बढ़ाने के लिए नए साधन खोजने को प्रेरित किया। फलतः मशीनों का अविष्कार किया गया और औद्योगिक क्रान्ति ने जन्म लिया।

4.4.4परिवहन क्रान्ति

बाजार तक पहुँचने के लिए परिवहन और संचार साधनों का विकास आवश्यक था। जल और स्थल मार्ग दोनों का विकास किया गया। इंग्लैण्ड 16वीं शताब्दी से ही सामुद्रिक शक्ति के रूप में अपना विकास कर चुका था तथा 18वीं सदी में यहां सड़कों और रेलवे का विकास किया गया। इससे कारखानों में कच्चा माल लाने और विस्तृत क्षेत्र तक तैयार माल पहुँचाने में सुविधा हुयी। यातायात के विकास ने औद्योगिक क्रान्ति की गति में वृद्धि की।

अभ्यास प्रश्न

1. कृषिगत क्रान्ति ने किस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति के विस्तार में सहयोग दिया?
2. औद्योगिक क्रान्ति के विकास में व्यवसायिक और परिवहन क्रान्ति के योगदान को बताइये।

4.5 इंग्लैण्ड में प्रारम्भ होने के कारण

विश्व में सबसे पहले औद्योगिक क्रान्ति इंग्लैण्ड में हुयी। इस समय फ्रांस में भी उद्योग, व्यापार, जनसंख्या ,कच्चा माल और लौह तथा जल शक्ति के प्रचुर साधन थे। हॉलैण्ड में भी औद्योगिक क्रान्ति हेतु आवश्यक परिस्थितियां मौजूद थीं। परन्तु औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ इंग्लैण्ड से ही क्यों हुआ ? आपने देखा कि कृषि, व्यापार, यातायात और जनसंख्या वृद्धि के क्षेत्र में सबसे पहले इंग्लैण्ड में ही क्रान्ति हुयी। इसके अतिरिक्त आप देखेंगे कि वहां ऐसे कई अन्य कारण उत्पन्न हो गये थे, जिन्होंने उत्पादन के स्वरूप में परिवर्तन कर दिया। यह कारण निम्न हैं।

1. इंग्लैण्ड का समाज स्वतंत्र समाज था। अन्य यूरोपीय देशों की अपेक्षा प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचार रखने और कार्य करने की स्वतंत्रता थी। श्रेणी व्यवस्था और कृषि दासता समाप्त हो गयी थी। आर्थिक जीवन में भी सरकार का हस्तक्षेप नहीं था। नये प्रयोग करने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था।

2. इंग्लैण्ड की जनता में अन्य यूरोपीय देशों की अपेक्षा आर्थिक समानता भी थी। फ्रांस में अमीर–गरीब का अन्तर 1: 60 से 1: 90 था, जबकि इंग्लैण्ड में यह केवल 1: 30 था। जीवन स्तर उच्च होने के कारण जनता की क्रय शक्ति भी अधिक थी। इसने वस्तुओं की मांग को बढ़ाया।

3. इंग्लैण्ड चारों ओर से समुद्र से घिरा होने के कारण बाहरी आक्रामणों से सुरक्षित रहा। अन्य यूरोपीय देशों की अपेक्षा युद्ध जनित हानियों से बचा रहने के कारण औद्योगिक क्रान्ति के विकास के लिए एक शान्तिपूर्ण माहौल मिल सका। उसके सामुद्रिक तटों में बन्दरगाह बनाने की सुविधा थी। खुला समुद्र होने के कारण उसके व्यापारिक जहाज आसानी से दूसरे देशों के साथ व्यापार कर पाते थे।

4. इंग्लैण्ड की जलवायु कपड़े के उत्पादन के लिए उपयुक्त थी। प्राकृतिक संसाधनों की अधिकता विशेषरूप से लोहा और कोयले की खानें पास–पास होने से पक्के लोहे का निर्माण सुविधा से होता था। लोहे की उपलब्धता ने मशीनों के निर्माण को आसान कर दिया।

5. इंग्लैण्ड के पास एक विशाल औपनिवेशिक साम्राज्य था, जो उसके तैयार माल के लिए विस्तृत बाजार बने। इन उपनिवेशों से उसे कच्चा माल भी प्राप्त होता था।

6. इंग्लैण्ड उन वस्तुओं का उत्पादक था जिनकी बड़ी मात्रा में आवश्यकता होती थी, जबकि फ्रांस विलासिता की वस्तुओं का उत्पादन करता था। औद्योगिक क्रान्ति की गति लाने के लिए यह आवश्यक था कि देश के अन्दर आम उपभोग की चीजों का निर्माण हो, जिसकी मांग निरन्तर रहे। दैनिक वस्तुओं की मांग अधिक होने के कारण इंग्लैण्ड के व्यापारी निरन्तर उत्पादन वृद्धि हेतु नये प्रयोग करते रहे।

7. व्यापार के कारण इंग्लैण्ड में अत्यधिक मात्रा में पूंजी एकत्र हो गयी थी, जिसका प्रयोग उद्योगों और कारखानों को स्थापित करने में किया गया।

8. इंग्लैण्ड में बैंकिंग प्रणाली स्थापित हो गयी थी। बैकिंग प्रणाली के विकास से इंग्लैण्ड के उद्योगपतियों को ऋण प्राप्त करने और पूंजी जमा करने में सुविधा मिली। असीमित पूंजी और असीमित बाजार और संयुक्त पूंजी कम्पनियों की स्थापना ने व्यापार पर इंग्लैण्ड का एकाधिकार स्थापित कर दिया था।

9. इंग्लैण्ड की सरकार की नीति उद्योग और व्यापार को संरक्षण प्रदान करने वाली थी। अन्य देशों में व्यापार पर अनेक कर और स्थानीय चुंगी लगाई जाती थी, लेकिन इंग्लैण्ड में इस तरह की बाधाऐं नहीं थीं।

10. इंग्लैण्ड में सामन्ती व्यवस्था खत्म होने पर बहुत से लोग, जो सामन्तों के यहां काम करते थे, कस्बों में आकर बस गये और हस्त शिल्प का कार्य करने लगे। औद्योगिक क्रान्ति प्रारम्भ हुयी तो यह लोग मशीनों में काम करने के लिए उपलब्ध हो गये।

11. उद्योग क्रान्ति का मूल कारण मशीनों का अविष्कार और उनका उद्योगों में प्रयोग था, जिसका प्रारम्भ इंग्लैण्ड से हुआ। यहां 17वीं शताब्दी के अन्त तक हस्त कौशल पर आधारित उत्पादन अपने चरम पर था। इससे अधिक उत्पादन का स्तर को बढ़ाने के लिए नए उपकरणों की आवश्यकता थी। इंग्लैण्ड में कृषि कार्यों में तकनीक का प्रयोग करके कृषिगत क्रान्ति हो चुकी थी। इससे प्रेरित होकर उद्योगों में भी उत्पादन बढ़ाने के लिए तकनीक का प्रयोग करके मशीनें बनाई गयीं । वस्त्र उद्योग से प्रारम्भ होकर तकनीक का प्रयोग धीरे–धीरे अन्य उद्योगों में भी किया गया।

इस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति के लिए महत्वपूर्ण कारक–प्राकृतिक साधन, अत्यधिक धन और कुशल कारीगर, विस्तृत बाजार, राजनैतिक शान्ति तथा सामाजिक सहयोग, वाणिज्यवादी दृष्टिकोण और आविष्कारों के प्रति रूचि इंग्लैण्ड में मौजूद थी।

अभ्यास प्रश्न

1. इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति के उदय के लिए उत्तरदायी किन्हीं पांच कारणों का वर्णन करिए।
2. इंग्लैण्ड किस प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन करता था?

4.6 नवीन अविष्कार

स्पिनिंग जैनी

इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति का प्रमुख आधार विभिन्न प्रकार की मशीनों का अविष्कार था। इन मशीनों का प्रयोग विभिन्न उद्योगों में किया गया। आपको बताया जा चुका है कि इंग्लैण्ड में 17वीं शताब्दी के अन्त तक उपलब्ध साधनों का उनकी क्षमता के अनुरूप अधिकतम प्रयोग किया जा चुका था। असीमित बाजार और बढ़ती मांग के लिए उत्पादन बढ़ाने हेतु नए साधनों की जरूरत थी। प्रयोग करके नए साधनों के रूप में मशीनों का अविष्कार किया गया, जिसने उद्योगों का मशीनीकरण कर औद्योगिक क्रान्ति को जन्म दिया। शीघ्र ही इंग्लैण्ड 'विश्व की उद्योगशाला' कहा जाने लगा। आपको हम विभिन्न उद्योगों के लिए किए गए प्रमुख अविष्कार के विषय में बताते हैं।–

4.6.1 वस्त्र उद्योग

सर्वप्रथम सूती वस्त्र उद्योग के लिए अविष्कार किए गए।

- 1733 ई. में जोहन के ने फ्लाइंग शटल का अविष्कार किया, जिसकी सहायता से कपड़ा दोगुनी गति से बुना जा सकता था।
- 1764 ई. में जेम्स हारग्रीब्ज ने स्पिनिंग जैनी नामक यन्त्र का अविष्कार किया, जिसमें आठ तकुए लगे थे। इससे एक ही साथ आठ सूत के धागे काते जा सकते थे।
- 1769 ई. में रिचर्ड आर्कराइट ने स्पिनिंग जैनी में सुधार करके जल शक्ति से चलने वाली वाटर फ्रेम नामक सूत कातने की मशीन बनाई।
- 1779 ई. में सेमुअल क्राम्पटन ने म्यूल नामक यन्त्र बनाया , जिससे बारीक सूत तेज गति से काता जा सकता था। इससे अच्छा धागा काफी मात्रा में उपलब्ध हो गया।
- 1785 ई. में एडमण्ड कार्टराइट ने पावरलूम का अविष्कार किया। इस मशीन को जल और वाष्प शक्ति दोनों से चलाया जा सकता था। इसके द्वारा बढ़िया किस्म का कपड़ा शीघ्रता से बुना जाने लगा।
- 1785 ई. में वस्त्रों को छापने के लिए रोलर प्रणाली का अविष्कार हुआ, जिससे कपड़ों की

प्रिन्टिंग का कार्य तेजी से और अच्छा होने लगा।

- 1793 ई. में अमेरिकी ऐली व्हिटने ने कपास से बिनौला अलग करने की मशीन बनाई , जिसे कॉटन जिन कहा गया। यह पचास मजदूरों के बराबर काम अकेले कर सकती थी।
- 1825 ई. में रिचर्ड रॉबट्र्स ने पहली स्वचालित बुनाई मशीन बनाई।
- 1846 ई. में अमेरिका के एलियास होव ने सिलाई मशीन का अविष्कार किया, जिससे बढ़िया सिले हुए कपड़े बड़े पैमाने पर तैयार होने लगे।

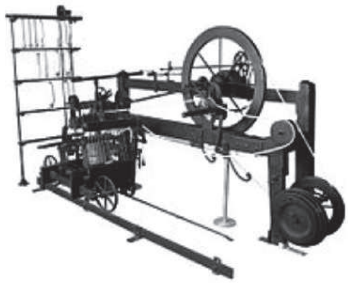

म्यूल

4.6.2 वाष्प शक्ति

यंत्रों को चलाने के लिए जल शक्ति और पवन शक्ति का प्रयोग किया जाता था। लेकिन अब शक्ति के नए साधन के रूप में वाष्प शक्ति का विकास हुआ। 1712 ई. मे टामस न्यूकोमेन ने एक वाष्प से चलने वाले इन्जन को बनाया, जो खानों से पानी बाहर निकालने का काम करता था। लेकिन यह इन्जन ईंधन का अधिक खर्चा करता था और भारी भी था। 1769 ई. में जेम्स वाट ने न्यूकोमेन के इंजन के दोषों को दूर करके एक नया वाष्प इंजन बनाया। उसने 1775 में एक उद्योगपति के साथ मिलकर इंजन बनाने का कारखाना भी खोला। 1776 में विलकिन्स ने लोहे के कारखानों की भट्टियों को तेज रखने के लिए वाष्प इंजन का प्रयोग किया। इसके बाद जेम्स वाट के वाष्प इंजन का प्रयोग आटे की चक्की चलाने तथा सूती कारखानों की मशीनों को चलाने के लिए किया गया। 1814 में इस इंजन का सुधरा रूप छापेखाने की मशीनों को चलाने के लिए किया जाने लगा।

4.6.3 लोहा और कोयला उद्योग

मशीनों को बनाने के लिए लोहे की मांग बढ़ रही थी, लेकिन लोहे को पिघलाने और साफ करने की तकनीक पुरानी, महँगी और कठिन थी। लकड़ी का कोयला, जो लोहा पिघलाने में प्रयोग किया जाता था, भी कम होता जा रहा था। अतः ईंधन के अन्य साधनों की खोज की गयी। अब्राहम डर्बी तथा जॉन रोबक ने खोज की कि पत्थर के कोयले से बने कोक का प्रयोग लोहा पिघलाने में किया जा सकता है। पत्थर के कोयले को प्राप्त करने के लिए खनन कार्य का विकास हुआ। खनन कार्य को आसान बनाने के लिए नयी मशीनें बनाई गईं। 1760 में जान स्टीमन ने कोक की आग को तेज रखने के लिए एक पम्प का अविष्कार किया। हम्फ्री डेवी ने खनन कार्य में सुविधा हेतु सुरक्षा लैम्प बनाया। 1784 में हेनरी कोर्ट ने एक ऐसी विधि पडलिंग का अविष्कार किया, जिसके द्वारा अधिक शुद्ध और अच्छा लोहा बनाना सम्भव हुआ। सीमेन्स मार्टिन ने इस्पात बनाया। परन्तु हेनरी बैसमेर ने 1856 में शीघ्रता से और सस्ते में इस्पात तैयार करने की तकनीक खोजी। इससे इस्पात का उत्पादन बड़े पैमाने पर होने लगा।

4.6.4 यातायात और परिवहन में तकनीकी प्रयोग

उद्योगों के मशीनीकरण ने यातायात और परिवहन साधनों के विकास को भी आवश्यक बना दिया। स्कॉटलैण्ड के इंजीनियर मैकडेम ने 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में सड़क बनाने का नया तरीका खोज निकाला। उसने छोटे पत्थर के टुकड़ों और मिट्टी का प्रयोग करके मजबूत सड़क बनाईं। टेलफोर्ड ने तारकोल का प्रयोग करके इसमें सुधार किया। ये सड़कें इंग्लैण्ड में हजारों मील तक बनाई गईं। ब्रिजवाटर के ड्यूक के द्वारा जेम्स ब्रिंडले नामक इंजीनियर को नहर बनाने को प्रोत्साहित किया गया। 1761 में ब्रिजवाटर नहर बनी तो माल लाने–ले जाने का खर्चा पहले से आधा रह गया। 1830 तक इंग्लैण्ड में 40 हजार मील लम्बी नहरों का निर्माण किया जा चुका था।1869 में फ्रांसीसी इंजीनियर फर्दिनांद द लैस्सैप ने स्वेज नहर का निर्माण कर भूमध्यसागर को लाल सागर से जोड़ा। इससे यूरोप और भारत की दूरी एक तिहाई से कम हो गयी। 1807 में पहली भाप से चलने वाली नाव का अविष्कार हुआ। उसके बाद वाष्प शक्ति से चलने वाले जहाज विकसित हुए। 1814 में जॉर्ज स्टीवेंसन ने रेल इंजन का अविष्कार किया ,जो भाप की शक्ति से लोहे की पटरियों पर चलकर माल से लदी गाडियों को खीच सकता था। 1830 में मेनचेस्टर से लिवरपूल तक पहली रेलवे लाइन का निर्माण हुआ। रेल के द्वारा कोयला, लोहा आदि को एक स्थान से लाने ले जाने का काम कम खर्च और कम समय में होने लगा।

ब्रिजवाटर नहर

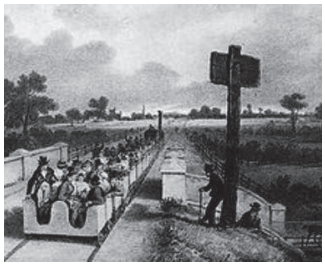

प्रथम रेल मार्ग

4.6.5 संचार साधनों का विकास

संचार साधनों का भी विकास हुआ। 1840 में पेनी पोस्टेज द्वारा डाक व्यवस्था लागू हुयी, जिससे देश में कहीं भी पत्र भेजा जा सकता था। 1844 में सैमुअल मौर्स ने टेलीग्राफ प्रणाली का अविष्कार किया। उत्तरी अमेरिका और यूरोप को अटलांटिक केवल द्वारा जोड़ा गया। 1876 में ग्राहम बैल ने टेलीफोन का अविष्कार किया।

19वीं सदी के प्रारम्भ में विभिन्न वैज्ञानिक खोजों ने औद्योगिक क्रांति के नवीन क्षेत्रों का विकास किया। वैज्ञानिकों माइकल फेराडे, जेम्स यंग, सीमेन्स, बुन्सेन आदि के अविष्कार बहुत लाभदायक सिद्ध हुए। मशीनों को बनाने के लिए यान्त्रिकी तकनीक का विकास, रसायन के क्षेत्र में नयी खोजों विशेषरूप से क्लोरिन, सोडियम कारबोनेड, कैल्सियम सल्फाइड, पोटाश, ब्लीचिंग पाउडर, सीमेंट, काँच, पेपर, गैस का प्रकाश आदि ने औद्योगिक क्रांति का अत्यधिक विकास किया।

अभ्यास प्रश्न

1. वस्त्र उद्योग के विकास हेतु कौन–कौन से अविष्कार हुए?
2. लौह और कोयला शक्ति के खनन में किन तकनीकों का प्रयोग किया गया?
3. यातायात और परिवहन के विकास में तकनीक के प्रयोग पर टिप्पणी करिये?

4.7 विकास और प्रसार

औद्योगिक क्रान्ति ने 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में इंग्लैण्ड को उद्योग प्रधान देश बना दिया था, लेकिन यह क्रान्ति इंग्लैण्ड तक सीमित नहीं रह सकी। 19वीं सदी का अन्त होते–होते इसका विस्तार सम्पूर्ण यूरोप और विश्व के कुछ प्रमुख देशों में दिखाई देने लगा। यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति के शीघ्रता से प्रसार के लिए प्रमुख कारण फ्रांस की क्रांति से स्थापित स्वतंत्रता एवं समानता की भावना, पुरातन व्यवस्था का अन्त, मध्यम वर्ग और उदारवादी विचारधारा का विकास, जनसंख्या वृद्धि और इंग्लैण्ड के औद्योगिकीकरण का प्रभाव आदि थे। इंग्लैण्ड के बाद इसका प्रसार सबसे पहले पश्चिमी यूरोप के देशों बेल्जियम, फ्रांस और जर्मनी में हुआ।

बेल्जियम– बेल्जियम वह पहला देश था, जिसने इंग्लैण्ड की औद्योगिक तकनीक का प्रयोग बड़े पैमाने पर किया। 1850 तक यह एक उद्योग प्रधान देश बन गया। इंग्लैण्ड से मशीनें मंगाकर इसने अपने यहां कारखाने स्थापित किये। वस्त्र उद्योग, लौह उत्पादन और रेल मार्ग के निर्माण में इसने विशेष प्रगति की। प्रारम्भ में यूरोप के अन्य देशों की कोयले की जरूरत को यह ही पूरा करता था।

फ्रांस– 1789 की क्रांति के पश्चात फ्रांस में जो राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन हुए, उसने वहां औद्योगिक क्रान्ति हेतु एक माहौल बनाया। प्रारम्भ में इंग्लैण्ड से मशीनें आयात की गयीं और वस्त्र उद्योग का मशीनीकरण किया गया। 1830 तक यहां वाष्प इंजन का प्रयोग होने लगा। 1830 से 1841 के मध्य फ्रांस ने स्वयं मशीनों का निर्माण करना शुरू कर दिया। परन्तु यहां कोयले की कमी और जनता की औद्योगिकीकरण में रूचि न होने के कारण विकास की गति धीमी रही। 1857 से 1870 के मध्य यहां की सरकार को औद्योगिक क्रान्ति हेतु स्वयं प्रयास करने पड़े। संचार साधनों का विकास, बैंकों की स्थापना और गैर सरकारी कम्पनियों की सहायता की गयी। 1850 के बाद रेलों का विकास हुआ। 1870 तक फ्रांस के रेशम वस्त्र और लौह उत्पादन में तेजी से वृद्धि हुयी। 1830 की अपेक्षा 1870 तक उत्पादन और व्यापार तिगुना हो गया।

जर्मनी– जर्मनी का एकीकरण 1870 ई. में हुआ, परन्तु यहाँ के राज्यों में औद्योगिक क्रान्ति का असर 1848 के पश्चात ही दिखने लगा था। 1839 ई. में यहाँ ड्रेसडेन और लिपजिग के मध्य रेलमार्ग का निर्माण किया गया। 1848 तक बर्लिन, हैम्बर्ग, प्राग और लाइबेख तक रेलमार्गों का निर्माण हो गया। रूर क्षेत्र में कोयले और लोहे की खानें प्राप्त होने के बाद 1850 से 1880 के मध्य यहाँ कोयले का उत्पादन दस गुना बढ़ गया। साइलेशिया और वेस्टफेलिया में सूती वस्त्र उद्योग का विकास हुआ। 1870 ई. में एकीकरण के बाद जर्मनी में तेजी से औद्योगिक विकास हुआ। इस्पात उद्योग में वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग, रसायनों का प्रयोग, यान्त्रिक तकनीक का विकास के साथ–साथ जर्मनी में तकनीकी शिक्षा के विकास पर विशेष ध्यान दिया गया। इससे यह

औद्योगिक विकास में इंग्लैण्ड से आगे निकल गया।
19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक यूरोप के अन्य देशों डेनमार्क, स्वीडन, हालैण्ड, इटली और आस्ट्रिया में भी औद्योगिकीकरण प्रारम्भ हो गया। स्वीडन में 1850, इटली में 1860 और आस्ट्रिया तथा उत्तरी स्पेन में 1870 से औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ हुआ। रूस में औद्योगिक क्रान्ति सबसे बाद में प्रारम्भ हुयी। फ्रांस और इंग्लैण्ड के सहयोग से इसने 19वीं सदी के अन्तिम वर्षों में पर्याप्त औद्योगिकीकरण किया।

अभ्यास प्रश्न
1.फ्रांस में औद्योगिक क्रांति में सरकारी प्रयासों पर प्रकाश डालिए।
2.जर्मनी में औद्योगिक क्रांति के विकास पर टिप्पणी लिखिये।

4.8 औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव और परिणाम

अभी तक आपने जाना कि औद्योगिक क्रान्ति का सम्बन्ध आर्थिक क्षेत्र में किए गए परिवर्तनों से था, परन्तु अब आप जानेंगे कि इसके प्रभाव से आर्थिक क्षेत्र में ही नहीं वरन् समाज, राजनीति और विचारों में भी व्यापक परिवर्तन हो गया। मानव समाज जितना औद्योगिक क्रान्ति से प्रभावित हुआ, उतना शायद ही किसी ओर परिवर्तन से।
आर्थिक प्रभाव– औद्योगिक क्रान्ति से बहुत समय से चली आ रही कम उत्पादक और विकासहीन अर्थव्यवस्था का अंत हुआ। इसका सबसे पहला प्रभाव उत्पादन पर पड़ा। 1760 से 1830 के मध्य इंग्लैण्ड का उत्पादन 10 से 40 गुना तक बढ़ गया था। आपको बताया जा चुका है कि पुरानी कुटीर उद्योग प्रणाली का स्थान कारखना पद्धति ने ले लिया था। फलतः घरेलू उद्योग समाप्त होने लगे और उससे जुड़े कारीगर बेरोजगार हो गये तथा वे काम की तलाश में शहरों की ओर जाने लगे। औद्योगिक नगरों का विकास हुआ और तेजी से जनसंख्या का शहरीकरण हुआ। ग्राम के स्थान पर शहर अर्थव्यवस्था का आधार बन गए। उत्पादन करने वालों और उपभोग करने वालों के मध्य सीधा सम्बन्ध समाप्त हो गया। पुराने सरल बाजार के स्थान पर बाजार जटिल हो गया। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का उदय हुआ, जिसमें अपने देश के उद्योग को बढ़ाने और दूसरे देश के उद्योगों से टक्कर लेने के लिए संरक्षित बाजार बनाए गए। पूंजी और श्रम के मध्य अन्तर बढ़ने लगा। बड़े स्तर पर उत्पादन, असमान वितरण और एकाधिकार की प्रवृत्ति ने औद्योगिक पूंजीवाद का जन्म हुआ। प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि हुयी। बैंकों और वित्तीय संगठनों का विकास हुआ। संयुक्त पूंजी कम्पनियों और औद्योगिक निगमों की स्थापना की गयी। शेयर बाजार का गठन हुआ। व्यापार का स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय हो गया। बाजार की आवश्यकता ने उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद को जन्म दिया।
सामाजिक प्रभाव– समाज पर मध्यम वर्ग विशेष रूप से व्यापारियों, वैज्ञानिकों, कुशल और प्रशिक्षित शिल्पियों, महाजनों, प्रबन्धकों और वकीलों आदि का प्रभाव बढ़ गया। समाज नये स्वरूप में पूंजी के आधार पर विभाजित होने लगा। सामन्तों और पादरियों का महत्व कम हो गया। रूढ़िवाद, अन्धविश्वास, जातीयता और कुलीनता आदि का प्रभाव भी समाज पर कम होने लगा।

उद्योगपति अत्यधिक धनी और मजदूर अधिक गरीब हो गये। कारखाना प्रणाली में मजदूरों और मालिकों के मध्य संघर्ष हुआ और मजदूरों के शोषण और उनकी स्वतंत्रता का अन्त हुआ। शहर में मजदूरों के पास जीवका चलाने के लिए मजदूरी के अतिरिक्त कोई साधन नहीं रहा, जिस कारण उनका उद्योगपतियों द्वारा अत्यधिक शोषण किया जाने लगा। मजदूरों को 14 से 16 घंटे काम करना पड़ता था। महिलाओं और बच्चों से भी कम पारिश्रमिक में अधिक काम कराया जाता था। उद्योगों में काम करने के लिए गांव से बड़ी संख्या में लोग शहर आ गए, जिसने संयुक्त परिवार प्रणाली को काफी नुकसान पहुंचाया। सामुदायिक भावना का पतन हुआ और सामाजिक तथा नैतिक बन्धन टूटने लगे। शहरों में जनसंख्या बढ़ने से सफाई और स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याऐं उत्पन्न हुयीं। हैजा और प्लेग जैसी महामारियां फैलने लगीं।

राजनैतिक प्रभाव–औद्योगिक क्रान्ति के कारण नयी राजनैतिक समस्याएं उत्पन्न हुयीं। इंग्लैण्ड में उद्योगपति और मजदूर वर्ग संसद पर अपने आर्थिक हितों की रक्षार्थ अपना प्रतिनिधित्व चाहते थे। आर्थिक समस्याओं को लेकर आन्दोलन हुए और आन्दोलनकारी व्यापक मताधिकारों और वार्षिक संसद की मांग करने लगे। 1816 में स्पाफील्ड, 1817 में लंकाशायर एवं डर्बीशायर और 1819 में सेण्ट पीटर्सबर्ग में आन्दोलन हुए। फलतः इंग्लैण्ड में संसद में भूस्वामी और कुलीन वर्ग के स्थान पर मध्यम व्यापारी वर्ग को प्रतिनिधित्व देने के लिए सुधार किए गए। कई सुधार बिल प्रस्तुत करने के पश्चात 1832 में प्रथम सुधार अधिनियम द्वारा लोक सदन के 143 स्थान नये निर्वाचन क्षेत्रों में बांटे गये। मजदूरों ने भी व्यापक मताधिकार, काम के घण्टे, न्यूनतम मजदूरी आदि के लिए चार्टिस्ट आंदोलन किया। 1867 और 1884 के अधिनियमों के द्वारा अधिकांश जनता को मतदान का अधिकार दिया गया। नगरों के व्यवसायी और मजदूरों को राजनीतिक जीवन में भाग लेने का अधिकार मिला और इंग्लैण्ड की संसदीय व्यवस्था अधिक प्रजातान्त्रिक हो गयी।

यूरोप के अन्य राज्यों ने भी उद्योग और व्यापार के विकास हेतु नए कानून बनाए। यूरोप के जिन देशों में उद्योगीकरण देरी से हुआ, वहाँ उद्योगों को प्रोत्साहित करने में सरकार ने बड़ी भूमिका निभाई। 1820 में व्यापार को संरक्षण दिया और प्रारम्भ में सार्वजनिक धन और व्यय पर सरकारी नियंत्रण लगाया। लेकिन 1840–60 में उद्योगपतियों के दबाव में सरकारों ने मुक्त व्यापार नीति को अपनाया। कई देशों की राजनैतिक शक्ति पूंजीपतियों के हाथों में केन्द्रित हो गयी। 1870 के पश्चात मजदूर अपने शोषण के विरूद्ध एकजुट हो मजदूर संघ और ट्रेड यूनियन बनाने लगे थे। फलतः पुनः संरक्षण नीति का अनुसरण किया गया और मजदूरों के पक्ष में लोक कल्याणकारी तथा समाजवादी व्यवस्था का विकास हुआ।

औद्योगिक क्रान्ति ने संसार के अन्य देशों में उपनिवेश स्थापित करने की होड़ को बढ़ावा दिया। फ्रांस, हॉलैण्ड, बेल्जियम आदि यूरोपीय देशों में औपनिवेशिक और व्यापारिक प्रतिद्वन्दिता प्रारम्भ हुयी। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक इससे साम्राज्यवाद का विकास हुआ और साम्रज्यवाद की प्रवृत्ति ने राज्यों के मध्य संघर्ष और वैमनस्य उत्पन्न किया।

वैचारिक प्रभाव– औद्योगिक क्रान्ति ने आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में कई नवीन विचारधाराओं को जन्म दिया। उच्च मध्यम वर्ग विशेषरूप से उद्योगपतियों के प्रभाव से उदारवादी विचारधारा का उदय हुआ, जिसका सिद्धान्त था अहस्तक्षेप की नीति। इसमें व्यापार को राज्य के नियंत्रण से मुक्त

रखा गया, उद्योगीकरण का लाभ उद्योगपतियों को मिला और मजदूर वर्ग का शोषण हुआ। इस पूंजीवादी व्यवस्था के प्रतिक्रियास्वरूप समाजवाद की विचारधारा का उदय हुआ, जिसमें समस्त जनता के लिए आर्थिक और राजनैतिक समानता और संपति के समान वितरण की बात की गयी। समाजवादी उद्योगपति राबर्ट ओवन ने अपने कारखानों में सहकारी संस्थाएं स्थापित कीं। फ्रांस में सेंट साइमन, फाउरिये और लुई ब्लांक आदि प्रारम्भिक समाजवादियों ने निजी सम्पत्ति का विरोध किया और राष्ट्रीय कारखानों की आवश्यकता बताई। कार्ल मार्क्स ने समाजवाद को व्यवहारिक रूप प्रदान किया। मार्क्स और एंगेल्स के विचारों ने वैज्ञानिक समाजवाद का रूप लिया, जिसे साम्यवादी विचारधारा कहा गया। इसके अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त किए बिना समाजवादी व्यवस्था की स्थापना नहीं की जा सकती। इस विचारधारा ने मजदूरों को पूंजीवाद का विरोध करने को प्रेरित किया। अनेक देशों में समाजवादी और साम्यवादी व्यवस्था स्थापित हुयी। सम्पूर्ण विश्व में दो गुटों में बँट गया –साम्यवादी और पूंजीवादी।

अभ्यास प्रश्न

1. औद्योगिक क्रान्ति ने समाज और आर्थिक जगत को किस तरह प्रभावित किया?
2. औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप राजनैतिक और वैचारिक क्षेत्र में क्या–क्या परिवर्तन हुए?
3.

4.9 सारांश

18वीं सदी में इंग्लैण्ड में आर्थिक क्षेत्र में उत्पादन प्रक्रिया, स्वरूप और क्षेत्र में परिवर्तन हुए जिन्होंने न केवल आर्थिक वरन् सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में भी बदलाव कर दिया। हस्त और कुटीर उद्योग के स्थान पर बड़े पैमाने पर मशीनों से कारखानों में उत्पादन से जो परिवर्तन आया, उसे औद्योगिक क्रान्ति कहा गया।

औद्योगिक क्रान्ति अग्रगामी चार क्रान्तियों के कारण सम्भव हुयी– कृषि क्रान्ति, जनसंख्या में वृद्धि, व्यवसायिक क्रान्ति और परिवहन क्रान्ति।औद्योगिक क्रान्ति 1760 से 1860 तक इंग्लैण्ड में विकसित हुयी और 1860 ई के पश्चात यूरोप तथा विश्व के अन्य क्षेत्रों में फैली। इंग्लैण्ड से औद्योगिक क्रान्ति के प्रारम्भ होने के प्रमुख कारण थे– प्रचुर प्राकृतिक साधन, औपनिवेशिक साम्राज्य, राजनैतिक स्थिरता, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, दैनिक उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन, पूंजी की उपलब्धता, नगरीय जनसंख्या में वृद्धि आदि। इग्लैण्ड में अन्य यूरोपीय देशों की अपेक्षा पूंजी, श्रम, तकनीक, संसाधन, यातायात के साधन और विस्तृत बाजार थे, जिसने तीव्रता से औद्योगिकीकरण का विकास किया।

औद्योगिक क्रान्ति के अन्तर्गत प्रारम्भ में तकनीक का विकास, लोहे का निर्माण, वस्त्र उद्योग में भाप तथा जल शक्ति का प्रयोग, रसायन का विकास, कोयले की खानों का विकास और यातायात के साधनों का विकास आदि परिवर्तन हुए। औद्योगिक क्रान्ति ने सर्वप्रथम वस्त्र उद्योग को प्रभावित किया। विभिन्न मशीनों का प्रयोग कपास के बिनौले से रूई को अलग करने, धागा बनाने, कपड़ा बुनने, सिलने और रंगने आदि सभी कार्यों में होने लगा। इन मशीनों का निर्माण जॉन के, जेम्स

हरग्रीव्ज, आर्कराइट, कार्टराइड आदि ने किया। मशीनों को चलाने के लिए वाष्पशक्ति की जानकारी और उसका मशीनों को चलाने में प्रयोग ने उद्योगीकीकरण को तेज किया। मशीनों के निर्माण के लिए लोहे को पिघलाने और शुद्ध लोहा प्राप्त करने के लिए नये प्रयोग किए गए। लोहा पिघलाने के लिए कोयल के प्रयोग ने खनन उद्योग का भी विकास किया। कच्चे माल को कारखानों तक लाने के लिए यातायात के क्षेत्र में सुधार किए गए। स्टीफैन्सन ने रेल इंजन का अविष्कार किया। मैकडम ने सड़क निर्माण के तरीके में सुधार किया। संचार साधनों का भी विकास हुआ। नयी तकनीक और मशीनों का प्रयोग धीरे–धीरे अन्य क्षेत्रों में भी होने लगा।

औद्योगिक क्रान्ति इंग्लैण्ड के पश्चात सर्वप्रथम बेल्जियम में हुयी और धीरे–धीरे फ्रांस और जर्मनी में भी औद्योगिक विकास हुआ। 19वीं सदी के अन्त तक पश्चिमी यूरोप के अधिकांश क्षेत्रों तथा अमेरिका के उत्तरी भाग में औद्योगिक विकास हो गया। यूरोप के पूर्वी क्षेत्रों और रूस में मशीनीकरण की गति धीमी रही।औद्योगिक क्रान्ति ने आर्थिक क्षेत्र में उत्पादन में वृद्धि, घरेलू उद्योग के स्थान पर कारखाना उद्योग का विकास और मशीनों का बड़ी संख्या में उपयोग, शहरीकरण और पूंजीवाद का विकास किया। समाज में नये श्रम बेचने वाले मजदूर वर्ग और तकनीक जानने वाले मध्यम वर्ग का उदय हुआ। पूंजीवाद के विकास ने वर्ग संघर्ष उत्पन्न किया। राजनैतिक क्षेत्र में कारखानों और मजदूरों से सम्बन्धित कानून बनाए गए। संसदीय सुधारों द्वारा अधिक से अधिक जनता को मताधिकार प्राप्त हुआ। उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद की भावना का विकास हुआ, जिससे देशों के मध्य वैमनस्य बढ़ा। नवीन विचारधाराओं उदारवाद, समाजवाद और साम्यवाद का उदय हुआ। वर्ग संघर्ष बढ़ा और समस्त विश्व दो गुटों में बंट गया–पूंजीवादी और साम्यवादी।

4.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

4.3 के अभ्यास प्रश्नों का उत्तर

1. देखिए 4.3 के प्रथम दो पैरा।
2. देखिय 4.3 का अन्तिम पैरा।

4.4 के अभ्यास प्रश्नों का उत्तर

1. देखिए 4.4 में कृषि क्रान्ति।
2. देखिए 4.4 में व्यवसायिक क्रान्ति तथा परिवहन क्रान्ति।

4.5 के अभ्यास प्रश्नों का उत्तर

1. देखिए 4.5 के अर्न्तगत विभिन्न बिन्दु
2. इंग्लैण्ड दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं का उत्पादन करता था।

4.6 के अभ्यास प्रश्नों का उत्तर

1. देखिए 4.6 में पैरा वस्त्र उद्योग
2. देखिए 4.6 में पैरा लोहा और कोयला उद्योग
3. देखिए 4.6 में पैरा यातायात और परिवहन में तकनीकी प्रयोग

4.7 के अभ्यास प्रश्नों का उत्तर

1. देखिए 4.7 में पैरा फ्रांस
2. दखिए 4.7 में पैरा जर्मनी

4.8 के अभ्यास प्रश्नों का उत्तर

1. देखिए 4.8 में पैरा आर्थिक और सामाजिक
2. देखिए 4.8 में पैरा राजनैतिक और वैचारिक

4.11 तकनीकी शब्दावली और कथन

1. हेजन–औद्योगिक क्रांति का अर्थ है कुटीर उद्योग का मशीनीकरण।
2. एडवर्ड–औद्योगिक प्रणाली तथा श्रमिकों के स्तर में होने वाले परिवर्तनों को ही औद्योगिक क्रांति कहा जाता है।
3. स्वेन– आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तनों की शुरूआत ही औद्योगिक क्रांति है।
4. एच.ए.एल.फिशर– ब्रिटेन को औद्योगिक पूंजीवाद के अग्रणी होने में जिस कारण ने योगदान दिया, उसमें प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता का सर्वाधिक योगदान है।
5. जी.टी.वाट्स– यदि हम अन्य देशों के साथ व्यापार न करते हुए केवल अपने उपनिवेशों के साथ ही व्यापार करते, तब भी इंग्लैण्ड विश्व का सर्वोच्च व्यापारिक देश होता।
6. नोबेल्स– ब्रिटेन की राजनीतिक सुरक्षा इतनी अच्छी थी कि लोग बड़े उद्योगों में आवश्यक पूँजी लगाने में बिल्कुल भी संकोच नहीं करते थे।
7. रजनी पामदत्त–यदि प्लासी की लूट का माल और भारत की सम्पदा इंग्लैण्ड की ओर उन्मुख न हुई होती– तो मेनचेस्टर, आर्कराइट, कार्टराइट, क्रोम्पटन–जैसे आविष्कारक और उनके आविष्कार समुद्र में फेंक दिए जाते।
8. एल.सी.ए.नोल्स–यदि फ्रांस में राज्य क्रांति ने फ्रांस के औद्योगिक ओर आर्थिक जीवन को अस्त–व्यस्त नहीं कर दिया होता, तो इंग्लैण्ड के बजाय फ्रांस ही औद्योगिक क्रांति का प्रणेता होता।
9. नोबेल्स– क्रान्ति का परिणाम था– नई जनता, नये वर्ग, नई नीतियाँ, नयी समस्याएँ और नये साम्राज्य।
10. सिडनी बेव–औद्योगिक क्रान्ति ने मजदूरों को अपने ही देश में एक भूमिहीन परदेशी बना दिया था।

4.12 संदर्भग्रंथ सूची

1.नोल्स, एल.सी.ए.–द इण्डस्ट्रियल एण्ड कॉमर्शियल रिवोल्यूशन इन ग्रेट ब्रिटेन डयूरिंग द नाइनटिंथ सेन्चुरी
2.वाट्स,जी.टी.–लैण्डमार्क इन इण्डस्ट्रियल हिस्ट्री
3.पोलार्ड,सिडनी–पीसफुल कान्क्वेस्टःद इण्डस्ट्रियलाइजेशन ऑफ यूरोप,1760–1970

4.13 सहायक और उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.वर्मा, लाल बहादुर–यूरोप का इतिहास,भाग–2, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली,1998
2.गुप्ता, पार्थसारथी (सम्पादक)–यूरोप का इतिहास, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली,1987
3.हेजन, सी.डी.– आधुनिक यूरोप का इतिहास (अनुवादक–सत्यनारायण दुबे)
4.केटलबी, सी.डी.एम –हिस्ट्री ऑफ मार्डन टाइम्स
5.ग्रान्ट एण्ड टेम्परले–उन्नीसवीं तथा बीसवीं सदी के यूरोप का इतिहास (अनु0–बाबूराम गुप्त)।

4.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. औद्योगिक क्रान्ति से क्या तात्पर्य है? इसके उदय के कारणों पर प्रकाश डालिए।
2. औद्योगिक क्रान्ति इंग्लैण्ड से क्यों प्रारम्भ हुयी? विस्तार से बताइये।
3. औद्योगिक क्रान्ति के यूरोप में प्रसार का वर्णन करिये।
4. औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम और प्रभाव को विस्तार से बताइये।

ब्लाक चार

विश्वः क्रांति का युग, राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद

इकाई–1 अमेरिकी क्रांति

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 क्रांति के पूर्व का अमेरिका
1.3.1 क्रांति से पहले अमेरिकी जीवन
1.4 क्रांति का आरम्भ और परिणति
1.4.1 क्रांति के कारणों की चर्चा
1.4.2 अमेरिकी क्रांति के घटनाचक्र व परिणाम
1.5 सारांश
1.6 शब्दावली
1.7 अभ्यास के प्रश्न
1.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची / उपयोगी पाठ्य सामग्री
1.9 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

अमेरिकी क्रांति की चर्चा मानव सभ्यता के इतिहास के महत्त्वपूर्ण घटनाक्रम में एक है। जिसने पूरी दुनिया में परिवर्तन को प्रेरणा प्रदान किया। वस्तुतः यूरोपीय मध्यकालीन कसमसाहट ने 'नयी दुनिया' अर्थात् अमेरिका के अन्वेषण को प्रेरित किया। कालक्रम में विभिन्न नस्ल, सम्प्रदाय एवं विभिन्न धार्मिक मान्यताओं के लोग इस भू–भाग पर आकर बसते गये और उनके साथ नियंत्रणकारी शक्तियां भी अपने स्वार्थपूर्ति हेतु उक्त भू–भाग पर नियंत्रण का प्रयास करती रही। द्वन्द्व ने संघर्ष को जन्म दिया। अंततः अमेरिकी विप्लव 'क्रांति' का जन्म हुआ कालांतर में इसी विप्लव के गर्भ से स्वतंत्र संयुक्त राज्य अमेरिका जन्म हुआ। अमेरिकी 'क्रांति' ही अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम था । वर्ष 1776 ई0 इस महान घटनाक्रम का आधार वर्ष रहा था ।

1.2 उद्देश्य

अमेरिका ने पिछले दो–ढाई सौ वर्षों में अपनी प्रगति से पूरी दुनिया को सबसे अधिक प्रभावित किया है। विज्ञान, धन और सैन्य बल में वह दुनिया के सबलतम राष्ट्रों में है। अमेरिकी क्रांति के अध्ययन से हमे वर्तमान आधुनिक अमेरिका की अवस्थित का ज्ञान हो जायेगा। तथा अमेरिकी इतिहास के गहन अध्ययन से देखा जा सकता है कि भारत जैसे देश को प्रेरित करने वाले बिन्दु उसमें कौन–कौन से है?

1.3 क्रांति के पूर्व का अमेरिका

1.3.1 क्रांति के पूर्व अमेरिकी जीवन

आईए सबसे पहले क्रांति के पूर्व अमेरिकी जीवन व समाज की चर्चा कर ली जाए । ताकि हम पूरे घटनाक्रम को समझ सके । एक विश्वविख्यात कहावत है कि रोम का निर्माण एक ही दिन में नहीं हुआ था। जब एक नगर के निर्माण में बहुत समय लगा, तो क्या एक राष्ट्र एक क्षण या एक वर्ष में भी बन सकता था? सच तो यह है कि संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रारंभिक निर्माण में ही लगभग पौने दो वर्ष सौ लग गए। इसके विकास की आधारशिला 13 औपनिवेशिक बस्तियां थीं, जिनकी स्थापना क्रमशः ही हो पायी थी। इसमें से अधिकांश तो अंग्रेजों ने ही बसायी थीं, शेष अन्य जातियों ने। सन् 1600 ई0 से सन् 1700 ई0 तक अनुमानतः 75000 व्यक्ति किसी एक अथवा अनेक कारणों से अपनी मातृभूमि की त्याग कर नवीन शैली का जीवन व्यतीत करने की अभिलाषा लिए इस महाद्वीप में आए। वे न तो धनवान ही थे, न रंक ही और न पैतृक भूमि से वंचित किए गए कृषक ही। कुछ ऐसे थे, जिनकों इकरारी मजदूर कहा जा सकता था। परंतु, वे दास न थे। इकरारनामें की अवधि समाप्त होते ही इनको सामान्य अधिकार प्राप्त हो जाते थे।

मातृभूमि का त्याग और सामुद्रिक यात्रा के विषम कष्ट सहन करने के लगभग चार कारण थे। प्रथम तो यूरोप में होने वाले निरंतर और जन–संहारक युद्धों से मुक्ति की आशा, दूसरे उस भयंकर परिपाटी से बचने की आशा, जिसके अंतर्गत निर्धन लोगों को पकड़ कर युद्धों में भाग लेने हेतु उनको अमीरों और सत्ताधारियों के हाथ बेच दिया जाता था, तीसरी आशा यह थी कि नई दुनिया में पहुंच कर ईमानदारी से कारोबार करने का अवसर प्राप्त हो सकेगा और इसके द्वारा जो लाभ प्राप्त होगा, उससे वे लोग अपनी संतानों के लिए मकान बना सकेगें और चौथी अभिलाषा यह थी कि धार्मिक तथा सांप्रदायिक अत्याचार एवं उत्पीड़न से मुक्त होकर स्वतंत्र रूप से वे ईश्वर की आराधना कर सकेंगे, जहां पर न तो चर्च (धर्मसंघ) का ही दबाव होगा और न सरकारी कर्मचारियों का ही।

इस संदर्भ में ध्यान देने की बात यह है कि सभी अप्रवासी किसी–न–किसी धर्म या संप्रदाय के अनुयायी थे। सामान्य रूप से तो ये लोग ईसाई धर्म के ही मानने वाले थे। परंतु, यह धर्म अनेक संप्रदायों में विभाजित हो चुका था। एक संप्रदाय कैथोलिकों का था और दूसरा पोप–विरोधी प्रोटेस्टेंट मत का भी विभाजन हो गया था। इंगलैंड में जो प्रमाणित धर्म था, उसकों ऐंग्लिकन चर्च (धर्मसंघ) कहते हैं। उसके भी विरोधी थे और उन्होंने एक उग्र दल संगठित कर लिया था। उसका नाम 'प्यूरिटन' पड़ा। इनमें धार्मिक मतभेद होते हुए भी एक मौलिक एकता थी और वह थी मातृभूमि में प्रचलित पद्धति के प्रति असंतोष। अतः न्यूहैम्शायर से जार्जिया तक जितनी भी बस्तियां स्थापित हुईं, उनकी पृष्ठभूमि में धार्मिक असंतोष का कुछ–न–कुछ अंश अवश्य था।

जनसमूह एक रंग–बिरंगे भित्तिचित्र के समान था, जिसमें विभिन्न जातियों एवं सम्प्रदायों का उभरा हुआ व्यक्तित्व दृष्टिगोचर होता था। स्पेनी, डच, स्वीड, वेल्श, जर्मन तथा फ्रांसीसी यूरोप से आए थे और नीग्रोज को दास बना कर अफ्रीका से लाया गया था। इनके अतिरिक्त यहां

आदिवासी भी थे। सन् 1700 ई. के आरम्भ में तो यहां की जनसंख्या 250000 ही थी, परंतु सन् 1780 ई. तक यह संख्या 250000 से 3000000 तक बढ़ गई। इसमें भी संदेह नहीं कि सत्रहवीं शताब्दी की अपेक्षा अट्ठारहवीं शताब्दी में कहीं ज्यादा अप्रवासी अमेरिका आए और इनमें सबसे अधिक संख्या थी जर्मनों की।

परंतु, जर्मनों से भी अधिक संख्या स्कॉच–आयरिश अप्रवासियों की थी। ये लोग प्रेसबीटेरियन संप्रदाय के थे। इंगलैंड के व्यापारिक कानूनों की कठोरता से व्याकुल और विवश होकर आयरलैंड के उत्तरी भाग से, जहाँ कि उनको स्कौटलैंड से लाकर आबाद किया गया था, ये भाग निकले तथा मैंन, न्यू हैम्पशासर, मेसाचूसेट्स, पेंसिलवेनिया और अन्य दक्षिण उपनिवेशों में इन्होंने अपनी बस्तियां बसा लीं। चूंकि समुद्रतट पर तो लोग पहले से ही आबाद हो चुके थे, इस कारण इन नवागंतुकों को पश्चिमी सीमा पर ही दम लेने का स्थान मिल पाया। संघर्षमय जीवन के अभ्यस्त तो ये थे ही, अतः इनको इस क्षेत्र की कठिनाईयां बहुत अखरी नहीं। आदिवासियों से ये लोग वीरतापूर्वक निरंतर लड़ते–झगड़ते रहे। उत्पीड़ित जर्मनों और अंसतुष्ट आयरिश–स्काच तथा लूई चौदहवें की धार्मिक असहिष्णुताके शिकार ह्यूगोनाट्स के आगमन ने अनेक प्रकार की समस्याएं पैदा कर दीं, जिनका तत्काल हल आसान न था।

इंगलैंड में विलियम और मेरी का संयुक्त राज्य घोषित हो चुका था। इनके समक्ष प्रमुख प्रश्न यह था कि उपनिवेशों के साथ कैसा व्यवहार किया जाए, विशेषकर ऐसी परिस्थिति में जब कि ये विभिन्न इकाइयों में बंटे हुए थे और प्रत्येक इकाई की अपनी अलग ही विशेषता थी। केंद्रीय अथवा इंगलैड की सरकार एक तो बहुत दूर थी, इस कारण अप्रवासियों की भावनाओं का ठीक मूल्यांकन करने में असमर्थ, दूसरे स्थानीय विधायक सभाओं के हाथ में एक महत्त्वपूर्ण अस्त्र भी था और वह यह कि उनकी बिना अनुमति के सरकारी धन का भुगतान नहीं हो सकता था। यहां तक कि गवर्नर का वेतन तक उन्हीं के मतदान के अंतर्गत था। इस अस्त्र का कुछ उपनिवेशों में, जैसे, मेसाचूसेट्स और न्यूयार्क के प्रयोग भी किया गया और इस प्रकार गवर्नर की निरंकुशता पर रोक लगा दी गई। धीरे–धीरे इस मूल तत्व का जनता में भी प्रसार हुआ और जब अंकित क्रांति हुई, तब तो इसका रूप अत्यंत प्रखर हो गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लगभग सारे ही उपनिवेश प्रत्यक्ष रूपेण इंगलैड की सरकार के अधीन होते गए, परंतु शासनिक समस्याओं का इस परिवर्तन से समाधान न हो पाया। कहीं गवर्नर और विधायक सभा में अनबन थी, तो कहीं अनुपस्थित गवर्नरों के विरोध में आंदोलन हुए। वर्जीनिया लगभग साठ वर्ष तक अनुपस्थित गवर्नरों के ही अधीन रहा। न्यूयार्क में विलियम कासबी की व्यापारियों और धाराशास्त्रियों ने विरोध ही नही, बल्कि खुल्लमखुल्ला कड़ी आलोचना भी की। गवर्नर ने पीटर जेंगर नाम के एक समाचारपत्र के संपादक पर मुकदमा भी चलाया, जिसकी पैरवी ऐंड्यू हैमिल्टन ने की और उसको बेदाग छुड़ा लिया। स्वामियों के अधिकार के खिलाफ पेंसिलवेनिया, मेरीलैंड एवं साउथ कैरोलिना की जनता ने आवाज उठायी और जार्जिया में भी एडवर्ड आग्लेथ्राप–जैसे उदार और लोकानुरागी व्यक्ति का भी विरोध किया।

जनता अपने जन्मजात अधिकारों के प्रति जागरूक होती जा रही थी तथा निंरकुशता एवं स्वेच्छावाद को सहन करने में अरूचि और अंसतोष ही प्रगट कर रही थी। शासन के प्रत्येक क्षेत्र

पर अपना प्रभाव डालने के लिए वह आतुर हो रही थी। कि सत्य और असत्य के निर्णय का अधिकार न्यायाधीश के बजाय जूरी को प्राप्त हो, ऐसे में अंग्रेज जजों की अपेक्षा जूरियों का मान बढ़ गया और तीसरे प्रेस की स्वतंत्रता का बीजारोपण हो गया।

मातृभूमि से विदा होने के समय अप्रवासियों के समक्ष केवल दो ही लक्ष्य थेः 1. धार्मिक स्वतंत्रता और 2. सुखमय जीवन। अतः नई दुनिया में पहुंचने के बाद उनका समस्त कार्य–कलाप इन्हीं के चारों ओर चक्कर काटता रहा। इन उद्देश्यों की पूर्ति हुई कृषि, व्यवसाय और उद्योग से। कुछ प्राथमिक अप्रवासी तो धन की लिप्सा से भी आए, परंतु इन्हें शीघ्र ही निराश होना पड़ा। अधिकांश को तो भूमि को ही अपना जीवनाधार स्वीकार करना पड़ा और दो शताब्दियों के व्यतीत होने के पूर्व ही अमेरिका ही उनकी मातृभूमि बन गया। पहले चाहे वे अंग्रेज रहे हों या जर्मन, स्वीड रहे हों या ह्यूगोनाटस, आयरिश रहे हों या स्कॉच–अंततोगत्वा सभी अमेरिकी कहलाने लगे। इस आश्चर्यजनक परिवर्तन की पृष्ठभूमि में अनेक आदर्श एवं प्रवृत्तियां प्रत्यक्ष और प्रच्छन्न थीं।

नवागंतुकों को नवीन वातावरण में मानव तथा प्रकृति दोनों ही से जूझना पड़ा। अमेरिका कोई निर्जन एवं बियाबान देश न था। यहां रक्त वर्ण की जातियां आबाद थीं, जिनकी संस्कृति बहुत पुरानी थी, यद्यपि गौर वर्ण वालों ने इन्हें असभ्य और असंस्कृत ही कह कर संबोधित किया है। इन लोगों के प्रमुख दो ही धंधे थे। एक कृषि और दूसरा जंगली पशुओं का शिकार। ऐसे में आदिवासियों के छापों से सुरक्षा के लिए सीमाओं पर चौकियां बनायी गयी, देशरक्षक सैन्यों को नियुक्त किया गया और नवागंतुकों को सदैव ही सतर्क तथा जागृत रहना पड़ा।

यूरोप की अपेक्षा अमेरिका में श्रमिक वर्ग कहीं अधिक उत्पादन करता था। यहां उसकों कच्चा माल पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध था और यहां की भूमि भी अक्षुण्ण थी। चूंकि मतदान पर संपत्ति का नियंत्रण लगा हुआ था, इस कारण श्रमिक वर्ग का शासन पर कोई प्रभाव न था। अतः, जितने भी कानून बने, वे स्वामियों द्वारा या उनके ही हित में बने। परंतु, इनका प्रभाव श्रमिकों की मजदूरी की दर पर अनिष्टकरन पड़ा। श्रमिक कई श्रेणियों के थे। मजदूरों की निरंतर मांग के कारण श्रमिकों की एक और श्रेणी भी बनी। ऐसे श्रमिकों को गौर वर्ण अनुबंधक कहा जाता था। ये ऐसे स्त्री–पुरूष होते थे, जो मातृभूमि से एक निश्चित समय तक मजदूरी करने का इकरारनामा लिख कर आते थे। ये भी दो प्रकार के होते थे, 1. स्वइच्छुक और 2. परइच्छुक। स्वइच्छुक वे थे, जो अपनी इच्छा से यात्रा–व्यय निपटाने के लिए अनुबंधनपत्र लिखते थे, जिसके भुगतान के बाद वे स्वतंत्र हो जाते थे। परइच्छुक में गणना थी दिवालियों, अपराधियों और अपहरित व्यक्तियों, की जिनकों ब्रिटिश सरकार निश्चित समय के लिए दंडित करके उपनिवेशों में श्रम के लिए भेजती थी। नीग्रो दास अपने स्वामी की भरसक सेवा करता, उनके सुख के साधन जुटाता और उनके लिए अथक परिश्रम भी करता था। फिर भी उसको असह्य कष्ट भुगतान पड़ता था। वह आजीवन दास ही बना रहता था और उसकी संतान पीढ़ी–दर–पीढ़ी परतंत्र रहती थी।

अमेरिकी समाज का ढाँचा मिश्रित तत्त्वों से बना और विकसित हुआ। जो अप्रवासी यहाँ आए, वे अपने–अपने देशों की परंपराएँ और आचार–विचार भी अपने साथ लाए। यह स्वाभाविक ही था। नवागंतुक नितांत गंवार और असभ्य ही न थे। उनके पास स्वतंत्र बुद्धि थी और अदम्य साहस भी। वे किसी हद तक रूढ़िवादी तो थे, परंतु उनके स्वभाव में लचीलापन भी था। नई

दुनिया मे पहुँच कर उन्होंने नए वातावरण के निर्माण करने का अथक प्रयास किया और धैर्य से काम लिया। अमेरिकी समाज में यद्यपि वर्णभेद का तो अभाव ही था, परंतु श्रेणी–भेद अवश्य था।अधिकांश जन मध्य वर्ग में ही गिने जाते थे। छोटे–छोटे कृषक, दस्तकार, शिल्पी और सामान्य व्यापारी इसी श्रेणी से संबंधित थे। इसी गणना में भाड़े के मजदूर भी आ जाते थे। ये लोग अपने परिश्रम और मितव्ययिता द्वारा शीघ्र ही निम्न श्रेणी से उठकर मध्य वर्ग में मिल जाते थे और स्वतंत्र व्यक्ति के समस्त अधिकार प्राप्त कर लेते थे।

1.4 क्रांति का आरम्भ और परिणति

विश्व की महत्त्वपूर्ण घटनाओं में अमेरिका की विशाल राज्यक्रांति का एक अपना ही स्थान है। यूरोप में पहले पुनर्जागरण हुआ फिर धर्म–सुधार–आन्दोलन और तत्पश्चात् राष्ट्रीय भावना का विकास और उसका उत्थान। यदि अमेरिका के इतिहास का हम सिंहावलोकन करें, तो घटनाक्रम लगभग इसी प्रकार का दिखायी पड़ेगा, यद्यपि उसकी रूपरेखा कुछ हद तक विभिन्न थी। जबकि यूरोप की सभ्यता, संस्कृति और राजनीति की जड़े प्राचीन युग तक फैली हुई प्रतीत होती है, अमेरिका का इतिहास और उसकी पृष्ठभूमि अर्वाचीन काल तक ही सीमित दृष्टिगोचर होती है।

अमेरिका में उपनिवेश–स्थापन तथा उसके विस्तार के पीछे असंतोष, स्वधर्म और स्वतंत्रता की प्रेरणाएँ थीं तथा यही तत्त्व उसकी उन्नति को निरंतर ओज प्रदान करते रहे। जब अंततोगत्वा इंग्लैंड से संबंध–विच्छेद की नौबत आई, तब भी इन्हीं मौलिक तत्त्वों का प्राबल्य रहा। असंतोष के समाधान के प्रयास ने ही क्रांति का रूप धारण किया और जब क्रांति की समाप्ति हो गई, तभी देशवासियों ने दम लिया। परंतु, यह विचार कि यह क्रांति एकदम ही उबल पड़ी, न तो तर्कसंगत ही है और न इतिहास की मान्यताओं से ही मेल खाता है। इसके मूल कारणों की खोज उस देश के बहुमुखी विकास में ही करनी होगी।

1.4.1 क्रांति के कारणों की चर्चा

निरंकुश शासन के विरोध की प्रवृत्ति तो उपनिवेशों में शुरू से ही दृष्टिगोचर होती है। इसके दो मूल कारण थे। पहला यह कि अप्रवासी निरंकुशता से ही ऊब कर अपनी मातृभूमि से इतनी दूर स्वाधीनता का भोग करने आए थे। निरंकुशता चाहे धार्मिक रही हो, चाहे राजनीतिक, उसका परिणाम एक ही समान था। दूसरे यह कि विभिन्न देशों, जातियों और संप्रदायों के व्यक्ति जब एक साथ रहने के तत्पर हो गए, तो उनको यह बात पूर्णरूपेण स्पष्ट हो गई कि बिना समझौते के शांतिमय जीवन व्यतीत करना दुष्कर ही नहीं, वरन् असंभव है। समझौते का अर्थ था, अधिकारों की समानता। जब समान अधिकारों का शासन में परिणत करेन का अवसर आया, तब चुनाव के अतिरिक्त कोई अन्य उपाय या साधन किसी को न सूझा। अतः, चुने हुए व्यक्ति ही अपने–अपने क्षेत्रों की सफलता से प्रतिनिधित्व कर सकते थे। वातावरण ने इस सिद्धान्त की संपुष्टि कर दी। क्रांतिकारी विचारों का प्रसार यूरोप में तो हो ही रहा था और वहाँ के सत्ताधारी,

मुकुटधारी, पादरी, किसान, कुलीन एवं अन्य वर्ग अपने–अपने दृष्टिकोण के अनुसार प्रभावित हो रहे थे और विप्लव की तैयारियाँ कर रहे थे। विचार वायु के समान बहते हैं। इनके आवागमन में रूकावट नहीं पड़ती। अतः यूरोप के भूमि से वे अमेरिका आए और यहाँ उनका प्रचार विद्युत गति से हुआ। चूँकि इस दुनिया में समस्त अनुकूल साधन पर्यापत थे, इसलिए क्रांति की ज्वाला पहले यहीं भड़की।

संक्षेप में इन कारणों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक के अन्तर्गत विचारों एवं सिद्धांतों का टकराव है दूसरे के अन्तर्गत वे परिस्थितियाँ आती है, जिनसे विवश होकर अप्रवासियों को विद्रोह का झंडा लहराना पड़ा। इससे यह न समझना चाहिए कि विचार और परिस्थिति पृथक–पृथक तत्त्व है, इसके विपरीत इनमें घनिष्ठ संबंध है। विचारों से परिस्थिति बनती है और परिस्थिति ही विचारों के मूल स्त्रोत होती है। इतिहास इस क्रम को एक अटूट चक्र मानता है और यह धारणा सही भी है।अप्रवासियों ने मातृभूमि के मोह को त्याग कर क्यों अमेरिका में आकर बस्तियाँ आबाद की, इसका विवरण तो ब्योरेवार दिया जा चुका है, अब इतना बता देना यथेष्ट होगा कि वे स्वतंत्र जीवन के इच्छुक थे और स्वाधीनता के पुजारी थे। परंतु, इसका यह अर्थ नहीं है कि वे सांसारिक जीवन से विमुख होना चाहते थे या उसके प्रति उदासीन थे। उनका उद्देश्य था कल्याणकारी जीवन व्यतीत करना। अतः, जो रूकावटें उनके सामने इस उद्देश्य की पूर्ति में उत्पन्न हों, उनका उन्मूलन करना।

अमेरिका में घटनाक्रम दूसरा ही रहा, पर मौलिक प्रवृत्तियाँ वही थीं। केवल अंतर इतना ही था कि अमेरिका में अंग्रेजों को अपनी ही जाति वालों का मुकाबला करना पड़ा और भारत में अन्य जातियों का। एक जगह संघर्ष में उनको सफलता प्राप्त हुई और दूसरी जगह उन्हें मुँह की खानी पड़ी। इन विपरीत परिणामों की तह में कौन सी प्रवृत्तियाँ थीं, इसका समीक्षण यहाँ उचित नहीं प्रतीत होता है। परंतु इतना तो कहना ही पड़ेगा कि इस समय चाहे अमेरिका हो चाहे भारत, अंग्रेजी सरकार दोनो के प्रति एक ही नीति का पालन कर रही थी। क्यों ?

सप्तवर्षीय युद्ध इंगलैंड की राजनीतिक सत्ता केवल दृढ़ ही न हो गई, बल्कि प्रफुल्लित भी होने लगी। फ्रान्स परास्त हो गया और उसको अमेरिका तथा भारत में अपने उपनिवेशों से हाथ धोना पड़ा। उसके प्रभाव और प्रसार का भय समाप्त हो गया तथा सारे विश्व में इंगलैंड की नाविक शक्ति का बोलबाला हो गया। वस्तुतः वह अजेय–सी हो गई। उससे टक्कर लेने वाला कोई भी राष्ट्र न रह गया था। परंतु, इस स्वर्णचित्र में कुछ–कुछ काली और कष्टदायक रेखाएँ भी निहित थीं, जिनमें सबसे प्रमुख आर्थिक समस्या थी। गत युद्ध में जो धन और जन की हानि हुई थी, उसकी पूर्ति का प्रश्न अंग्रेज शासन–संचालकों के सामने विकराल रूप में प्रस्तुत हो रहा था। उसको बिना हल किए हुए देश का कल्याण एवं संपन्नता असंभव था।

सन् 1763 ई. तक तो फ्रान्स के भय के कारण ही इंगलैंड के राष्ट्रमंडल के सभी सदस्य, विशेषकर अमेरिकी उपनिवेश, कंधे–से–कंधा मिला कर चलने को तत्पर थे, परंतु इस भय के बाद हटते ही उपनिवेशों में अपने हानि–लाभ के ज्ञान का लहर तीव्रता से बहने लगी और अब उनको अपने एवं पराए का आभास होने लगा। पेरिस की संधि द्वारा इंगलैंड को कैनेडा तथा अलीगनी और मिसिसीपी के बीच का समस्त क्षेत्र प्राप्त हो गया। इस क्षेत्र में आदिवासी आबाद थे। अतः, इन

पर नियंत्रण करनी थी, बल्कि उसका प्रयोग भी करना था। इधर अप्रवासियों की भूअधिकरण की तृष्णा बड़े वेग से बढ़ रही थी। वे आदिवासियों का सर्वनाश करके उनकी भूमि को हड़प लेना चाहते थे। अतः, अंग्रेजों की नीति और अप्रवासियों के स्वार्थ में टकराव अनिवार्य हो गया।

उपनिवेशों की शासन–व्यवस्था भी दोषपूर्ण थी। वहाँ कार्यकारी विभाग अर्थात् गर्वनर और उसकी कार्यकारिणी समिति तो सम्राट के अंतर्गत थी, परंतु कानून–निर्माण और कर लगाने का अधिकार अप्रवासियों द्वारा चुने हुए विधायक सदनों के हाथ में था। ऐसी परिस्थिति में क्या किसी भी गर्वनर की हिम्मत हो सकती थी कि जनता के प्रतिनिधियों का विरोध कर सके ? कहने का तात्पर्य सदनों को अधिकार तो प्राप्त थे, लेकिन उनमें उत्तरदायित्व का अभाव था। अतः, विधायक सदनों की यह कि कार्यकारिणी पर उनका नियंत्रण हो जाए, स्वाभाविक ही थी। इस अधिकार को प्राप्त करने का उद्देश्य से ही अक्सर विधायक सदन गवर्नरों और जजों के वेतन की धनराशि की मांग को अस्वीकृत कर देते थे। यह रवैया अंग्रेजी सरकार को बुरा लगता था; क्योंकि इससे न केवल गवर्नरों की मानहानि होती थी, वरन्उनके अधिकार–प्रयोग पर बंधन भी लग जाता था। अतः, जज अथवा न्यायाधीश भी स्वतंत्रातापूर्वक अपना काम करने में शासित वर्ग–दोनों ही एक दूसरे से असंतुष्ट थे और उनके बीच तनाव रहता था। इसकी तह में जो प्रश्न था, वह यह कि अप्रवासियों को मातृभूमि के ही अनुरूप अपनी राजनीतिक स्वाधीनता संपूर्ण करने का अधिकार है या नहीं?

इस प्रश्न का उत्तर इस समय की अंग्रेजी शासन–व्यवस्था के विश्लेषण, से ही मिल सकता हैं वालपोल के पद त्यागने के पश्चात् पिट के अतिरिक्त कोई भी प्रभावशाली और चतुर प्रधानमंत्री न हुआ। शासन नीति की ध्वनि एवं व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन हो गया। वैधानिक सम्राट की परंपरा धीरे–धीरे क्षीण होने लगी और बौलिंगबुक का देशभक्त सम्राट का आदेश अपना प्रभाव डालने लगा। जार्ज तृतीय इसी आदर्श और उससे संबंधित विचारों से ओतप्रोत था।

लेकिन, जार्ज तृतीय के स्वभाव और उसकी कार्य–प्रणाली को ही अमेरिकी क्रांति का कारण मानना तर्कसंगत न होगा। उसकी उत्तरदायी थी अंग्रेजों की वाणिज्य–व्यवस्था और उनकी औपनिवेशिक नीति। समस्त अंग्रेजी जनता का यह दृढ़ विश्वास था कि जिस प्रकार बौद्धिक एवं सामाजिक परंपराओं में उपनिवेश इंग्लैण्ड के आधीन हैं, ठीक उसी प्रकार राजनीतिक एवं आर्थिक विषयों में भी उन्हें अपने को इंग्लैण्ड का आधीन समझना चाहिए। डॉ. सैमुअल जानसन ने ठीक ही कहा है कि ''हम बछड़े को तुरन्त ही हल में नहीं जोत देते, बल्कि उसके बैल होने की प्रतीक्षा करते हैं।'' पर, उपनिवेशरूपी बैल इतने प्रौढ़ हो चुके थे कि वे पराधीनता के भारत को बहुत समय तक सहन करने को तैयार न थे, वे अपनी ग्रीवा से जुवा हटा कर उसे दूर फेंक देना चाहते थे।

अधिकांश अप्रवासी अपनी निकटवर्ती भूमि को स्वयं ही उन्नत करना चाहते थ। वे अपने व्यवसाय और उद्योग का स्वयं ही प्रसार करना चाहते थे। इंगलैंड के हितों को प्रोन्नत करने की उनकी जरा भी चिंता न थी। और होनी भी क्यों? क्या उन्होंने अपने ही बाहूबल से उपनिवेशों की स्थापना नहीं की थी? क्या उन्होंने शासन–व्यवस्था का स्वयं ही निर्माण नहीं किया था? यह सही है कि इंगलैड के शासन ने उनको अनेक खतरों से बचाया था, परंतु इसकी कीमत परतंत्रता न

थी। अमेरिकी अप्रवासी 'पराधीन सुख सपनेउ नाही' की कहावत के तथ्य से पूर्णरूपेण परिचित हो चुके थे। वे स्वाधीनता के मूल्य को अच्छी तरह से समझने लगे थे।

अपने हितों के समर्थन में अमेरिकीयों के पास विचारों का एक विशाल पुंज था। ये विचार कानून–संबंधी, राजनीति–संबंधी और अर्थ–संबंधी थे। परंतु, आश्चर्यजनक बात तो यह है कि इन विचारों और सिद्धांतो का मूलस्त्रोत इंगलैड ही था और कुछ हद तक फ्रांस भी। लॉक ने अपने ग्रंथो की रचना इंगलैंड में ही की थी। यह संभव है कि सिद्धांतों के निर्माण अथवा संबोधन में अमेरिकी उपनिवेशों के 'प्रारंभिक समझौतों' का प्रभाव पड़ा हो। परंतु, इसमें संदेह नहीं कि लॉक रचित (Treatise of Government) का अध्ययन अमेरिका के लॉ स्कूलों में पूरी तरह से होता था। संक्षेप में यह कहना अनुचित न होगा कि अंग्रेज और फ्रांसीसी लेखकों की विचारधाराओं ने अमेरिका में एक विशेष प्रकार का उद्‌बोधन पैदा कर दिया था। जनता अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक हो सामने ग्रैंविल ने उससे यह प्रश्न किया, ''क्या तुम इस बात को तर्कसंगत समझते हो कि यह देश (इंगलैंड) तो अमेरिका का संरक्षण करें, और (अमेरिका) इस भार के किसी भाग का भी सहन न करे?'' फ्रैंकलिन का उत्तर संक्षिप्त ही था। उसने यह कहा कि ''बात ऐसी नहीं है, भूतपूर्व युद्ध के समय उपनिवेशों ने पच्चीस हजार सैनिक इकट्‌ठा किए, उनकों शस्त्र दिए और लाखों रुपया व्यय भी किया।'' इस पर किसी ने पूछा, ''क्या स्टैंप अधिनियम के संशोधन से अप्रवासियों को संतोष हो जाएगा?'' इसका उत्तर भी फ्रैंकलिन ने स्पष्ट ही दिया, ''कभी नहीं, वे इसको कभी भी स्वीकार न करेंगे।'' इस पर किसी ने यह कहा कि ''सैनिक बल से नियमों का पालन कराया जा सकता है।'' यह सुनते ही फ्रैंकलिन बोल उठा लक्ष्य विद्रोह न हों, परंतु उसका बीजारोपण तो हो ही जाएगा।''

कुछ ही दिन पश्चात् हाउस ऑफ कामंस के समक्ष स्टैंप अधिनियम के संशोधन का प्रस्ताव रखा गया। उसके प्रवर्तक ने जर्जरित व्यापार, ऋणग्रस्त डगमगाते हुए अंग्रेज व्यापारियों, मैंचेस्टर के बंद कारखानों, श्रमिकों की बेकारी, अत्याचार के प्रकोप तथा उपनिवेशों के संबंध–विच्छेद का उल्लेख किया। स्टैंप अधिनियम तो रद्‌द कर दिया गया, परंतु पार्लियामेंट ने अमेरिकीयों के इस दाबे को स्वीकार न किया कि उसको कर लगाने का अधिकार नहीं है। इस आशय को लेकर उसने डेक्लेटरी अधिनियम पारित किया, जिसके द्वारा यह घोषणा की गई कि उपनिवेश मुकुट और पार्लियामेंट के अधीन हैं, सम्राट और पार्लियामेंट को प्रतिबंध–संबंधी सब प्रकार के नियमों को पारित करने का अधिकार है और वे समस्त प्रस्ताव तथा कार्यवाहियाँ, जो इस अधिकार का निषेध करती हैं, अमान्य एवं अप्रमाण्य हैं। परंतु, यह लंबी–चौड़ी व्याख्या मनसमझौते से अधिक न साबित हुई। अंग्रेज सरकार की प्रतिष्ठा को एक कड़ा धक्का तो लग ही गया। जनता के आंदोलन के सामने उसे झुकना ही पड़ा।

इधर जब अमेरिका में निरस्तीकरण की सूचना का विज्ञापन हुआ, तब अप्रवासियों के हर्ष, उल्लास और गर्व का ठिकाना न रहा। गिरजाघरों में घंटे बजे, सम्राट के संमान में मदिरापान किया गया और व्यापार पूर्ववत् चलने लगा। इन लोगों ने डेक्लेटरी अधिनियम को कागजी प्रस्ताव से अधिक न समझा और न उसका कोई प्रभाव ही उनके विनोदपूर्ण हृदयों पर पड़ा। जनसमूह ने

बार–बार ऊँचे स्वरों में जार्ज तृतीय का जयजयकार किया। परंतु, शीघ्र ही उन पर बज्रपात हो गया; क्योंकि उनको यह सूचना मिली कि शक्कर का अधिनियम भी निरस्त कर दिया गया है, जिसके फलस्वरूप परिस्थिति वैसी ही हो गई, जैसी ग्रैंविल और टाउनशेंड की नीति के पूर्व थी। स्टैंप अधिनियम के कटु अनुभव से लाभ न उठा कर उसने ताबड़तोड़ तीन नवीन अधिनियम पार्लियामेंट से पारित कराए। पहले अधिनियम द्वारा यह निश्चय हुआ (20 जून 1767 ई.) कि सीसे, शीशे पेंट, चाय और अन्य कई वस्तुओं पर, जिनका आयात उपनिवेशों में होता था, चुंकी लगायी जाए। यदि पार्लियामेंट अपने अधिकार और सत्तासमर्थन में केवल चुंगी लगा कर ही संतोष कर लेती, तो संभव था कि टाउनशेंड के अधिनियमों की कोई चर्चा भी न होती। परंतु, चुप न रह कर उसने नियमपालन हेतु एक कठोर व्यवस्था की जो योजना की। चुंगी के अधिकारियों को यह स्पष्ट आदेश दिया कि जिस तरह से भी हो तस्कर–व्यापार की। चुंगी के अधिकारियों को यह स्पष्ट आदेश दिया कि जिस तरह से भी तरस्कर–व्यापार रोक दें। 29 जून, सन् 1767 ई. के राजस्व अधिनियम द्वारा उपनिवेशों की उच्च अदालतों को यह अधिकार प्रदान किया गया कि चुंगी अधिकारियों को सहायता प्रादेश दें, जिनके आधार पर वे किसी भी मकान, गोदाम, दूकान खत्ती या उपनिवेशों में स्थित अन्य स्थानों में प्रवेश कर सकें और तरस्कर अथवा निषिद्ध माल को तलाशी ले कर जब्त कर लें। इससे अधिक व्याकुल और अपमानित करने का क्या और कोई भी उपाय हो सकता था? कानून के पुतले घरों में घुस कर कागजों की जाँच–पड़ताल करें और तलाशी लें, क्या इसको अप्रवासी चुपचाप सहन कर सकते थे? इस प्रकार विरोधी की अग्नि को प्रज्जवलित करने के समस्त कारण एकत्र हो चुके थे, केवल चिनगारी की ही देर थी।

एक अन्य अधिनियम द्वारा टाउनशेंड ने अमेरिका में चुंगी अधिकारियों का एक आयोग संगठित किया, जिससे यह आशा की जाती थी कि वह इंगलैंड और उपनिवेशों के पारस्परिक व्यापार को उन्नत करेगा और व्यापरिक अधिनियमों के प्रवर्त्तन में सहायता देगा। इतना ही नहीं, बल्कि पार्लियामेंट ने इससेभी अधिक एक जनप्रिय अधिनियम जून, 1767 ई. में पारित किया। इसके द्वारा न्यायार्क की विधायक सभा को इस कारण निलंबित कर दिया गया कि वह अंग्रेज सैनिकों के आवास का संतोषजनक प्रबंध नहीं कर पाया था। अप्रवासियों का यह सही अनुमान था कि इस प्रकार की व्यवस्था से उनकी स्वाधीनता मूल तत्वों पर कुठाराघात होगा। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि उपनिवेशों में विधायक सभाओं का वही स्थान हो, जो इंगलैंड में पार्लियामेंट का है। अतः, यदि एक विधायक सभा को निलंबित किया जा सकता है, तो अन्य संस्थाओं को भी निलंबित या भंग किया जा सकता है।

चुंगी अधिनियम का सबसे अधिक भार व्यापारी वर्ग पर पड़ा, अतः व्यापारियों ने ही इसका विरोध करने की योजनाओं में प्रमुख भाग लिया। मुख्य नगरों के व्यापारियों और कुछ दक्षिण क्षेत्र के प्लांटर्स ने आपस में मिलकर यह समझौता कर लिया कि जब तक आपत्तिजनक अधिनियमों का निरस्तीकरण नहीं होता, वे अंग्रेजी वस्तुओं का देश में आयात बंद रखेंगे। इस बहिष्कार ने अंग्रेज व्यापारियों के होश ठिकाने कर दिए। न्यू इंगलैंड एवं मध्यवर्ती उपनिवेशों में अंग्रेजी माल की आयात एवं खपत में बहुत कमी हो गई। इंगलैंड में शोर मचने लगा और यह माँग उठी कि जो अधिनियम झगड़े के स्त्रोत हैं, उनको निरस्त कर दिया जाए।

मैसाचूसेट्स में तो असंतोष इतना तीव्र हो गया कि अंग्रेजी सरकार ने हेलिफाक्स से दो रेजीमेंटों को हटाकर बास्टन भेज दिया। इससे नगरवासियों का आक्रोश और भी बढ़ गया और नौबत यहाँ तक पहुँची कि एक दिन (5 मार्च, 1770) सात सैनिकों और नगरवासियों के बीच झगड़ा हो गया। इसमें चार नागरिक मारे गए। इस घटना को 'बास्टन हत्याकांड' का नाम दे कर जनता के जोश को और भड़काया गया। अन्य उपनिवेशों में इसका विवरण नमक–मिर्च लगाकर भेजागया। वहाँ भी अंग्रेजों के प्रति घृणा की भावना उबल पड़ी

इस अधिनियम के संशोधन का तात्कालिक परिणाम यह तो आवश्यक हुआ कि बहिष्कार की बाढ़ मंद पड़ गई, परंतु उसके स्थान पर उपनिवेशों में एक नई समस्या उत्पन्न हो गई। अब अनुदारवादी व्यापारियों और कुलनी वर्ग एवं उग्र विचार वाले नेताओं में मतभेद पैदा हो गया। मैसाचूसेट्स में तो जनता और अनुदारवादी कुलीन वर्ग में कुछ समय से तनाव चल ही रहा था, मातृभूमि में तनाव से इसको और भी बल मिला। कुलीनों को यह भय होने लगा कि यदि आंदोलन ने विहंगम रूप धारण कर लिया और हिंसा की भावना उबल पड़ी, तो उनके विशिष्ट अधिकार समाप्त हो जाएँगे। यह भय निराधार भी न था; क्योंकि आंदोलन मंद तो हो गया था, परंतु उसका अंत न हो पाया था।

जेम्स ओटिस का स्थान सैमुअल ऐडम्स ने लिया। वह उग्र दल को नेता हो गया। उसमें साहस था और कुशाग्र बुद्धि भी थी। उसकी वाक्य–शैली सुस्पष्ट और निष्कपट थी। उसके लेख विश्वासप्रद होते थे और उसके भाषण प्रभावयुक्त। वह इस कारण भी जनप्रिय हो गया कि हर बात में जनता का ही पक्ष लेता था। इसके अतिरिक्त उसको एक सबल राजनीतिक दल का सहयोग भी प्राप्त था। ड्यूटी अधिनियम के संशोधन के पश्चात् भी उसके सम्राज्यवादी सरकार और उसके तथाकथित अत्याचारों के विरूद्ध आंदोलन जारी रखा। उसने चालीस अंग्रेजविरोधी लेख छापे। इस प्रकार वह जनता की रोषग्नि को तब तक दहकता ही रहा, जब तक अंग्रेज सरकार की भारी भूल ने उसे प्रज्जवलित न कर दिया। बास्टन टी पार्टी के पश्चात् तो अन्य उपनिवेशों ने भी अपनी विधायक सभाओं द्वारा पारस्परिक संबंध स्थापित कर लिए। इस प्रकार सामूहिक सहयोग की नींव पड़ गई। जब वास्टन के राज्यपाल को इस गश्ती चिट्ठी का पता चला, तो उसने विधायक सभा से उसे वापस लेने का अनुरोध किया। इनकार करने पर सभा को भंग कर दिया गया। इसी प्रकार जब मेरीलैंड, जार्जिया और साउथ कैरोलीना की विधायक सभाओं ने गश्ती चिट्ठी का समर्थन कर दिया, तो उनको भी भंग कर दिया गया।

वास्टन का हत्याकाण्ड ही उपद्रव की ज्वाला को भड़काने हेतु क्या कम था। विधायक सभाओं के विलयन से तो न्यू हैम्पशायर से जार्जिया तक घोर असंतोष की लहर प्रवाहित हो गई। हत्याकांड के संबंध में वास्टन की अदालत में मुकदमा पेश हुआ। ऐडम्स और जोसिया क्विनिसी ने जनता की ओर से पैरवी की। वकील की हैसियत से उसने जूरी से यह निवेदन किया कि संगीन–से–संगीन जुर्म के लिए भी अपराधी न्याय का अधिकारी होता हैं ऐडम्स ने जूरी को संबोधित करते हुए यह कहा कि जब सैनिकों को घने आबाद नगर में दो भीड़ों का मुकाबला करना पड़ता है, तो उसमें से एक को रोकना ही उनका कर्तव्य हो जाता हैं ऐसे कर्त्तव्यपालन के दौरान किसी दुर्घटना का होना आश्चर्यजनक नहीं। इस तर्क के बाद भी जब केवल दौ सैनिकों को

हलकी हीं सी सजा मिली, तब 'असफल न्याय' का नारा उठने लगा। इसके उपरांत नार्थ कैरोलीना के कुछ नागरिकों ने गवर्नर के व्यवहार से क्रुद्ध होकर उसकी आज्ञा का उल्लंघन करते हुए बलवा कर दिया। उनमें से बहुत से तो मारे गए और तीन पकड़े गए। इनको फाँसी की सजा दी गई। थोड़े ही समय बाद स्थानीय नागरिक सिपाहियों और राजकीय सैनिकों में अलामेनक नदी के समीप घमासान संघर्ष हुआ।

इधर अन्य उपनिवेशों में तो चाय अधिनियम का विरोध सामान्य रूप से हो ही रहा था, परंतु मैसाचूसेट्स में इसने विकराल रूप धारण किया। बास्टन में कंपनी के जिन अभिकर्ताओं ने पद त्यागने से इंकार कर दिया, उनमें दो जनप्रिय गवर्नर हचिंसन के पुत्र थे और एक भतीजा था, इस कारण गवर्नर जहाजों को वापस जाने के लिए प्रमाण–पत्र देने में आनाकानी कर रहा था। संभावना यह थी कि जहाजों पर से माल उतार कर बेच लिया जाएगा। इसको रोकने के लिए ओल्ड साउथ चर्च में दो बैठकें हुई, जिनमें ऐडम्स ने प्रमुख भाग लिया। दूसरी बैठक के बाद (दिसंबर, सन् 1771 ई0) पचास–साठ व्यक्तियों ने आदिवासियों का भेष धारण करके जहाजों पर धावा कर दिया और चाय को समुद्र में फेंक दिया। जब यह 'बास्टन चाय पार्टी' चल रही थी, जनता का एक बड़ा समूह चुपचाप तमाशा देख रहा था और इस प्रकार वह इस कार्य का मूक समर्थन कर रहा था। अपराधियों को दंडित करने के लिए न तो प्रांतीय और न नागरिक कर्मचारियों ने इन्हीं–सी भी उंगली उठायी।

अन्य उपनिवेशों के उग्रवादी तो बास्टन के जनों के निर्भीक कृत्यों से प्रसन्न थे, परंतु फ्रैंकलिन के समान कुछ ऐसे नरमपंथी भी थे, जो ऐसी हिंसात्मक प्रवृत्ति से दुःखी हो रहे थे। निजी संपत्ति के विनास को देखकर इंलैंउ में जनता को रोष का ठिकाना ही न रहा। अतः, सम्राट जार्ज का यह विश्वास दृढत्र हो गया कि अमेरिकीयों के प्रति नरम नीति से काम न चलेगा। उपनिवेशों की उदंडता को तोड़ने और उनको आज्ञाकारी बनाने के लक्ष्य से पार्लियामेंट ने पाँच निष्ठुर अधिनियम पारित किए, जिनको सामूहिक रूप से अप्रवासियों ने 'दुस्सह अधिनियम' नाम दिया हैं इनका उद्देश्य था– अमेरिका में व्यग्रता का दमन प्रथम बिल के अनुसार बास्टन बंदरगाह का समस्त बाह्य व्यापार बंद कर दिया गया। द्वितीय अर्थात् मैसाचुसेट्स शासन अधिनियम द्वारा यह निश्चित हुआ कि वहाँ के काउंसिलर्स अर्थात् परामर्शदाताओं को सम्राट ही नियुक्त करेगा, गवर्नर न्यायाधीशों को नामांकित करेगा और गवर्नर की बिना अनुमति के विधान सभा की कोई भी बैठक (सिवाय कुछ अधिकारियों के चुनाव के लिए) नहीं हो सकेगी। तृतीय के अनुसार राजकीय कम्रचारियों को यह आदेश दिया गया कि वे हत्या–संबंधी सारे मुकदमें या तो इंगलैंड या अन्य उपनिवेशों में न्यायहेतु भेज दें। चौथे द्वारा सैनिकों की आवास–प्रथा को वैधानिक करार दिया गया। पाँचवें अर्थात् क्वीबेक अधिनियम के अनुसार कैनेडा में रहने वाले कैंथोलिकों को सहिष्णुता प्रदान की गई। और क्वीबेक की सीमा आहियो नदी तक बढ़ा दी गई। इस पश्चिमी क्षेत्र के शासन–प्रबंध हेतु एक वायसराय की नियुक्ति की गई।

दुस्सह्य अधिनियम पार्लियामेंट में आश्चर्यजनक द्रुतगति से पारित हो गए। इसका यह अर्थ नहीं कि सतर्क और चतुर आलोचकों ने उनका विरोध नहीं किया। बर्क ने धारा प्रवाह भाषणों में बास्टन पोर्ट का खंडन किया। उसने यह कहा कि इसका अर्थ है अपराधियों और निर्दोषों –

दोनों को एक ही साथ ताड़ित करना। यह कहाँ का न्याय है? भला इससे झगड़ा बढ़ेगा या शांति स्थापित होगी। ? मगर, उसकी बात को कौन सुनने वाला था ? बिना मतगणना के ही दोनों सदनों में बिल पास हो गया। मंत्रिमंडल की अवसन्न जी हुई। लार्ड मैंसफील्ड ने आवेश में आकर यह कह डाला, ''जो बास्टन में हुआ वह स्पष्टतः देशद्रोह है, जिसका कारण है हमारी नरमी और हममें दूरदर्शिता का अभाव।'' मैंसफील्ड जैसे सुविख्यात विधिकार के शब्दों की कौन अवहेलना कर सकता था। पार्लियामेंट और सम्राट दोनों ही दंडात्मक कार्यक्रम पर तुले हुए थे।

उपनिवेशों में इन नवीन कानूनों ने एक सनसनी पैदा कर दी। अमेरीकी प्रोटेस्टेंटों ने तो क्वीबेक अधिनियम की बहुत ही कड़ी आलोचना की। परंतु, इस आलोचना के पीछे दो स्वार्थ भी थे– एक आर्थिक और दूसरा धार्मिक। आर्थिक इसलिए कि क्वीबेक के सीमाप्रसार से मैसाचूसेट्स, कनेक्टीकट और वर्जीनिया के पश्चिमी क्षेत्र की भूमि पर अधिकार समाप्त होने की संभावना थी, जबकि आज्ञापत्रों के अनुसार उनका इस भूमि पर अधिकार था। धार्मिक आपत्ति की तह में अप्रवासियों की शासन–संबंधी आपत्तियाँ भी थीं। उनका यह कहना था कि कैथोलिकों की सहिष्णुता में राजनीतिक चाल घुसी हुई है। जब इंगलैंड और आयरलैंड में ही उनको सहिष्णुता प्राप्त नहीं, तो फिर अमेरिका में क्यों प्रदान की जा रही है? क्या इसका एक मात्र यह लक्ष्य नहीं कि फ्रांसीसियों को दी गई है अर्थात् उनके मुकदमें में फैसले उन्हीं के देश के कानून के अनुसार होंगे, क्या इससे अंग्रेजी न्याय–प्रणाली का, जिसका उपनिवेशों में प्रचलन था, शंडन नहीं होता ? असली कारण यह था कि फ्रांसीसी तो निरंकुश शासन के ही अभ्यस्त थे। चूँकि कैथोलिक पदारियों को दशांश वसूल करने की भी छूट दी गई थी, इसलिए जनता का आक्रोश बढ़ा और पोप के आधिपत्य का बवंडर खड़ा हो गया। गर्वनर मारिस ने कहा कि ''यद्यपि भेड़ें सीधी तो हैं, परंतु उनको पूर्ववत् प्रताड़ित नहीं किया जा सकता।'' इस प्रकार सत्ता की मतांधता से अमेरिकी विप्लव की उत्पत्ति हुई।

1.4.2 अमेरिकी क्रांति के घटनाचक्र व परिणाम

भावी को रोकना मानव–वश की बात नहीं। वह परिस्थितियों के प्रवाह में बहने लगता है और उसको उचित एवं अनुचित का विवेक नहीं भासता। अंग्रेज जाति तो सदा से ही लुढ़कती–पुढ़कती रही है। उसके समक्ष विपत्ति का समय भी आया और गौरव एवं महानता का भी। यह दैवी कृपा है कि इस जाति का धैर्य और साहस कभी भी क्षीण नहीं हुआ और इसने भीषण संग्रामों तथा संघर्षों को स्वाभाविक ढंग से ही झेल डाला। जहां तक अमेरिकी क्रांति का प्रश्न है, इसमें संदेह नहीं कि अंग्रेज शासक वर्ग ने अपनी ही पद्धतियों और परम्पराओं का उल्लंघन किया। ये लोग इस बात को भूल गये थे कि जिसे प्रकार स्वाधीनता में उनका अडिग विश्वास है, ठीक उसी प्रकार अन्य जन समूह या जपति का भी हो सकता है। यह भूल उन्होंने अमेरिका के प्रति तो की ही, उसको उन्होंने पुनः भारत के संबंध में भी दोहराया। परिणाम दोनों जगह एक–से ही हुए। किसी ने यह सच ही कहा कि ''अंग्रेज अनुभवों के गुलाम नहीं स्वार्थ के पुजारी हैं।''अमेरिका में जो प्रवत्तियां और कामनाएं जागृत हो चुकी थीं। उनको अवहेलना करना किसी राष्ट्र के लिए चाहे वह कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो, आसान न था।

1.4.2.1 प्रथम महाद्वीपीय कांग्रेस

इंगलैंड की सरकार मदांध हो रही थी। वह अमेरिकीयों पर अपनी स्वार्थपूर्ण नीतियों को लादना चाहती थी। अमेरिकी इसका प्रत्युत्तर देने को कमर कस चुके थे। अतः जब अमेरिका में 'असहनीय अधिनियमों' के पारित होने की सूचना पहुँची, तब वहां के लोगों को यह स्पष्ट हो गया कि पार्लियामेंट उनको कितने कड़वे घूंट पिलाना चाहती है। परंतु, प्रत्येक उपनिवेश में ऐसे व्यक्ति भी मौजूद थे, जो विपदा का मुकाबला दृढ़ता से करने को तैयार थे। अतः शीघ्र ही मैसाचूसेट्स का प्रश्न तेरहों उपनिवेशें का संयुक्त प्रश्न बन गया। अभी तक तो अंग्रेजी नीति का विरोध स्थानीय और अनियमित ही था, परंतु अब उसने राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया। वर्जीनिया के आमंत्रण के उत्तर में जार्जिा को छोड़कर अन्य सभी उपनिवेशों ने अपने–अपने प्रतिनिधि भेजे। इनमें से कुछ का चुनाव तो विधायक सभाओं द्वारा हुआ था, परंतु अधिकांश तथाकथित (प्रसभाओं) या अनियमित संस्थाओं द्वारा ही चुनकर आये थे। इन सबकी संख्या छप्पन थी और इनमें थे– अमेरिका के योग्यतम राज्यमर्मज्ञ। इस सम्मेलन का अधिवेशन, जिसकों प्रथम महाद्वीपीय कहा जाता है, सितंबर, सन् 1774 ई. में फिलीडेलफिया नगर में हुआ। कांग्रेस का कोई भी वैधानिक आधार न था, इसलिए वह केवल या तो परामर्श दे सकती थी या सिफारिशें कर सकती थी। इसमें दो दल सुस्पष्ट थे : एक उग्रवादियों का और दूसरा अनुदार पंथियों का। पहले दल का बहुमत था, अतः उसके नेता वर्जीनिया और मैसाचूसेट्स के पक्ष में थे। उन्होंने अंग्रेजों के अग्राक्रमण के विरोध का खुलकर समर्थन किया।

परंतु अनुदारवादी दल एक ऐसे समझौते के पक्ष में था, जिसके द्वारा अमेरिकी अधिकारियों की सुरक्षा की संभावना हो सकती थी। अतः पेन्सिलवेनिया के प्रतिनिधि जोसेफ गैलोवे ने महाद्वीपीय उपनिवेशों के संघ की एक योजना प्रस्तुत की। यह योजना पहले फ्रैंकलिन द्वारा अलबानी कांग्रेस में भी प्रस्तुत की जा चुकी थी। इसके अनुसार संघ का संचालन सम्राट द्वारा नियुक्त अध्यक्ष करता है। योजना में ग्रैंड काउंसिल की भी व्यवस्था थी। इसके सदस्य उपनिवेशों की विधायक सभाओं द्वारा चुनकर आते। आगे के संबंधित प्रस्तावों में अप्रवासियों के अधिकारों की व्याख्या करते हुए यह कहा गया कि ''जीवन–स्वाधीनता एवं संपत्ति तो अंग्रेजी संविधान के सिद्धांतों, प्रकृति के अपरिवर्तनशील नियमों तथा आज्ञापत्रों के अंतर्गत तो सुरक्षित हैं ही। पार्लियामेंट के टैक्स लगाने के प्राधिकार को मान लिया जाए, वह भी इस शर्त पर कि इस प्रकार के नियंत्रण में बाह्य अथवा आंतरिक कटुता की भावना न हो।''

1.4.2.2 महाद्वीपीय संस्था

कांग्रेस का दूसरा महत्त्वपूर्ण काम था, महाद्वीपीय संस्था की स्थपना। यह एक प्रकार का संपर्क–निषेध समझौता था, जिस पर सदस्यों ने अपने और अपने निर्वाचकों की ओर से हस्ताक्षर किये। इसमें यह सत्यनिष्ठ शपथ ली गई कि 1 दिसम्बर, सन् 1774 ई. के बाद से वे किसी भी माल का आयात ब्रिटिश द्वीपो और आयरलैण्ड से न होने देंगे और 10 सितंबर, 1775 ई. के बाद से चावल के सिवा अपने यहां की कोई भी उत्पादित वस्तु न तो इंग्लैंड ही और न ब्रिटिश वेस्ट इंडीज को जाने देंगे। यदि इस बीच शिकायतों का समाधान हो गया, तो इन प्रस्तावों का प्रवर्तन न होगा।

अतः सब जगह स्थानीय कमेटियों का संगठन हो गया और चूँकि जनमत इस योजना के पक्ष में थाए इसलिए उसके प्रवर्तन में अधिक रूकावट न पड़ी। यदि कहीं इसका विरोध भी हुआ, तो वहां जनसमुदाय ने कोलतार या परों से बलाचरण किया। मगर, जार्जिया ने इन प्रस्तावों को स्वीकार न किया।

1.4.2.3 घटनाचक्र

मैसाचुसेट्स में परिस्थिति गंभीर होती जा रही थी और विप्लव के लिए तैयारियां होने लगी थीं। सैमुअल ऐडम्स और अन्य ओजस्वी नेता जनता को इंगलैंड के खिलाफ भड़का रहे थे। राजकीय गवर्नर जनरल गेज की बात अब कोई भी न सुनता था। पर, एक क्रांतिकारी शासन का संगठन हो गया और सैनिक भी इक्कट्ठे होने लगे थे। जब गेज ने यह सुना कि विद्रोही ब्रास्टन से 18 मील दूर कांकार्ड नाम के ग्राम में सैनिक सामान जुटा रहे हैं, जो उसने इस सामान को हस्तगत करने हेतु सिपाहियों की एक छोटी सी टुकड़ी भेजा। गेज के लाल वर्दी से लैस सैनिक लेक्सिंगटन पहुंच गए। यहां कुछ सशस्त्र अप्रवासी उनका रास्ता रोकने को खड़े थे। जब अंग्रेज कमांडर ने इन लोगों से हथियार डाल देने को कहा, तो इन्होंने साफ इनकार कर दिया। गोली चली (यह नहीं मालूम कि पहले किसने चलायी) और दोनों दल एक दूसरे से भिड़ गए। इस संग्राम में मैसाचूसेट्स के दो सिपाही काम आए और दो घायल हुए। तदोपरांत अंग्रेजी सेना कूच करती हुई कांकार्ड तक पहुँच गई और जो सामान इकट्ठा था, उसको विध्वस्त कर दिया। जब लेक्सिगटन की घटना की सूचना जनता में फैली, तब चारों ओर से वालंटियर दौड़ पड़े। उनका यह विचार था कि जब अंग्रेजी सेना लौट रही होगी, तब वे उस पर टूट पड़ेंगे और हुआ भी ऐसा ही। कांकाड्ड से वास्टन तक लाल कोट वालों को पेड़ों की ओर से और पहाड़ियों के पिछवाड़े से निरंतर निकलती हुई गोलियों की बौछार के बीच से निकलना पड़ा। रक्तपात की उत्तेजक सूचना वेग से चारों ओर फैल गई। देखते–ही–देखते न्यू इंगलैंड के कोने–कोने से बास्टन में अंग्रेजी सेना के घेराव के उद्देश्य से सशस्त्र सैनिक आने लगे। अन्य उपनिवेशों में भी विद्रोह की अग्नि भड़क उठी। वहां राष्ट्रभक्ति के प्रस्ताव पास हुए और युद्ध की तैयारियां होने लगीं।

1.4.2.4 महाद्वीपीय कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन

लेक्सिंगटन और कांकाड्ड की घटनाओं के तीन सप्ताह बाद 10 मई, सन् 1775 ई. को फिलीडेलफिया में कांटीनेंटल कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन हुआ। इस अवसर पर तेरहों उपनिवेशों के प्रतिनिधि उपस्थित थे, य़द्यपि इनमें से कुछ ऐसे भी थे, जिनको कि एक अल्प समूह ने ही चुना था। गर्वनरों को उनकी सरकार ने यह आदेश दिया था कि वे प्रतिनिधियों के चुनाव में अड़चनें डालें और उसका काम नियमवत् न होने दें, अतः अधिकांश प्रतिनिधि क्रांतिकारी कनवेंशंस द्वारा ही चुन कर आए थे। आगे चलकर जब प्रांतीय शासन स्वव्यवस्थित हो गए, तब कांग्रेस के सदस्य विधायक सभाओं द्वारा ही चुनकर आने लगे। कांग्रेस का यह अधिवेशन 1781 ई. तक चलता रहा अर्थात् जब तक (संघ–निर्माण के सिद्धांत) कार्यान्वित न हुए। इस अवधि में सारे संघीय कार्यकलाप उसी के अंतर्गत रहे।

1.4.2.5 दल और संघीय सेना

प्रतिनिधियों में उग्र दल का बहुमत था, यद्यपि रूढ़िवादियों ने भी पेंसिलबेनिया के जान डिकेंसन के नेतृत्व में बहुत सामर्थ्य का प्रदर्शन किया। इन्हीं के प्रभाव के कारण मातृभूमि से तुरंत संबंध–विच्छेद संयोगिक घटना रूकी रही और इसके स्थान पर सम्राट के प्रति राज्यभक्ति का शिष्ट प्रस्ताव भी पास हुआ। फिर भी उग्रवादी कुछ ऐसे कार्यकलापों में सफल हुए, जिनका कि अर्थ था, इंगलैंड से युद्ध की घोषणा। जो सेना बास्टन में इकट्ठी हुई थी, उसको कांग्रेस ने अपने अधीन कर लिया। इसकी संघीय सेना का रूप दे दिया गया। अन्य उपनिवेशों से भर्ती करके इसको बढ़ासने की भी योजना बनायी गयी। जान ऐडम्स के प्रस्ताव के अनुसार जार्ज वाशिंगटन को संघीय सेना का प्रधान सेनापति नियुक्त किया गया।

वाशिंगटन के चुनाव का कुछ हद तक यह लक्ष्य था कि मैसाचुसेट्स के नेताओं को दक्षिणी उपनिवेशों का सहयोग प्राप्त हो जाए। परंतु, इसमें भी संदेह नहीं कि ऐसी नाजुक परिस्थिति को संभालने के लिए उसके समान अमेरिका में कोई भी अन्य व्यक्ति न था। यह भी सही है कि युद्धकला में अधीनस्थ अफसरों की अपेक्षा उसका अनुभव बहुत ही कम था, परंतु उसके नैतिक गुण इस दोष की अवसन्न पूर्ति कर देते थे। उसने कई मोर्चे पर जीत हासिल की ।

कुल मिला कर अमरिकी स्वतंत्रता संग्राम की शानदार उपलब्धि अंततः संधियों से निकली। 3 सितम्बर 1783 शांति–संधि हुआ जिसे पेरिस संधि के नाम से जाना जात है। कांग्रेस ने इसे सर्वसंमति से पारित किया। संधि का सबसे सुखद परिणाम यह निकला कि उपनिवेशों को स्वतंत्रता मिल गई और स्वतंत्र संयुक्त राज्य अमेरिका जन्म हुआ। फ्रांस के आंसू पोछने के उद्देश्य से कमिश्नरों की कार्य–प्रणाली की आलोचना भी की। इस संधि से संयुक्त राज्य को न केवल सैनिक सफलता ही प्राप्त हुई, बल्कि राजनीतिक महानता भी। फ्रैंकलिन, जे और ऐडम्स ने यह प्रमाणित कर दिया कि राजनीतिक प्रज्ञान में वे यूरोपीय नीतिमर्मज्ञों से किसी भी हालत में कम नहीं। ये अपनी चालों द्वारा ही फ्रांस, स्पेन और इंगलैंड–जैसे देशों को मात दे सके। 1776 की क्रांति की परिणति यही थी । अमेरिका को अपना उज्ज्वल भविष्य स्पष्ट तो दीखने लगा, परंतु अभी एक लंबा रास्ता तय करना था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की समस्याएं सुलझनी थीं लगभग देश की वही दशा थी, जो भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् हो रही है। अमेरिकी क्रांति पूरे मानवता और सहसा पूरे संसार के लिए प्ररेणा बना जिसका आधार स्वतंत्रता एवं गणतंत्र था ।

1.5 सारांश

अमेरिका में अप्रवासियों का दृढ़ संकल्प ही था कि जिसने उन्हें पुरानी दुनिया को त्याग कर नई दुनिया में बसने की प्रेरणा प्रदान की थी। एक अपरिचित महाद्वीप में एक नए समाज, नई मान्यताएं तथा जीवन–सुरक्षा के साधनों को जुटाना केवल असंतोष और पृथकता की भावना के ही बल पर नहीं टिक सकता है। इस क्रिया को परिपूर्ण करने के लिए सबल प्रज्ञा, हस्तकौशल, निर्माण–चातुर्य अर्थात् एक उच्च स्तर की रचनात्मक योग्यता की आवश्यकता होती है।

अप्रवासियों ने इन गुणों को केसे विकसित किया तथा उनसे क्या लाभ उठाया, इसका वृतांत रोचक ही नहीं, बल्कि उसका अध्ययन भी उतना ही आवश्यक है; क्योंकि उसके बिना जाने विशाल क्रांति का मूल्यांकन नहीं हो सकता। अप्रवासियों के जीवन के विकास के तीन पहलू हैं: 1. आर्थिक, 2. राजनीतिक और 3. सामाजिक। इन तीनों में घनिष्ठ पारस्परिक संबंध रहा है।

यदि विश्व की समस्त क्रांतियों का विश्लेषण किया जाए, तो हम इस तथ्य पर पहुँचेंगे कि उनका मूल कारण निरंकुशता है। निरंकुशता औपचारिक एवं व्यावहारिक स्थिति में अनेक रूप धारण कर लेती है। कभी तो एकाधिकार पर बल होता है, तो कभी साम्राज्यवाद पर। वाणिज्यवाद आधुनिक युग मे साम्राज्यवाद की एक प्रमुख शाखा और सहायक बन गया है। वाणिज्यवाद आधुनिक युग में साम्राज्यवाद की एक प्रमुख शाखा और सहायक बन गया है। वाणिज्यवाद की सफलता के लिए राजनैतिक सत्ता परमावश्यक होती है। अंग्रेज जाति ने तो अपना साम्राज्य वाणिज्य की ही आड़ में स्थापित और प्रसारित किया। द्वन्द्व ने संघर्ष को जन्म दिया। अंततः अमेरिकी विप्लव 'क्रांति' का जन्म हुआ कालांतर में इसी विप्लव के गर्भ से स्वतंत्र संयुक्त राज्य अमेरिका जन्म हुआ।

1.6 शब्दावली

अन्वेषण	किसी चीज की खोज
द्वन्द्व	विलगाव ध्मतभेद
स्वतंत्रता	आजादी
औपनिवेशिक	उपनिवेश के संदर्भ में
अप्रवासी	जिनका मूल निवास अन्यत्र हो
मातृभूमि	मूल निवास और जन्म स्थान
नवागंतुक	जिनका कहीं नवीन आगमन हुआ हो
नीतिमर्मज्ञ	नीति के जानकार
साम्राज्यवाद	किसी भूभाग / देश पर किसी अन्य देश का राजनीतिक अधिग्रहण
वाणिज्यवाद	राज्य द्वारा व्यापार –वाणिज्य पर नियंत्रण–निगमन

1.7 अभ्यास के प्रश्न

प्रश्न– क्रांति के पूर्व अमेरिकी समाज के संदर्भ में लिखिए ।

_____

_____

_____

_____

प्रश्न– क्रांति के पूर्व अमेरिका में औपनिवेशिक प्रतिस्पर्धा का विवरण दीजिए ।

_____

_____

_____
_____
_____

प्रश्न– अमेरिका में शोषणकारी नीतियों की चर्चा कीजिए ।

_____
_____
_____
_____

प्रश्न– अमेरिकी क्रांतिकारी घटनाक्रम का संक्षिप्त विवरण दीजिए ।

_____
_____
_____
_____
_____

1.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची / उपयोगी पाठ्य सामग्री

मिलर , पैरी : 1953, फ्राम कॉलोनी टू प्रोविंस, अमेरिका
बेइलिन, बर्नाड : 1968, ओरिजिंस ऑफ अमेरिकन पोलिटिक्स, अमेरिका
राइट, एसमंड, सं0 : 1966, काजेज ऐंड कांसीक्वेंसेज ऑफ द अमेरिकन रिवोलूशन
यंग,एल्फ्रेड, सं0 : 1976, द अमेरिकन रिवोलूशन : एक्सप्लोरेशंज इन द हिस्ट्री ऑफ अमेरिकन रेडिकलिज्म
सक्सेना, बी0पी0 : 1969 / 1972, अमेरिका का इतिहास, पटना

1.9 निबंधात्मक प्रश्न

प्रश्न– अमेरिकी क्रांति के कारणों की विस्तृत विवेचना कीजिए ।
प्रश्न– अमेरिकी क्रांति के घटनाक्रम की चर्चा करते हुए परिणाम बताईए ।
प्रश्न– विश्व स्तर पर अमेरिकी क्रांति के महत्व को उक्त अध्याय के आधार पर अपने शब्दों में रेखांकित कीजिए ।

इकाई 2 फ्रांस की क्रान्ति तथा नेपोलियन का युग

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 फ्रांस की क्रान्ति (1789) कारण
2.3.1 सामाजिक कारण
2.3.2 राजनैतिक कारण
2.3.3 आर्थिक कारण
2.3.4 बौद्धिक और अन्य कारण
2.3.5 तात्कालिक कारण
2.4 फ्रांस की क्रान्ति (1789) प्रमुख घटनायें
2.4.1 स्टेटस जनरल का अधिवेशन
2.4.2 बास्तील का पतन और जनता का विद्रोह
2.4.3 राष्ट्रीय संवैधानिक सभा
2.4.4 व्यवस्थापिका सभा
2.4.5 राष्ट्रीय सम्मेलन (नेशनल कन्वेंशन)
2.4.6 निदेशक मण्डल (डायरेक्टरी)
2.5 नेपोलियन का उदय
2.5.1 प्रारम्भिक जीवन
2.5.2 प्रारम्भिक सैनिक उपलब्धियां
2.5.3 1799 का संविधान
2.6 प्रथम कौंसिल के आन्तरिक सुधार
2.6.1 प्रशासनिक सुधार
2.6.2 पोप से समझौता
2.6.3 कानूनी सुधार
2.6.4 शिक्षा में सुधार
2.6.5 आर्थिक सुधार
2.6.6 सांस्कृतिक और सामान्य हित के कार्य
2.7 प्रथम कौंसिल कालीन विदेश नीति

2.7.1 आस्ट्रिया से युद्ध
2.7.2 द्वितीय गुट का अन्त
2.7.3 इंग्लैण्ड से सम्बन्ध
2.7.4 औपनिवेशिक राज्य
2.8 सम्राट के रूप में नेपोलियन
2.8.1 इंग्लैण्ड से युद्ध
2.8.2 आस्ट्रिया पर आक्रमण
2.8.3 मध्य यूरोप का पुनर्गठन
2.8.4 प्रशा की पराजय
2.8.5 रूस से सम्बन्ध
2.9 नेपोलियन के पतन में सहायक घटनायें
2.9.1 महाद्वीपीय युद्ध
2.9.2 प्रायद्वीपीय युद्ध
2.9.3 आस्ट्रिया से पुनः युद्ध
2.9.4 रूसी अभियान
2.9.5 प्रशा में जागृति
2.9.6 राष्ट्रों से युद्ध
2.9.7 नेपोलियन का अन्तिम युद्ध
2.9.8 नेपोलियन की भूलें और चारित्रिक दोष
2.10 मूल्यांकन
2.10.1 फ्रांस की क्रान्ति के परिणाम और प्रभाव
2.10. 2 नेपोलियन युग का महत्व
2.11 सारांश
2.12 तकनीकी शब्दावली और कथन
2.13 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
2.14 संदर्भग्रंथ सूची
2.15 सहायक और उपयोगी पाठ्य सामग्री
2.16 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध की जिन घटनाओं ने उन्नीसवीं सदी को एक दिशा प्रदान की, उनमें सर्वाधिक प्रमुख घटना फ्रांस की 1789 की क्रांति थी। इसने यूरोप में राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तनों का दौर शुरू किया। इस क्रांति द्वारा फ्रांस में पुरातन व्यवस्था को समाप्त कर नागरिक अधिकारों और बौद्धिक सिद्धान्तों पर आधारित व्यवस्था स्थापित की गयी। फ्रांस की क्रांतिजनित स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व के नारे ने सम्पूर्ण यूरोप को पुरातन व्यवस्था के विरूद्ध आंदोलित किया। अगले सौ वर्षों तक यूरोप में होने वाली प्रमुख घटनाओं को यह क्रांति प्रभावित करती रही।

फ्रांस में क्रांति के पश्चात पुरातन व्यवस्था के अन्त और नवीन शासन व्यवस्था के विभिन्न असफल प्रयोगों के पश्चात अन्ततः फ्रांस की बागडोर नेपोलियन बोनापार्ट ने संभाली। उसने जिस तीव्रता से फ्रांस को यूरोप की शक्ति और महिमा का केन्द्र बनाया, वह उसे महान व्यक्तियों की श्रेणी में स्थापित करने के लिए पर्याप्त था। 1815 तक न केवल फ्रांस वरन् यूरोप के घटनाक्रम भी नेपोलियन के कार्यों से प्रभावित रहे। फ्रांस की क्रांति के सिद्धान्तों का यूरोप के अन्य देशों में प्रसार उसकी विजयों के माध्यम से हुआ । इतिहास में उसका कार्यकाल (1799 से 1815) नेपोलियन युग के नाम से जाना जाता है।

2.2 उद्देश्य

इस ईकाई में आप जान सकेंगे –

- फ्रांस की क्रांति के प्रमुख कारण और फ्रांस की क्रांति के दौरान घटित विभिन्न घटनाक्रम।
- नेपोलियन बोनापार्ट के सम्पूर्ण जीवन और कृत्यों का अध्ययन।
- नेपोलियन के युद्धों के माध्यम से फ्रांस की क्रान्ति और राष्ट्रीयता के विचारों के यूरोप के अन्य देशों में प्रसार और प्रभाव ।
- नेपोलियन की भूलों और उसकी विवादास्पद चारित्रिक विशेषताओं का भी विश्लेषण कर सकेंगे।
- फ्रांस की क्रांति और नेपोलियन का फ्रांस और यूरोप के इतिहास में महत्व।

2.3 फ्रांस की क्रान्ति (1789) कारण

वास्तव में क्रान्ति के कारण फ्रांस की पुरातन व्यवस्था 'आसियां रिजीम' में निहित थे। फ्रांस के अयोग्य शासक, सामन्तों और कुलीन वर्ग को प्राप्त विशेषाधिकारों के प्रति आक्रोश, राज्य की दयनीय आर्थिक स्थिति, मध्यम वर्ग में बढ़ती चेतना, बौद्धिक जागरण का प्रभाव आदि अनेक कारण थे, जिन्होंने क्रान्ति को जन्म दिया।

2.3.1 सामाजिक कारण

फ्रांस का समाज असमान और विघटित था। यह सामन्तवादी प्रवृत्तियों और विशेषाधिकारों के सिद्धान्त पर आधारित था। यह समाज तीन श्रेणियों में बंटा था–प्रथम एस्टेट– पादरी, द्वितीय एस्टेट–सामन्त तथा तृतीय एस्टेट–जन साधारण। सामाजिक हैसियत और अधिकारों के आधार पर उच्च पादरी तथा कुलीन सामन्त वर्ग विशेषाधिकार वर्ग के अन्तर्गत तथा समस्त जनता–किसान, मजदूर, नौकरी और व्यापार करने वाले आदि अधिकारहीन वर्ग के अन्तर्गत आते थे।

उच्च पादरी और कुलीन सामन्त सम्पन्न और अधिकांश भूमि के स्वामी होने के बाबजूद करमुक्त थे। उनके पद खरीदे जा सकते थे, जिस कारण उच्च पदाधिकारी और पादरी अयोग्य, भ्रष्ट और चापलूस हो गये थे। चर्च के पादरी समाज के प्रत्येक अंग पर प्रभावी थे। सामन्त वर्ग विलासिता का जीवन व्यतीत करता था और उसे किसानों से कई प्रकार के करों को वसूलने और बेगार कराने का विशेषाधिकार प्राप्त था। मध्यम वर्ग धन और योग्यता में सम्पन्न होने के बाबजूद सुविधाहीन था, जिस कारण उसमें अत्यधिक असंतोष था। सबसे दयनीय स्थिति किसानों और मजदूरों की थी, जो जनसंख्या में 80 प्रतिशत थे तथा जिन्हें अपनी आय का आधा भाग सामन्तीय, धार्मिक और राजकीय करों के रूप में देना होता था। समाज की यह विषमता धीरे धीरे आपसी तनाव का कारण बनी।

2.3.2 राजनैतिक कारण

फ्रांस में लुई 14वें के समय सत्ता का पूर्ण केन्द्रीकरण हो गया था। उसने पूर्ण निरंकुशता और शान–शौकत से राज्य किया। कई युद्धों और नई राजधानी वर्साय की स्थापना पर अत्यधिक व्यय करने के बावजूद उसने अपने उत्तराधिकारी को युद्ध न करने और जनहित के कार्य करने की सलाह दी। परन्तु उसका उत्तराधिकारी लुई 15वाँ कमजोर और विलासी था। उसने अपने पड़ोसियों के साथ कई असफल युद्ध लड़े तथा अपने सलाहकारों की शासन और आर्थिक स्थिति में सुधार करने की सलाह को यह कहकर टाल दिया कि मेरा समय तो निकल ही जायेगा। लुई 16वाँ गद्दी पर बैठा तो फ्रांस की स्थिति निराशाजनक थी। उसमें स्थिति को सुधारने की क्षमता नहीं थी। लुई 16वा न तो स्वयं निर्णय ले पाता था और न अपने मंत्रियों की उचित सलाह पर कार्य कर पाता था। उस पर अपनी रानी मेरी एन्टोयनेट का प्रभाव था। वह राजनीति और प्रशासन में निरन्तर हस्तक्षेप करती थी। वह आस्ट्रिया की राजकुमारी थी तथा फ्रांस की जनता उसे पसन्द नहीं करती थी। क्रान्ति के समय उसने राजा की कठिनाईयों को बढ़ाया।

फ्रांस की प्रतिनिधि सभा स्टेटस जनरल का अधिवेशन 1614 के बाद से नहीं हुआ था। प्रांतों पर केन्द्र का नियंत्रण कमजोर पड़ गया था। सम्पूर्ण देश अनेक प्रकार की इकाइयों मे बंटा था तथा स्थान–स्थान पर भिन्न भिन्न कानून प्रचलित थे। न्याय व्यवस्था जटिल और खर्चीली थी। एक प्रकार के वारंट 'लेत्र द काशे' द्वारा किसी को भी कभी भी गिरफ्तार किया जा सकता था।

व्यापार की दृष्टि से भी देश कई भागो में बंटा था और जगह–जगह चुंगी की सीमाएं थीं। कर्मचारी अनियंत्रित और भ्रष्ट थे।

इस प्रकार फ्रांस में निरंकुश और अयोग्य शासकों, प्रतिनिधि सभाओं के अभाव, अक्षम प्रशासनिक व्यवस्था, भ्रष्ट न्याय और कानून व्यवस्था आदि ने राजनैतिक व्यवस्था को क्षीण कर दिया था।

2.3.3 आर्थिक कारण

फ्रांस की वित्तीय नीति दोषपूर्ण थी। राज्य का कोई बजट नहीं था। राजा की व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजकोष में कोई अन्तर नहीं था। राजपरिवार विलासिता और युद्धों पर अत्यधिक अपव्यय करता था। आय से अधिक व्यय होने के कारण फ्रांस की अर्थव्यवस्था कर्ज आधारित हो गयी थी। फ्रांस मध्यम वर्ग के व्यापारियों का ऋणी बनता जा रहा था।

फ्रांस के शासकों द्वारा कृषि और उद्योग के विकास की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। कर व्यवस्था भी दोषपूर्ण थी। विशेषाधिकार वर्ग से सम्पन्न होने के बावजूद कोई कर नहीं लिया जाता था। सम्पूर्ण करों का भार किसानों, मजदूरों और सामान्य जनता को वहन करना पड़ता था। अप्रत्यक्षकर जैसे नमक कर आदि को वसूलने के लिए ठेका प्रथा प्रचलित थी। ठेकेदार करवसूली करते समय गरीब किसानों पर अत्याचार करते थे। 1778 की मंदी और अकाल ने स्थिति को अधिक खराब कर दिया। किसानों और मजदूरों में भूखमरी की स्थिति उत्पन्न हो गयी। व्यापारियों ने भी राज्य को ऋण देने से मना कर दिया। परन्तु राजपरिवार और कुलीन वर्ग की विलासिता में कोई कमी नहीं आई। अंततः फ्रांस को वित्तीय संकट का सामना करना पड़ा।

2.3.4 बौद्धिक तथा अन्य कारण

फ्रांस में दार्शनिकों और लेखकों ने फ्रांसीसी समाज में व्याप्त असमानता, भ्रष्टाचार, धार्मिक अंधविश्वास आदि की कटु आलोचना कर जनता को परिवर्तन करने को प्रेरित किया। अनेक गोष्ठियों (सैलो) और संस्थाओं (कारदीलिए आदि) में यह दार्शनिक वर्तमान व्यवस्था की बुराइयों पर विचार विमर्श करते थे। इनका प्रभाव मध्यम वर्ग पर पड़ा। इन्हें क्रान्ति का जन्मदाता नहीं कहा जा सकता तथापि फ्रांस में परिवर्तन हेतु वैचारिक आधार प्रदान करने का कार्य इन लेखकों ने किया।

मान्टेस्क्यू ने अपनी पुस्तक 'द स्पिरिट ऑफ लॉज' में शक्ति के पृथक्करण का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। वह संवैधानिक शासान पद्धति के पक्ष में था। वाल्टेयर ने प्राचीन रूढ़ियों, कुप्रथाओं और अंधविश्वासों का विरोध किया। विशेषरूप से कैथोलिक चर्च और पादरियों के विलासमय जीवन को जनता के समक्ष रखा। रूसो ने 'सोशल कांट्रैक्ट' नामक पुस्तक में स्पष्ट किया कि शासक को जनता के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। इनके अतिरिक्त दिदरो, क्वेस्ने, हॉलबैक, हैल्वेशियस आदि ने अपनी लेखनी से असमानता, शोषण, धार्मिक असहिष्णुता, भ्रष्ट और निरंकुश राजतंत्र, प्रशासनिक दोष आदि के प्रति जनता को जाग्रत किया।

फ्रांस की क्रान्ति समकालीन विश्व से भी प्रभावित हुयी थी। अमेरिका की स्वतंत्रता तथा इंग्लैण्ड की गौरवशाली क्रान्ति के पश्चात वहां लागू संवैधानिक शासन व्यवस्था ने फ्रांस के शिक्षित मध्यम वर्ग को व्यवस्था परिवर्तन हेतु प्रेरित किया।

2.3.5 तात्कालिक कारण

आपको बताया गया है कि फ्रांस में वित्तीय संकट उत्पन्न हो गया था। लुई 16वें ने अपने अर्थमंत्रियों क्रमशः तुर्गो, नेकर, कालोन, और ब्रीएन की सलाह से इस संकट को दूर करने हेतु कई प्रयास किए। रानी और दरबारी सामन्तों के षड़यन्त्रों और सहयोग न करने के कारण सभी प्रयास असफल रहे। अंततः लुई 16वें ने अध्यादेशों के द्वारा सामन्त वर्ग पर कर लगाना चाहा, पेरिस की पार्लमां ने कर लगाने सम्बन्धी कानूनों को पंजीकृत करने से इंकार कर दिया। उसने स्पष्ट किया कि राजा को नया कर लगाने का अधिकार नहीं है, केवल राज्य को ही 'स्टेटस जनरल' के माध्यम से कर लगाने का अधिकार है। इस प्रकार विशेषाधिकार सम्पन्न सांमत वर्ग ने राजा का विरोध करके फ्रांस को क्रान्ति की ओर धकेल दिया।

स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. 1789 की फ्रांस की क्रान्ति से पूर्व फ्रांस की सामाजिक स्थिति का वर्णन करो।
2. फ्रांस की क्रान्ति के लिए उत्तरदायी राजनैतिक और आर्थिक कारणों पर प्रकाश डालिए।
3. फ्रांस की क्रान्ति में दार्शनिकों के योगदान का वर्णन करिए।

2.4 फ्रांस की क्रान्ति (1789) प्रमुख घटनायें

स्टेटस जनरल की बैठक बुलाने की पार्लमां की मांग का जनता द्वारा भारी समर्थन किया गया। राजा ने पार्लमां को भंग करना चाहा, तो कई शहरों में प्रत्यक्ष विरोध प्रदर्शन हुआ। अंततः विवश होकर राजा को स्टेटस जनरल की बैठक बुलानी पड़ी।

2.4.1 स्टेटस जनरल का अधिवेशन

आपको बताया जा चुका है कि 1614 में स्टेटस जनरल का अधिवेशन अन्तिम बार हुआ था। 1789 में जब स्टेटस जनरल के चुनाव के लिए पादरी ,सामंत और तृतीय वर्ग के अलग–अलग प्रतिनिधि चुनने की पुरानी पद्धति अपनायी गयी तो इस व्यवस्था के विरूद्ध तृतीय वर्ग ने विरोध किया। फलतः तृतीय वर्ग के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गयी। 25 वर्ष से अधिक आयु का जो व्यक्ति राज्य को कर देता था या किसी विशेष कार्य में दक्ष था, मत दे सकता था।

5 मई को स्टेटस जनरल का अधिवेशन वर्साय में हुआ, परन्तु मतदान प्रणाली को लेकर मतभेद उत्पन्न हो गया। पुरानी पद्धति में तीनों वर्गों के प्रतिनिधि अलग–अलग सदनों में अपने सदन का एक मत देते थे, जिससे दो सदनों का एक मत होने पर वही स्वीकृत हो जाता था।

तृतीय वर्ग ने इसे मानने से इंकार कर दिया। लगभग डेढ़ माह तक गतिरोध चलता रहा। तृतीय वर्ग ने अन्य वर्गों को अपने साथ बैठने के लिए आमंत्रित किया। विरोध के बावजूद प्रथम वर्ग से कुछ छोटे पादरियों ने तृतीय सदन के साथ बैठना स्वीकार किया। अंततः 16 जून,1789 को स्टेटस जनरल ने अपने को राष्ट्रीय सभा घोषित कर दिया। 20 जून, 1789 को जब तृतीय वर्ग के प्रतिनिधि सभा भवन पहुँचे तो राजा ने सभा भवन बंद करा दिया। तृतीय वर्ग ने समीप स्थित टेनिस कोर्ट में एकत्र होकर शपथ ली कि राष्ट्रीय सभा देश के लिए नया संविधान बनाने तक भंग नहीं की जायेगी। 23 जून, 1789 को राजा ने तीनों वर्गों के प्रतिनिधियों को सम्बोधित किया तथा पृथक–पृथक सदन में बैठकर निर्णय करने को कहा तो राष्ट्रीय सभा ने इसे मानने से इंकार कर दिया। यह जनता की पहली जीत थी।

2.4.2 बास्तील का पतन और जनता का विद्रोह

पेरिस के लोग वर्साय में स्टेटस जनरल का अधिवेशन करने से नाराज थे। धीरे–धीरे बेरोजगार और गरीब सांज क्यूलोत ने कारखाना मालिकों और व्यापारियों पर हमला कर दिया और दंगे बढते गये इसी समय राजा ने लोकप्रिय मंत्री नेकर को बर्खास्त कर दिया, जिसका पेरिस की जनता ने विरोध किया।

13 जुलाई को अफवाह फैली की विरोध का दमन करने सैनिकों को भेजा जा रहा है। इससे उत्तेजित हो लोगों ने शस्त्र संग्रह करने का निर्णय लिया। 14 जुलाई को पेरिस के समीप स्थित बास्तील के दुर्ग पर वहाँ के हथियारों पर कब्जा करने के उददे्श्य से जनता ने आक्रमण कर दिया। बास्तील का किला पूरी तरह नष्ट कर दिया गया। इस घटना के क्रान्तिकारी परिणाम हुए। फ्रांस की जनता को सीधी कार्यवाही करने की प्रेरणा मिली और इससे प्रभावित हो सम्पूर्ण फ्रांस में सामंतीय प्रतीकों और दस्तावेजों को लूटा और जलाया गया। पेरिस कम्यून ने लाफायत के नेतृत्व में 'नेशनल गार्ड' की स्थापना कर ली। इससे सैनिक शक्ति मध्यम वर्ग के हाथ में आ गयी। बास्तील का पतन फ्रांस के इतिहास का निर्णायक मोड़ साबित हुआ। इस कारण 14 जुलाई फ्रांस में राष्ट्रीय दिवस के रूप में मनाया जाने लगा।

2.4.3 राष्ट्रीय संवैधानिक सभा

तृतीय स्टेट ने अपने को राष्ट्रीय सभा घोषित करने के बाद नवीन संविधान का निर्माण करने का निश्चय किया था। उस समय सम्पूर्ण देश में क्रान्ति अपने चरम पर थी। अतः देश में शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए राष्ट्रीय सभा ने अगस्त, 1789 से सितम्बर, 1791 तक शासन में सुधार और कई महत्वपूर्ण कार्य किए।

- प्रमुख घोषणाएं एवं कार्य– राष्ट्रीय सभा में कुछ सामंतीय प्रतिनिधियों ने 4 अगस्त को अपने विशेषाधिकारों को छोड़ने की घोषणा कर दी, तब राष्ट्रीय सभा ने प्रस्ताव पारित करके सभी नागरिकों पर एक सामान कर व्यवस्था लागू की और विशेषाधिकारों को समाप्त कर दिया। सदियों पुरानी व्यवस्था, जो क्रान्ति का प्रमुख कारण थी, का अन्त हो गया। इस घटना के बाद कुछ

असन्तुष्ट सामन्त और राजा के सम्बन्धी विदेश भाग गये और क्रान्ति के विरूद्ध षडयन्त्र रचने लगे।

राष्ट्रीय सभा ने रूसो के 'सोशल कांट्रैक्ट' से प्रेरित होकर 27 अगस्त, 1789 को मानव अधिकारों की घोषणा की। इस घोषणानुसार समस्त जनता को समानता, सुरक्षा, स्वतंत्रता, सम्पत्ति रखने, योग्यता के आधार पर पद प्राप्त करने तथा समान न्याय और समान कानून का अधिकार दिया गया। इस घोषणा ने क्रान्ति को व्यापकता प्रदान की और समस्त विश्व को प्रभावित किया। राजा के द्वारा घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर करने में देरी की गयी। जनता को भय था कि लुई 16वाँ क्रान्ति विरोधियों के साथ मिलकर क्रान्ति का दमन करने के लिए सेना भेज सकता है। वर्साय में क्रान्ति विरोधियों द्वारा शानदार दावत का आयोजन भी किया गया था। अतः 5 अक्टूबर, 1789 को पेरिस की कई हजार स्त्रियों ने वर्साय की ओर प्रस्थान करके राजा तथा उसके परिवार को पेरिस में चलकर रहने पर विवश किया।

जुलाई,1790 में पादरियों का कानून पारित किया गया, जिसके अनुसार पादरियों और विशपों का निर्वाचन अब जनता द्वारा किया जायेगा तथा प्रत्येक प्रान्त में एक विशप नियुक्त होगा, जो पोप के अधीन न होकर राज्य का वैतनिक कर्मचारी होगा। इस लौकिक संविधान की शपथ फ्रांस के सभी पादरियों को लेनी थी। इससे पोप और कैथोलिक जनता नाराज हो गयी और पादरियों ने इसे मानने से इंकार कर दिया। 6 फरवरी, 1791 को एक अन्य घोषणा द्वारा सन्यासियों के मठों का अन्त करके उन्हें सांसारिक जीवन व्यतीत करने को कहा गया।

राष्ट्रीय सभा ने आर्थिक स्थिति सुधारने हेतु निर्धनों के लिए 'चैरिटी वर्कशाप' स्थापित किए। किसानों से भूमिकर के अतिरिक्त कोई भी कर लेना बन्द कर दिया। अनाज के व्यापार को कर मुक्त किया और देश छोड़कर गये कुलीन लोगों की सम्पत्ति को राष्ट्रीय सम्पत्ति घोषित किया।

- नवीन संविधान का निर्माण– राष्ट्रीय सभा ने 1791 का संविधान, जो फ्रांस के इतिहास में पहला लिखित संविधान था, बनाया। इसके द्वारा फ्रांस में संवैधानिक राजतंत्र की स्थापना की गयी। इसमें जनता की इच्छा और अनुमति को सरकार की सभी शक्तियों का स्रोत माना गया। कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका को पूर्णतः अलग–अलग कर दिया गया। एक सदन वाली प्रतिनिधि सभा को कानून बनाने का अधिकार दिया गया। राजा तथा उसके मंत्री व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानून के आधार पर ही शासन कर सकते थे। न्याय सस्ता और सुलभ बनाया गया और जूरी व्यवस्था लागू की गयी। प्रशासन का विक्रेंदीकरण कर दिया गया। सबसे छोटी इकाई कम्यून थी। राजा के व्यक्तिगत व्यय हेतु एक निश्चत राशि भी निर्धारित कर दी गयी।

21 सितम्बर, 1791 को राजा ने नए संविधान को स्वीकार करके उसके अनुसार कर्ा करने का वचन दिया। 30 सितम्बर, 1791 में राष्ट्रीय सभा विसर्जित कर दी गयी।

2.4.4 व्यवस्थापिका सभा

1791 के संविधान अनुसार फ्रांस में संवैधानिक राजतंत्र की स्थापना हेतु व्यवस्थापिका सभा का निर्वाचन किया गया। नई विधान सभा, जिसमें 745 सदस्य थे, का प्रथम अधिवेशन 1

अक्टूबर, 1791 में हुआ। इस सभा में कई दलों के प्रतिनिधि विजित हुए– राजतंत्रवादी, संविधानवादी, सेण्टर पार्टी और गणतंत्रवादी। गण्तंत्रवादियों में भी दो गुट थे– जिंरोदिस्त और जैकोबिन। इस सभा को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

1.फ्रांस में राजतंत्र के समर्थक बहुत से सामन्त और राजा के भाई विदेश भाग गये थे, जहां वह यूरोप के अन्य राजतंत्रों के साथ मिलकर क्रान्ति विरोधी षड़यन्त्र रच रहे थे। व्यवस्थापिका सभा ने विदेश गए सामन्तों को दो माह के अन्दर लौट आने अन्यथा देशद्रोही घोषित करने का आदेश दिया। राजा ने इस आदेश पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया।

2. लौकिक संविधान की शपथ न लेने वाले पादरियों को सभा ने यह आदेश दिया कि यदि वह शपथ नहीं लेंगे तो उनको पद से हटा दिया जायेगा और उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली जायेगी। राजा ने इस आदेश को भी अस्वीकार कर दिया।

3. फ्रांस के राजा के समर्थन में 27 अगस्त, 1791 को आस्ट्रिया और प्रशा के शासकों ने पिलनित्स की घोषणा की जिसमें कहा कि फ्रांस की समस्या सभी राज्यों की समस्या है और हम इसको समाप्त करने के लिए फ्रांस में सशस्त्र हस्तक्षेप करेंगे।

अंततः राजतंत्र को समाप्त करने के उद्देश्य से व्यवस्थापिका सभा में गणतंत्रवादी दल ने युद्ध को आवश्यक मानकर युद्ध करने का प्रस्ताव रखा, जो बहुमत से पास हुआ। 20 अप्रैल, 1792 को आस्ट्रिया के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी गयी। प्रशा के सेनापति ने घोषणा की कि फ्रांस की जनता ने लुई 16वे तथा उसके परिवार को कोई क्षति पहुंचाई तो पेरिस को नष्ट कर दिया जायेगा। फ्रांस की जनता इससे उत्तेजित हो गयी और लुई 16वें को देशद्रोही मानकर उसके महल तुइलरी पर धावा बोल दिया। व्यवस्थापिका सभा ने 11 अगस्त, 1792 को राजा लुई 16वें को निलम्बित कर दिया तथा गणतंत्र की स्थापना करने के लिए नवीन संविधान का गठन करने हेतु राष्ट्रीय सम्मेलन का चुनाव करने का निश्चय किया। तत्पश्चात पेरिस कम्यून को अन्तरिम सरकार चलाने का कार्यभार सौंप कर व्यवस्थापिका सभा ने स्वयं को भंग कर दिया।

पेरिस कम्यून की अन्तरिम सरकार ने लुई 16वें को बन्दी बना लिया और 2 सितम्बर से 6 सितम्बर, 1792 में हजारों की संख्या में राजतंत्र के समर्थकों और क्रान्ति विरोधियों को मौत के घाट उतार दिया। 20 सितम्बर, 1792 को फ्रांस ने आस्ट्रिया और प्रशा की सेनाओं को वाल्मी के युद्ध में पराजित किया। इसी दिन राष्ट्रीय सम्मेलन का चुनाव हुआ और फ्रांस में गणतंत्र की स्थापना हुयी।

2.4.5 राष्ट्रीय सम्मेलन (नेशनल कन्वेंशन)

राष्ट्रीय सम्मेलन फ्रांस की तीसरी क्रान्तिकारी सभा थी, जिसने 21 सितम्बर, 1792 से 20 अक्टूबर, 1795 तक शासन किया। इसमें कुल 782 सदस्यों में 200 जिरोंदिस्त, 100 जैकोबिन तथा 482 स्वतंत्र सदस्य थे।

राष्ट्रीय सम्मेलन ने गणतंत्र की घोषणा करके देश के लिए नया कैलेण्डर बनाया। राजा लुई 16वें को देशद्रोही घोषित किया तथा 21 जनवरी, 1793 को उसे गिलोटिन पर चढ़ाकर मृत्युदण्ड दिया। विदेशी आक्रमणों का सामना करने के लिए तीन लाख सैनिकों की एक विशाल

सेना का गठन किया। 6 अप्रैल, 1793 को लोक सुरक्षा समिति गठित की, जिसे कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के असीमित अधिकार दिए गए। इसके प्रमुख सदस्य उग्र जैकोबिन दल के राब्सपियरे और कार्नो थे। एक अन्य समिति 'सामान्य रक्षा समिति' की भी स्थापना की, जिसका कार्य देश में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखना था। इसे भी असीमित अधिकार दिए गए। क्रान्ति विरोधियों को दंडित करने के लिए क्रान्तिकारी न्यायालय की भी स्थापना की। इसके द्वारा आतंक का शासन स्थापित किया गया। इस दौरान राज परिवार के सदस्यों, हजारों की संख्या में क्रान्ति विरोधियों तथा प्रमुख जिरोंदिस्त सदस्यों को गिलोटिन पर चढ़ाया गया। 28 जुलाई, 1794 को राब्सपियरे की मृत्यु के साथ आतंक के शासन का अन्त हुआ।

राष्ट्रीय सम्मेलन ने फ्रांस में दासता प्रथा तथा वर्ग भेद समाप्त करके सामाजिक और आर्थिक समानता स्थापित करने का प्रयास किया। फ्रेंच को राष्ट्रभाषा घोषित किया तथा स्कूलों और पुस्तकालयों की स्थापना की। बुद्धि पूजा को महत्व दिया गया। विवाह और तालाक के नियम सरल बनाये गए। वित्तीय समस्या के समाधान हेतु वित्त विशेषज्ञ परिषद का गठन किया।

राजा को प्राणदण्ड देने के कारण कई यूरोपीय देश फ्रांस के विरोधी हो गये। आस्ट्रिया, प्रशा के साथ इंग्लैण्ड, स्पेन, हालैण्ड, सार्डिनिया ने मिलकर फ्रांस के विरूद्ध संगठन बनाया और फ्रांस पर आक्रमण कर दिया। प्रारम्भ में फ्रांस को पराजित करने के बाबजूद यह प्रथम संगठन फ्रांस का अहित करने में असफल रहा।

राष्ट्रीय सम्मेलन की स्थापना का उद्देश्य संविधान का निर्माण करना था। अतः उसने 1795 में संविधान तैयार किया, जिसे तृतीय वर्ष का संविधान कहा जाता है। तत्पश्चात 26 अक्टूबर, 1795 को राष्ट्रीय सम्मेलन को भंग कर दिया गया।

2.4.6 निदेशक मण्डल (डायरेक्टरी)

राष्ट्रीय सम्मेलन द्वारा निर्मित तृतीय वर्ष के संविधान में दो सदन वाली विधान सभा और पाँच सदस्यों के निदेशक मण्डल वाली कार्यपालिका का प्रावधान रखा गया था। उसके अनुसार पाँच सदस्यों –बर्रास, कार्नो, एबेसिया, रूबेल और ला रिबेलियरे का चयन करके निदेशक मण्डल का गठन किया गया। इस डायरेक्टरी ने 27 अक्टूबर,1795 से 19 अक्टूबर, 1799 तक शासन किया।

डायरेक्टरी का चार वर्ष का कार्यकाल अनिश्चितता और संकटपूर्ण रहा। इसके सदस्य अयोग्य और भ्रष्ट तथा अपने स्वार्थों में निहित थे। फलतः शासन व्यवस्था कमजोर पड़ने लगी और डायरेक्टरी के विरूद्ध षड़यन्त्र रचे जाने लगे। डायरेक्टरी का कार्यकाल यूरोपीय देशों के साथ लड़े गये युद्धों और उनमें तेजी से उभरते सेनापति नेपोलियन की प्रारम्भिक सैनिक सफलताओं के कारण याद किया जाता है। नेपोलियन इन युद्धों के कारण इतना लोकप्रिय हो गया कि उसके द्वारा डायरेक्टरी के शासन का अन्त करने पर जनता ने कोई विरोध नहीं किया।

स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. राष्ट्रीय संवैधानिक सभा के कार्यों का वर्णन कीजिए।
2. व्यवस्थापिका सभा को किन कठिनाईयों का सामना करना पड़ा ?

3. राष्ट्रीय सम्मेलन के कार्यों पर टिप्पणी लिखो।

2.5 नेपोलियन का उदय

डायरेक्टरी के अन्तिम दिनों में फ्रांस में नेपोलियन का उदय हुआ। नेपोलियन किस प्रकार फ्रांस की सत्ता और यूरोपीय राजनीति का केन्द्र बना समझने के लिए आपको उसके प्रारम्भिक जीवन के विषय में जानना जरूरी है।

2.5.1 प्रारम्भिक जीवन

नेपोलियन

नेपोलियन वंश से इतालवी, जन्म से कोर्सिकी और राष्ट्रीयता से फ्रांसीसी था। उसका जन्म कोर्सिका द्वीप में अजासियो नामक स्थान पर 15 अगस्त, 1769 को एक इटालियन परिवार में हुआ। उसके पिता कार्लो बोनापार्ट वकील थे, परन्तु उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। उसकी माँ लेटीजिया रमोलिनो एक परिश्रमी महिला थी और उसको सदैव महान बनने की प्रेरणा देती थी। नेपोलियन चार भाइयों और तीन बहनों के बाबजूद एकाकी रहना पसन्द करता था। अपने विद्यार्थी जीवन में वह कुलीन वर्ग का न होने के कारण हीनभावना से ग्रसित रहता था और इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप वह जीवन भर कुलीन परिवारों से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करता रहा।

फ्रांस की सरकार ने कोर्सिका के विद्रोहियों को शान्त करने हेतु उन्हें रियायत देना प्रारम्भ किया, तब उसका प्रभाव नेपोलियन के जीवन पर भी पड़ा। उसे फ्रांस में ब्रीन के सैनिक स्कूल मे शिक्षा प्राप्त करने हेतु छात्रवृत्ति प्राप्त हुयी। पढ़ने में उसकी रूचि थी और वह भूगोल, इतिहास, राजनीति, गणित और महापुरूषों की जीवनी पढ़ता था। वह जूलियस सीजर और सिकन्दर से प्रभावित था।

शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात 16 वर्ष की उम्र में वह फ्रांस की सेना के तोपखाने हेतु चुन लिया गया और उसे स्थल सेना में लेफ्टीनेंट जनरल बना दिया गया। इसी दौरान राष्ट्रसभा के द्वारा कोर्सिका को फ्रांस के अन्य राज्यों की भांति समानता का अधिकार देने पर नेपोलियन जैकोबीन दल का सदस्य बन गया। नेपोलियन को उन्नति करने का प्रथम अवसर तूलों में मिला। 28 अगस्त, 1793 को अंग्रेजी जहाजी बेडे ने फ्रांस पर आक्रमण कर तूलों पर अधिकार कर लिया। परन्तु नेपोलियन ने तीन महीने के अन्दर अंग्रेज सेना को पराजित करके तूलों से मुक्त करा दिया। यह नेपोलियन के जीवन की प्रथम महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। इस सफलता के कारण उसे ब्रिगेडियर जनरल का पद प्रदान किया गया। उसको दूसरी महत्वपूर्ण सफलता 5 अक्टूबर, 1795 में मिली, जब पेरिस में संविधान से असंतुष्ट होकर लोगों ने राष्ट्रीय सम्मेलन के विरूद्ध विद्रोह कर दिया। नेपोलियन ने विद्रोहियों का पूर्ण दमन करके फ्रांस को गृह युद्ध से बचा लिया। राष्ट्रीय सम्मेलन की रक्षा करने के कारण वह सेनापति बर्रास का स्नेहपात्र बन गया और उसे समस्त आन्तरिक सेना का सेनापति नियुक्त कर दिया गया। 1796 में उसने जोसेफिन बोआरनै नामक विधवा से

विवाह कर लिया। जोसेफिन के अभिजात्य संबधों के कारण यह विवाह नेपोलियन की उन्नति में सहायक बना।

2.5.2 प्रारम्भिक सैनिक उपलब्धियां

नेपोलियन की सैनिक योग्यता से प्रभावित हो डायरेक्टरी ने उसे इटली के अभियान का सेनाध्यक्ष नियुक्त किया। इटली का अभियान अप्रैल,1796 से अप्रैल,1797 तक चला। आस्ट्रिया और सार्डीनिया की सम्मिलित सेना में सत्तर हजार सैनिक थे और नेपोलियन की सेना उसकी आधी थी। सर्वप्रथम उसने सार्डीनिया पर आक्रमण करके उसे बुरी तरह पराजित किया और उससे सेवॉय और नीस के प्रदेश प्राप्त किये। इसके बाद नेपोलियन ने मिलान पर अधिकार किया और रिवोली और आरकोला के युद्धों में अपनी जान को जोखिम में डालकर आस्ट्रिया की सेना को परास्त किया। फरवरी, 1797 में माण्टुआ भी छीन कर वह आस्ट्रिया की राजधानी वियना की ओर बढ़ने लगा तो आस्ट्रिया के सम्राट ने सन्धि करने का प्रस्ताव रखा और युद्ध रोक दिया गया।

इस मध्य उसने मई, 1797 में परमा, मोडेना के ड्यूकों तथा जून, 1797 में नेपिल्स के शासक और पोप से संधि करके लड़े गये युद्धों का खर्चा भी विजित प्रदेशों से प्राप्त किया। पोप ने नेपोलियन को आविन्यों, वालोन्या और फेरारा का क्षेत्र दे दिया और 3 करोड़ फ्रेंक, 500 बहुमूल्य ग्रंथ तथा अनेक कलात्मक चित्र भी भेंट किये। नेपोलियन ने विजित क्षेत्र को ट्रान्सपोडेन और सिस्पेडेन गणतंत्र के रूप में संगठित किया। तत्पश्चात इटली के पूर्वी क्षेत्र वेनिस पर अधिकार कर लिया। जून में इन क्षेत्रों का पुनर्संगठन करके उसने ट्रान्सपोडेन, सिस्पेडेन, रोमान्या, लीगेशन्स और वेनिस के गणतंत्र को मिलाकर सिसएल्पाइन गणतंत्र और जिनोआ तथा उत्तर पश्चिम के प्रदेशों को मिलाकर लिगूरियन गणतंत्र बना दिया। 1799 में उसने दक्षिणी इटली के क्षेत्रों नेपल्स आदि में पार्थेनोपियन गणतंत्र की स्थापना की। इस अभियान से अधिकांश इटली पर आस्ट्रिया का प्रभाव खत्म हो गया और फ्रांस का प्रभाव कायम हो गया।

अंत में नेपोलियन ने आस्ट्रिया के साथ 17 अक्टूबर, 1797 को कैम्पो फोर्मियो की संधि की। इस सन्धि के अनुसार–

- आस्ट्रिया द्वारा फ्रांस को बेल्जियम प्रदान कर दिया गया।
- लोम्बार्डी पर फ्रांस का अधिकार स्वीकार कर लिया गया।
- राइन का प्रदेश भी फ्रांस को दे दिया गया।
- वेनिस के इरिट्रिया और डाल्मेशिया क्षेत्र आस्ट्रिया को देकर वेनिस के पश्चिमी भाग को सिसएल्पाइन में मिलाकर फ्रांस के अधीन कर दिया गया।

यह सन्धि नेपोलियन की सैनिक सफलता के साथ–साथ उसकी महान कूटनीतिक विजय थी। इस प्रकार अपने एक ही अभियान में नेपोलियन ने फ्रांस की राजनैतिक सीमा उसकी प्राकृतिक सीमाओं तक मिला दी। फ्रांस में नेपोलियन अत्यन्त लोकप्रिय हो गया और उसे राष्ट्रीय नायक कहा जाने लगा।

फ्रांस के विरूद्ध बने प्रथम गुट में अब इंग्लैण्ड ही शेष रह गया था, जिसे प्रत्यक्ष युद्ध में

हराना सम्भव न जानकर नेपोलियन ने मिश्र पर अधिकार करने की योजना बनाई। उसका विचार था कि मिश्र पर अधिकार करके वह इंग्लैण्ड के भूमध्यसागरीय और एशियायी व्यापार को बाधा डालकर उसकी आर्थिक शक्ति को क्षीण कर देगा। फ्रांस के डायरेक्टर भी नेपोलियन की लोकप्रियता से भयभीत होकर उसे फ्रांस से दूर रखना चाहते थे। अतः उसकी मिश्र अभियान की योजना को स्वीकृति मिल गयी।

19 मई, 1798 को नेपोलियन ने लगभग चालीस हजार सैनिकों के साथ मिश्र की ओर प्रस्थान किया। मिश्र के प्रसिद्ध नगरों सिकन्दरिया और माल्टा पर अधिकार करके वह काहिरा पहुँचा और पिरामिडों के युद्ध में विजय प्राप्त की। नील नदी के तटीय क्षेत्र पर उसका पूर्ण नियंत्रण हो गया। इस अभियान में उसके साथ भूगर्भवेत्ता, पुरातत्ववेत्ता, इंजीनियर, डॉक्टर आदि विद्वान भी गये थे, जिन्होंने मिश्र की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का अध्ययन करके कई महत्वपूर्ण खोजें कीं। नेपोलियन के स्थायी कार्यों में मिश्र में किए गए खोजपूर्ण कार्यों की गणना प्रमुख रूप से की जाती है।

नेपोलियन काहिरा में ही था तब इग्लैण्ड के सेनापति नेल्सन ने अबूकर की खाड़ी के युद्ध में फ्रांसीसी बेड़े को परास्त किया। मिश्र पर अधिकार करने के कारण तुर्की के सुल्तान ने भी नेपोलियन के विरूद्ध युद्ध प्रारम्भ कर दिया। भारत से लॉर्ड वेलेजली ने नेल्सन की सहायतार्थ सेना भेज दी। इस प्रकार नेपोलियन की सेना चारों ओर से घिरकर नील नदी के युद्ध में नेल्सन के हाथों बुरी तरह पराजित हुयी। नेपोलियन ने तुर्की के अधीनस्थ सीरिया पर आक्रमण किया, परन्तु वहाँ भी असफल रहा। बीमारी और अंग्रेजों द्वारा लगातार पीछा किये जाने के कारण उसकी सेना नष्ट होती जा रही थी। यूरोप के शासकों ने फ्रांस के विरूद्ध द्वितीय गुट की स्थापना कर ली। अंत में नेपोलियन ने थोड़े से साथियों के साथ छोटे जहाज से फ्रांस लौटने का फैसला किया।

नेपोलियन की प्रारम्भिक सैनिक उपलब्धियाँ विशेषरूप से इटली की सफलता ने फ्रांस में उसको लोकप्रिय बना दिया था। फ्रांस में वापस आने पर उसका फ्रांसीसी जनता ने जोरदार स्वागत किया। इस समय डायरेक्टरी (निदेशक मण्डल) के भ्रष्ट शासन और देश में व्याप्त अराजकता से फ्रांस की जनता तंग आ गयी थी। महत्वाकांक्षी नेपोलियन ने सत्ता पर अधिकार करने हेतु उचित समय जानकर डायरेक्टरी के विरूद्ध षडयन्त्र रचा। इस षडयन्त्र में उसने ऐबेसीये, तालिरां और फूशे आदि को अपने साथ मिला लिया। तीन प्रमुख निदेशकों पर दबाब डालकर इस्तीफा ले लिया गया और दो निदेशकों को नजरबंद कर दिया गया। वरिष्ठ परिषद के अधिकांश सदस्य नेपोलियन के समर्थक थे तथा पांच सौ सदस्यों की परिषद का अध्यक्ष उसका भाई लुसीयन था। दोनों सदनों के अधिवेशन में विरोधियों को अपने सैनिकों के द्वारा भयभीत कर नेपोलियन ने संचालक मण्डल को समाप्त करने का प्रस्ताव पास करा लिया। इस प्रकार 10 नवम्बर, 1799 को 19वें ब्रूमेयर के आठवें कूप द इतात द्वारा सत्ता परिवर्तन कर दिया गया।

2.5.3 1799 का संविधान

डायरेक्टरी के अन्त के बाद सत्ता तीन कौंसिल– नेपोलियन, सीये और ड्यूको के हाथ में आ गयी। नया संविधान बनाने का कार्य कौन्सिल को सौंपा गया। 1799 का संविधान फ्रांस की क्रांति

के पश्चात चौथा संविधान था। इस संविधान की रूपरेखा नेपोलियन द्वारा इस तरह तैयार की गयी कि सारी शक्ति उसी के अधिकार में रहे। इस संविधान से फ्रांस की आवश्यकता की पूर्ति और नेपोलियन के निरंकुश शासन की स्थापना हुयी।

कार्यपालिका के लिए तीन सदस्यों की कौंसिल समिति का प्रावधान रखा गया, जिसकी कार्यावधि दस वर्ष रखी गयी। इनमें प्रथम कौंसिल को समिति का अध्यक्ष बनाया गया और यह पद नेपोलियन को दे दिया गया। शासन की सम्पूर्ण शक्ति प्रथम कौंसिल में केन्द्रित थी। द्वितीय और तृतीय समिति का कार्य प्रथम कौंसिल को परामर्श देना था। नेपोलियन ने सीये और ड्यूक को हटाकर अपने समर्थक कैम्बेसरी और लैब्रून को द्वितीय और तृतीय समिति नियुक्त कर दिया था। इससे सम्पूर्ण शक्ति उसी के हाथ में केन्द्रित हो गयी। संविधान में चार सदनों वाली व्यवस्थापिका का प्रावधान रखा गया।

- राज्य परिषद–इसका कार्य विधेयक की रूपरेखा तैयार करना तथा उच्च न्यायालय के कार्य करना था।
- सीनेट–यह संविधान की सुरक्षा के लिए उत्तादायी थी।
- ट्रिब्यूनेट–विधेयक पर वाद विवाद कर सकती थी, लेकिन पारित नहीं कर सकती थी।
- व्यवस्थापिका सभा–विधेयक पर मतदान कर सकती थी, लेकिन वाद विवाद नहीं कर सकती थी।

इन सभाओं के सदस्यों का चुनाव सूची तैयार करके अप्रत्यक्ष चुनाव द्वारा किया जाता था। सूचियां इस तरह से तैयार की जाती थी कि इनका सदस्य वही हो सकता था, जिसको नेपोलियन चाहे। इस प्रकार गणतंत्र केवल दिखावा मात्र था, वास्तविक सत्ता नेपोलियन के ही हाथ में थी। नेपोलियन ने कुछ वर्ष पश्चात इस संविधान पर जनमत संग्रह कराया और फ्रांस की जनता ने भारी बहुमत से संविधान को स्वीकार कर लिया।

कैम्बेसरी,नेपोलियन और लैब्रुन

स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. नेपोलियन के जीवन की घटनाओं पर प्रकाश डालिए ।
2. कैम्पो फोर्मियो की संधि की प्रमुख धारायें बताते हुए उसके महत्व को स्पष्ट करिए।
3. 1799 के संविधान पर टिप्पणी लिखो।

2.6 प्रथम कौंसिल के रूप में सुधार

फ्रांस में व्याप्त अव्यवस्था को दूर करने के लिए प्रथम कौंसिल बनने के पश्चात नेपोलियन ने अनेक सुधार किए। उसके प्रशासनिक कौशल को प्रकट करने वाले यह सुधार उसकी स्थायी उपलब्धियाँ सिद्ध हुये।

फ्रांस की आन्तरिक व्यवस्था स्थापित करते समय उसने एक ओर क्रान्ति के सिद्धान्तों को स्थिरता प्रदान की तो दूसरी ओर बूर्बा राजवंश द्वारा स्थापित परम्परागत व्यवस्था को भी नवीन रूप देकर पुनर्स्थापित किया। उसके द्वारा किए गए कार्यों से फ्रांस में आधुनिक राज्य और समाज के सिद्धान्तों की स्थापना हुयी। सभी सुधारों के मूल में समानता के सिद्धान्त को अधिक महत्व दिया गया। लेकिन प्रशासनिक व्यवस्था का केन्द्रीकरण, प्रेस पर प्रतिबन्ध आदि द्वारा उसने बूर्बा कालीन व्यवस्था के कुछ क्रान्ति विरोधी तत्वों को भी शासन में समाहित किया। उसका मानना था कि फ्रांस की जनता समानता चाहती है, स्वतंत्रता नहीं।

2.6.1 प्रशासनिक सुधार

नेपोलियन ने प्रथम कौंसिल का पद ग्रहण करते ही स्थानीय प्रशासन की समस्त व्यवस्था को केन्द्रित कर दिया। उसने देश के प्रशासकीय विभाजन को पूर्ववत रहने दिया। 1800 में उसने पुरातन व्यवस्था के इन्टैंडेंटों के सदृश अधिकारियों की नियुक्ति करके पुरातन व्यवस्था में थोड़े संशोधन के साथ केंद्रीकृत शासन स्थापित किया। अब केन्द्र द्वारा प्रत्येक विभाग में प्रीफेक्ट और जिलों में उप प्रीफेक्ट तथा नगरों और कम्यून में मेयर नियुक्त किये जाने लगे। यह अधिकारी निरन्तर केन्द्र के सम्पर्क में रहते थे। केन्द्र सरकार नीति निर्धारण करती थी, इनका कार्य केन्द्र की नीतियों को समान रूप से सम्पूर्ण राज्य में लागू करना था। इनकी सहायतार्थ निर्वाचित परिषदों की स्थापना भी की गयी, जिनका कार्य अपने स्थानों के लिए राष्ट्रीय करों को तय करना था। नेपोलियन ने सचिवालय का भी विकास किया और मारे के नियंत्रण में राज्य मंत्रालय बनाया, जो देश का केंद्रीय लेखा कार्यालय बन गया। स्थानीय प्रशासन और नौकरशाही की यह व्यवस्था थोड़े परिवर्तनों के साथ आज भी फ्रांस में प्रचलित है।

2.6.2 पोप से समझौता

क्रान्तिकालीन सरकारों ने चर्च के प्रभाव को कम करने का प्रयत्न किया, परन्तु फ्रांस में अधिकांश जनता कैथोलिक और रूढ़िवादी थी। राजतंत्रवादियों के साथ मिलकर धार्मिक विरोधी सरकार के लिए समस्या उत्पन्न करते थे। नेपोलियन का धर्म के सम्बन्ध में स्पष्ट मत था कि फ्रांस का एक धर्म होना चाहिए, जो राज्य के नियंत्रण में रहे। इस दृष्टिकोण और तत्कालीन परिस्थितियों के साथ उसने धार्मिक नीति का निर्धारण किया और पोप के साथ सम्बन्ध सुधारने का कूटनीतिक प्रयास किया। पोप भी फ्रांस जैसे महत्वपूर्ण देश को अपने प्रभाव क्षेत्र से अलग नहीं रखना चाहता था। 1801 में नेपोलियन ने पोप पायस सप्तम के साथ एक समझौता किया, जिसको कोन्कोर्दा कहा गया। इस समझौते के अनुसार–

1. कैथोलिक धर्म को फ्रांस की बहुसंख्यक जनता का धर्म स्वीकारा गया तथा फ्रांस के सभी नागरिकों को धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की गयी।
2. चर्च को राज्य के अधीन माना गया और चर्च के अधिकारी राज्य के कर्मचारी माने गये।
3. चर्च के बिशपों की नियुक्ति का अधिकार प्रथम कौंसिल को मिला, पोप को मात्र औपचारिक स्वीकृति का अधिकार दिया गया। बिशप सरकार की अनुमति से पादरी नियुक्त कर सकते थे।

4. राज्य बिशपों और पादरियों को वेतन देता था और उनको देशभक्ति की शपथ लेनी होती थी।
5. क्रान्ति के दौरान चर्च की जो भूमि जब्त की गयी थी, उसको वापिस नहीं किया गया तथा चर्च को स्थायी सम्पत्ति खरीदने का अधिकार भी नहीं रहा।
6. शिक्षा पर चर्च का नियन्त्रण समाप्त कर दिया गया।
7. क्रान्ति के समय बन्दी बनाये गये पादरियों को मुक्त कर दिया गया तथा जो फ्रांस छोड़कर चले गये थे, उन्हें पुनः आने की अनुमति दे दी गयी।

इस प्रकार इस समझौते से नेपोलियन ने उन सभी बातों को पोप से स्वीकार करा लिया, जिसका प्रारम्भ में पोप ने विरोध किया था। परन्तु फ्रांस के उग्रवादी और कैथोलिक दोनों ही इस समझौते से संतुष्ट नहीं थे। कैथोलिकों की इच्छानुसार चर्च को अपना पुराना महत्व नहीं प्राप्त हुआ था, दूसरी ओर क्रान्ति के विचारों के विपरीत न चाहते हुए भी कैथोलिक फ्रांस का राज्य धर्म बन गया था। पोप और नेपोलियन के सम्बन्ध भी बहुत समय तक अच्छे न रह सके। नेपोलियन ने प्रोटेस्टेंटो के अधिकारों को स्पष्ट करने के लिए अधिकार पत्र दिया और फ्रांस में धर्मनिरपेक्ष राज्य का संस्थापक बना। 1804 में अपने राज्याभिषेक के दौरान उसने पोप से मुकुट धारण करने के स्थान पर पोप के हाथ से मुकुट लेकर स्वयं अपने हाथों से पहन कर पोप का अपमान किया था। पोप पायस सातवें ने महाद्वीपीय योजना को स्वीकारने से इन्कार कर दिया, तो नेपोलियन ने पोप के राज्य पर अधिकार कर लिया। तब पोप ने नेपोलियन को धर्मद्रोही घोषित कर दिया। फलतः नेपोलियन ने पोप को बन्दी बना लिया। इससे फ्रांस और यूरोप के कैथोलिक उससे नाराज हो गये।

इसके बाबजूद कोन्कोर्द समझौता अगले 100 वर्षों तक जारी रहा और चर्च और राज्य में एकता बनी रही।

2.6.3 कानूनी सुधार

नेपोलियन का सबसे स्थायी कार्य नागरिक कानूनों का संकलन था। उसने कानूनी क्षेत्र में व्याप्त असंगतियों को दूर करने और एकरूपता स्थापित करने की ओर प्राथमिकता से ध्यान दिया। इसके लिए उसने चार सदस्यों की एक समिति गठित की, जिसके द्वारा तैयार की गयी कानूनी संहिता को नेपोलियन कोड कहा गया। इसमें पाँच तरह के कानूनों का संकलन हुआ।–

- नागरिक संहिता (सिविल कोड)
- नागरिक प्रक्रिया की संहिता (कोड ऑफ सिविल प्रोसीजर)
- फौजदारी कानून (पीनल कोड)
- अपराधमूलक प्रक्रिया की संहिता (कोड ऑफ क्रिमिनल प्रोसीजर)
- व्यवसाय सम्बन्धी कानून (कॉमर्शियल कोड)

इन कानूनों को तीन स्रोतों – फ्रांस के परम्परागत कानून, रोमन कानून और क्रान्ति के अनुभवों से संकलित किया गया। उसकी 1804 में बनी नागरिक संहिता (सिविल कोड) उसके सभी कानूनों मे सबसे अधिक प्रभावशाली थी। इनमें समानता के सिद्धान्त को स्वीकारा गया, स्वतंत्रता को नियंत्रित किया गया तथा विशेषाधिकार और सामन्ती नियम समाप्त कर दिये गये।

नागरिक संहिता के अनुसार–परिवार को एक पवित्र इकाई माना गया और उसमें पिता को सर्वोपरि माना गया। पैतृक सम्पत्ति पर सभी पुत्रों का सामान अधिकार माना गया। सिविल मैरिज और तलाक को स्वीकारा गया। लेकिन स्त्रियों को पूर्णतया उनके पति के अधीन कर दिया गया। व्यक्तिगत सम्पत्ति के सिद्धान्त को मान्यता दी गई और भूमि पर स्वामी के अधिकार को सख्त बनाया गया। ब्याज की दरें निश्चित कर दी गयीं। एकमात्र सरकार ही सम्पत्ति का अधिग्रहण कर सकती थी। औद्योगिक समूह और धार्मिक संस्थान सम्पत्ति का संग्रह नहीं कर सकते थे।

नागरिक संहिता के अतिरिक्त जो अन्य संहिताये लागू की गयीं, वह निरंकुशता की भावना से प्रभावित थीं। दण्ड संहिता में राजनीतिक अपराधों को रोकने के लिए मृत्यु दंड, उम्र कैद, देश निर्वासन, संपत्ति जब्त जैसे कानून लागू किए गए। फौजदारी मामलो में जूरी प्रथा समाप्त कर दी गयी। व्यवसाय संहिता साधारण व्यापार, समुद्री व्यापार, दिवालियापन तथा अन्य व्यापारिक मामलों का नियमन करती थी।

नेपोलियन की कानूनी संहिता फ्रांस के आधुनिक कानूनों का स्रोत है। इस कानूनी संहिता के निर्माण में नेपोलियन ने व्यक्तिगत रूचि दिखायी थी और उसकी इच्छानुसार ही इनका निर्माण हो सका था। इस कारण उसे दूसरा जस्टीनियन भी कहा जाता है।

2.6.4 शिक्षा में सुधार

नेपोलियन ने शिक्षा को राष्ट्र के विकास और प्रशासनिक व्यवस्था सुव्यवस्थित करने का प्रमुख साधन माना। उसने शिक्षा के विकास हेतु राष्ट्रीय शिक्षा नीति बनाई, जिसके द्वारा शिक्षा पर राजकीय नियंत्रण लगा कर उसे राष्ट्रीय और धर्मनिरपेक्ष बनाया गया। इस नई शिक्षा का आधार था–ईसाई धर्म की मूलभूत नैतिकता, राज्याध्यक्ष के प्रति समर्पण और विश्वविद्यालय के मूल नियमों का पालन। नेपोलियन ने शिक्षा को तीन स्तरों पर विभाजित किया।–प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षा।

प्रत्येक नगर में प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालय स्थापित किये गये। प्रीफेक्टों और उप प्रीफेक्टों की देख रेख में शिक्षा का कार्य सौंपा गया। अनुशासन और सैनिक शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया जाता था। माध्यमिक स्तर पर लीसे नामक सैनिक स्कूलों की स्थापना की गयी। उच्च शिक्षा के लिए पेरिस विश्वविद्यालय का पुनर्गठन किया गया। विश्वविद्यालय पर सरकार का पूर्ण नियन्त्रण लागू किया गया। पेरिस विश्वविद्यालय के प्रमुख शिक्षकों और अधिकारियों की नियुक्ति नेपोलियन स्वयं करता था। विश्वविद्यालय स्वायत्त संस्था के स्थान पर शिक्षा विभाग का एक अंग बना दिये गए। विश्वविद्यालय के प्रमाणपत्र के बिना नया स्कूल खोलने या सार्वजनिक रूप से शिक्षा देने का किसी को अधिकार नहीं था। शिक्षकों को प्रशिक्षित करने के लिए नॉमर्ल स्कूल खोले गये। नेपोलियन ने पैदल सेना के लिए सेंट सीर ऑफिसर्स स्कूल की स्थापना की और तकनीकी शिक्षा हेतु एकोल पॉलीटैक्नीक की स्थापना की। निर्धन और मेधावी छात्रों हेतु छात्रवृत्ति की व्यवस्था भी की गयी। नेपोलियन ने नारी शिक्षा ओर कोई ध्यान नहीं दिया। उनके लिए प्राथमिक स्तर तक ही शिक्षा की व्यवस्था की गयी, जो धार्मिक संस्थाओं के अधिकार में रखी गयी।

2.6.5 आर्थिक सुधार

नेपोलियन ने प्रथम कौंसिल बनने के पश्चात आर्थिक स्थिति सुधारने के कई प्रयास किए। आर्थिक क्षेत्र में सरकारी नियन्त्रण और मुद्रा के विकास हेतु नेपोलियन ने पेरेगो के सहयोग से 1800 में बैंक ऑफ फ्रांस की स्थापना की। इसे नोट जारी करने का एकाधिकार दिया गया। साथ ही इस बैंक से ऋण प्राप्त करने की व्यवस्था भी की गयी। बैंक ने फ्रांस की मुद्रा स्थिति को दृढ़ बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। कृषि के विकास हेतु बंजर और रेतीले इलाकों को उपजाऊ बनाने का प्रयास किया गया। नहरों की व्यवस्था ठीक की गयी। परन्तु भू सुधार और उत्पादन वृद्धि हेतु कोई मौलिक सुधार नहीं किये गए। राजस्व और करों की वसूली केन्द्रिय सरकार के अधीन रखी गयी। इससे करदाता और सरकार दोनों को लाभ हुआ। करों को व्यक्ति की आर्थिक स्थिति के आधार पर निर्धारित किया गया।

नेपोलियन ने औद्योगिक क्षेत्र में मशीनीकरण करने के स्थान पर पुरातन व्यवस्था को ही बनाये रखा। वह औद्योगिक क्रान्ति के महत्व को नहीं समझ सका। फ्रांस के कारखाने पुराने ढंग से उत्पादन करते रहे। यद्यपि ऊनी उद्योग, लोहे का निर्माण, नील, चुकन्दर से चीनी तथा सोडा बनाने की विधि का विकास हुआ। तथापि नवीन तकनीकी का प्रयोग और मशीनीकरण को बढ़ावा न देने के कारण फ्रांस उच्चकोटि के माल का उत्पादन न कर सका। उसने मजदूर संघों को गैर कानूनी घोषित कर मजदूरों पर कड़ा नियन्त्रण स्थापित किया। परन्तु मजदूरों और किसानों की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति का वह विशेष ध्यान रखता था। उसने अन्न के निर्यात पर प्रतिबन्ध और डबलरोटी के दाम निश्चित कर दिए थे। उसके युद्धों पर व्यय का दबाब राज्य की आय पर नहीं पड़े इसलिए वह युद्धों का खर्च भी विजित प्रदेश से वसूलता था। विजित प्रदेश से प्राप्त धन एक अलग निधि के रूप में 'डोमेन एक्स्ट्राआडिनेयर' में जमा होता था, जिसे सेनापतियों को पारितोष स्वरूप प्रदान करने के साथ–साथ युद्ध सम्बन्धित आवश्यक खर्चों में प्रयोग किया जाता था।

नेपोलियन मुक्त व्यापार के सिद्धान्त के विपरीत व्यापार पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण चाहता था। उसके अनुसार कोष पर नियन्त्रण और व्यापार में संतुलन के लिए राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक है। उसने पुरातन व्यवस्था के अनुसार कुछ व्यापार श्रेणियों को स्थापित किया। नेपोलियन द्वारा मुक्त व्यापार, औद्योगिकीकरण, नवीन तकनीक का प्रयोग आदि की उपेक्षा तथा पुरानी सुरक्षा नीति को अपनाना समयानुकूल नहीं थी। इस कारण उदारवादी मध्यम वर्ग और पूंजीवादी उससे नाराज हो गये और फ्रांस पूंजीवाद और औद्योगिक विकास में इंगलैण्ड की अपेक्षा पीछे रह गया।

2.6.6 सांस्कृतिक और सामान्य हित के कार्य

नेपोलियन ने लगभग 229 अच्छी सड़कों का निर्माण कराया था। तीस सड़कें पेरिस को फ्रांस के प्रमुख नगरों से जोड़ती थीं। नदियों पर पुल बनाये गये और नहरों का निर्माण किया गया। सीन नदी पर मजबूत पुलों को बनाया गया। पेरिस का पुननिर्माण किया गया और उसे यूरोप के

सबसे सुन्दर और भव्य नगर के रूप में स्थापित किया गया। नेपोलियन स्वयं इटली और मिश्र से कला कृतियां पेरिस को सजाने के लिए लाया था। पेरिस में ला मादलैन का गिरजाघर का निर्माण किया गया। थियेटर, म्यूजियम और बेघर लोगों के लिए आवास गृहों का निर्माण किया गया। पुराने राजप्रसादों तुइलरी और फौंतैब्लो को पुनः सुसज्जित किया गया। जोसेफिन के लिए मालमेजों नामक सुन्दर महल का निर्माण कराया गया। भवनो और फर्नीचर निर्माण में एक नई शैली का विकास हुआ, जिसे साम्राज्य की शैली कहा जाता है। नेपोलियन ने शिक्षा और संस्कृति के विकास के लिए जनता पुस्तकालय भी स्थापित किये। तुलों और शेरब्रुग बन्दरगाहों का विकास भी किया गया।

नेपोलियन के समय में प्रमुख चित्रकार दावी और ऐंग्र ने नेपोलियन के युद्धों की सुन्दर कलाकृतियों द्वारा उसको महिमा मंडित करने का कार्य किया। नेपोलियन ने साहित्य और पत्रकारिता पर कई प्रतिबन्ध लगा कर उसकी स्वाभाविक प्रगति को रोक दिया था। फलतः फ्रांस में साहित्य का अधिक विकास नहीं हो सका। उस समय के प्रमुख फ्रांसीसी साहित्यकार शातोब्रियां और मैडम द स्ताएल उसके विरोधी थे।

नेपोलियन ने परम्परागत कुलीन वर्ग के महत्व को कम करने तथा जन सामान्य और कर्मचारियों में देश के प्रति समर्पण की भावना जाग्रत करने के लिए एक सम्मान 'लीजियन ऑफ ऑनर' की स्थापना की, जिसके द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में उपलब्धियों के लिए लोगों को सम्मान देकर एक नया विशिष्ट वर्ग बनाया।

स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

नेपोलियन के सिविल कोड का महत्व स्पष्ट कीजिए।

1. पोप के साथ नेपोलियन के समझौते की प्रमुख धाराऐं बताते हुए समीक्षा कीजिए।
2. फ्रांस में शिक्षा के सुधार के लिए नेपोलियन ने क्या व्यवस्था की?

2.7 प्रथम कौंसिल कालीन विदेश नीति

फ्रांस में संविधान निर्माण एवं आन्तरिक क्षेत्र में शान्ति स्थापित करने के पश्चात नेपोलियन बोनापार्ट ने फ्रांस के विरूद्ध बने द्वितीय गुट की ओर ध्यान दिया। आपको बताया जा चुका है कि नेपोलियन जब मिश्र अभियान में व्यस्त था, तभी यूरोपीय देशों ने फ्रांस के विरूद्ध द्वितीय गुट की स्थापना करली थी। इस गुट में आस्ट्रिया, इग्लैण्ड, रूस, तुर्की, नेपल्स और पुर्तगाल आदि देश सम्मिलित थे। यह गुट फ्रांस की सीमाओं के लिए निरन्तर खतरा बनता जा रहा था। अतः उसने शीघ्रता से द्वितीय गुट के विरूद्ध युद्ध की योजना बनाई।

2.7.1 आस्ट्रिया से युद्ध

आस्ट्रिया ने इटली पर अधिकार करके उसके प्रथम अभियान की उपलब्धियों को नष्ट कर दिया था। अतः नेपोलियन ने सर्वप्रथम आस्ट्रिया पर आक्रमण की योजना बनाई। उसने दक्षिण पश्चिम में इटली की ओर से आस्ट्रिया पर स्वयं आक्रमण किया और उत्तर पश्चिमी दिशा राइन

क्षेत्र से अपने सेनापतियों को भेजा। मोरेंगा और होहेनलिंडेन के प्रसिद्ध युद्धों में फ्रांस की सेना ने सफलता प्राप्त की और आस्ट्रिया को पुनः सन्धि करने पर विवश किया। 1801 में आस्ट्रिया और फ्रांस के मध्य ल्यूनेविल की सन्धि हुयी, जिसमें केम्पोफोर्मिया की शर्तों को ही दुहराया गया। फ्रांस का बेल्जियम और राइन नदी के बाएँ किनारे पर पुनः अधिकार हो गया और इटली के गणतंत्रों बटेवियन, हेल्वेटिक और सिसएल्पाइन का वह स्वयं राष्ट्रपति हो गया।

2.7.2 द्वितीय गुट का अन्त

1800 में रूस आस्ट्रिया से नाराज होकर द्वितीय गुट से अलग हो गया। 1801 में नेपोलियन ने आस्ट्रिया से सन्धि कर ली। इसके पश्चात नेपल्स ने भी आत्म समर्पण कर दिया। रूस ने स्वीडन, प्रशा और डेनमार्क के साथ मिलकर सशस्त्र तटस्थता की नीति अपनायी, जिसका उद्देश्य इंग्लैण्ड को फ्रांस के माल के लिए तटस्थ देशों के जहाजों की तलाशी लेने से रोकना था। स्पेन ने फ्रांस से मित्रतापूर्ण सबंध स्थापित करके लुसियाना दे दिया। 1801 तक द्वितीय गुट में केवल इंग्लैण्ड ही फ्रांस का शत्रु रह गया था।

2.7.3 इंग्लैण्ड से समझौता

फ्रांस का इंग्लैण्ड के साथ लगभग दस वर्ष से युद्ध चल रहा था। दोनों ही देश शान्ति चाहते थे। नेपोलियन समझ चुका था कि शक्तिशाली नौ सेना के बिना इंग्लैण्ड को पराजित करना सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त वह फ्रांस की गृहनीति के क्षेत्र में सुधार भी करना चाहता था। दूसरी ओर इंग्लैण्ड ने भी बढ़ते राष्ट्रीय ऋण और जनता के असन्तोष के कारण समझौते का रूख अपनाया। फलतः 1802 ई. में दोनों देशों ने आमियां की सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार–इंग्लैण्ड ने फ्रांस की कौंन्स्यूलेट सरकार को मान्यता प्रदान की। श्रीलंका और ट्रिनीडाड को छोड़कर फ्रांस के विजित उपनिवेशों को वापिस कर दिया। फ्रांस ने पोप के क्षेत्रों और नेपिल्स से अपनी सेनायें हटा लीं। आयोनियन द्वीप की स्वतंत्रता और पुर्तगाल की अखण्डता को फ्रांस ने स्वीकारा। मिश्र तुर्की को लौटा दिया गया।

यह सन्धि स्थायी सिद्ध नहीं हुयी, यह दोनों देशों के मध्य एक युद्ध विराम मात्र थी। 1803 में इनके मध्य पुनः युद्ध प्रारम्भ हो गया, जिसने 1805 में यूरोपीय युद्ध का रूप ले लिया।

2.7.3 औपनिवेशिक राज्य

यूरोप में अपनी सीमाओं का विस्तार करने के साथ–साथ वह फ्रांस के लिए एक औपनिवेशिक राज्य की स्थापना करना चाहता था। उसने स्पेन से लुसियाना का प्रदेश प्राप्त किया। फ्रेन्च गुयाना को अमेजन नदी तक बढ़ाया। सैंट डोमिगो (वेस्ट इंडिज में हैती) को जीतने का प्रयत्न किया। भारतीय राज्यों पर भी प्रभाव स्थापित करने की कोशिश की। परन्तु इंग्लैण्ड के विरोध के कारण वह औपनिवेशिक विस्तार में अधिक सफलता नहीं प्राप्त कर सका।

स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. द्वितीय गुट में कौन–कौन से देश सम्मिलित थे ?
2. आमियां की सन्धि से इंग्लैण्ड और फ्रांस के मध्य क्या समझौता हुआ ?

2.8 सम्राट के रूप में नेपोलियन(1804–1814)

नेपोलियन अत्यन्त महत्वाकांक्षी था। 1802 में उसने जनमत संग्रह कराकर अपने को जीवन पर्यन्त प्रथम कौंसिल नियुक्त करा लिया। 1804 में पुनः जनमत संग्रह कराकर वह फ्रांस का सम्राट बन गया। 2 दिसम्बर, 1804 को नाट्रडम के प्रसिद्ध चर्च में उसका राज्याभिषेक किया गया, जिसमें शामिल होने के लिए सम्पूर्ण यूरोप के शासक और विशिष्ट लोग पेरिस आए। उसने राजमुकुट पोप के हाथ से लेकर स्वयं धारण कर लिया। फ्रांस में नेपोलियन का एकतंत्र शासन स्थापित हुआ। सम्राट बनने के पश्चात वह यूरोप पर सर्वव्यापी साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न देखने लगा। उसके सम्राट बनने के पश्चात अगले दस वर्षों का इतिहास निरन्तर युद्धों का इतिहास है।

नेपोलियन की साम्राज्यवादी नीति के विरूद्ध यूरोप के देशों ने भी इंग्लैण्ड के नेतृत्व में गुट की स्थापना की। इस गुट में इंग्लैण्ड, आस्ट्रिया, रूस और स्वीडन थे तथा इसका लक्ष्य फ्रांस को उसकी मूल सीमाओं के अन्दर रखना था। यह गुट फ्रांस के विरूद्ध यूरोपीय देशों का तृतीय गुट कहलाया। नेपोलियन ने इस गुट के विरूद्ध अपने अभियान का प्रारम्भ 20 अक्टूबर, 1805 ई0 को आस्ट्रिया पर आक्रमण कर उल्म के युद्ध में उसे पराजित करके किया। तत्पश्चात इंग्लैण्ड को समुद्री युद्ध में पराजित करने की योजना बनाने लगा।

2.8.1 इंग्लैण्ड से युद्ध

नेपोलियन की साम्राज्यवादी योजना को सर्वाधिक चुनौती देने वाला उसका चिर परिचित शत्रु इंग्लैण्ड था। नेपोलियन ने इंग्लैण्ड की व्यापारिक गतिविधियों पर रोक लगाने के लिए हेनोवर पर अधिकार कर लिया था और जर्मनी के बन्दरगाह इंग्लैण्ड के लिए बन्द कर दिये थे। दूसरी ओर इंग्लैण्ड का प्रधानमंत्री पिट फ्रांस के विरूद्ध गुट का निर्माण करने में संलग्न था। फलतः 21 अक्टूबर, 1805 में दोनों देशों के मध्य प्रसिद्ध ट्रैफेलगर का युद्ध हुआ। इस युद्ध में नेपोलियन ने सामुद्रिक सेना का नेतृत्व विलनव को सौंपा। इंग्लैण्ड का नौसेनाध्यक्ष नेल्सन था। नेल्सन के कुशल नेतृत्व में इंग्लैण्ड की सेना ने फ्रांस और स्पेन के संयुक्त नौसैनिक बेड़े को पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया। युद्ध में नेल्सन मारा गया, लेकिन इंग्लैण्ड की नौसैनिक श्रेष्ठता सिद्ध हो गयी। इसके पश्चात नेपोलियन ने कभी इंग्लैण्ड के विरूद्ध प्रत्यक्ष युद्ध नहीं किया।

2.8.2 आस्ट्रिया पर आक्रमण

ट्रैफेलगर के युद्ध में पराजित होने के शीघ्र बाद ही नेपोलियन ने आस्ट्रिया पर आक्रमण कर दिया। 2 दिसम्बर, 1805 को आस्टरलित्स के युद्ध में आस्ट्रिया और रूस की संयुक्त सेनाओं के साथ

उसका भंयकर युद्ध हुआ। इसे 'तीन सम्राटों का युद्ध' कहा जाता है। इस युद्ध में नेपोलियन को अपने जीवन की महानतम विजयी प्राप्त हुयी। उसके विरूद्ध बना तृतीय गुट भंग हो गया। आस्ट्रिया ने विवश होकर 25 दिसम्बर, 1805 में उसके साथ प्रेसबर्ग की सन्धि की, जिसके अनुसार

- आस्ट्रिया को वेनेशिया, इस्ट्रिया तथा डेलमेशिया के प्रदेश इटली के राज्य को देने पड़े तथा नेपोलियन को इटली का राजा स्वीकार करना पड़ा।
- फ्रांस के मित्र बवेरिया और वर्टेम्बर्ग को स्वतंत्र राज्य के रूप में स्वीकारा गया। आस्ट्रिया को टाइरोल का प्रदेश बवेरिया तथा पश्चिम का कुछ क्षेत्र वर्टेम्बर्ग को देना पड़ा।
- बेडेन को ग्रेन्ड डची बनाया गया तथा उसे भी आस्ट्रिया के पश्चिम से कुछ क्षेत्र दिलवाये गये।

यह सन्धि नेपोलियन की महान विजय थी। इस सन्धि से आस्ट्रिया की प्रतिष्ठा को ठेस पहुंची। आस्ट्रिया से लगभग तीस लाख जनसंख्या वाले क्षेत्रों को ले लिया गया तथा राइन, इटली और स्विट्जरलैण्ड से उसका सम्बन्ध टूट गया।

2.8.3 मध्य यूरोप का पुनर्गठन

नेपोलियन द्वारा आस्ट्रिया की पराजय और प्रेसबर्ग की सन्धि के दूरगामी परिणाम निकले। नेपोलियन राजाओं का निर्माता बन गया। उसने जुलाई, 1806 में जर्मनी का पुनर्निमाण किया और बवेरिया, वर्टेम्बर्ग तथा 14 अन्य जर्मन राज्यों को मिलाकर 'राइन का परिसंघ' बनाया। जर्मनी के कई छोटे राज्यों को समाप्त कर इस राइन संघ में मिला दिया गया। नेपोलियन को इस परिसंघ का संरक्षक स्वीकारा गया। इस प्रकार उसने आस्ट्रिया और प्रशा की सीमा पर एक बड़ा राज्य खड़ा कर दिया। इसके बाद 6 अगस्त, 1806 में नेपोलियन ने पवित्र रोमन सम्राट के पद का अन्त कर दिया। पवित्र रोमन सम्राट फ्रांसिस अब केवल आस्ट्रिया का सम्राट रह गया।

प्रेसबर्ग की सन्धि से इटली में भी आस्ट्रिया का प्रभाव समाप्त हो गया था। नेपोलियन ने नेपल्स में बूर्बा शासक को हटाकर फरवरी, 1806 में जोजफ बोनापार्ट को शासक बना दिया। हालैण्ड में भी उसने जून, 1806 में लुई बोनापार्ट को शासक नियुक्त किया। इस प्रकार फ्रांस के चारों ओर अधीनस्थ राज्यों का घेरा बनाकर नेपोलियन ने अपने सम्बन्धियों को उन राज्यों का शासक बना दिया।

2.8.4 प्रशा की पराजय

प्रशा का सम्राट फ्रेडरिक विलियम तृतीय नेपोलियन के विरूद्ध गुट में शामिल नहीं हुआ था, क्योंकि बेसेल की सन्धि (1795) के पश्चात से वह तटस्थ था। प्रेसबर्ग की सन्धि के द्वारा जर्मनी पर नेपोलियन के हस्तक्षेप से प्रशा नाराज हो गया और उसने युद्ध की घोषणा कर दी। 14 अक्टूबर, 1806 को जेना और आवरस्टेट के युद्ध में नेपोलियन ने प्रशा को बुरी तरह पराजित किया। प्रशा के सम्राट ने रूस में शरण ली। अतः नेपोलियन ने तुरन्त ही रूस पर आक्रमण कर दिया। तत्पश्चात 1807 में टिलसिट सन्धि द्वारा प्रशा से अनेक क्षेत्रों को पृथक कर उसे दंडित किया गया। प्रशा के पश्चिमी प्रान्तों से वेस्टफेलिया राज्य बनाकर नेपोलियन ने अपने भाई जेरोम बोनापार्ट को शासक

बना दिया। प्रशा के पूर्वी प्रान्तों से नवीन राज्य डची आफ वारसा स्थापित कर सैक्सनी के ड्यूक को दे दिया। प्रशा को बहुत सी धनराशि क्षतिपूर्ति के रूप में देनी पड़ी तथा उसकी सेना घटाकर 22 हजार निश्चित कर दी गयी। इस प्रकार इस सन्धि से प्रशा का अत्यन्त अपमान हुआ तथा उसका राज्य आधा रह गया।

2.8.5 रूस से सम्बन्ध

फरवरी, 1807 में ईलो के युद्ध में नेपोलियन कर रूस के साथ घमासान युद्ध हुआ। नेपोलियन के जीवन के सबसे भयंकर रक्तपात वाले युद्धों में से एक होने के बावजूद यह युद्ध अनिर्णायक रहा। पुनः जून, 1807 में फ्रीडलैण्ड के युद्ध में रूस पराजित हुआ। रूस को विवश होकर टिलसिट की सन्धि पर हस्ताक्षर करने पड़े। 8 जुलाई, 1807 को की गयी इस सन्धि द्वारा नेपोलियन ने कूटनीति से रूस को अपना मित्र बना लिया। टिलसिट की सन्धि की प्रमुख धाराएं थीं।–

1. दोनों देशों ने यूरोप को अपने प्रभाव क्षेत्रों में बाँट लिया। पश्चिमी और मध्य यूरोप में नेपोलियन और पूर्वी यूरोप में जार अलेक्जेंडर को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतंत्रता मिल गयी।
2. रूस ने हालैण्ड, इटली और जर्मनी में नेपोलियन द्वारा किये गये परिवर्तनों को मान्यता दी।
3. गुप्त रूप से तय हुआ कि रूस इंग्लैण्ड और फ्रांस के मध्य समझौते का प्रयत्न करेगा और यदि इंग्लैण्ड राजी न हुआ तो रूस इंग्लैण्ड के विरूद्ध नेपोलियन के व्यापारिक युद्ध में नेपोलियन का सहयोग करेगा।
4. इसी प्रकार तुर्की में फ्रांस मध्यस्थता करेगा और यदि तुर्की फ्रांस की मध्यस्थता को अस्वीकार करेगा तो रूस और फ्रांस तुर्की को आपस में बाँट लेंगे।
5. नेपोलियन ने जार के आग्रह को स्वीकार कर प्रशा के राज्य को पूर्णतः समाप्त नहीं किया। परन्तु जैसा कि आपको बताया जा चुका है, इस सन्धि द्वारा प्रशा का विघटन कर दिया गया।

टिलसिट की सन्धि नेपोलियन के जीवन का चरमोत्कर्ष था। उसका साम्राज्य अपने शिखर पर। सन् 1805 और 1807 के विजय अभियान नेपोलियन के कुशल सैनिक नेतृत्व के सर्वाधिक गौरवपूर्ण अध्याय थे। अब इंग्लैण्ड के अतिरिक्त लगभग समस्त यूरोप उसके आधिपत्य में था।

स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. फ्रांस के विरूद्ध किन यूरोपीय राज्यों ने तृतीय गुट की स्थापना की और क्यों?
2. प्रेसबर्ग की सन्धि के महत्व को स्पष्ट कीजिये।
3. टिलसिट की सन्धि के परिप्रेक्ष्य में नेपोलियन और रूस के सम्बन्धों की व्याख्या कीजिये।

2.9 नेपोलियन के पतन में सहायक घटनायें

नेपोलियन अपनी विजयों और उपलब्धियों को स्थायित्व नहीं प्रदान कर सका। 1807 ई0 के पश्चात उसके युद्धों और कार्यों ने उसको पतन के करीब पहुँचा दिया। नेपोलियन ने स्वयं कुछ घटनाओं को अपने पतन का कारण माना। उसने पोप से सम्बन्ध, स्पेन की अनैतिक विजय, रूस के अभियान और इंग्लैण्ड के विरूद्ध महाद्वीपीय नीति को अपने पतन के लिए उत्तरदायी माना।

2.9.1 महाद्वीपीय योजना

टिलसिट की सन्धि के पश्चात इंग्लैण्ड ही एकमात्र अविजित देश था, जिसको पराजित किये बिना यूरोप की प्रभुता प्राप्त नहीं की जा सकती थी। इंग्लैण्ड भौगोलिक दृष्टि से चारों ओर से समुद से घिरा था और उसका नौसैनिक बेड़ा भी विश्व में सर्वोत्कृष्ट था। ट्रैफेलगर के युद्ध में पराजित होने के बाद नेपोलियन समझ चुका था कि इंग्लैण्ड को समुद्री युद्ध में हराना असम्भव है। नेपोलियन को विश्वास था कि इंग्लैण्ड के वाणिज्य और व्यापार पर अंकुश लगाकर उसे पराजय स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जा सकता है। अतः इंग्लैण्ड की अर्थव्यवस्था को आघात पहुँचाने के उद्देश्य से उसने महाद्वीपीय योजना बनाई। इसके द्वारा इंग्लैण्ड के व्यापार पर प्रतिबंध लगाकर उसकी आर्थिक नाकेबन्दी की जानी थी। यह कोई नयी व्यवस्था नहीं थी, क्योंकि संविधान परिषद और डायरेक्टरी के समय में भी इंग्लैण्ड के विरूद्ध आर्थिक नाकेबन्दी की नीति को निर्धारित किया गया था। नेपोलियन ने इसे विशाल पैमाने पर व्यवहारिक रूप देने का निश्चय किया। उसने इंग्लैण्ड का आर्थिक बहिष्कार करने के लिए कई आज्ञापत्र एवं आदेश जारी करके यूरोपीय देशों पर उनका पालन करने के लिए दबाव डाला। इस नीति को नेपोलियन ने चार घोषणाओं द्वारा क्रियान्वित किया।

- बर्लिन आदेश– 21 नवम्बर, 1806 को नेपोलियन ने बर्लिन में घोषणा करके महाद्वीपीय व्यवस्था को लागू किया। इसमें उसने आदेश जारी किया कि ब्रिटिश द्वीप समूह के विरूद्ध आर्थिक नाकेबन्दी प्रारम्भ की जाती है, कोई भी ब्रिटिश जहाज किसी यूरोपीय बन्दरगाह पर नहीं आने पाये। यदि कोई अंग्रेज जहाज फ्रांस अथवा नेपोलियन के किसी मित्र राज्य में आये, तो उसे माल सहित जब्त कर लिया जाये।
- वार्सा आदेश– नेपोलियन ने 25 जनवरी, 1807 ई0 को वार्सा आदेश द्वारा प्रशा और हेनोवर के समुद्री तटों पर भी अंग्रेज व्यापार के विरूद्ध प्रतिबन्ध लगा दिया।
- मिलान घोषणा– 17 दिसम्बर, 1807 ई0 में नेपोलियन ने मिलान आदेश जारी किया। इसके अनुसार यह घोषणा की गयी कि इंग्लैण्ड के बन्दरगाहों में उपस्थित होने वाले अथवा तलाशी देने वाले जहाजों को जब्त कर लिया जायेगा, चाहे वह जहाज तटस्थ देश का ही हो।
- फाण्टेनब्ल्यू आदेश–18 अक्टूबर, 1810 ई0 को नेपोलियन ने सबसे कठोर आदेश जारी किया। इन आदेशों में कहा गया कि जब्त अंग्रेजी सामान को जला दिया जाए। साथ ही अवैध ढ़ंग से व्यापार करने वालों के लिए कठोर दण्ड एवं पृथक न्यायालय की स्थापना की गयी।

इंग्लैण्ड का प्रतियुत्तर (आर्डर इन काउन्सिल) –इंग्लैण्ड ने नेपोलियन की महाद्वीपीय योजना के प्रतियुत्तर में जनवरी, 1807 में आर्डर इन काउन्सिल नामक अध्यादेश जारी किया, जिसके अनुसार फ्रांस या उसके मित्र देशों के साथ जो जहाज व्यापार करेंगे उन पर कब्जा कर लिया जायेगा।

तटस्थ देशों के जहाजों को यूरोप के किसी बन्दरगाह में जाने से पूर्व इंग्लैण्ड के बन्दरगाहों में जाना, इंग्लैण्ड के साथ व्यापार करना और लाइसेंस प्राप्त करना अनिवार्य कर दिया गया।

महाद्वीपीय व्यवस्था को सफल बनाने के लिए नेपोलियन को समझौता और युद्ध दोनों का सहारा लेना पड़ा। उसने रूस से सन्धि करके तथा प्रशा और आस्ट्रिया पर दबाव डालकर उन्हें महाद्वीपीय व्यवस्था को स्वीकारने को बाध्य किया। पुर्तगाल और स्पेन से प्रायद्वीपीय युद्ध, पोप के राज्य और स्वीडन पर अधिकार, भाई लुई बोनापार्ट को अपदस्थ कर हॉलैण्ड का फ्रांस में विलय आदि कार्य नेपोलियन ने महाद्वीपीय योजना को प्रभावी बनाने के लिए ही किये।

इस व्यवस्था का प्रभाव इंग्लैण्ड पर ही नहीं, वरन् फ्रांस सहित यूरोप के अधिकांश देशों पर पड़ा। यूरोपीय देशों का आयात– निर्यात रूक गया। इंग्लैण्ड में बेरोजगारी और खाद्यान्न संकट उत्पन्न हुआ। साथ ही अमेरिका और डेनमार्क जैसे तटस्थ देशों के साथ इंग्लैण्ड के सम्बन्ध बिगड़ गये। फ्रांस तथा यूरोप के अन्य देशों में दैनिक जीवन की आवश्यक वस्तुओं का अभाव होने लगा। इन देशों ने कुछ वस्तुओं का उत्पादन स्वयं करना शूरू किया, परन्तु वह इंग्लैण्ड़ के उच्चकोटि के उत्पादन का विकल्प नही बन सका। नेपोलियन को अपनी सेना के लिए ओवरकोट और जूते इंग्लैण्ड से ही मंगाने पड़े। अंततः यह व्यवस्था असफल रही। इसकी असफलता के प्रमुख कारण थे।–

1. फ्रांस के पास शक्तिशाली नौसैनिक बेड़े का अभाव था, जिससे वह हजारों मील लम्बे समुद्र तट पर नजर रख सके। शक्तिशाली नौसैनिक बेड़े के अभाव में वह खुले समुद्र में जहाजों को पकड़ने तथा इंग्लैण्ड के माल को यूरोप में आने से रोकने में असफल रहा।
2. इंग्लैण्ड का सामान चोरी छिपे यूरोप के देशों में आने लगा। बन्दरगाहों में तस्करी और भ्रष्टाचार बढ़ गया।
3. इंग्लैण्ड के पास सारे विश्व में अपने अनेक उपनिवेश थे, जहाँ से वह कच्चा माल मंगाता और तैयार माल बेचता था। यूरोपीय व्यापार पर प्रतिबन्ध का उस पर बहुत अधिक प्रभाव नहीं पड़ सका।
4. इंग्लैण्ड यूरोप से खाद्यान्न सामग्री आयात करता था। महाद्वीपीय व्यवस्था के कारण वहाँ खाद्यान्न संकट उत्पन्न हुआ। परन्तु जब यह संकट चरम में पहुँचा, तब नेपोलियन ने दस गुने दाम में अनाज इंग्लैण्ड भेजना प्रारम्भ कर दिया। नेपोलियन अनाज इंग्लैण्ड नहीं भेजता तो सम्भव था कि इंग्लैण्ड उससे समझौता कर लेता।
5. यूरोपीय देशों ने दबाव में आकर इस व्यवस्था को स्वीकारा था, अवसर मिलते ही वह इससे अलग हो गये। अनेक देश नेपोलियन के विरोधी हो गये और वह उनसे युद्धों में उलझता चला गया।
6. अधिकांश देश दैनिक उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन नहीं करते थे और इंग्लैण्ड की बनी सामग्री पर ही निर्भर थे। महाद्वापीय व्यवस्था के कारण उत्पन्न व्यापक आर्थिक कष्टों ने नेपोलियन के शासन को अलोकप्रिय बना दिया। फ्रांस में मध्यम वर्ग भी उसका विरोधी हो गया।

नेपोलियन की यह योजना अव्यवहारिक थी। अन्य देशों से अपेक्षा करना की वह कष्ट सहकर सहयोग करेंगे, नेपोलियन की भारी भूल थी।

2.9.2 प्रायद्वीपीय युद्ध

पुर्तगाल के इंग्लैण्ड के साथ राजनैतिक और व्यापारिक सम्बन्ध थे, उसने नेपोलियन की महाद्वीपीय योजना को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था। फलतः नेपोलियन ने स्पेन के साथ मिलकर 1807 ई0 में पुर्तगाल पर आक्रमण कर उस पर अधिकार कर लिया। पुर्तगाल पर अभियान के समय फ्रांस की सेनाएं स्पेन की सीमाओं का अतिक्रमण करती रहती थीं। नेपोलियन की महत्वाकांक्षा बढ़ती गयी और उसने 1808 में स्पेन पर अधिकार कर लिया। स्पेन पर बूर्बा वंश का शासक चार्ल्स चतुर्थ शासन करता था, वह एक अयोग्य शासक था। राजा का पुत्र फर्डीनेन्ड भी अपने पिता से असंतुष्ट था। नेपोलियन ने दोनों के वैमनस्य का लाभ उठाया और उन्हें स्पेन का सिंहासन त्यागने पर विवश किया। स्पेन में नेपोलियन ने अपने भाई जोसेफ बोनापार्ट को शासक नियुक्त किया।

नेपोलियन के इस कार्य को स्पेन की जनता ने अपना राष्ट्रीय अपमान समझा और पूरा राष्ट्र नेपोलियन के विरूद्ध संघर्षरत हो गया। नेपोलियन को एक दीर्घकालीन युद्ध का सामना करना पड़ा। यह युद्ध 1808 से 1813 तक चलता रहा और प्रायद्वीपीय युद्ध कहलाया। स्पेन की राष्ट्रवादी जनता का साथ पुर्तगाल और इंग्लैण्ड ने भी दिया। 1808 में स्पेन के विद्रोहियों ने फ्रांस की सेना को पराजित कर दिया। राजा जोसेफ को भागना पड़ा। नेपोलियन ने स्वयं स्पेन पर हमला करके स्पेनी सेना को पराजित किया तथा पुनः जोसेफ को स्पेन के सिंहासन पर बैठाया। 1809 ई0 में नेपोलियन मध्य यूरोप की गतिविधियों में व्यस्त हो गया। नेपोलियन की अनुपस्थिति में स्पेनी सेना ने इंग्लैण्ड के सहयोग से फ्रांसीसी सेना को 1812–1813 में सेलमेंका और विक्टोरिया के युद्ध में पराजित किया। अंततः स्पेन और पुर्तगाल फ्रांस के नियन्त्रण से मुक्त हो गये।

स्पेन की भौगोलिक स्थिति, नेपोलियन का मध्य यूरोप के देशों में व्यस्त होना, अंग्रेज सेना की युद्ध क्षमता तथा स्पेन में राष्ट्रीयता की भावना का उदय प्रायद्वीपीय युद्ध में नेपोलियन की असफलता के कारण थे। इस युद्ध में तीन लाख फ्रांसीसी सैनिक मारे गये। स्पेन पर अधिकार नेपोलियन की भारी भूल थी। स्वयं नेपोलियन ने कहा था कि स्पेन का नासूर मेरे विनाश का कारण था। इस युद्ध के साथ ही नेपोलियन के पतन का क्रम प्रारम्भ हुआ।

2.9.3 आस्ट्रिया से पुनः युद्ध

नेपोलियन को प्रायद्वीपीय युद्ध में व्यस्त देख आस्ट्रिया ने फ्रांस के विरूद्ध अप्रैल, 1809 में युद्ध की घोषणा कर दी। किन्तु नेपोलियन के युद्ध कौशल के आगे वैग्राम के युद्ध में जुलाई, 1809 को आस्ट्रिया पराजित हो गया। आस्ट्रिया को फ्रांस के साथ वियना की अपमानजनक सन्धि करनी पड़ी, जिसके अनुसार उसे इलीरिया के प्रान्त फ्रांस को, पूर्वी गेलेशिया रूस को तथा पश्चिमी गेलेशिया वारसा को देना पड़ा। उसे महाद्वीपीय व्यवस्था स्वीकार करनी पड़ी तथा क्षति पूर्ति के रूप में हर्जाना देना पड़ा। सन्धि के अनुसार आस्ट्रिया की राजकुमारी मेरी लुईसा का विवाह नेपोलियन से कर दिया गया। नेपोलियन ने अपनी पूर्व पत्नी जोसेफिन को तलाक देकर यह विवाह अपने विशाल साम्राज्य के लिए उत्तराधिकारी प्राप्त करने तथा पारिवारिक गौरव को बढ़ाने के लिए किया था।

2.9.4 रूसी अभियान

रूस और फ्रांस के मध्य टिल्सिट सन्धि के द्वारा मित्रता स्थापित हो गयी थी, लेकिन टिल्सिट सन्धि का आधार स्थायी नहीं था। दोनों देशों के सम्बन्ध कई कारणों से खराब होते चले गये। रूस महाद्वीपीय योजना को जारी रखने के पक्ष में नहीं था, क्योंकि दैनिक जीवन की वस्तुओं के लिए वह इंग्लैण्ड पर ही निर्भर था। रूस कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार करना चाहता था, परन्तु नेपोलियन इसके लिए तैयार नहीं था। 1809 ई0 में नेपोलियन ने पोलैण्ड पर अधिकार का उसे रूस में मिलाने के स्थान पर ग्रांड डची ऑफ वारसा की स्थापना की तो रूस ने नेपोलियन की घोषणाओं की उपेक्षा करते हुए इंग्लैण्ड के साथ व्यापार प्रारम्भ कर दिया था। नेपोलियन रूसी घराने में विवाह करना चाहता था, किन्तु रूस के जार ने उसके इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया था।

नेपोलियन ने जून, 1812 ई0 में छः लाख सैनिकों की विशाल सेना के साथ रूस पर आक्रमण कर दिया। रूसी सेनाओं ने सीधे युद्ध करने की अपेक्षा पीछे हटने की नीति अपनायी तथा जिन नगरों और ग्रामों से वह पीछे हटते गये, उसे वह पूर्णतः नष्ट करते चले गये। अन्त में 7 सितम्बर, 1812 में बोरोडिनों के युद्ध में नेपोलियन ने रूसी सेना को पराजित किया। परन्तु उसकी यह सफलता निर्णायक सिद्ध नहीं हुयी। 14 सितम्बर को वह मास्को पहुँचा तो उसने मास्को को उजड़ा हुआ पाया। रूस का जार आत्मसमर्पण करने के स्थान पर साइबेरिया चला गया। पाँच सप्ताह मास्को में रहने के बाद कड़ाके की ठंड, अन्न की कमी, सेना में फैलती बीमारियाँ आदि से दुखी और निराश होकर नेपोलियन ने सेना को वापिस लौटने की आज्ञा दी। इस प्रकार नेपोलियन का रूसी अभियान निरर्थक सिद्ध हुआ और उसकी सैनिक शक्ति को भारी क्षति पहुँची। छ लाख की विशाल सेना में से मात्र एक लाख सैनिक बचे। इस अभियान से न केवल नेपोलियन की प्रतिष्ठा समाप्त हुयी, बल्कि यूरोपीय शक्तियों ने पुनः संगठित होकर उसके विरूद्ध शक्तिशाली गुट का गठन कर लिया।

2.9.5 प्रशा में जागृति

नेपोलियन के सैनिक अभियानों से यूरोप में फ्रांस की क्रान्ति के विचारों का प्रसार हुआ। यूरोप में राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत हुयी। स्पेन और रूस में नेपोलियन की असफलता का समाचार पाते ही प्रशा की जनता ने नेपोलियन के नियंत्रण से मुक्त होने का संकल्प लिया। प्रशा में हजारों स्वयंसेवक देश को नेपोलियन के नियंत्रण से मुक्त कराने के लिए सेना में भर्ती हो गये। फरवरी, 1813 में प्रशा के सम्राट फ्रेडरिक विलियम तृतीय और रूस के सम्राट जार अलेक्जेंडर प्रथम के मध्य सन्धि हुयी, जिसमें यह संकल्प लिया गया कि जब तक यूरोप को नेपोलियन से मुक्त नहीं करा लेते, उसके विरूद्ध युद्ध निरन्तर जारी रखेंगे। मार्च, 1813 में प्रशा ने फ्रांस के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। उत्तरी और मध्य जर्मनी के कुछ राज्यों ने प्रशा का साथ दिया। मई, 1813 में नेपोलियन ने लुटजेन और बोटजेन के युद्ध में प्रशा और रूस की संयुक्त सेना को पराजित किया। इसी मध्य आस्ट्रिया के मैटरनिक की मध्यस्थता से नेपोलियन ने प्रशा और रूस के साथ प्लेसविज

में युद्ध विराम स्वीकार कर लिया। मैटरनिक ने समझौता कराने के लिए उसके साथ सन्धि वार्ता की और कुछ प्रस्ताव रखे, लेकिन मैटरनिक द्वारा रखे गये प्रस्तावों को नेपोलियन ने स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। फलतः अगस्त, 1813 में आस्ट्रिया भी युद्ध में सम्मिलित हो गया।

2.9.6 राष्ट्रों से युद्ध

फ्रांस के विरूद्ध प्रशा, रूस, आस्ट्रिया और इंग्लैण्ड ने चौथे गुट की स्थापना करली। इस गुट में स्वीडन तथा कुछ अन्य देश भी शामिल हो गये। नेपोलियन ने शत्रु सेनाओं को पृथक–पृथक पराजित करने की योजना बनाई। सर्वप्रथम उसने अगस्त, 1813 में आस्ट्रिया को ड्रेस्डन के युद्ध में पराजित किया। यह नेपोलियन की अन्तिम विजय थी। चतुर्थ गुट के सदस्यों ने आपस में टॉपिल्स में सन्धि की। इसी समय बवेरिया भी इस गुट में शामिल हो गया।

मित्र राष्ट्रों और नेपोलियन के मध्य निर्णायक युद्ध लिप्जिग में 16 अक्टूबर से 19 अक्टूबर, 1813 ई0 को हुआ। मित्र राष्ट्रों की सेना ने नेपोलियन की सेना को चारों ओर से घेर लिया और नेपोलियन की करारी हार हुयी। इस युद्ध को राष्ट्रों का युद्ध कहा जाता है। नेपोलियन को अपनी बची हुयी सेना के साथ भागना पड़ा। इस युद्ध के परिणामस्वरूप नेपोलियन के द्वारा स्थापित राइन संघ समाप्त हो गया। जर्मनी स्वतंत्र हो गया और डेनमार्क मित्र राष्ट्रों के साथ मिल गया। इस युद्ध के साथ ही नेपोलियन की महाद्वीपीय व्यवस्था का अन्त हो गया।

लिप्जिग के युद्ध के पश्चात मित्र राष्ट्रों ने नेपोलियन के सम्मुख शान्ति वार्ता का प्रस्ताव रखा, जिसे नेपोलियन ने ठुकरा दिया। 28 मार्च, 1814 को मित्र राष्ट्रों ने आपस में शोमेन्ट की सन्धि करके तय किया कि उनमें से कोई भी देश नेपोलियन के साथ अलग से सन्धि नहीं करेगा। तत्पश्चात मित्र राष्ट्रों की सेना ने फ्रांस पर आक्रमण कर दिया और 31 मार्च, 1814 को पेरिस में प्रवेश किया। लाओ में पराजित होने के बाद नेपोलियन ने फाउन्टेनब्ल्यू नामक स्थान पर मित्र राष्ट्रों से सन्धि करली। फाउन्टेनब्ल्यू की सन्धि के अनुसार नेपोलियन को फ्रांस के सिंहासन को त्यागना पड़ा, उसे एल्बा द्वीप का शासक बनाया गया तथा बीस लाख फ्रेंक प्रतिवर्ष अवकाश वेतन देना निश्चित हुआ। 20 अप्रैल, 1814 को नेपोलियन को एल्बा द्वीप भेज दिया गया।

2.9.7 नेपोलियन का अन्तिम युद्ध

मित्र राष्ट्रों ने फ्रांस में बूर्बा वंश को पुनः स्थापित किया और फ्रांस की भौगोलिक सीमा जो 1792 में थी, वही पुनः तय कर दी गयी। तत्पश्चात सितम्बर, 1814 ई0 में यूरोप की समस्याओं को सुलझाने के लिए आस्ट्रिया की राजधानी वियना में मित्र राष्ट्र एकत्रित हुए। नेपोलियन एल्बा द्वीप पर शासन कर रहा था। उसके पास वियना सम्मेलन मे मित्र राष्ट्रों के मतभेद तथा फ्रांस में बूर्बा शासक लुई अठारहवें के शासन से व्याप्त असन्तोष तथा अव्यवस्था के समाचार पहुँच रहे थे। एल्बा द्वीप पर शासन करते हुए दस माह व्यतीत होने के पश्चात मार्च, 1815 में नेपोलियन अपने कुछ सैनिकों के साथ वहाँ से भाग निकला और फ्रांस पहुँचा। फ्रांस में उसका भव्य स्वागत हुआ, सैकड़ों लोग उसकी सेना में भर्ती हो गये। लुई अठारहवाँ बेल्जियम भाग गया और नेपोलियन पुनः फ्रांस का सम्राट बन गया। परन्तु वह मात्र 100 दिन फ्रांस पर शासन कर सका।

नेपोलियन के पुनः सम्राट बनने का समाचार मिलने पर मित्र राष्ट्र आपसी मतभेद भुलाकर पुनः युद्ध की तैयारी में लग गये। उन्होंने फ्रांस पर चारों ओर से आक्रमण करने का निश्चय किया। 18 जून, 1815 को मित्र राष्ट्रों के साथ वाटरलू के मैदान में नेपोलियन के जीवन का अन्तिम युद्ध हुआ। मित्र राष्ट्रों की सेना का नेतृत्व इंग्लैण्ड का वैलिंगटन कर रहा था। इस युद्ध में नेपोलियन तथा उसकी सेना ने असाधारण साहस का परिचय दिया। किन्तु जब वह वैलिंगटन की सेना को पराजित करने वाले ही थे, तभी ब्लेचर के नेतृत्व में प्रशा की सेना वैलिंगटन की सहायतार्थ पहुंच गयी। नेपोलियन पराजित हुआ और उसने अमेरिका भागने का प्रयत्न किया। अन्ततः उसे अंग्रेज सेना के समक्ष आत्मसमर्पण करना पड़ा। नेपोलियन को अटलांटिक महासागर के सुनसान द्वीप सेन्ट हेलेना में निर्वासित जीवन व्यतीत करने के लिए भेज दिया गया। छःवर्ष पश्चात 5 मई, 1821 में 52 वर्ष की आयु में उदर के कैंसर से नेपोलियन की मृत्यु हो गयी।

2.9.8 नेपोलियन की भूलें और चारित्रिक दोष

नेपोलियन के पतन में स्वयं उसके द्वारा की गयीं भूलों और उसके चरित्र के कुछ दोषों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। नेपोलियन आत्मकेंद्रित और अति महत्वाकांक्षी था तथा एक प्रबुद्ध तानाशाह की भांति कार्य करता था। वह अपने को केन्द्र में रखकर ही सम्पूर्ण विश्व को देखता था। फ्रांस का सम्राट बनने के पश्चात वह विश्व विजय के स्वप्न देखने लगा था। उसकी इस प्रवृत्ति ने यूरोप के सभी देशों को उसका शत्रु बना दिया था।

वह दंभी प्रवृति का होने के साथ–साथ स्वार्थी तथा निम्न मध्य वर्गीय कुंठाओं से ग्रस्त था। सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात उसने जनता की इच्छा की अवहेलना करना प्रारम्भ कर दिया था। अपने कार्य में उसे किसी का हस्तक्षेप पसन्द नहीं था। उसने अपने स्वतंत्र विचारों वाले परामर्शदाताओं रौद्रे, शाप्ताल, तालिरां और फूशे के स्थान पर साधारण योग्यता वाले तथा केवल उसकी आज्ञा मानने वाले व्यक्तियों को नियुक्त किया। उसके स्वभाव के कारण ही फूशे, तालिरां आदि उसके विरूद्ध षडयन्त्र करने लगे थे।

नेपोलियन ने अपने सभी भाई बहनों और करीबी रिश्तेदारों को योग्य न होते हुए भी उच्च पदों पर स्थापित किया। उसका परिवार राजाओं का परिवार कहा जाता है। जेम्स केम्बल के अनुसार वह अपने परिवार के लोगों के लिए शासन स्थलों का इस तरह वितरण करता था मानो क्रिसमस के दिन उपहार बांट रहा हो। उसने अपने भाईयों को होलैण्ड, स्पेन और वेस्टफेलिया में, सौतेले पुत्र को उत्तरी इटली में, बहन को टस्कनी में, बहनोई को दक्षिण इटली में शासक नियुक्त किया था। अपने पुत्र की उत्पत्ति के पश्चात नेपोलियन ने शिशु पुत्र को रोम का राजा बना दिया था। नेपोलियन के इन सम्बन्धियों ने उससे लाभ तो उठाया, परन्तु संकट के समय उसका साथ नहीं दिया।

नेपोलियन की उन्नति का आधार सैनिकवादी नीति थी। उसने सैन्य बल द्वारा ही सब कुछ प्राप्त किया था और सम्राट बनने के पश्चात भी वह निरन्तर युद्ध में व्यस्त रहता था। अपने जीवन काल में उसने लगभग चालीस युद्ध लड़े। उसने फ्रांस की राष्ट्रीय भावनाओं को सैन्यवाद में

परिवर्तित कर दिया था। उसने क्रान्ति की उपलब्धियों और राष्ट्रवादी तत्वों की अवहेलना भी की। फ्रांस में प्रेस पर प्रतिबन्ध लगाना तथा कुछ पुरातन संस्थाओं की पुनर्स्थापना आदि उसके कार्यों ने जनता में असन्तोष उत्पन्न किया। यूरोप के अन्य देशों में भी उसने पहले तो क्रान्तिकारी तत्वों का प्रसार किया, किन्तु फिर फ्रांस की सर्वोच्चता का सिद्धान्त स्थापित करके वहाँ उठ रही राष्ट्रीयता की भावना को दबाना चाहा। सम्पूर्ण यूरोप यह मानने लगा कि नेपोलियन व्यक्ति और राष्ट्र दोनों की स्वतंत्रता का विरोधी है।

उसने अपने जीवन काल में कई गलतियाँ कीं। प्रायद्वीपीय युद्ध, महाद्वीपीय योजना, पोप को बन्दी बनाना, रूसी अभियान, शत्रु को कम समझना, विस्तारवाद और युद्ध की नीति पर चलते रहना, फ्रांस के आधुनिकीकरण और आर्थिक औद्योगिकीकरण की उपेक्षा करना– ऐसे कारण थे, जिनके लिए वह स्वयं उत्तरदायी था और जो उसके पतन के प्रमुख कारण बने। स्पेन की शक्ति को कम समझना, मास्को अभियान में भीषण सर्दी में अधिक देर तक रूकना, प्लेसविज का युद्ध विराम, वाटरलू के युद्ध के समय आक्रमण में देरी करना आदि नेपोलियन की भंयकर भूलें थीं। आर्थिक रूप से सशक्त और शक्तिशाली नौसैनिक बेड़े से युक्त इंग्लैण्ड के विरूद्ध उसका अति और अव्यवहारिक प्रतिरोध भी उसके पतन में सहायक बना।

स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. नेपोलियन ने किन घटनाओं को स्वयं अपने पतन का कारण माना ?
2. प्रायद्वीपीय युद्ध और उसके प्रभावों का वर्णन कीजिए।
3. नेपोलियन के रूसी अभियान पर टिप्पणी लिखिए।
4. नेपोलियन के चतुर्थ गुट के साथ संघर्ष का वर्णन कीजिए।
5. नेपोलियन का चरित्रगत दोष और उसकी भूलें उसके पतन के प्रमुख कारण थे। स्पष्ट कीजिए।

2.10 मूल्यांकन

2.10.1 फ्रांस की क्रान्ति के परिणाम और प्रभाव

फ्रांस की क्रान्ति एक युग परिवर्तनकारी घटना थी। जीवन का कोई भी क्षेत्र उससे प्रभावित हुए बिना नही रह सका। फ्रांस की क्रान्ति के प्रमुख नेताओं चाहे वह उदारवादी ला फायते, एबे सिए आदि हों या उग्रवादी मारा, ब्रीसो, कार्नो, दांते, मिराबो, राब्सपियर आदि सभी ने फ्रांस की क्रान्ति के सिद्धान्तों के लिए प्रतिक्रियावादियों से संघर्ष किया और फ्रांस में पुरातन व्यवस्था का अन्त कर एक नए युग का सूत्रपात किया। नेपोलियन भी सम्राट बनने के बाद फ्रांस की क्रान्ति के सिद्धान्तों की अवहेलना नहीं कर सका। फ्रांस की क्रान्ति ने पुरातन व्यवस्था का अंत कर दिया। सामन्ती व्यवस्था और विशेषाधिकारों का अन्त करके समानता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। मानवाधिकारों की घोषणा ने इस तथ्य पर जोर दिया कि कानून जनसाधारण की सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति मात्र है। क्रान्ति ने राजा के दैवीय अधिकार के सिद्धान्त का अन्त कर दिया और लोकप्रिय सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। क्रान्तिकाल में समाज में कृषि

दासता और निरंकुशता का अन्त हुआ, नागरिक स्वतंत्रता का उदय हुआ तथा राष्ट्रीयता की भावना का विकास हुआ। फ्रांस की क्रान्ति ने चर्च के पुराने स्वरूप को समाप्त कर धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की। शिक्षा को भी चर्च के बन्धन से मुक्त करके राष्ट्रीय और धर्मनिरपेक्ष बनाया।

क्रान्ति के सिद्धान्तों स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व की भावना ने न केवल फ्रांस वरन् सम्पूर्ण यूरोप को प्रभावित किया। नेपोलियन की सेना के साथ यूरोप के देशों में क्रान्ति के सिद्धान्त पहुंचे और वहां की जनता को स्वतंत्रता और समानता हेतु संघर्ष करने के लिए प्रेरित किया। यूनान का स्वतंत्रता संग्राम को क्रान्ति के सिद्धान्तों से ही बल मिला। इटली के राज्यों में एकीकरण की भावना का प्रसार हुआ। राष्ट्रीयता की भावना से जर्मनी के छोटे–छोटे राज्य भी प्रभावित हो जर्मनी के एकीकरण के लिए प्रयासरत हुए। इंग्लैण्ड में फ्रांस की क्रान्ति का स्वागत किया गया। मानव अधिकारों के घोषणापत्र से वहां के साहित्यकार वर्डसवर्थ, कालरिज, वायरन, शैली आदि प्रभावित हुए। थामस पेन ने फ्रांस की क्रान्ति को एक शुभ सन्देश बताया। इंग्लैण्ड के शासकों को फ्रांस की क्रान्ति के प्रभाव को अपने देश में फैलने से रोकने के लिए समाचारपत्रों, हड़तालों आदि पर प्रतिबन्ध लगाने पड़े। एडमंड बर्क आदि कुछ लेखकों ने क्रान्ति का विरोध किया। क्रान्ति के बाद यूरोप के शासक प्रतिक्रियावादी बन गये तथा उनका उद्देश्य क्रान्ति के प्रसार को अपने क्षेत्र में रोकना था।

2.10.2 नेपोलियन का मूल्यांकन और उसके युग का महत्व

नेपोलियन की गणना आधुनिक युग के महान व्यक्तियों में होती है। वह आधुनिक युग का सबसे विवादास्पद और चर्चित व्यक्ति था। इतिहास पर जितना नेपोलियन पर लिखा गया उतना किसी अन्य व्यक्तित्व पर नहीं। डच इतिहासकार पीटरलिज ने नेपोलियन के मूल्यांकनों की व्याख्या एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पुस्तक 'नेपोलियनः पक्ष और विपक्ष' में प्रस्तुत की है। इससे पता चलता है कि कुछ इतिहासकारों ने उसको भगवान और युगनिर्माता मानकर उसकी अतिशय प्रशंसा की है, तो कुछ ने उससे अत्यधिक नफरत प्रदर्शित करते हुए उसे दुष्ट और शैतान तक सिद्ध किया है। इतिहासकार फिशर ने लिखा है–'सम्भवतः सम्पूर्ण मानव इतिहास में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं हुआ जिसको अपने समय में इतनी प्रशंसा, विरोध और घृणा प्राप्त हुई हो।'

नेपोलियन असाधारण बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न, आत्मविश्वासी, निर्भीक और उच्च स्तर का बुद्धिमान एवं शिक्षित व्यक्ति था। उसने अपनी योग्यता एवं क्षमता से अपनी उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया था और फ्रांस का सम्राट पद प्राप्त किया था। परन्तु अपनी अति महत्वाकांक्षी और दंभी प्रवृत्ति के कारण उस साम्राज्य को कायम रखने में वह असमर्थ रहा। अपनी असाधारण विजयों से सम्पूर्ण यूरोप पर प्रभाव स्थापित करके उसने फ्रांस के सम्मान को उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा दिया था। लेकिन उसके कुछ युद्धों ने ही उसका अन्त कर दिया। कुछ इतिहासकार उसे परिस्थितियों की देन मानते हैं, परन्तु ग्रान्ट और टेम्परले के अनुसार– 'नेपोलियन एक असाधारण चरित्र और योग्यता वाला व्यक्ति था, जो किसी भी देश में, किन्हीं भी परिस्थितियों में उन्नति की चरम सीमा पर पहुंच सकता था।'

अपने सैन्य संचालन में नेपोलियन ने दूरदर्शिता और गतिशीलता का परिचय दिया था। युद्ध में स्थितियों और युद्धक्षेत्र का अध्ययन करना, युद्ध की लागत को धन या अस्त्र–शस्त्र के साथ–साथ सैनिकों की संख्या के आधार पर निर्धारित करना, व्यक्तिगत रूप से जोखिम उठाना आदि उसकी रणनीति के अंग थे। लेकिन नवीन अविष्कारों और नौसेना के संगठन में उसने अधिक रूचि नहीं दिखायी। कैम्पोफार्मिया की सन्धि उसकी कूटनीतिक उपलब्धि थी। आमियां से टिलसिट की सन्धि तक उसके विजय अभियान फ्रांस के इतिहास का सबसे सुनहरा अध्याय है। वह फ्रांस को सर्वोच्च बनाना चाहता था, लेकिन स्वयं सर्वशक्तिमान की तरह प्रतिष्ठित रहकर।

नेपोलियन एक प्रशासक के रूप में भी असाधारण था। उसकी विधि संहिता, पोप के साथ किए हुए धार्मिक समझौते तथा शिक्षा व्यवस्था में उसकी उच्चकोटि की राजनीतिज्ञता प्रकट होती है। उसने विजित क्षेत्रों का प्रशासन व्यवस्थित और पुनर्गठित किया। उसके द्वारा निर्मित कानून, शिक्षा और प्रशासनिक व्यवस्था आज भी थोड़े से परिवर्तन के साथ फ्रांस में ही नहीं वरन् अन्य देशों में भी विद्यमान है। वह एक सफल संवाददाता भी था। उसके प्रकाशित पत्रों, डायरियों और संस्मरणों से उसकी सृजनात्मक शक्ति का पता चलता है।

नेपोलियन ने यूरोप के पुरातन राजतंत्रों के स्थान पर वर्गहीन प्रगतिशील शासन का आदर्श प्रस्तुत किया। उसने सामाजिक समानता पर अत्यधिक बल दिया, किन्तु स्वतंत्रता की भावना का दमन किया। वह फ्रांस में अत्यधिक लोकप्रिय था और अन्य यूरोपीय देशों में उतना ही अलोकप्रिय था। इतिहासकार स्लोन ने उसका मूल्यांकन करते हुए लिखा है– 'वह क्रान्ति का दमन करने वाला, मध्यवर्गीय शासक, साम्राज्यवादी जनतांत्रिक, सर्वोच्च नेता, नागरिक सुधार वाला और परिस्थितियों का शिकार था। उसकी प्रतिभा के आयाम निस्सीम थे पर उसे शैतान की किस्मत मिली थी।' नेपोलियन की मृत्यु हो जाने पर भी उसके असाधारण कार्यों की स्मृतियों को फ्रांस की जनता भुला न सकी। लुई फिलिप को उसके अवशेष सेंट हेलेना से मंगाकर पेरिस में दफन कराने पड़े। उसकी स्मृतियों के प्रभावस्वरूप नेपोलियन परम्परा की स्थापना हुई, जिससे भविष्य में फ्रांस में दूसरे नेपोलियन का साम्राज्य स्थापित हुआ।

उसकी विजयों ने नवीन यूरोप की पृष्ठभूमि का निर्माण किया। उसके सुधारों ने पुरातन व्यवस्था की जड़े नष्ट कर दीं। नीदरलैण्ड, राइन प्रदेश तथा इटली का अधिकांश क्षेत्र, जो नेपोलियन के प्रत्यक्ष अधिकार में था, की प्रशासनिक व्यवस्था समानता पर आधारित थी। नेपोलियन के पश्चात इन क्षेत्रों की जनता पुनः कुलीन और सामन्तवादी व्यवस्था को स्वीकारने को तैयार नहीं हुयी और संघर्ष का दौर प्रारम्भ हुआ। नेपोलियन के अधीनस्थ राज्यों में सामन्तवाद तथा अर्द्ध दास प्रथा समाप्त कर दी गईं तथा धार्मिक सहिष्णुता और प्रजातन्त्रीय शासन के सिद्धान्त स्थापित हुए।

नेपोलियन युग की सबसे बड़ी देन थी– राष्ट्रीयता की भावना का विकास। उसने इटली और जर्मनी के राज्यों की जो व्यवस्थायें कीं, उससे इन राज्यों में राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत हुयी। उसकी साम्राज्यवादी और निरंकुश प्रवृत्ति के प्रतिक्रियास्वरूप प्रशा, स्पेन, नार्वे, स्वीडन, नेपल्स आदि में राष्ट्रीयता की भावना विकसित हुयी।

नेपोलियन युग में समानता की भावना के प्रसार ने मध्यम वर्ग की शक्ति में वृद्धि की और

अगले वर्षों में यह मध्यम वर्ग ही उदारवादी, प्रजातान्त्रिक तथा राष्ट्रवादी तत्वों के संवाहक बना। नेपोलियन के पश्चात इन तत्वों का पुरातनवादी और राजतंत्रवादी शक्तियों से संघर्ष का युग प्रारम्भ हुआ।

स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. फ्रांस की क्रान्ति के प्रभावों पर टिप्पणी लिखो।
2. नेपोलियन आधुनिक युग का सबसे विवादास्पद व्यक्तित्व था, समीक्षा कीजिए।
3. .नेपोलियन की फ्रांस और यूरोप को प्रमुख देन क्या रहीं, उनका महत्व बताइये।

2.11 सारांश

फ्रांस की क्रान्ति पुरातन व्यवस्था के विरूद्ध थी। विशेषधिकारों के आधार पर विघटित और विषम समाज, कमजोर नेतृत्व और अक्षम शासन व्यवस्था, राज्य की दयनीय आर्थिक स्थिति और बौद्धिक चेतना का मध्यम वर्ग में विकास आदि क्रान्ति के प्रमुख कारण थे। इन परिस्थितियों में अकाल और शासकों के अनियंत्रित खर्चों ने वित्तीय संकट उत्पन्न कर दिया। इससे निपटने के लिए जब सामन्त वर्ग पर कर लगाने का प्रस्ताव रखा गया तो सामन्तों ने इसका विरोध किया और कहा नया कर लगाने का अधिकार प्रतिनिधि सभा स्टेटस जनरल को है। सामन्तों ने स्टेटस जनरल बुलाने की मांग रखी, इसके साथ ही क्रान्ति का प्रारम्भ हुआ।

स्टेटस जनरल का प्रथम सदन पादरियों का, द्वितीय सदन सामन्तों का तथा तृतीय सदन जनसाधारण का प्रतिनिधित्व करता था। तृतीय सदन ने सदस्यों की संख्या के आधार पर मत गणना हेतु संयुक्त अधिवेशन की मांग रखी, जिसे राजा द्वारा अस्वीकार करने पर तृतीय सदन ने टेनिस कोर्ट में सभा कर अपने को राष्ट्रीय सभा घोषित कर दिया। अंततः 27 जून को तीनों सदनों को एक साथ बैठने की अनुमति के साथ राष्ट्रीय सभा को वैधानिक मान्यता मिल गयी। राष्ट्रीय सभा ने संवैधानिक राजतंत्र स्थापित करने के लिए संविधान बनाने की घोषणा की। राजा ने दमन करने का प्रयास किया तो पेरिस की भीड़ ने क्रान्ति का नेतृत्व किया और 14 जुलाई को बास्तील के दुर्ग को नष्ट कर दिया। तत्पश्चात समस्त देश में क्रान्ति फैल गयी। अगले दो वर्षो तक राष्ट्रीय सभा ने सामन्तवाद का पतन, मानवाधिकारों की घोषणा, चर्च के अधिकारों में कटौती, मठों का अन्त, आर्थिक सुधार आदि कार्य किया तथा फ्रांस के लिए 1791 के नये संविधान का निर्माण किया। नये संविधान के आधार पर व्यवस्थापिका सभा का गठन हुआ। इस सभा में विभिन्न दलों के लोग निर्वाचित हुए, लेकिन गणतंत्रवादियों का प्रभाव बढ़ता गया। कई राजतंत्र समर्थक विदेश भाग गए और क्रान्ति के विरूद्ध विदेशी शक्तियों की सहायता से षड़यन्त्र रचने लगे। संवैधानिक राजतंत्रात्मक व्यवस्था में व्यवस्थापिका सभा द्वारा लिए गए निर्णयों पर राजा द्वारा हस्ताक्षर न करने तथा उसके विदेश भागने का प्रयास करने से क्रान्तिकारी नाराज हो गए। आस्ट्रिया और प्रशा के धमकी देने पर क्रान्तिकारियों ने राजा को देशद्रोही माना और उसे पद से निलम्बित कर दिया। फ्रांस विदेशी युद्धों में फंस गया। व्यवस्थापिका सभा ने फ्रांस में गणतंत्रात्मक शासन स्थापित करने के लिए 1792 का संविधान बनाया।

1792 के संविधान के द्वारा व्यवस्थापिका सभा के स्थान पर फ्रांस का शासन राष्ट्रीय कन्वेंशन के अधीन हो गया। प्रारम्भ में गणतंत्रवादी उदार दल जिरोंदिस्त शासन में प्रभावी था। इसने फ्रांस में कई सामाजिक और आर्थिक सुधार किए। राजा पर मुकदमा चलाकर उसको मृत्यु दण्ड दिया, जिससे यूरोप के अन्य देश इंग्लैण्ड, हालैण्ड और स्पेन भी प्रशा और आस्ट्रिया के साथ फ्रांस के विरूद्ध युद्ध में शामिल हो गए। उग्रवादी जैकोबिनों ने अक्षमता का आरोप लगा जिरोंदिस्त को सत्ता से बाहर कर दिया और आतंक का राज्य स्थापित किया। हजारों लोंगों को गिलोटिन पर चढ़ा दिया गया। अंत में जनता के विद्रोह के द्वारा आतंक के शासन का अन्त हुआ। उदारवादियों ने 1795 का संविधान बनाया, जिसके आधार पर फ्रांस में निदेशक मण्डल का शासन स्थापित हुआ। उनके भ्रष्ट शासन में फ्रांस में पुनः अराजकता का माहौल हो गया। इस दौरान विदेशी सेनाओं को पराजित करके सेनापति नेपोलियन फ्रांस में लोकप्रिय हो गया था। 1799 में उसने निदेशक मण्डल का पतन कर सत्ता पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार फ्रांस में नेपोलियन युग का सूत्रपात हुआ।

फ्रांस की क्रान्ति से उत्पन्न परिस्थितियों का लाभ उठाकर नेपोलियन बोनापार्ट ने अपनी असाधारण योग्यता और प्रतिभा के बल पर एक साधारण सैनिक से उन्नति करके फ्रांस के सम्राट का पद प्राप्त किया था। क्रोसिया के अजासियो नगर में एक साधारण इतालवी परिवार में उत्पन्न नेपोलियन बोनापार्ट की शिक्षा फ्रांस में ब्रीन के सैनिक विद्यालय में हुयी। 16 वर्ष की आयु में वह लेफ्टीनेंट जनरल बन गया। तूलों के युद्ध में अंग्रेजी बेड़े को पराजित करना, उसके जीवन की पहली बड़ी उपलब्धि थी। इससे उसे फ्रांस की सेना में ब्रिगेडियर जनरल का पद प्राप्त हुआ। पेरिस में राष्ट्रसभा के विरूद्ध हुए विद्रोह का दमन करने में उसने जो योग्यता दिखायी, उससे प्रभावित हो उसे सेनाध्यक्ष बना दिया गया। डायरेक्टरी शासन के दौरान उसे फ्रांस के विरूद्ध बने गुट का अन्त करने का दायित्व सौंपा गया। उसने लोदी, आरकोल और रिवोली के युद्धों में आस्ट्रिया को पराजित किया। तत्पश्चात उसने मिश्र और सीरिया पर आक्रमण किया, परन्तु नील नदी के युद्ध में अंग्रेज कमांडर नेल्सन से पराजित होकर फ्रांस लौट आया।

नेपोलियन की प्रारम्भिक सफलताओं ने उसे फ्रांस में अत्यन्त लोकप्रिय बना दिया था, जिसका लाभ उठाकर उसने डायरेक्टरी के विरूद्ध षडयन्त्र रचा और कौंसिल शासन की स्थापना की। डायरेक्टरी के भ्रष्ट शासन से त्रस्त जनता ने प्रथम कौंसिल के रूप में उसको स्वीकार कर लिया और 1802 में जनमत संग्रह द्वारा उसे जीवन पर्यन्त प्रथम कौंसिल बना दिया गया। इस प्रकार नाममात्र के गणतंत्रात्मक शासन में नेपोलियन की निरंकुश सत्ता स्थापित हुयी। प्रथम कौंसिल बनते ही उसने फ्रांस के विरूद्ध बने द्वितीय गुट का अन्त करने के लिए आस्ट्रिया को मोरेंगा में पराजित किया और इंग्लैण्ड के साथ आमियां की सन्धि की।

प्रथम कौंसिल बनने के पश्चात नेपोलियन द्वारा किए गए सुधारों को उसकी स्थायी उपलब्धि के रूप में देखा जा सकता है। उसने प्रशासन का केन्द्रीकरण किया, पोप से समझौता करके एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की नींव डाली, आर्थिक सुधार कर फ्रांस की आर्थिक दशा को स्थायित्व प्रदान किया और शिक्षा व्यवस्था में सुधार किया। परन्तु नेपोलियन का सबसे प्रमुख कार्य कानूनी संहिता का संकलन था, जो आज भी न केवल फ्रांस में वरन् यूरोप के अन्य देशों में भी थोड़े सुधार के साथ प्रचलित हैं।

सन् 1804 में नेपोलियन जनमत संग्रह कराकर फ्रांस का सम्राट बन गया। अपनी अति महत्वाकांक्षी और साम्राज्यवादी नीति के तहत वह यूरोप पर सर्वव्यापी राज्य स्थापित करने का स्वप्न देखने लगा। फ्रांस के विरूद्ध बने तृतीय गुट का अन्त करने के लिए हुए संघर्ष में सबसे पहले उसका इंग्लैण्ड के साथ ट्रैफेलगर का युद्ध हुआ, जिसमे उसकी सेना पराजित हुयी। नेपोलियन ने तुरन्त बाद आस्ट्रिया पर आक्रमण कर उसे आस्टरलित्स के युद्ध में पराजित किया। इस युद्ध से इटली के अधिकांश क्षेत्र पर उसका अधिकार हो गया। नेपोलियन ने पवित्र रोमन साम्राज्य का अंत और राइन संघ की स्थापना की। तत्पश्चात प्रशा और रूस को पराजित किया। रूस के साथ की गयी टिलसिट की सन्धि के समय वह अपने उन्नति के शिखर पर था।

सन् 1807 के पश्चात उसके युद्ध और कार्यों विशेषरूप से इंग्लैण्ड के विरूद्ध महाद्वीपीय व्यवस्था और उसके परिणामस्वरूप यूरोप के अन्य देशों के साथ उसके कटु सम्बन्धों ने उसे पतन की ओर अग्रसर कर दिया। पुर्तगाल पर अधिकार, स्पेन से प्रायद्वीपीय युद्ध में पराजय, मास्को अभियान की असफलता, यूरोप में फैलती तीव्र राष्ट्रीयता की भावना ने नेपोलियन की सत्ता को अंत के निकट पहुँचा दिया। उसके विरूद्ध यूरोपीय राष्ट्रों ने चतुर्थ गुट की स्थापना की और 1813 में लिप्जिग तथा 1814 में लाओं के युद्ध में नेपोलियन को पराजित कर दिया। पराजित नेपोलियन को फाउन्टेनब्ल्यू की संधि के अनुसार एल्बा द्वीप का शासक बनाया गया। 1815 में नेपोलियन पुनः फ्रांस लौट आया और 100 दिन शासन करने के पश्चात मित्र राष्ट्रों की सेना द्वारा वाटरलू के युद्ध में बुरी तरह पराजित हुआ। उसे सेंट हेलेना के द्वीप में बन्दी बना दिया गया। इस प्रकार नेपोलियन और उसके युग का अन्त हुआ।

फ्रांस की क्रान्ति और नेपोलियन के युग में फ्रांस यूरोपीय राजनीति की धुरी बन गया था। क्रान्ति के सिद्धान्तों ने सम्पूर्ण यूरोप को प्रभावित किया। यूरोप के कई देशों में राष्ट्रीयता का विकास और पुरातन प्रथाओं का अन्त हुआ और एक नवीन यूरोप का उदय हुआ।

2.12 तकनीकी शब्दावली एवं प्रमुख कथन

- सान्ज क्यूलोत– नगर के छोटे दुकानदार, कारीगर, मजदूर और गरीबों का समूह।
- गिलोटिन–मृत्यु दण्ड देने के लिए प्रयुक्त यंत्र।
- कूप द इतात– राज्य पर अथवा शासन सत्ता पर शक्ति अथवा छल से अधिकार करना अथवा हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा सरकार को पलट देना।
- कम्यून–फ्रांस में शासन की न्यूनतम इकाई, नगर सभा।
- ब्रूमेयर– कोहरा पड़ने का माह ''22 अक्टूबर से 20 नवम्बर तक'', फ्रांस मे 1793 से 1806 तक प्रयोग में लाए गए कैलेण्डर का माह।
- 'मुझे फ्रांस का राजमुकुट धरती पर पड़ा मिला और तलवार की नोंक से मैंने उसे उठा लिया।'– नेपोलियन बोनापार्ट
- 'फ्रांस के लोग समानता चाहते हैं, स्वतंत्रता नहीं।'– नेपोलियन बोनापार्ट
- 'मेरे कानूनों का संग्रह मेरी विजयों से अधिक स्थायी रहेगा।'– नेपोलियन बोनापार्ट
- 'स्पेनी नासूर ने मेरा विनाश कर दिया।'– नेपोलियन बोनापार्ट

- 'नेपोलियन के पतन के नाटक में तीन दृश्य मास्को, लिप्जिग तथा फाउन्टेनब्ल्यू प्रमुख हैं। वाटरलू इस नाटक का उपसंहार है।'– इतिहासकार फिशर

2.13 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 2.3 के स्वमूल्यांकित प्रश्न
1. देखिए 2.3.1
2. देखिए 2.3.2 और 2.3.3
3. देखिए 2.3.4में दूसरा पैरा

इकाई 2.4 के स्वमूल्यांकित प्रश्न
1. देखिए 2.4.3
2. देखिए 2.4.4
3. देखिए 2.4.5

इकाई 2.5 के स्वमूल्यांकित प्रश्न
1. देखिए 2.5.1
2. देखिए 2.5.2
3. देखिए 2.5.3

इकाई 2.6 के स्वमूल्यांकित प्रश्न
1. देखिए 2.6.4
2. देखिए 2.6.3
3. देखिए 2.6.5

इकाई 2.7 के स्वमूल्यांकित प्रश्न
1. द्वितीय गुट में आस्ट्रिया, इंग्लैण्ड, रूस, तुर्की, नेपल्स तथा पुर्तगाल आदि देश सम्मिलित थे।
2. देखिए 2.7.3

इकाई 2.8 के स्वमूल्यांकित प्रश्न
1. देखिए 2.8 का द्वितीय पैरा
2. देखिए 2.8.2
3. देखिए 2.8.5

इकाई 2.9 के स्वमूल्यांकित प्रश्न
1. देखिए 2.9
2. देखिए 2.9.2
3. देखिए 2.9.4
4. देखिए 2.9.6 एवं 2.9.7
5. देखिए 2.9.8

इकाई 2.10 के स्वमूल्यांकित प्रश्न

1. देखिए 2.10.1
2. देखिए 2.10.2
3. देखिए 2.10.2

2.14 संदर्भग्रंथ सूची

1. थामसन, डेविड– यूरोप सिन्स नेपोलियन
2. गर्शाय, लियो– द फ्रेंच रिवोल्यूशन एण्ड नेपोलियन
3. रोज, जे. होलैन्ड– द रिवोल्यूशनरी एण्ड नेपोलियनिक एरा
4. हेज, सी.जे.एच.–ए पोलिटिकल एण्ड कल्चरल हिस्ट्री ऑफ मार्डन यूरोप, भाग 1एवं 2
5. फिशर, एच.ए.एल.– बोनापार्टिज्म

2.15 सहायक और उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. वर्मा, लाल बहादुर–यूरोप का इतिहास,भाग–2, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली,1998
2. गुप्ता, पार्थसारथी (सम्पादक)–यूरोप का इतिहास, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली,1987
3. हेजन, सी.डी.– आधुनिक यूरोप का इतिहास (अनुवादक–सत्यनारायण दुबे)
4. केटलबी, सी.डी.एम –हिस्ट्री ऑफ मार्डन टाइम्स
5. ग्रान्ट एण्ड टेम्परले–उन्नीसवीं तथा बीसवीं सदी के यूरोप का इतिहास (अनु0–बाबूराम गुप्त)

2.16 निबंधात्मक प्रश्न

1. फ्रांस की क्रान्ति के प्रमुख कारणों पर विस्तार से लिखिए।
2. फ्रांस की क्रान्ति के परिणामों और प्रभावों पर टिप्पणी लिखिए।
3. नेपोलियन बोनापार्ट के प्रथम कौंसिल के रूप में सुधार कार्यों की समीक्षा कीजिये।
4. नेपोलियन बोनापार्ट की महाद्वीपीय व्यवस्था से आप क्या समझते है? इस व्यवस्था की असफलता के कारणों का विश्लेषण करिए।
5. नेपोलियन की प्रमुख विजयों का वर्णन कीजिए, जिनके द्वारा उसने यूरोप में एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया।
6. नेपोलियन के पतन के प्रमुख कारणों की समीक्षा कीजिये।

इकाई–3 यूरोप में राष्ट्रवादः जर्मनी और इटली का एकीकरण

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 यूरोप में राष्ट्रवाद

3.3.1 राष्ट्रवाद की अवधारणा,परिचय एवं परिभाषा

3.4 जर्मनी का एकीकरण

3.4.1 जर्मनी के एकीकरण के पूर्व की पृष्ठभूमि

3.4.2 जर्मन एकीकरण की परिस्थितियॉ, प्रक्रिया एवं व्यक्ति–व्यक्तित्व का योगदान

3.5 इटली का एकीकरण

3.5.1 इटली के एकीकरण के पूर्व की पृष्ठभूमि

3.5.2 इटली के एकीकरण की परिस्थितियॉ, प्रक्रिया एवं व्यक्ति–व्यक्तित्व का योगदान

3.6 सारांश

3.7 शब्दावली

3.8 अभ्यास के प्रश्न

3.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची / उपयोगी पाठ्य सामग्री

3.10 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

राष्ट्रवाद का उदय आधुनिक यूरोप के इतिहास की एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना है। राष्ट्रवाद को आधुनिक विश्व की एक बहुत ही शक्तिशाली राजनीतिक शक्ति के रूप में देखा और समझा जा सकता है। एक विषय के रूप में राष्ट्रवाद इतिहासकारों तथा अन्य समाजशास्त्रियों के बीच चर्चा और विवाद का विषय रहा है। राष्ट्रवाद के एक बड़े विचारक बेनेडिक्ट एंडर्सन के अनुसार, राष्ट्र और राष्ट्रवाद संबंधी प्रश्नों पर ''तमाम विचारक एक–दूसरे की ओर पीठ करके अलग–अलग दिशाओं में अमूर्त सिद्धान्त खोजते रहते हैं, बजाय इसके कि एक–दूसरे के साथ कंधे से कंधा मिलकर इस समस्या को समझने का प्रयास करें'' इस इकाई में राष्ट्रवाद के ऐतिहासिक समझ के साथ ही जर्मनी और इटली के एकीकरण को इन्हीं संदर्भों में समझने का प्रयास किया जाएगा ।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के माध्यम से हम निम्नलिखित बिंदुओ पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे

- राष्ट्र, राष्ट्रवाद और राष्ट्र–राज्य से हमारा क्या अभिप्राय है?
- वह क्या प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत आधुनिक विश्व में राष्ट्रवाद का उदय हुआ है?
- जर्मनी और इटली के एकीकरण प्रक्रिया संदर्भ में राष्ट्रवाद का क्या योगदान रहा?
- उपर्युक्त विवेचना से हम आधुनिक विश्व में आधुनिक राष्ट्रों के उदय की अवधारणा को समझ सकते हैं ।

3.3 यूरोप में राष्ट्रवाद

3.3.1 राष्ट्रवाद की अवधारणा, परिचय एवं परिभाषा

वस्तुतः ''राष्ट्र'' शब्द का इस्तेमाल अंग्रेजी भाषा के शब्द ''नेशन'' के पर्यायवाची के रूप में किया जाता रहा है। लेकिन दोनों में एक बुनियादी फर्क है। ''राष्ट्र'' से हमारा अभिप्राय किसी विशेष भूभाग, क्षेत्र या इलाके से रहा है। लेकिन ''नेशन'' से हमारा अभिप्राय किसी भूभाग से न होकर किसी समुदाय या मानव–सामूहिकता से है। भूभाग या मानव समुदाय का फर्क राष्ट्र और राष्ट्रवाद की परिभाषा के लिए बहुत महत्वपूर्ण है।

राष्ट्रवाद का उदय

यहॉ सबसे पहले प्रश्न उठता है कि विश्व इतिहास के कृषक दौर में राष्ट्रवाद या राष्ट्रवाद से मिलती–जुलती किसी भी विचारधारा का उदय क्यों नहीं हुआ? और विश्व इतिहास के आधुनिक या औद्योगिक चरण में राष्ट्रवाद अनिवार्य क्यों बन गया? मानव इतिहास तीन चरणों से होकर गुजरा है– आखेटक–संग्रहकर्ता, कृषक और औद्योगिक, राष्ट्रवाद के उदय के लिए आवश्यक एक कारक (राज्य) का जन्म कृषक दौर में हुआ।

यूरोप में राजनीतिक इकाइयों और सांस्कृतिक इकाइयों का आगमन तो विकसित कृषक दौर तक हो चुका था लेकिन इनके बीच का संबंध वह नहीं था जो राष्ट्रवादी सिद्धान्तों के अनुसार होना था। अक्सर एक राजनीतिक इकाई राज्य के अन्तर्गत कई सांस्कृतिक इकाइयाँ संभावित राष्ट्र में मौजूद रहती थीं, या फिर एक विशाल सांस्कृतिक इकाई कई राज्यों में बिखरी हुई थी। यह एक राज्य और एक राष्ट्र वाले राष्ट्रवादी सिद्धांत का स्पष्ट उल्लंघन था। इन राजनीतिक और सांस्कृतिक इकाइयों का राष्ट्रवादी सिद्धांत के अनुसार एक–दूसरे के साथ समेकित होने का कार्य मानव इतिहास के औद्योगिक दौर में हुआ।

यह भी कहा जा सकता है कि व्यापक साक्षरता के बगैर औद्योगिक अर्थव्यवस्था का चल पाना संभव नहीं। अपने संचालन के लिए औद्योगिक अर्थव्यवस्था को ऐसे बहुत सारे लोगों की जरूरत पड़ती है जो परस्पर अजनबी और दूर–दूर होते हुए भी एक–दूसरे के साथ सम्प्रेषण और संवाद जारी रख सकें। ऐसे संवाद के लिए उन्हें एक साझे भाषायी माध्यम की आवश्यकता पड़ती है। परस्पर संवाद की इस आवयकता को न तो पुरानी क्लासिकी भाषाएँ लैटिन और ग्रीक पूरा कर सकती है ओर न ही सांस्कृतिक समूहों की अपनी स्थानीय बोलियाँ। औद्योगिक अर्थव्यवस्था की

इस आवश्यकता को पूरा करने क लिए कुछ ऐसी भाषाओं की जरूरत थी जो स्थानीय बोलियों के ऊपर तथा क्लासिकीय भाषाओं के नीचे पैदा हुए रिक्त स्थान को भर सकें। इस आवश्यकता को पूरा किया विभिन्न यूरोपीय समाजों में अंग्रेजी, पुर्तगाली, स्पेनी, फ्रांसीसी, जर्मन, इतालवी, हंगेरियन इत्यादि भाषाओं ने। इन भाषाओं का विकास और मानकीकरण तो औद्योगिक क्रांति से पहले पुनर्जारण के बाद से ही शुरू हो गया था लेकिन 18वीं–19वीं शताब्दियों में इनका अधिक प्रसार हुआ और अपने समाजों में ये राष्ट्रीय भाषाओं के रूप में स्थापित और प्रतिष्ठित हुई। नई राष्ट्रीय संस्कृतियाँ भी इन्हीं भाषाओं के इर्द–गिर्द विकसित हुई।

पश्चिमी यूरोप में 19वीं शताब्दी में विकसित हुई राष्ट्रीय संस्कृतियों का संबंध भाषा और राज्य ने इन संस्कृतियों को पोषित किया था। यदि इस संदर्भ में देखें तो हम राष्ट्रवादी विचारधारा का एक मुख्य दावा कि हर राष्ट्र का अपना एक प्रतिनिधि राज्य होना चाहिए, आसानी से समझ सकते हैं।

विशाल और संस्कृतिक रूप से समरूपी राष्ट्रीय इकाइयों को राष्ट्र ही सुरक्षित और संरक्षित नहीं रख सकता। महज राष्ट्र ही अपनी अस्मिता के संरक्षण के लिए काफी नहीं है। इन इकाइयों की सुरक्षा के लिए राजनीतिक छत्रछाया की जरूरत पड़ती है। राष्ट्रवादी विचारधारा यह सुनिश्चित करती है कि राज्य के नागरिक राजय के निर्देशों के अनुसार ही समाज को चलाने में राज्य की मदद करें। इस तरह से हम आधुनिक परिस्थितियों के अन्तर्गत राष्ट्रवाद को एक अपरिहार्य तत्व के रूप में पाते हैं। अपनी रक्षा के लिए यह राज्य पर निर्भर होता है; या कहें कि सुरक्षा और संरक्षा की गारंटी के लिए इसे राज्य की जरूरत पड़ती है। यही कारण है कि राष्ट्र और राज्य एक–दूसरे पर निर्भर रहते हैं। उनकी यह परस्पर निर्भरता ही राष्ट्रवाद के उदय का मूल सार है। जर्मनी और इटली का एकीकरण इन्हीं संदर्भों की देन रहे ।

3.4 जर्मनी का एकीकरण

19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जर्मनी एक 'भौगोलिक अभिव्यक्ति' मात्र था। जर्मनी में अनेक राज्य थे जिन पर ऑस्ट्रिया का प्रभुत्व था। ये राज्य ऑस्ट्रिया के विरूद्ध नहीं जा सकते थे। फिर भी, जर्मनी के राज्य फ्रांसीसी क्रांति के राष्ट्रवादी सिद्धांत से प्रभावित थे और 1815 से 1870 ई0 तक का जर्मनी का इतिहास इसी सिद्धांत की विजय का इतिहास है।

3.4.1 जर्मनी के एकीकरण के पूर्व की पृष्ठभूमि

जर्मनी का अपना इतिहास, अपनी भाषा, अपनी संस्कृति और एक जाति थी, जिससे जर्मनी में एकता की भावना अवश्यंभावी थी। यह ठीक है कि कुछ अपरिहार्य परिस्थितियों के कारण जर्मनी से राजनीतिक एकता लुप्त हो गई थी, फिर भी राष्ट्रीय एकता के लिए जर्मनी में सहायक तत्व मौजूद थे। फ्रांस की क्रांतिकारी सेना जब जर्मनी की भूमि पर 'समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व' के नारे के साथ आई तो जर्मनवासियों ने उसका स्वागत किया। नेपोलियन ने ऑस्ट्रिया के सम्राट को पराजित कर 1805 ई0 में प्रेसबर्ग की संधि करने के लिए उसे बाध्य किया, जिससे ऑस्ट्रिया का

वर्चस्व जर्मनी पर से जाता रहा था। उसने प्रशासनिक सुविधा के लिए जर्मन राज्यों की संख्या घटाकर 30 कर दी और सभी राज्यों पर फ्रांसीसी कानून लागू किया। वह पहला अवसर था कि पूरे जर्मनी में एक जैसे कानून लागू हुए, जो उदारवादी प्रकृति के थे। इस घटना से जर्मनों में एकता की भावना पनपी। इसके साथ ही बाद में फ्रांसीसी सेना के प्रतिरोध में जर्मनों ने एकजुट होकर लड़ाई की, जिससे उनमें एकता की भावना का संचार हुआ।

1815 ई0 की वियना कॉंग्रेस ने पुनः जर्मन राज्यों की संख्या 38 कर दी और एक ढीला–ढाला संध बनाकर उसका अध्यक्ष ऑस्ट्रिया के सम्राट को नियुक्त कर दिया। इस संघ के लिए एक संघीय परिषद का संगठन किया गया, जिसके सदस्यों को जर्मन राज्य मनोनीत करते थे। इस व्यवस्था से जर्मन राष्ट्रवादियों को घोर निराशा हुई जिसके परिणामस्वरूप उन्होनें 'ब्रुशेन शैफ्ट' नामक एक गुप्त संस्था की स्थापना की, जिसके संगठन का जाल पूरे जर्मनी में फैला हुआ था। इसके साथ ही, वार्टबर्ग में लिपजिंग के युद्ध की स्मृति में एक समारोह का आयोजन किया। इन कार्यों से जर्मनी मे ंराष्ट्रीयता की भावना बढ़ी और उन्हें संगठित होने का मौका मिला।

इधर प्रशा ने 1848 ई0 में अपने राज्यसे अलग हुए बारह राज्यों के साथ व्यापारिक संधि कर चुंगी संघ स्थापित कर लिया। इस संधि के अनुसार सभी राज्यों से व्यापारिक चुंगी हटा ली गई, ताकि व्यापारिक उन्नति होने लगे। जर्मनी की अन्य रियासतें भी धीरे–धीरे उक्त संघ में सम्मिलित हो गई। ऑस्ट्रिया के अतिरिक्त सभी जर्मन राज्यों ने प्रशा की अध्यक्षता में एक संघ का निर्माण कर लिया था। इस आर्थिक एकीकरण ने जर्मनों को बता दिया कि जर्मनी का राजनीतिक एकीकरण कितना लाभदायक है।

यह कहा जाता है कि 'रक्त एवं हथियार' नहीं, बल्कि 'कोयला और लोहा' ने जर्मनी की राजनीतिक एकता की भूमिका तैयार की। प्रशा के नेतृत्व में आर्थिक संघ का निर्माण हो चुका था। औद्योगीकरण एवं जनसंख्या में वृद्धि और श्रमिकों का राजनीतिक महत्व –इस परिवर्तन के कारण प्रशा केवल 'जोलवेरिन' का ही नेता नहीं रहा, बल्कि संपूर्ण जर्मनी का नेता बन गया। इसके विपरीत ऑस्ट्रिया अपनी दकियानूसी नीति के कारण पीछे पड़ता चला गया। राष्ट्रीय एकता के आंदोलन में औद्योगिक विकास प्रशा के लिए काफी सहायक हुआ।

जर्मन लोगो का विश्वास था कि शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना से देश की आर्थिक उन्नति होगी और वाणिज्य–व्यवसाय को बढ़ावा मिलेगा। औद्योगिक प्रगति से एक और लाभ हुआ। प्रशा की आर्थिक स्थिति ठोस हुई, जिसके कारण वह शक्तिशाली सेना का संगठन करने में सक्षम हो सका।

प्रशा में ही सबसे ज्यादा औद्योगिक विकास हुआ। लेकिन, इस समय तक पूरे विश्व में यूरोपीय देशों ने अपनी–अपनी कॉलोनियाँ स्थापित कर ली थीं। संयुक्त जर्मनी ही अन्य यूरोपीय देशों की भाँति अपनी कॉलोनी बसा सकता था, जहाँ से उसके उद्योगों के लिए कच्चामाल मिलता। इसलिए, जर्मनी के अन्य राज्यों के उद्योगपति भी जर्मनी की एकता के प्रबल समर्थक हो गये और इस पुनीत कार्य में उन्होनें प्रशा को सहयोग दिया। अतः, यह सच जान पड़ता है कि जर्मनी के उद्योग–धंधे जर्मनी के एकीकरण में बहुत सहायक हुए।

किसी भी देश में राजनीतिक उथल–पुथल के पहले बौद्धिक जागरण होता है और बुद्धिजीवी

अपनी रचनाओं के माध्यम से लोगों को सही दिशा देते हैं। फ्रांस की क्रांति के बाद साहित्यकारों और लेखकों ने जर्मनी के निवासियों में राष्ट्रीय भावना को जगाया। कवियों ने राष्ट्र की महानता के गीत गाए। दार्शनिकों ने राष्ट्रीय भावना को जगाया। दार्शनिकों ने जर्मनी को महान देश बताया। इतिहासकारों ने जर्मनी के प्राचीन गौरव पर प्रकाश डाला। विचारकों ने वहां के निवासियों में राष्ट्रीय भावना को जगाया। इस प्रकार, 'रक्त और हथियार' एवं 'कोयला और लोहा' अर्थात् उद्योग–धंधे से ही नहीं, बल्कि कागज और स्याही से भी जर्मनी के एकीकरण का मार्ग प्रशस्त हुआ।

1830 ई0 की क्रांति से जर्मन राज्यों में भी विद्रोह हो गया। फिर 1848 ई0 की क्रांति और मटरनिख के पतन ने जर्मन राज्यों को प्रोत्साहित किया और वहां नई जागृति आई। कई जर्मन राजाओं को विवश होकर संविधान जनता को प्रदान करना पड़ा। इसी बीच सार्वभोमिक मताधिकार के आधार पर जर्मन और संयुकत जर्मन राज्यों में 568 प्रतिनिधि निर्वाचित होकर आये और फ्रैंकफुर्ट में उन्होनें एक संविधान बनाया एवं संयुक्त जर्मनी का राजा प्रशा के राजा को बनाया गया।

एकीकरण के मार्ग में बाधाएँ–

जर्मनी के एकीकरण के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा ऑस्ट्रिया द्वारा जर्मनी के मामले में हस्तक्षेप किया जाना था। ऑस्ट्रिया प्रतिक्रियावादी विचारों का पोषक था और वह जर्मनी में उगती राष्ट्रीयता की भावना का प्रबल विरोधी था। उसका अपना हित जर्मनी के राष्ट्रीय एकता में नहीं, बल्कि बिखराव में था। अतः, वह जर्मनी की राजनीतिक एकता के विरूद्ध था। विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक हित विभाजित जर्मनी में थे और उनका स्वार्थसाधन संयुक्त जर्मनी में संभव नहीं था। इसीलिए यूरोपीय राज्य भी शुरू में जर्मनी के एकीकरण में रूचि नही लेते थे। बिस्मार्क ने अपनी कूटनीति से जर्मनी की एकता को युद्ध का प्रश्न बना दिया और उसने इन्हीं युद्धों के माध्यम से जर्मनी का एकीकरण कर डाला।

3.4.2 जर्मन एकीकरण की परिस्थितियॉ, प्रकिया एवं व्यक्ति–व्यक्तित्व का योगदान विलियम प्रथम और नीति–परिवर्तन

विलियम 1861 ई0 मे प्रशा का सम्राट बना। उसे सेना की शक्ति में विश्वास था और वह सांविधानिक राजतंत्र को अविश्वास की दृष्टि से देखता था। जर्मनी के एकीकरण के लिए वह लालायित था जिसके लिए एक सशक्त सेना वह आवश्यक समझता था।

बिस्मार्क और जर्मनी का एकीकरण–

इधर बिस्मार्क 1862 ई0 में प्रशा का चांसलर बना। उसे प्रशा की शक्ति और सेना में अटूट विश्वास था। वह प्रशा के नेतृत्व में ही जर्मनी के एकीकरण का स्वप्न देखता था। बिस्मार्क का विश्वास था कि जर्मनी उदारवादी आदर्शों के लिए नहीं, वरन् शक्ति के लिए प्रशा की ओर देख रहा है। वह कहा करता था कि जर्मनी की समस्या का समाधान बौद्धिक भाषणों, आदर्शवाद अथवा बहुमत के निर्णयों से नहीं, बल्कि प्रशा के नेतृत्व में 'लहू और युद्ध' अर्थात् बलिदान देकर विजय

हासिल कर होगा। वास्तव में बिस्मार्क के विजय हासिल कर जर्मनी के एकीकरण की उम्मीद तत्कालिक यूरोपीय राजनीतिक व्यवस्था में निहित थी। परन्तु, यूरोप के तत्कालीन प्रभावशाली देश–इंगलैंण्ड, रूस, फ्रांस और ऑस्ट्रिया–जर्मनी के एकीकरण के पक्ष में नहीं थे; क्योंकि एक शक्तिशाली एकीकृत जर्मनी के शक्ति–संतुलन के लिए सबसे बड़ा खतरा था। ऐसी परिस्थिति बिस्मार्क की 'लहू और युद्ध' की नीति प्रशा की सामरिक नीति से मेल खाती थी। बिस्मार्क पूरे जर्मनी को प्रशा द्वारा हराकर जर्मनी का एकीकरण करना चाहता था, अर्थात् उसके एकीकरण की योजना में जर्मनी का एकीकरण प्रशा के राज्य का विस्तार था।

कालक्रम में फ्रेंडरिक चतुर्थ, प्रशा का राजा, ने बीमार होने के कारण अपने भाई विलियम प्रथम को शासन–सूत्र दे दिया। विलियम प्रशा की महानता में विश्वास करता था, लेकिन डायट–प्रशा की संसद–में प्रगतिवादी दल का बहुमत था जो राजा की शक्ति पर अंकुश लगाना अपना कर्तव्य समझता था। उदारवादियों और प्रतिक्रियावादियों के बीच मताधिकार, सैनिक बजट आदि प्रश्नों को लेकर वाद–विवाद हो रहा था। विलियम ने उदरवादियों को संतुष्ट कर जर्मनी की एकता के लिए प्रशा की सेना को मजबूत करने के लिए धन हासिल करना चाहा, परन्तु वह सफल नहीं हो सका। ऐसी विकट परिस्थिति से निपटने के लिए उसने बिस्मार्क को चांसलर बनाया।

बिस्मार्क अच्छी तरह समझता था कि जर्मनी के एकीकरण के रास्ते में सबसे बड़ा रोड़ा ऑस्ट्रिया था और उसे बिना युद्ध में पराजित किए हुए जर्मन संघ से निष्कासित नहीं किया जा सकता था। उसे यह भी भयथा कि ऑस्ट्रिया–प्रशा के युद्ध में संभव था कि फ्रांस ऑस्ट्रिया के पक्ष में युद्ध में हस्तक्षेप करें। ऐसी आपातकालीन अवस्था की संभावना को ध्यान में रखकर बिस्मार्क पहले से ही ऑस्ट्रिया को एकाकी करने की कूटनीतिक चाल चलने लगा।

बिस्मार्क जब सेंट पीट्सबर्ग में (रूस की तत्कालीन राजधानी) में प्रशा का राजदूत बनकर गया था तो उसने बड़ी कुशलता से जार से और रूसी अधिकारियों से दोस्ती कर ली थी। इस मित्रता का उसने जर्मनी के एकीकरण के समय के युद्धों में फ्रांस के विरूद्ध उपयोग किया। क्रीमिया के युद्ध में प्रशा की निरपेक्षता, सेन्ट् पीट्सबर्ग में उसका सफल दूत के रूप में कार्य तथा उसकी राजतंत्र में आस्था रूसी सम्राट को खुश करने के लिए काफी थे। 1863 ई0 में फ्रेडरिक की मृत्यु हो गई और नवम् क्रिश्चियन डेनमार्क की गद्दी पर बैठा। नवम् क्रिश्चियन ने श्लेस्विग और होलस्टीन की डचियों को भी ऑस्ट्रिया–प्रशा को दे दिया।

अब श्लेस्विग और होलस्टीन के बँटवारे का विवाद उठा। ऑस्ट्रिया ने प्रस्ताव किया कि इन दोनों डचियों को ऑगस्टनबर्ग के ड्यूक को दिया जाए। लेकिन बिस्मार्क भविष्य में इन दोनों डचियों को लेकर ऑस्ट्रिया से युद्ध करने का कारण ढूँढा जा सकता था। ए0जे0पी0 टेलर ने गैस्टाइन के समझौते को बिस्मार्क की कूटनीति का करिश्मा कहा है और इसका उद्देश्य ऑस्ट्रिया को भयभीत करना बताया है।

जर्मन एकीकरण का द्वितीय चरण तथा प्रशा और ऑस्ट्रिया का युद्ध (1866ई0)

बिस्मार्क जर्मनी के एकीकरण के द्वितीय चरण में ऑस्ट्रिया से युद्ध करना आवश्यक समझता था। दर असल उसका उद्देश्य जर्मनी से ऑस्ट्रिया का प्रभाव समाप्त कर और युद्ध के वातावरण

में राष्ट्रीयता की भावना जगाकर राष्ट्रीय एकता के लिए लोगों को अपने राजाओं की इच्छा के विरूद्ध प्रशा में मिलने के लिए प्रेरित करना था।इस बीच बिस्मार्क का जर्मनीकरण हो गया; क्योंकि वह ऑस्ट्रिया से अब केवल दोनों डचियों के लिए ही युद्ध नहीं करना चाहता था, बल्कि उत्तरी जर्मनी के सभी राज्यों को प्रशा के साथ मिलाना चाहता था। इस उद्देश्य से राज्य मंडल की संसद (डायट) के अधिवेशन में बिस्मार्क ने यह घोषणा की कि भविष्य में जर्मन संसद का निर्वाचन सार्वभौम मताधिकार पर आधृत होगा और सांविधानिक सुधार पर विचार–विमर्श वही संसद करेगी। यह घोषणा आश्चर्यजनक इसलिए थी कि रूढ़िवादी बिस्मार्क उदारता का परिचय दे रहा था। वास्तम में प्रशा के जुंकर परिवार के बिस्मार्क का अब कूटनीतिज्ञीकरण हो रहा था। इस घोषणा का परिणाम यह हुआ कि ऑस्ट्रिया के विरूद्ध युद्ध में उसे उदारवारवादियों का समर्थन भी मिल गया। उसका विचार था कि सार्वभौम मताधिकार से रूढ़िवादी प्रभाव कम होने के बदले बढ़ेगा; क्योंकि शहरों के उदारवादी मध्यमवर्ग के हितों का संतुलन राजभक्त किसानों के मतों के द्वारा हो जायेगा।

बिस्मार्क ने ऑस्ट्रिया को पराजित करने पर भी उसे अपमानित नहीं किया और उसे काफी सम्मान दिया। यह ठीक है कि उसने इटली को वेनेशिया दिलवाया, लेकिन प्रशा के लिए उसने एक इंच भी भूमि नहीं ली। युद्ध के हर्जानें के रूप में भी एक मामूली रकम ली गई। फ्रांस से युद्ध के लिए आवश्यक था कि ऑस्ट्रिया फ्रांस के साथ युद्ध में तटस्थ रहे। इसी उद्देश्य से उसने ऑस्ट्रिया के साथ पराजित होने पर भी नरमी बरती थी।

ऑस्ट्रिया–प्रशा के युद्ध से नेपोलियन तृतीय की साख देश में गिरी। अब फ्रांस में उसकी आलोचना होने लगी। अपनी गिरती प्रतिष्ठा को बचाने के लिए वह हाथ–पैर मारने लगा जिसके कारण वह बिस्मार्क के जाल में फँसा और 1870 ई0 का प्रशा एवं फ्रांस का युद्ध हुआ। एक बार बिस्मार्क ने कहा था कि फ्रांस के साथ प्रशा का युद्ध इतिहास की तर्कसंगत परिणति है। राष्ट्रीयता की भावना के उफान में बिस्मार्क दक्षिणी राज्यों का विलय जर्मनी में चाहता था और यह फ्रांस से युद्ध के समय ही हो सकता था। बिस्मार्क ने फ्रांस को कूटनीतिक दृष्टिकोण से एकाकी कर दिया ताकि युद्ध की स्थिति में उसे आसानी से पराजित किया जा सके। बिस्मार्क जिस देश से युद्ध करता था उसे कूटनीतिक दृष्टिकोण से एकाकी बना देता था, ताकि युद्ध के समय उसे कहीं से मदद नहीं सके। बिस्मार्क ने इटली को दिलासा दिलाया है कि जब प्रशा का युद्ध फ्रांस से शुरू होगा तो फ्रांस रोम में पोप की सुरक्षा के लिए रखी गई अपनी सेना को बुला लेगा और तब इटली रोम पर कब्जा कर ले सकता है। इटली ने खुशी–खुशी इस प्रस्ताव को मान लिया और इस तरह बिस्मार्क ने इटली को प्रशा–फ्रांस युद्ध में तटस्थ कर दिया।

बिस्मार्क ने रूस को क्रीमिया के युद्ध में फ्रांस की सक्रिय भूमिका की याद दिलाई और उसे यह भी बताया कि प्रशा ने उस युद्ध में तटस्थ रहकर रूस की मदद की थी। उसने रूस को यह भी लालच दिया कि फ्रांस और प्रशा के युद्ध के समय वह 1856 ई0 की पेरिस की संधि की अवहेलना कर काला सागर में अपनी नौसेना रख सकता था। इसके अलावा पोल विद्रोह के समय बिस्मार्क की रूस के प्रति दी गई सहायता अभी ताजी थी। इस तरह बिस्मार्क की रूस के साथ की मित्रता और उसकी कूटनीति ने फ्रांस–प्रशा युद्ध में रूस को तटस्थ कर दिया।

फ्रांस–प्रशा युद्ध का तात्कालिक कारण स्पेन की राजगद्दी पर लियोपोल्ड के दावे से संबद्ध था। वास्तव में स्पेन में 1868 ई0 में विद्रोह हुआ था जिसमें वहां की रानी आइसाबेला द्वितीय ने गद्दी छोड़ दी थी। अब यह गद्दी होहेनजालरेन वंश के लियोपोल्ड–जो प्रशा के राजा का संबंधी था–को दिये जाने का प्रस्ताव लाया गया जिसे अनिच्छा से लियोपोल्ड ने स्वीकार किया। लेकिन जैसे ही इसकी खबर नेपोलियन तृतीय को लगी तो उसने इसका कड़ा विरोध किया जिससे लियोपोल्ड ने भयभीत होकर स्पेन की गद्दी पर बैठने से इंकार कर दिया। यह नेपोलियन तृतीय की विजय थी। लेकिन वह इससे संतुष्ट नहीं था। परिणामतः उसने अपने राजदूत बेनडेटि को प्रशा के राजा से एम्स में मिलकर भविष्य में भी किसी जर्मन राजकुमार के स्पेन की गद्दी पर नहीं बैठने का आश्वासन मांगने के लिए कहा। राजा ने बेनडेटि को उचित आश्वासन दे दिया और इस बात की खबर उसने तार देकर बिस्मार्क को दी। बिस्मार्क रात्रि का भोजन अपने युद्धमंत्री रून के साथ कर रहा था। जैसे ही यह तार बिस्मार्क को मिला, वह खुशी से नाच उठा और उसने तार की बातों को इस तरह संशोधित कर अखबारों को छपने के लिए दे दिया कि प्रशा के लोगों को लगा कि बेनडेटि ने राजा के साथ अभद्र व्यवहार किया है और फ्रांस के लोगों को लगा कि प्रशा के राजा ने उने राजदूत के साथ अभद्र व्यवहार किया है। दोनों देशों में पहले से ही तनाव था। इस मुद्दे ने आग में घी का काम किया।

नेपोलियन तृतीय इस समय युद्ध के लिए तैयार नहीं था, परंतु फ्रांस की भावना–प्रधान जनता का उफान रोकना मुश्किल था। मजबूरन नेपोलियन को स्वयं एक अनचाहा युद्ध मोल लेना पड़ा। फ्रांस मित्रविहीन था। इस माहौल में 1870 ई0 का फ्रांस–प्रशा युद्ध शुरू हुआ। फ्रांस की 1870 ई0 में सेडान के युद्ध में पराजय के बाद दोनों देशों के बीच 1871 ई0 में फ्रैंकफुर्ट की संधि हुई जिससे युद्ध का अंत हुआ। इस संधि के अनुसार फ्रांस ने प्रशा को पाँच हजार अरब फ्रैंक हर्जाना के रूप में देने के लिए वादा किया और यह भी तय किया कि जबतक हर्जाने की रकम वसूल नहीं हो जाती तब तक प्रशा की सेना फ्रांस में मौजूद रहेगी।

वास्तव में बिस्मार्क एल्सास–लोरेन फ्रांस से नहीं लेना चाहता था, क्योंकि वह जानता था कि इससे मर्माहत फ्रांस यूरोप में मित्र ढूँढकर जर्मनी से युद्ध कर उन प्रदेशों को प्राप्त करने की कोशिश करेगा। लेकिन सेनापतियों के दबाव में उसे एल्सास–लोरेन लेने पड़े और प्रशा के राजा को वर्साय के राजप्रसाद में सम्राट घोषित किया गया। युद्ध के समय दक्षिण राज्यों में राष्ट्रीयता की लहर आई जिसके परिणामस्वरूप युद्धोपरांत दक्षिणी राज्य भी जर्मन संघ में शामिल हुए और इस तरह जर्मनी का एकीकरण पूरा हुआ।

युद्ध के परिणाम–

फ्रांस–प्रशा के 1870 के युद्ध के कुछ महत्वपूर्ण परिणाम निकले। इस युद्ध ने जर्मनी की एकता को पूरा किया और जर्मन साम्राज्य की नींवरखी। इससे जर्मनी के महत्वाकांक्षा बढ़ गई, जिसका परिणाम एल्सास–लोरेन को फ्रांस से लेना और वर्साय के राजप्रसाद में प्रशा के राजा का जर्मनी के सम्राट के रूप में घोषित करना था। इससे फ्रांस के सम्मान को काफी धक्का लगा जिसका बदला चुकाने के लिए फ्रांस सतत प्रयत्नशील रहने लगा। इस युद्ध के परिणामस्वरूप फ्रांस में द्वितीय साम्राज्य का अंत हुआ और तृतीय गणतंत्र की स्थापना हुई। इसके विपरीत जर्मनी में एक संगठित

जर्मन साम्राज्य की स्थापना हुई जो राष्ट्रवाद और सैन्यवाद का पक्का समर्थक था। बर्लिन इस साम्राज्य की राजधानी बनी।

3.5 इटली का एकीकरण

19वीं शताब्दी में इटली मात्र एक भौगोलिक अभियव्यक्ति था; क्योंकि इसमें अनेक राज्य थे, जिनके शासकों का आपसी हित एक–दूसरे के विपरीत थे। ये शासक इटली की राजनीतिक एकता के विरूद्ध थे; क्योंकि एकता की हालत में अनेक शासकों को अपनी गद्दी से हाथ धोना पड़ता। फिर भी, 19वीं सदी में ही कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं, जिनके कारण इटली में राष्ट्रवाद का उदय हुआ और बहुत सी क्रांतिकारी संस्थाओं का जन्म हुआ जिन्होनें इटली के एकीकरण में हाथ बँटाया और अंततः इटली 1870 ई0 में एक राष्ट्र के रूप में उदित हुआ।?

3.5.1 इटली के एकीकरण के पूर्व की पृष्ठभूमि

इटली में अनेक राज्य थे और इनके शासकों का आपसी हित एक–दूसरे से टकराता था, फिर भी इटली में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ थीं जिनके कारण इटली में एकीकरण की भावना मुखर होती गई। इटली में एक ही नस्ल के लोग थे और उनकी भाषा भी एक ही इतालवी थी। इसके अलावा उनका धर्म भी रोमन कैथोलिक था। उपर्युक्त परिस्थितियों के कारण उनका सांस्कृतिक जीवन एक समान था। इटली के निवासी अनेक राज्यों में रहते हुए भी एकता महसूस करते थे और राष्ट्रीयता की बढ़ती लहर में राजनीतिक एकता प्राप्त कर वे एक बलशाली राष्ट्र के रूप में यूरोप में इटली को पेश करना चाहते थे।

इसके अलावा फ्रांस की सेना जब इटली में घुसी तो उसने क्रांतिकारी नारों–'समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व'–का सहारा लिया। पददलित इटलीवासी इन नारों से बहुत प्रभावित हुए और उन्होनें अपनी सहानुभूति क्रांतिकारी सेना के साथ दिखाई। लेकिन, इटलीवालों का भ्रम शीघ्र ही टूट गया, जब उन पर विदेशी शासक नेपोलियन का शासन शुरू हुआ। लेकिन, नेपोलियन की इटली के एकीकरण के प्रति सबसे महत्वपूर्ण देन राष्ट्रवादी भावनाओं को उभारना था। नेपोलियन के शासन का इटली में विरोध होने लगा और इस प्रतिरोध में इटलीवासियों ने एक साथ मिलकर फ्रांसीसी सेना का सामना किया। इसके परिणामस्वरूप उनमें भावनात्मक एकता का संचार हुआ।

1815 ई0 के वियना कांग्रेस ने इटली को पुनः विभाजित कर दिया और उस पर ऑस्ट्रिया का आधिपत्य स्थापित कर दिया। फिर भी, इटली के राज्यों की संख्या उतनी नहीं थी, जितनी कि फ्रांसीसी क्रांति के पूर्व थी। इटलीवासी 1815 ई0 की वियना–व्यवस्था का विरोध करते थे। इस विरोध के फलस्वरूप कई संस्थाओं का जन्म हुआ–कार्बोनरी, युवा इटली–जिन्होनें इटली के एकीकरण के लिए प्रयास किया। इटलीवासी एकीकरण के लिए आर्थिक समृद्धि आवश्यक समझते थे। उनके विचार में राजनीतिक एकीकरण के पहले देश का आर्थिक एकीकरण आवश्यकथा। इटली के व्यवसाय, कृषि और उद्योग पिछड़े हुए थे। इनकी तरक्की के लिए कई सफल प्रयास किये गये और तदनुसार सार्डिनिया में नए कानून बनाये गये।

इटली के एकीकरण का मार्ग अनेक बाधाओं से भरा हुआ था। इटली के एकीकरण में विदेशी शक्तियाँ भी बहुत चाव नहीं ले रही थीं। आंतरिक बाधाओं में राजतंत्र का विरोध तो था ही, साथ ही उस कुलीनवर्ग का भी विरोध था जो अपने–आपको चर्च, धर्मसंघ और शक्ति का रक्षक मानता था और इन सबका संरक्षक ऑस्ट्रिया था। राजनीतिक विषमताएँ आर्थिक कारणों से और भी उग्र हो गईं; क्योंकि दक्षिणी इटली अविकसित और ग्रामीण था तथा उत्तरी इटली अर्द्ध–औद्योगिक।

इटली के एकीकरण के मार्ग में सामंतवर्ग और कुलीनवर्ग भी बॉधक थे, जो सामंतवादी तथा जागीरदारी प्रथा को और मजबूत करके अपना प्रभाव बढ़ाना चाहते थे। उनकी शक्ति उनकी जागीरें तथा राजनीतिक प्रभुता थी। इटली में औद्योगिक क्रांति भी अपनेचरण नहीं रख पाई थी। ऐसी हालत में जमीन के मालिकों, अर्थात् सामंतो की समाज में पूछ थी और ये सामंत राष्ट्रीय एकता के पक्ष में नहीं थे; क्योंकि इन्हें भय था कि राष्ट्रीय एकात हासिल करने पर इटली में उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति पहलेवाली नहीं रह जायेगी।

3.5.2 इटली के एकीकरण की परिस्थितियॉ, प्रकिया एवं व्यक्ति–व्यक्तित्व का योगदान

नेपोलियन की इटली विजय और फ्रांस की क्रांतिजनित शक्तियों ने इटली के एकीकरण के मार्ग को प्रशस्त किया नेपोलियन की पराजय के पश्चात् यूरोप में प्रतिक्रिया का राज्य व्याप्त हो गया और इटली पुनः विभाजित कर दिया गया, जहाँ ऑस्ट्रिया का बोलबाला कायम हुआ। फिर भी इटली के देशभक्त राष्ट्रीय एकता के लिए प्रयास करते रहे। कुछ राष्ट्रभक्तों ने 'कार्बोनरी' नामक एक गुप्त संस्था की स्थापना की, जो नेपल्स के अलावा देश के अन्य भागों में फैल गई। इस संस्था ने गुप्त रूप से कई विद्रोहों का आयोजन किया और क्रांतिकारी भावना का प्रचार आरंभ किया। 1820 ई0 के नेपल्स के विद्रोह में कार्बोनरी का हाथ था, फलतः मेटरनिख ने इसके सदस्यों को कुचलने का हर संभव प्रयास किया।

1830 ई0 की फ्रांसीसी क्रांति के परिणामस्वरूप इटली में भी क्राति हुई। पोप की रियासतों तथा पर्मा और मोडेना में भी विद्रोह हुए। विद्रोहियों को लुई फिलिप से सहायता की आशा थी, लेकिन उनकी यह आशा पूरी नहीं हुई और अंत में मेटरनिख ने एक बार फिर विद्रोहियों का दमन किया।

मेजिनी और 'युवा इटली' की स्थापना–

1815 से 1831 ई0 तक इटली के एकीकरण के लिए किए गए सारे प्रयत्न विफल हो चुके थे और घोर निराशा का वातावरण छा गया था। ऐसी ही निराशाजनक परिस्थिति में इटली में राष्ट्रीय आंदोलन के नेता मेजिनी का प्रादुर्भाव हुआ। उसके दिमाग में संयुक्त इटली का स्वरूप जितना स्पष्ट और निश्चित था। मेजिनी ने 1830 ई0 की क्रांति में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी–कार्बोनरी संस्था का सदस्य होने के कारण उसे गिरफ्तार कर लिया गया था।

कारागार में मेजिनी को अनुभव हुआ कि इटली का एकीकरण कार्बोनरी की योजना के अनुसार नहीं हो सकता। 1831 ई0 में उसने 'युवा इटली' नामक संस्था की स्थापना की, जिसने नवीन इटली के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1848ई0 की क्रांति के समय मेजिनी इटली में

गणतंत्र की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हुआ, लेकिन वह सफल नहीं हो सका। फिर भी उसका यह प्रयत्न बाद के समय के लिए प्रेरणा का स्त्रोत रहा। 'युवा इटली' का एकमात्र उद्देश्य इटली को ऑस्ट्रिया के प्रभाव से मुक्त कर उसका एकीकरण करना था। मेजिनी कट्टर गणतंत्रवादी था और चाहता था कि एकीकरण का कार्य पूरा होने पर देश में गणतंत्रीय सरकार कायम हो। इटली के लिए ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण विश्व के लिए मेजिनी राष्ट्रीय मुक्ति का प्रतीक बना।

1848 ई0 की फ्रांसीसी क्रांति का प्रभाव सम्पूर्ण यूरोप पर पड़ा। इस क्रांति के परिणामस्वरूप ऑस्ट्रिया में भी क्रांति हुई और मेटरनिख को अपना देश छोड़कर भागना पड़ा। मेटरनिख के पलायन से इटलीवासी खुश हुए और इटली में ऑस्ट्रिया के विरूद्ध विद्रोह हो गया। ऑस्ट्रिया से मुकाबला करने के लिए अकेला सार्डिनिया सक्षम नहीं था, अतः यह भी महसूस किया गया विदेशी सहायता प्राप्त कर ही इटली का एकीकरण हो सकता है।

कावूर और इटली का एकीकरणः—

काउंट काबूर पीडमौंट का निवासी था और पेशे से इंजीनियर था। आरम्भ में वह सेना में भर्ती हुआ, लेकिन शीघ्र ही अपने उदार विचार के कारण उसे सेना की नौकरी छोड़नी पड़ी। वह वैध राजतंत्र में विश्वास करता था। कुछ दिनों के बाद वह पीडमौंट के प्रथम संसद के चुनाव में खड़ा हुआ और विजयी हुआ। 1850ई0 में वह मंत्रिमण्डल में शामिल हुआ और 1852 ई0 में प्रधानमंत्री बना। प्रधानमंत्री बनते ही उसने अपने राज्य की शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न किया और एक महान राजनीतिज्ञ तथा अद्वितीय राजनयिक का परिचय दिया। राजा विक्टर इमैनुएल की कृपा भी उसे प्राप्त थी। अतः पीडमौंट—सार्डिनिया में कावूर ने संसदीय शासन—प्रणाली का विकास किया और स्वायत्त संस्थाओं कानिर्माण कर जनता को स्थानीय संस्था से अवगत कराया। उसने चर्च के विशेषाधिकारों को भी समाप्त किया और मठों को नष्ट कर धार्मिक भ्रष्टाचार दूर करने का प्रयास किया। शिक्षा की उन्नति के लिए उसने शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की।राज्य की आर्थिक स्थिति ठीक करने के लिए कावूर ने मुक्त व्यापार को प्रोत्साहित किया। किसानों की सुख—सुविधा के लिए अनेक समितियों का गठन कर लिया गया। इस तरह पीडमौंट आधुनिक राष्ट्र की श्रेणी में आ गया।

इटली के एकीकरण का पहला चरण—

इटली के एकीकरण के संबंधमें कावूर के कुछ खास सिद्धांत थे। उसकी राय थी कि समस्त इटली में सार्डिनिया ही एक ऐसा राज्य था, जो इटली को नेतृत्व प्रदान कर सकता था। उसके विचार से इटली के एकीकरण के लिए ऑस्ट्रिया को इटली से निकालना जरूरी था और यह बाह्य सहायता से सेना द्वारा ही संपादित हो सकता था। कावूर इटली के एकीकरण के लिए अंतरराष्ट्रीय सहानुभूति प्राप्त करना चाहता था, जिसके लिए आवश्यक था कि इटली के प्रश्न को अंतरराष्ट्रीय बनाया जाए।

कावूर अपनी योग्यतानुसार इटली के एकीकरण के लिए विदेशी सहायता प्राप्त करने के लिए उद्यत हुआ। संयोगवश इसी समय 1854 ई0 में रूस और तुर्की के बीच क्रीमिया का युद्ध शुरू हुआ, जिसमें इंगलैंड और फ्रांस ने तुर्की की तरफ से युद्ध में भाग लिया। जब लड़ाई शुरू हुई तो कावूर

ने भी सार्डिनिया की तरफ से एक सेना भेजकर इंगलैंड और फ्रांस की मदद की। लेकिन, दुर्भाग्यवश कई बार ब्रिटिश सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया था कि वह इटली के एकीकरण के लिए सैनिक सहायता नहीं प्रदान करेगी।

ऐसी हालत में फ्रांस ही एकमात्र ऐसा देश था जिस पर कावूर आशा–भरी, निगाह से देख सकता था। वास्तव में नेपोलियन तृतीय इटली के कार्बोनरी संगठन का अपने प्रवास के दिनों में सदस्य रह चुका था, अतः उससे कुछ आशा करना कावूर के लिए तर्कसंगत था। 1815 ई0 की वियना की अपमानजनक स्थिति को भुलाने के लिए नीस और सेवाय लेना भी उसे फायदेमंद लगता था। अनजाने में इटली के एकीकरण की प्रक्रिया शुरूआत नेपोलियन प्रथम ने शुरू की थी, जिसको नेपोलियन तृतीय पूरा कर खुश होने का दंभ भर रहा था। नेपोलियन तृतीय ओरसिनी द्वारा अपनी (नेपोलियन की) हत्या के प्रयास से प्रभावित हुआ और इटली के एकीकरण के लिए पीडमौंट–सार्डिनिया को मदद करने के लिए तैयार हो गया।

नेपोलियन तृतीय इटली की मदद के लिए उन्मुख हुआ, लेकिन उसका ध्येय एक संगठित मजबूत इटली नहीं होकर ऑस्ट्रिया के प्रभाव से मुक्त इटली था। इस बात को ध्यान में रखकर उसने इटली के प्रधानमंत्री से प्लोंबियर्स नामक जगह पर 1858 ई0 में भेंट की और उसके साथ समझौता किया। समझौते के अनुसार सार्डिनिया को युद्ध का कारण ढूँढ़ना था। राजकुमारी क्लोटाइल्ड की शादी जेरोम से सितम्बर, 1858 में सम्पन्न हुई जिससे फ्रांस और पीडमौंट का संबंध और गहरा हुआ। प्रशा ऑस्ट्रिया की पराजय की कामना करता था; क्योंकि उसकी हस्तक्षेपकारी उपस्थिति के कारण ही जर्मनी का एकीकरण संभव नहीं हो पा रहा था।

इटली के एकीकरण का प्रथम चरण–

काबूर ऑस्ट्रिया से युद्ध का बहाना ढूँढ़ रहा था। उधर ऑस्ट्रिया को भी सार्डिनिया एवं फ्रांस के समझौते का ज्ञान हो चुका था, जिसके कारण वह नाराज था। वह शुरू में ही सार्डिनिया को कुचल देना चाहता था, अतः 19 अप्रैल, 1859 को ऑस्ट्रिया ने पीडमौंट के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। यूरोप की नजरों में ऑस्ट्रिया आक्रामक देश बन गया। पीडमौंट से ऑस्ट्रिया की लड़ाई शुरू होने के दस दिनों के बाद फ्रांस ने दो लाख सेना के साथ ऑस्ट्रिया पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में ऑस्ट्रिया की सेना बुरी तरह पराजित होने लगी। नेपोलियन तृतीय कभी सोच भी नहीं पाया था कि सार्डिनिया की सेना इतनी आसानी से विजय प्राप्त कर सकेगी। वह संगठित इटली को फ्रासं के लिए खतरा मानता था, फलतः कावूर के विजयोल्लास के दौरान ही उसने ऑस्ट्रिया से संधि करने की बात सोची।

उपर्युक्त परिस्थिति में नेपोलियन तृतीय विलाफ्रैंका नामक जगह पर ऑस्ट्रिया के सम्राट फ्रांसिस जोसेफ से भेंट की और एक के युद्ध से हट जाने के बाद सार्डिनिया सैनिक रूप में कमजोर हो गया। कावूर युद्ध बंद करने के पक्ष में नहीं था; क्योंकि ऑस्ट्रिया का अधिपत्य अब भी वेनेशिया पर था। चूँकि नेपोलियन ने अंतिम समय तक ऑस्ट्रिया को इटली से बाहर निकालने में सार्डिनिया का साथ नहीं दिया था, अतः उसे सेवाय और नीस नहीं मिले। इटली के एकीकरण का पहला चरण नेपोलियन तृतीय की मदद से सम्पन्न हुआ जिसमें उसे केवल लोम्बार्डी मिला। इस प्रयास ने यह साबित कर दिया कि इटली का एकीकरण सार्डिनिया के नेतृत्व में ही हो सकता था।

इटली के एकीकरण का द्वितीय चरण–

ज्यूरिख की संध ने पीडमौंड पर कुछ दिनों के लिए सैन्य–बल के प्रयोग पर प्रतिबंध लगाया था, लेकिन जन–आंदोलन पर इस संधि की शर्तें नहीं लागू हो सकीं। जिन दिनों ऑस्ट्रिया से इटली का युद्ध चल रहा था, उन्हीं दिनों मध्य इटली के परमा, मोडेना, टस्कनी और पोप के राज्यों बोलेगना और रोमेगना में जनता ने विद्रोह कर दिया जिससे वहां के शासकों को अपना राज्य छोड़कर भागना पड़ा। इन राज्यों में निरंकुश शासन के बदले सामयिक सरकारों का संगठन कर लिया गया था। समय कावूर भी पुनः मंत्रिमण्डल में शामिल हो गया। अप्रैल, 1860 में विक्टर इमैनुएल ने ट्यूरिन में एक नई संयुक्त इटली की पार्लियामेंट का उद्घाटन किया। इस उद्घाटन के साथ ही इटली के एकीकरण का द्वितीय चरण समाप्त हो हुआ।

गैरीबाल्डी एवं इटली के एकीकरण का तृतीय चरण–

इटली के एकीकरण का तृतीय चरण गैरीबाल्डी के उत्साह और त्याग एवं कावूर की नीति से संभव हो सका। गैरीबाल्डी (1807–82) एक महान देशभक्त था, और उसके साथ ही एकीकरण के कार्य को उसने एक कदम आगे बढ़ाया। इटली के एकीकरण में उसने जिस महान त्याग, निःस्वार्थ भावना तथा उत्कट देशभक्ति का परिचय दिया, वैसा उदाहरण विश्व में बहुत कम मिलता है। उसी के प्रयास के परिणामस्वरूप सिसली और नेपल्स इटली के अंग बन सके।

'युवा इटली' का सदस्य बनते ही गैरीबाल्डी ने इटली की एकता के लिए प्रयास करना प्रारंभ किया। मेजिनी के परामर्श से ही उसने पीडमौंट के नाविकों को विद्रोह के लिए उकसाया। पीडमौंट के राजा ने उसे गिरफ्तार कर लिया, लेकिन वह जेल से भागकर अमेरिका चला गया। जब फ्रांस में 1848 ई0 में क्रांति हुई और मेटरनिख का पतन हुआ, तब गैरीबाल्डी स्वदेश लौट आया। उस समय पीडमौंट का ऑस्ट्रिया से युद्ध चल रहा था। गैरीबाल्डी ने स्वयंसेवकों को संगठन किया और 3,000 स्वयंसेवकों को लेकर संग्राम में चार्ल्स एल्बर्ट की खुलकर सहायता की। लेकिन ऑस्ट्रिया और फ्रांस की संयुक्त सेना का सामना करना उसके लिए संभव नहीं था। अतः, उसे एड्रियाटिक के तट पर भागना पड़ा जहाँ उसने शत्रुओं का जमकर मुकाबला किया। लेकिन, इसी समय उसकी पत्नी की मृत्यु हो गई जिससे वह टूट गया और अमेरिका चला गया।

अमेरिका की इस दूसरी यात्रा में गैरीबाल्डी को काफी धन अर्जित करने का अवसर मिला। 1854 ई0 में वह पुनः इटली लौट आया और पीडमौंट के नजदीक केप्रेरा नामक द्वीप खरीदकर खेती करने लगा। फिर भी इटली की दुर्दशा पर उसे शांति नहीं मिली और देश की स्वतंत्रता और एकता के लिए वह प्रयत्नशील रहा। 1856 ई0 में गैरीबाल्डी वैधानिक राजसत्ता में विश्वास करने लगा। गैरीबाल्डी ने कावूर से मंत्रणा कर 1860 ई0 में जिनोआसे दक्षिण सिसिली की ओर 1072 सैनिकों को लेकर प्रस्थान किया। ये स्वयंसेवक लाल कुरता पहना करते थे। उसने नेपल्स पर आक्रमण किया जहाँ का राजा भाग खड़ा हुआ और नेपल्स भी गैरीबाल्डी के कब्जे में आ गया।

अब गैरीबाल्डी रोम पर आक्रमण करने की योजना बनाने लगा। रोम में पोप की रक्षा के लिए फ्रांसीसी सेना मौजूद थी और फ्रांसीसी जनता भी पोप की बेइज्जती बर्दास्त नहीं कर सकती थी। इसके अलावा कावूर को गैरीबाल्डी की बढ़ती लोकप्रियता और उसके पुराने गणतंत्रवादी विचार से भी भय था कि कहीं गैरीबाल्डी अपने को उन मुक्त इलाकों का शासक न घोषित करे दे। पर ऐसा

न हुआ गैरीबाल्डी ने सारे जीते हुए इलाकों को विक्टर इमैनुएल को सौंप दिया। उसने इटली के एकीकरण में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाकर दक्षिणी इटली को जीतकर इटली के एकीकरण का मार्ग प्रशस्त किया।

1861 ई0 तक इटली के पक्षमें विक्टर इमैनुएल द्वितीय ने कापुआ और गेटा को भी जीत लिया। रोम तथा वेनेशिया को छोड़कर सम्पूर्ण इटली के प्रदेशों पर विक्टर को अधिकार हो चुका था। गैरीबाल्डी जनता से आग्रह किया कि इटलीवासी विक्टर के प्रति अपनी श्रद्धा एवं भक्ति दिखाएँ और इस तरह इटली के एकीकरण का तृतीय चरण पूरा हुआ।

कावूर के नेतृत्व में इटली ने तीन बार एकीकरण का सफल प्रयास कर अपने को संगठित करलिया। लेकिन, अब भी वेनेशिया और रोम इटली में सम्मिलित नहीं हुए थे। कावूर समय के साथ–साथ इटली में इन इलाकों को भी सम्मिलित करने की योजना बना रहा था, लेकिन संयोगवश 6 जून, 1861 ई0 को 51 वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गई। इटली के एकीकरण में मेजिनी, गैरीबाल्डी, विक्टर इमैनुएल द्वितीय, असंख्य देशभ्क्तों, फ्रांसीसी मदद एवं कावूर का योगदान रहा। लेकिन, यदि कावूर नहीं होता तो बाकी सारे लोग एवं परिस्थितियाँ इटली का एकीकरण नहीं कर पातीं। मेजिनी का आदर्शवाद और गैरीबाल्डी के युद्ध–कौशल का प्रयोग कावूर की चतुरता से ही संभव हो सका, नहीं तो ऑस्ट्रिया और फ्रांस की सेना के सामने उनकी एक भी न चलती।

इटली के एकीकरण का चतुर्थ चरण–

वेनेशिया और रोम पर अभी भी क्रमशः ऑस्ट्रिया और पोप का शासन था। विक्टर इमैनुएल इन दोनों इलाकों को इटली में मिलाने की ताक में था। जर्मनी के एकीकरण के दौरान प्रशा और ऑस्ट्रिया की लड़ाई अवश्यंभावी हो गई। युद्ध में ऑस्ट्रिया पराजित हुआ और संधि के समय बिस्मार्क ने ऑस्ट्रिया को बाध्य किया कि वह वेनेशिया इटली को दे दे। इस तरह 1866 ई0 में वेनेशिया इटली का अंग बन गया और इटली के एकीकरण का चतुर्थ चरण समाप्त हुआ।

इटली के एकीकरण का अंतिम चरण–

रोम अब भी संयुक्त इटली का अंग न होकर पोप के अधीन था। सम्राट नेपोलियन तृतीय और विक्टर इमैनुएल द्वितीय में एक समझौता हुआ था जिसके अनुसार इटली के राजा ने पोप के राज्य पर आक्रमण नहीं करने का वचन दिया था। फ्रांस की एक सेना पोप के राज्य के रक्षार्थ रो में रहा करती थी। ऐसी स्थिति में रोम पर आक्रमण करने का अर्थ था फ्रांस स`युद्ध, जिसके लिए इटली तैयार नहीं था।

रोम पर इटली को अधिकार जमाने का सुअवसर 1870 ई0 में प्राप्त हुआ। प्रशा ने जर्मनी के एकीकरण के लिए अंतिम लड़ाई फ्रांस से 1870 ई0 में लड़ी। इस लड़ाई के लिए प्रशा के चांसलर, बिस्मार्क ने कूटनीतिक तैयारी करते समय विक्टर हमैनुएल द्वितीय को बताया कि युद्ध के दौरान फ्रांस अपनी सेना रोम से हटायेगा। जैसे ही फ्रांसीसी सेना हटे वैसे ही इटली को रोम पर आक्रमण कर अपने अधीन कर लेना था। रोम इटली में शामिल हो गया। 1871 ई0 में रोम संयुक्त, इटली की राजधानी बना। 2 जून, 1871 को विक्टर इमैनुएल द्वितीय अपने परिवार, राजदरबार और संसद के साथ रोम चला आया। जनता को संबोधित करते हुए उसने कहा, ''हम रोम में आ गए हैं

और अब यहीं रहेगें।'' इटली के एकीकरण का पंचम और अंतिम चरण अब पूरा हुआ और इस प्रकार विश्व के मानचित्र पर संयुक्त इटली का उद्‌भव हुआ।

3.6 सारांश

इस इकाई में हमने राष्ट्रवाद के सन्दर्भ में जर्मनी और इटली के एकीकरण से संबंधित निम्नलिखित बातों पर चर्चा की :

- राष्ट्र को एक भू–भाग के बजाय एक विशिष्ट मानव समुदाय के रूप में समझना जरूरी है।
- राष्ट्रवाद की जड़ें आधुनिक विश्व में गहरे तक समाई हुई हैं।
- राष्ट्रों के निर्माण, राष्ट्रवाद का उदय और राष्ट्र–राज्यों की उपस्थिति के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ मानव इतिहास के औद्योगिक दौर में ही संभव हुई हैं, उससे पहले नहीं। राष्ट्रवाद का उदय विश्व इतिहास के कृषक युग से औद्योगिक युग में रूपांतरण में निहित है। दूसरे शब्दों में औद्योगिक समाज और अर्थव्यवस्था की मुख्य आवश्यकताओं ने राष्ट्रवाद के उदय की नींव डाली।
- उपर्युक्त संदर्भों में इटली और जर्मनी में भी राष्ट्रवाद का उदय हुआ दोनों की राष्ट्रीय एकता की प्राप्ति समान लगती है लेकिन दोनों के एकीकरण के स्वरुप और प्रक्रिया में काफी अंतर रहा था । इटली के एकीकरण में जनतांत्रिक, सांविधानिक राजतंत्र के समर्थकों का मिला–जुला सहयोग था । लेकिन एकीकरण सदैव राजतंत्रवादी हावी रहे और विरोधियों को परास्त कर अंततः जर्मनी का एकीकरण हुआ ।

आधुनिक राज्य को औद्योगीकरण के संचालन की भूमिका निभानी पड़ती है। लोगों को प्रशिक्षित करना तथा उन्हें औद्योगीकरण के लिए उपयुक्त बनाना तथा लोगों के सामाजिक जीवन में दखल और हस्तक्षेप आधुनिक राज्य की भूमिका के अंग है। परिणामस्वरूप मानव–जीवन और समाज की स्वयात्ता जो प्राग, आधुनिक समाजों की विशेषता है समाप्त होती है और समाज अधिक से अधिक राज्य के नियंत्रण और गिनरानी में आ जाता है। यह नियंत्रण आर्थिक, समाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन सभी पर होता है। इसी प्रक्रिया के तहत केन्द्रीकरण और हस्तक्षेप आधुनिक राज्य की भूमिकाओं में शामिल होते हैं। आधुनिक राज्य द्वारा ये भूमिकाएँ निभा सकने में राष्ट्रवाद उसकी मदद करता है। राष्ट्रवाद लोगों की राज्य की प्रत्यक्ष और सीधी सदस्याता पर आधारित है। जर्मनी और इटली के एकीकरण को इन्हीं सन्दर्भ में समझना चाहिए ।

3.7 शब्दावली

राष्ट्र :	निश्चित भूभाग या क्षेत्र
राजतंत्रः	राजा या शासक के अधीन व्यवस्था
औद्योगिकः	उद्योगों के संदर्भ में
निरंकुशः	नियंत्रण मुक्त
सामंतवर्गः	मध्यकालीन भू व्यवस्था के नियंत्रणकर्ता /उच्च वर्ग

3.8 अभ्यास के प्रश्न

प्रश्न– राष्ट्रवाद के संदर्भ को समझाइए ।

_____
_____
_____

प्रश्न– जर्मनी के राष्ट्रवादी भावना को उसके एकीकरण संदर्भ में समझाइए ।

_____
_____
_____

प्रश्न– इटली के एकीकरण के प्रक्रिया को बताए ।

_____
_____
_____
_____
_____
_____
_____
_____

3.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची / उपयोगी पाठ्य सामग्री

* Anderson, B: 1991, Imagined Communoties : Reflections on the Origion and S pead of Nationalism, London
* Hobsbawm, E.J.:1990, Nations and Nationalism Since 1780: Programme,Myth, Realty, Cabridge
* Hamerow, Theodore S. : 1972, The Social foundations of German Unification 1858-1871: Struggle and Accomplishments, New Jersey, America
* Taylor, A.J.P.: 1974, Bismark, The Man and the Statesman, London
* Eyck, E: 1958, Bismark and the German empire

  Duggan, Christopher:1984, A Consine History of Itlay, Cambridge
* Cowie,Leonard W. and Wolfson,Robert: 1985, Years of Nationalism: European history,1815-1890, London

3.10 निबंधात्मक प्रश्न

प्रश्न– राष्ट्रवाद के आधार तत्व क्या हैं ? 19 वीं शताब्दी में इसके यूरोपीय कारक तत्व क्या थे?
प्रश्न– जर्मनी के एकीकरण के पीछे के सामाजि–आर्थिक प्रक्रियाओं पर प्रकाश डालते हुए बिस्मार्क के भूमिका को विवेचित कीजिए ।
प्रश्न– इटली के राष्ट्रवाद विकास चरणों की चर्चा करते हुए एकीकरण के बाधाओं के संदर्भ के साथ महत्वपूर्ण व्यक्तियों के योगदान की चर्चा कीजिए ।

इकाई 4 चीन और जापान : चीन और जापान में यूरोपीय साम्राज्यवाद, अफ्रीका का विभाजन और प्रथम विश्वयुद्ध, रूसी कांति

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 चीन और यूरोपीय शक्तियां
4.3.1 ब्रिटेन
4.3.2 टींटसिन की संधि
4.3.3 अमेरिका
4.3.4 फ्रांस
4.3.5 रूस
4.4 जापान और पश्चिमी शक्तियां
4.5 अफ्रीका का बंटवारा
4.5.1 बेल्जियम
4.5.2 फ्रांस
4.5.3 ब्रिटेन
4.5.4 जर्मनी
4.5.5 इटली
4.5.6 पुर्तगाल
4.5.7 स्पेन
4.6 प्रथम महायुद्ध
4.6.1 राष्ट्रीयता की भावना
4.6.2 कूटनीतिक संधियां
4.6.3 सैन्यवाद
4.6.4 साम्राज्यवाद एवं आर्थिक प्रतिद्वन्दिता
4.6.5 अराजकता में वृद्धि
4.6.6 समाचार पत्रों की भूमिका
4.6.7 अंतर्राष्ट्रीय संस्था का अभाव

4.6.8 तात्कालिक कारण
4.7 विश्वयुद्ध के प्रभाव
4.8 रूसी क्रांति
4.9 सारांश
4.10 शब्दावली
4.11 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
4.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची / उपयोगी पाठ्य सामग्री
4.13 निबंधात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में यूरोप में साम्राज्यवाद का रूप परिवर्तित होने लगा और अब इसका लक्ष्य अधिकाधिक संपदा एकत्रित करना हो गया एवं इसका स्वरूप राष्ट्रीय होने लगा। इस नये साम्राज्यवाद का उद्देश्य अपनी राजनीतिक शक्ति का विस्तार करना था। अब तक अफ्रीका का विभाजन हो गया था,एशिया के प्रायः एक–तिहाइ भाग पर रूस का अधिकार था, भारत में अंग्रेजों का राज्य था और अब चीन और जापान ही इनके विस्तार के लिए बचे थे। लेकिन जापान ने अपनी शक्ति बढ़ा ली थी और वह स्वयं साम्राज्यवाद के रास्ते पर चल पड़ा था।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको चीन और जापान में यूरोपीय साम्राज्यवाद,अफ्रीका का विभाजन और प्रथम विश्वयुद्ध तथा रूसी क्रांति से परिचित कराना है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप अग्रांकित के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे–

- चीन में यूरोपीय साम्राज्यवाद किस तरह स्थापित हुआ
- जापान किस तरह विकसित राष्ट्र बना
- अफ्रीका को किस तरह यूरोपीयों ने लूटा
- प्रथम विश्वयुद्ध क्यों हुआ
- रूसी क्रांति कैसे घटित हुई

4.3 चीन और यूरोपीय भाक्तियां

कुछ छिटपुट अभियानों के फलस्वरूप 1557ई. तक पुर्तगालियों ने चीन के मकाओ प्रायद्वीप में अपनी बस्ती बना ली थी। पुर्तगालियों के पश्चात धीरे–धीरे अन्य यूरोपीय देशों के व्यापारी भी चीन पहुंचने लगे। 1575ई. में स्पेन, 1604 ई. में डच,1637 ई. में अंग्रेज, 1698 ई. में फ्रांसीसी, 1731 ई. में डेनमार्क और 1732 ई. में स्वीडन के व्यापारी भी चीन में घुसने में कामयाब हो गये।

4.3.1 ब्रिटेन

1715 ई. में भारत की ईस्ट इंडिया कंपनी ने चीन के कैण्टन नामक स्थान में एक कारखाना स्थापित किया और चीन के साथ व्यापार को बढ़ाया लेकिन प्रारंभ में व्यापार एकतरफा था यानि अंग्रेज तो चीनी–मिट्टी के बर्तन, रेशम और चाय खरीदते थे पर चीनी उनसे कुछ नहीं लेते थे और अंग्रेजों को सोने–चांदी में इनका दाम चुकाना पड़ता था। लेकिन धीरे–धीरे चीनी ,विदेशी वस्तुओं की ओर आकर्षित हुए और समय के साथ चीन में अफीम की मांग बढ़ने चगी। अंग्रेज इस अफीम को भारत में उगाते थे और चीनी माल के बदले उन्हैं अफीम में भुगतान करते थे। धीरे–धीरे चीनियों में अफीम की लत पड़ने लगी और इसकी मांग तेजी से बढ़ने लगीं। चीनी सरकार ने इस प्रवृत्ति को रोकने का प्रयत्न किया और 1833 ई. में चीन ने कंपनी के व्यापार के एकाधिकार को खत्म कर दिया, कंपनी ने इसका विरोध किया। यह असमंजस की स्थिति अगले पांच वर्ष तक चलती रही और 1838 ई. में चीनी सम्राट ने एक विशेष आयुक्त की नियुक्ति की और उसे नशे को रोकने और अफीम के आयात पर प्रतिबंध लगाने का कार्य सौंपा। विशेष आयुक्त लिन त्से हसू ने मार्च 1839 ई. में कड़ी कार्यवाही की जिसके परिणामस्वरूप चीन और इंग्लैण्ड के बीच युद्ध प्रारंभ हो गया । यह युद्ध प्रायः तीन वर्ष तक चला, युद्ध का आरंभ इंग्लैण्ड द्धारा कैण्टन की नाकेबंदी से हुआ और चीन की 29 नौकाओं को नष्ट कर दिया गया और जुलाई 1840 ई. को तिंगहाई पर अधिकार कर लिया गया और शीघ्र ही अमोय तथा निगंपो पर भी कब्जा जमाया गया। कैण्टन में समझौतों का प्रयास किया गया किंतु यह असफल रहा और 1841 ई. में अंग्रेजों कैण्टन पर परी तरह अधिकार कर लिया और अब उन्होंने नानकिंग पर कब्जे का प्रयास किया, जिससे डरकर चीन ने समझौते के प्रयास प्रारंभ किये और 29 अगस्त 1842 ई. में नानकिंग की संधि हुई।

नानकिंग की संधि के फलस्वरूप हाँगकाँग का द्वीप इंग्लैण्ड को दे दिया गया। अंग्रेजों को कैण्टन,अमोय,फूचों,निगंपों और शंघाई में बसने और व्यापार करने अधिकार मिला। इनके अलावा भी अनेक शर्तें चीनीयों पर लाद दी गयीं। इस संधि के पश्चात अन्य यूरोपीय देशों के साथ भी चीन की व्यापारिक संधियां हुईं। ब्रिटेन यह चाहता था कि 10 वर्षों के पश्चात संधियों के पुनरीक्षण की व्यवस्था हो लेकिन चीन ने यह स्वीकार नहीं किया। अब अंग्रेज दबाव की राजनीति अपनाने लगे। शीघ्र ही ऐरो युद्धपोत की घटना ने उन्हें मौका दिया और फ्रांस के रोमन कैथोलिक पादरी की हत्या से फ्रांस ने भी उसका साथ दिया। 1856 ई. में कैण्टन को जीतकर ब्रिटेन ने उत्तर की ओर बढ़ना प्रारंभ किया और 1858 ई. में चीन को टींटसिन की संधि के लिए मजबूर किया।

4.3.2 टींटसिन की संधि

टींटसिन की संधि की कुछ प्रमुख धाराऐं इस प्रकार थीं–

- उत्तर में न्यूच्वांग से लेकर दक्षिण में स्वातों तक विस्तृत चीन के ग्यारह नये बंदरगाह यूरोपियों के व्यापार एवं रहने के लिए खोल दिये गये।
- पश्चिमी देशों के जहाजों को यॉंग्त्सी नदी में परिवहन का अधिकार दिया गया।

- पश्चिमी देशों के राजदूतों को पीकिंग में रहने की अनुमति दी गयी।
- पासपोर्टधारी विदेशियों को चीन में स्वच्छंदतापूर्वक घूमने की आजादी दी गयी।
- इंग्लैण्ड और फ्रांस को युद्ध का हर्जाना भी मिला।
- अफीम के व्यापार को वैध व नियंत्रित किया गया और उस पर आयात कर लगाया गया।
- फ्रांस के रोमन कैथेलिक पादरियों भूमि खरीदने और गिरजाघर बनाने का अधिकार दिया गया।

चीन के साथ उपरोक्त युद्ध के परिणामस्वरूप चीन का दरवाजा यूरोप के लिए पूरी तरह खुल गया और यूरोपीय राष्ट्रों को चीन की आंतरिक कमजोरी का पता चल गया। चीन की इस कमजोरी का लाभ उठाकर यूरोपीय राष्ट्रों ने चीन के बाहरी प्रदेशों में धीरे–धीरे अपना आधिपत्य जमाना प्रारंभ कर दिया।

4.3.3 अमेरिका

ब्रिटेन के बाद अमेरिका भी नानकिंग की संधि की भांति ही स्वयं के लिए सुविधा प्राप्त करने का इच्छुक था। इसके लिए अमेरिका के प्रतिनिधि के रूप में केलब कंशिग को भेजा गया। फरवरी 1844 ई. को केलब कंशिग मकाउ पहुेचा और जुलाई 1844 ई. को मकाउ में वांगहिया की संधि में हस्ताक्षर हुए। इस संधि के द्वारा केलब कंशिग अमेरिका के लिए राज्य–क्षेत्रातीत अधिकार पाने में सफल हुआ। इस अधिकार के तहत अमरीकी नागरिक के विरूद्ध चीनी नागरिक द्वारा किये गये अपराध में चीनी अधिकारी अपनी कानून प्रणाली द्वारा न्याय करेंगे और चीनी नागरिक के विरूद्ध अमेरिकी नागरिक द्वारा किये गये अपराध में अमेरिकी अधिकारी अपनी कानून प्रणाली द्वारा न्याय करेंगे। यह वस्तुतः सम्प्रभु चीनी राष्ट्र और उसकी राष्ट्रीयता पर आघात था। इस व्यवस्था से चीन में यूरोपीय प्रभुत्व का आरंभ हुआ और धीरे–धीरे अन्य देशों ने भी चीन में राज्य क्षेत्रातीत अधिकार प्राप्त करने प्रारंभ कर दिये।

4.3.4 फ्रांस

अमेरिका के बाद अक्टूबर 1844 ई. में फ्रांस ने भी चीन के साथ संधि की। इस संधि के द्वारा फ्रांस को ब्रिटेन और अमेरिका की भांति ही सुविधायें प्राप्त हुईं साथ ही फ्रांस ने चीनी सम्राट को रोमन कैथोलिक प्रचारकों के लिए बंदरगाहों में गिरजाघर बनाने और उनके प्रति सहिष्णुता की नीति लागू करने की प्रार्थना की जिसे चीनी सम्राट द्वारा स्वीकार कर लिया गया। 1861 ई. में जब ब्रिटेन और चीन का युद्ध हुआ तो फ्रांस ने ब्रिटेन का साथ दिया और टींटसिन की संधि के फलस्वरूप फ्रांस को अनेक सुविधाओं के साथ ही भारी धनराशि भी मिली। किंतु फ्रांस चीन के दक्षिण–पश्चिमी प्रांतों में व्यापार बढ़ाने के लिए किसी स्थान पर अधिकार जमाना चाहता था। अतः 1884 ई. में टांकिन और अनाम पर अधिकार कर लिया गया और कोचीन–चायना एवं अनाम को मिलाकर इण्डोचायना नाम से एक नये राज्य का निर्माण किया गया।

4.3.5 रूस

सन् 1828 ई. में रूस के जार ने चीन की आमूर घाटी में सर्वेक्षण प्रारंभ कराया और 1850 ई. में आमूर नदी के मुहाने पर निकोलाइवेस्क नामक शहर बसाया। 1853 ई. में चीन के सखालीन द्वीपों पर अधिकार जमाया गया और 1860 ई. में चीन के साथ ऐगून की सन्धि हुई जिसके परिणामस्वरूप रूस को चीन में आमूर नदी तक का सारा प्रदेश प्राप्त हो गया, यहीं पर ब्लाडीवोस्टक नामक बंदरगाह बनाया गया। सन् 1894–95 में हुए चीन–जापान युद्ध की क्षतिपूर्ति देने के लिए चीन ने रूस से काफी धन उधार लिया था, इसका लाभ उठाकर रूस ने अपने ब्लाडीवोस्टक बंदरगाह तक रेलवे लाइन बिछाने के लिए मंचूरिया से होकर गुजरने की अनुमति चीन से मांगी, जिसे चीन ने स्वीकार कर लिया इससे रूस को अब मंचूरिया में अपना प्रभुत्व जमाने का अवसर मिल गया। 1996 ई. में रूस ने चीन के साथ एक गुप्त संधि भी की जिसके तहत जापानी आक्रमण के समय चीन की मदद करना शामिल था। 1897 ई. में रूस ने चीन के पोर्ट आर्थर तथा तैलीवां पर अधिकार कर लिया और इन सीनों को चीन से पट्टे पर प्राप्त कर लिया।

4.4 जापान और पश्चिमी शक्तियां

यदि जापान के प्रारंभिक इतिहास पर दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट पता चलता है कि जापान का प्रारंभिक इतिहास चीन के समान ही था, जापान ने भी चीन की भांति स्वंय को बाकी विश्व से अलग–थलग रक्खा था, लेकिन आगे चलकर यह अलग–थलग नहीं रह सका और पचिमी शक्तियों की लोलुप निगाहे। उस पर भी पड़ी। यद्यपि 1543 को ही प्रथम बार पुर्तगाल ने जापान में प्रवेश कर लिया था और फिर डच और स्पेन के लोग भी वहां पहुंचे लेकिन आगे चलकर इनके क्रियाकलापों के कारण 1614 ई. से जापान में इसाइयों तथा अन्य धर्मप्रचारकों का प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया और 1637 में दो आज्ञायें जारी कर जापान का दरवाजा विदेशियों के लिए पूर्णतः बंद कर दिया गया।

यह स्थिति अधिक समय तक नहीं चल पायी,19वीं सदी के प्रारंभ से ही अमेरिका अपने पश्चिमी तट के व्यापार के संवर्द्धन में जुट गया था और उसकी रूचि जापान में गयी,क्योंकि केलिफोर्निया के प्रशांत तट पर सोने के भंडार मिले थे और यह प्रमुख व्यापारिक केन्द्र बन गया था। इस स्थान तक पहुंचने के लिए समुद्र में अमेरिका को जापान होकर गुजरना सरल मार्ग था। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए अमेरिकी सरकार ने कोमोडोर पैरी को लगातार 1853 और 1854 ई. में जापान भेजा ।

1854 ई. में कोमोडोर पैरी जापान के साथ कनागावा की संधि करने में सफल हुआ। इस संधि के तहत अमेरिकी जहाजों को येडो के पास शिमोदा तथा उत्तरी द्वीप पर विद्यमान हाकोदाते बंदरगाह पर रसद और जहाजों की मरम्मत हेतु ठहरने की सुविधा मिली साथ ही शिमोदा में एक वाणिज्य दूतावास खोलने की अनुमति भी मिली। अब अमेरिका की देखादेखी अंग्रेज, रूसी तथा डच लोगों ने भी जापान के साथ संधियां की। अब इन चारों राज्यों को जापान में जो अधिकार मिले

उनमें शिमोदा और हाकोदाते में वाणिज्य दूतावासों की स्थापना एवं दूतों की नियुक्ति, शिमोदा,हाकोदाते तथा नागासाकी में जहाजों के लिए रसद प्राप्त करने की सुविधा, नागासाकी में पुरूषों के रहने की सुविधा, इन बंदरगाहों में जापानी अधिकारियों के नियंत्रण में नियमानुसार व्यापार करना, और कुछ सीमित क्षेत्रातीत अधिकार भी मिले।

कोमोडोर पैरी से एक कदम आगे चलकर 1858 ई. में अमेंरिका के महावाणिज्य दूत टाउनसैण्ड हैरिस ने जापान तथा अमेरिका के मध्य एक नयी संधि को लागू करवाया, इस संधि के तहत अमेरिका के लिए चार नये बंदरगाह खुल गये और इस प्रकार अब अमेरिका के पास व्यापार करने के लिए सात बंदरगाह हो गये।संधि के तहत यह भी निर्धारित हुआ कि जापान अमेरिका से आयात और निर्यात के लिए केवल पांच प्रतिशत कर लेगा और विदेशी मुद्रा भी विनिमय के लिए उपयोग की जा सकेगी। शीघ्र ही ब्रिटेन, फ्रांस तथा रूस ने भी जापान के साथ इस प्रकार की संधियां की।

चूंकि पश्चिमी शक्तियों ने ये संधियां वहां के शोगुन के साथ की थी अतः जापान में इन संधियों के कारण शोगुन का विरोध होना प्रारंभ हो गया और इसे शोगुन द्वारा अपने अधिकारों का दुरूपयोग बतलाया गया और कहा गया कि शोगुन द्वारा की गयी संधियों की पुष्टि जापानी सम्राट से होनी चाहिए।

इसके बाद का इतिहास शोगुन सम्प्रदाय और सम्राट के संघर्ष और शोगुन सम्प्रदाय की समाप्ति और जापान द्वारा अपनी व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन कर तेजी से विकास का है। मेइजी काल में जापान का तेजी से विकास हुआ और वह यूरोपीय देशों की भांति ही एक विकसित राज्य बन गया।

4.5 अफ्रीका का बंटवारा

यूरोपीय देशों की लोलुप निगाहों से अफ्रीका भी नहीं बच पाया और यूरोपीय देशों ने अफ्रीका में अपने साम्राज्यीय विस्तार को फेलाना आरंभ कर दिया जिसके परिणामस्वरूप यूरोप के भिन्न–भिन्न देशों ने अफ्रीका के अलग–अलग भाग में अधिकार कर लिया,इतिहास में इसे अफ्रीका का बंटवारा की संज्ञा दी गयी है।

1876 ई. में सबसे पहले बेल्जियम के शासक लियोपोल्ड द्वितीय ने अफ्रीका में अपनी रूचि दिखाई और शीघ्र ही कांगो के एक विशाल क्षेत्र में अधिकार जमाकर वहां अपना राज्य स्थापित कर लिया। यहीं से अफ्रीका का बंटवारा प्रारंभ हुआ और फ्रांस,पुर्तगाल,इटली,ब्रिटेन और जर्मनी भी इस काम में लग गये। यह ध्यान देने योग्य है कि पूरे अफ्रीका को यूरोपीय देशों ने बड़ी शीघ्रता से मात्र पच्चीस–तीस वर्षों में बिना किसी युद्ध किये ही आपस में बांट लिया था हांलाकि थोड़े–बहुत तनाव हुए लेकिन आपसी समझ से उन्हैं सुलझा लिया गया।यह भी महत्वपूर्ण है कि स्थानीय शासकों या सरदारों ने इसका कोई विरोध नहीं किया। अफ्रीका की इस लूट में किस यूरोपीय ने क्या प्राप्त किया अब जरा इसे समझते हैं।

4.5.1 बेल्जियम

जैसा कि बताया गया कि बेल्जियम इस लूट में सबसे पहले कूदा था अतः अन्य राष्ट्र भी कांगो के अलग–अलग भागों में अपने अधिकार की मांग करने लगे।इस समस्या को 1884 ई. में बर्लिन समझौते से सुलझाने का प्रयास किया गया लेकिन 1885 में बेल्जियम ने बर्लिन एक्ट का उल्लंघन करते हुए कांगो में अपना अधिकार स्थापित कर लिया।यह कांगो फ्री स्टेट राज्य बेल्जियम के आकार से दस गुना बड़ा था और अपने रबर के लिए प्रसिद्ध था।अब यह बेल्जियम का एक उपनिवेश बना दिया गया।

4.5.2 फ्रांस

सर्वप्रथम फ्रांस ने 1847 ई. को अल्जीरिया में अपना अधिकार स्थापित किया। अल्जीरिया के बगल में स्थित ट्यूनिस पर फ्रांस ने बिस्मार्क के सहयोग से 1881 ई. में अधिकार जमा लिया और फिर गायना,आइवरी कोस्ट, फ्रेंच कांगो तथा सहारा के रेगिस्तान में भी अधिकार स्थापित किया गया। 1904 ई. में मिस्र तथा मोरक्को के संबंध में ब्रिटेन से एक समझौता कर उनको अधिगृहित किया गया।

4.5.3 ब्रिटेन

अफ्रीका की लूट में सबसे अधिक फायदा इंग्लैण्ड को हुआ था। अफ्रीका में उसके पास काहिरा से लेकर उत्तमाशा अंतरीप तक के भू–भाग शामिल थे। इनमें मिस्र,सूडान,दक्षिण अफ्रीका,रोडेशिया,केन्या,युगाण्डा,नाइजीरिया,गोल्ड कोस्ट,नेटाल,ट्रांसवाल तथा उत्तमाशा अंतरीप सम्मिलित थे।

4.5.4 जर्मनी

जर्मनी अपनी भैगोलिक परिस्थिति के कारण पहले उपनिवेश स्थापित करने में रूचि नहीं लेता था परंतु जर्मनी के पूंजीपतियों और मध्यम वर्ग के दबाव में जर्मनी भी उवनिवेश स्थापना की दौड़ में कूद गया। व्यक्तिगत प्रयत्नों के बल पर अफ्रीका के एंग्रा पेक्वेना ,केमरून और टोगोलैण्ड पर अधिकार स्थापित किये गये। 1884 ई. में जंजीबार का अधिग्रहण किया गया और सोमालीलैण्ड में कब्जा जमाया गया।

4.5.5 इटली

अफ्रीका की लूट में इटली देर से पहुंचा फलतः उसे अधिक स्थान नहीं मिल सका। उसने इरीट्रिया के क्षेत्र में अधिकार जमाया और आगे चलकर ट्रिपोली तथा साइरीनिका(लीबिया)पर भी अधिकार स्थापित किया।

4.5.6 पुर्तगाल

पुर्तगाल को भी अफ्रीका की लूट में हिस्सा मिला। उसने पश्चिमी तट पर अंगोला का उपनिवेश स्थापित किया और पूर्वी तट पर मोजाम्बिक का उपनिवेश बसाया।

4.5.7 स्पेन

स्पेन ने भी अफ्रीका के बंटवारे में उत्तर–पश्चिम तट के कुछ प्रदेशों में अपना अधिकार स्थापित किया।

4.6 प्रथम महायुद्ध

उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दियों में यूरोपीय देशों ने अपनी उपनिवेशवादी नीति के चलते पूरे विश्व में अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था किंतु यह विजय स्थायी नहीं थी और जर्मनी जैसे राष्ट्र जो इस दौड़ में बाद में शामिल हुए ,अब विश्व का पुनः बंटवारा चाहते थे। बीसवीं सदी के प्रारंभ में विश्व की स्थिति अत्यंत तनावपूर्ण थी। सभी देश अधिकाधिक शक्तिशाली बनने की होड़ में शस्त्र इकठ्ठे कर रहे थे।गुप्त समझौतों के कारण विश्व दो गुटों में बंट चुका था।कुछ ऐसी घटनाऐं हुईं थीं जिनसे राष्ट्रों के बीच दूरियां बढ़ गयीं। इन धटनाओं में फ्रांस–प्रशा युद्ध,बल्गेरिया का प्रश्न,रूस–जर्मनी विवाद,पूर्व की समस्या,मोरक्को संकट,बोस्निया संकट,सेराजिवो का हत्याकाण्ड प्रमुख हैं।आइये अब इस महायुद्ध के कारणों को जानने का प्रयास करें।

4.6.1 राष्ट्रीयता की भावना

इस काल में राष्ट्रीयता की भावना अपने चरम में थी। उग्र राष्ट्रवाद के कारण तेजी से मतभेद उत्पन्न होने लगे थे। 1871 ई. के बाद फ्रांस में यह मांग तेजी से बढ़ी की अल्सास व लारेन के प्रदेशों को फ्रांस में शामिल किया जाना चाहिए। इसी प्रकार इटली में इरैडेन्टिस्ट नामक आंदोलन ट्रेन्टिनो तथा ट्रीस्ट के प्रदेशों को इटली में शामिल करने के लिए चलाया गया हांलाकि उसके इस कृत्य से आस्ट्रिया के साथ उसके संबंध तनावपूर्ण हो गये।सर्बिया के लोग वृहत्तर बाल्कन राष्ट्र बनाने के लिए प्रतिबद्ध हो रहे थे।रूस इस समय स्लाववाद को लेकर राजनीति कर रहा था इसके विरूद्ध जर्मनी, अखिल जर्मनवाद को बढ़ावा दे रहा था। 'एक राष्ट्रीयता एक राज्य' का विचार तेजी से चल निकला था और यह मांग बलवती हो रही थी कि यूरोप के मानचित्र का पुनः निर्धारण हो। वस्तुतः उग्र राष्ट्रीयता की इस भावना ने इस महायुद्ध के एक प्रमुख कारक की भूमिका निभाई थी।

4.6.2 कूटनीतिक संधियां

बिस्मार्क ने फ्रांस को हराने के बाद जर्मनी की सुरक्षा के लिए आस्ट्रिया तथा इटली से गुप्त संधियां की और एक त्रिगुट का निर्माण किया, इसके विरूद्ध फ्रांस ने भी अपनी सुरक्षा के लिए इंग्लैण्ड तथा रूस के साथ संधियां कर ट्रिपल एतान्त नामक गुट का गठन किया। इन गुटों के बनने से

अजीब सी स्थिति हो गयी। अब एक राज्य को अपने मित्र के सहयोग के लिए ऐसी कार्रवाही करनी पड़ रही थी जिसमें उसका कोई लेना–देना नहीं था। अतः इन संधियों ने यूरोप को दो गुटों में विभाजित कर दिया और ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी की यदि कोई भी युद्ध होता तो समस्त यूरोप उसमें शामिल हो जाता और यही हुआ भी।

4.6.3 सैन्यवाद

उन्नीसवीं सदी के दूसरे भाग में यूरोप में सैन्यवाद तेजी से बढ़ा था और अस्त्र–शस्त्रों की होड़ प्रारंभ हो गयी थी। नवोदित जर्मनी ने इस काल में तेजी से अपनी नौ–सैनिक शक्ति बढ़ायी तो इंग्लैण्ड ने इसे अपने लिए चुनौती समझा और फलस्वरूप सैन्य प्रतिस्पर्धा बढ़ने लगी। शीघ्र ही अन्य देश भी इस दौड़ में कूद गये।1914 ई. तक जर्मनी के पास आठ लाख पचास हजार सैनिक थे जबकि लगभग पचास लाग लोग सेना का प्रशिक्षण प्राप्त थे। फ्रांस, रूस, इंग्लैण्ड सभी ने अपने–अपने सैनिकों में वृद्धि करनी शुरू कर दी थी। सैन्यवाद और शस्त्रीकरण के कारण यूरोप के बड़े–बड़े गुट परस्पर विरोधी और शक्तिशाली युद्ध शिविरों में बंट गये थे।

4.6.4 साम्राज्यवाद एवं आर्थिक प्रतिद्वन्दिता

उन्नीसवीं सदी के अंत तक अफ्रीका का बंटवारा हो गया था जिसमें सबसे अधिक भाग इंग्लैण्ड तथा फ्रांस को मिला था। चूंकि जर्मनी औपनिवेशिक दौड़ में बहुत बाद में शामिल हुआ अतः उसे बहुत कम क्षेत्र मिला ,जिसके कारण वह असंतुष्ट था।बीसवीं सदी के प्रारंभ में जर्मनी तथा इंग्लैण्ड की व्यापारिक प्रतिद्वंदिता इतनी बढ़ गयी कि दोनों देशों के राजनीतिज्ञ और उद्योगपति एक–दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयास करने लगे। बाल्कन में रूस तथा आस्ट्रिया के आर्थिक हित टकरा रहे थे जिससे उनके बीच तनाव बढ़ गया। सुदूर पूर्व और चीन में आर्थिक और राजनीतिक लाभ के लिए आपस में किये गये कृत्यों के कारण एक–दूसरे के प्रति घृणा और अविश्वास का माहौल बना जिसने भविष्य के संघर्ष के लिए आधार प्रदान किया।

4.6.5 अराजकता में वृद्धि

बीसवीं सदी के प्रारंभ से ही ऐसी घटनाऐं होने लगीं थीं जिनके कारण अंतर्राष्ट्रीय माहौल बिगड़ने लगा। 1904–05 ई. में हुए रूस–जापान युद्ध में रूस की पराजय और उसकी कमजोरी का फायदा उठाते हुए जर्मनी ने मोरक्को में फ्रांस को चुनौती दी, इससे अंतर्राष्ट्रीय तनाव में बढ़ोत्तरी हुई।इसी प्रकार 1911 ई. में फेज के विद्रोह को दबाने के लिए जब फ्रांस ने अपनी सेना भेजी तो जर्मनी ने इसका विरोध किया और अपना युद्धपोत भेज दिया हांलाकि इंग्लैण्ड के दबाव में जर्मनी को हटना पड़ा। इस तनाव के कारण इंग्लैण्ड और जर्मनी के संबंधों में कड़वाहट और बढ़ गयी।1908–09 ई. में बोस्निया–हर्जीगोविना को ऑस्ट्रिया द्वारा अपने साम्राज्य में मिला लिया गया इससे रूस और इटली के संबंध ऑस्ट्रिया से बिगड़ गये।1912–13 ई. में हुए बाल्कन युद्धों के

फलस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय माहौल अत्यधिक बिगड़ गया।इन युद्धों के कारण सैन्यवाद और शस्त्रीकरण की दौड़ तेजी से बढ़ने लगी।

4.6.6 समाचार पत्रों की भूमिका

इस काल के समाचार पत्रों को यदि देखा जाय तो स्पष्ट है कि उन्होंने उग्र राष्ट्रीयता की भावना के चलते घ्टनाओं को इस प्रकार प्रस्तुत किया जिससे जनसाधारण की उत्तेजना बढ़ती गयी और समझौते करने कठिन हो गये। विशेषकर जर्मनी और इंग्लैण्ड के समाचार पत्रों में एक–दूसरे के प्रति कड़े आरोप–प्रत्यारोप और कड़वाहट देखने को मिलती है।

4.6.7 अंतर्राष्ट्रीय संस्था का अभाव

इस समय विश्व में कोई ऐसी संस्था नहीं थी जिसके माध्यम से विभिन्न देश आपस में बातचीत कर अपने मसले सुलझा लेते। अंतर्राष्ट्रीय कानून और सदाचार की संहिता थी लेकिन प्रत्येक राष्ट्र अपनी सुविधा के अनुसार इसका अनुसरण करते थे क्योंकि इसके कानूनों को लागू करने वाली कोई शक्ति नहीं थी।अतः किसी अंतर्राष्ट्रीय संस्था के अभाव में किसी देश में कोई अंकुश नहीं था और सभी देश स्वेच्छाचारिता से व्यवहार कर रहे थे।

4.6.8 तात्कालिक कारण

1914 ई. तक ऑस्ट्रिया और सर्बिया के संबंध तनाव की चरम सीमा तक पहुंच गये थे। 28 जून 1914 ई. में जब ऑस्ट्रिया का युवराज आर्क ड्यूक फ्रांसिस फर्डिनेण्ड बोस्निया के सेराजिवो नामक नगर में सेना के वार्षिक निरीक्षण में आया तो उसकी और उसकी पत्नी की हत्या कर दी गयी। इस घटना ने यूरोप में महायुद्ध का बिगुल बजा दिया।

4.7 विश्वयुद्ध के प्रभाव

प्रथम विश्वयुद्ध चार वर्ष तीन माह ग्यारह दिन तक चला, इस युद्ध में तीस देशों के लगभग साढ़े छह करोड़ सैनिकों ने भाग लिया और लगभग अस्सी लाख सैनिक मारे गये और लगभग दो करोड़ सैनिक घायल हुए। इस युद्ध में दस खरब रूपया प्रत्यक्ष रूप से खर्च हुआ और विभिन्न देशों को कुल मिलाकर लगभग चालीस हजार मिलियन पौण्ड का आर्थिक भार उठाना पड़ा। व्यापार को भारी मात्रा में हानि पहुंची थी और तेजी से मुद्रा प्रसार हुआ था। 18 जनवरी 1919ई. को पेरिस का शान्ति सम्मेलन हुआ और वार्साई की संधि की गयी। वार्साई की संधि कठोर, अपमानजनक संधि थी,जिसे जर्मनी ने मजबूर होकर स्वीकार किया और आगे चलकर इस संधि की सभी धाराओं का एक–एक कर परित्याग कर दिया। इसके बावजूद भी इस संधि द्वारा राष्ट्रसंघ जैसी संस्था की स्थापना हुई थी।

4.8 रूसी क्रांति

यदि तत्कालीन रूस को देखें तो स्पष्ट है कि रूस संसार का सबसे बड़ा राज्य था,पूरे विश्व का छठा भाग रूस के अंतर्गत आता था। समाज तीन वर्ग में विभाजित था–कुलीन वर्ग,मध्यम वर्गऔर किसान–मजदूर वर्ग। उसकी जनसंख्या लगभग 18 करोड़ थी,जन सामान्य अशिक्षित था और तुलनात्मक रूप से पिछड़ा हुआ था। चर्च का प्रभाव जनता पर अत्यधिक था।

रूस के शासक को जार कहा जाता था, वे सभी बड़े निरंकुश थे। 19वीं सदी तक जबकि सारे यूरोप में उत्तरदायित्वपूण शासन की स्थापना हो चुकी थी रूस के जार अभी भी निरंकुश थे,यद्यपि जनता लगातार ड्यूमा का चुनाव और सुधारों की मांग कर रही थी और उसका विरोध बढ़ता जा रहा था लेकिन जार निरंतर ड्यूमा के प्रभाव को कुचलने का प्रयास कर रहे थे।

रूस उस समय एक कृषि प्रधान देश था लेकिन किसानों की स्थिति अत्यंत शोचनीय थी। 1905 ई. में यूक्रेन के दक्षिण–पश्चिमी भाग,काकेशस,पोलैण्ड तथा वोल्गा नदी के क्षेत्रों में किसानों के विद्रोह हुए और इसी वर्ष उन्होंने मास्को में कृषक संघ का भी निर्माण किया। रूस में मजदूरों में भी पर्याप्त असंतोष था। यद्यपि 1885 ई. में कुछ श्रमिक कानून बने थे लेकिन उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा था और मजदूरों की दशा दिन पर दिन बदतर हो रही थी।अपनी स्थिति सुधारने के लिए ये मजदूर पूंजीवादी व्यवस्था एवं जारशाही को समाप्त कर सर्वहारा वर्ग का शासन स्थापित करना चाहते थे। समाज भी इस समय तक दो वर्गों में बंट चुका था। एक वर्ग बहुत धनी था और उसके पास सब कुछ था जबकि दूसरा निर्धन और दाने–दाने के लिए मोहताज था। इन्हीं सब कारणों से रूस में असंतोष बढ़ता जा रहा था।

इन परिस्थितियों में देश की दशा सुधारने के लिए विशेषज्ञों की एक समिति सरकार द्वारा बनायी गयी लेकिन यह अपने कार्य में असफल रही और 7 मार्च 1917 ई. को स्थिति हाथ से निकल गयी जब ठण्ड और भूख से बेहाल मजदूरों ने पेट्रोगाड में दूकानों को लूटना आरंभ कर दिया,जब सिपाइयों को इन्हें रोकने का आदेश दिया गया तो उन्होंने गोली चलाने से मना कर दिया,यह क्रांति का आरंभ था। अगले दिन पेट्रोगाड की महिला मजदूरों ने हड़ताल कर दी और 9 मार्च को पुरूष मजदूर भी उनके साथ आ गये, उन्होंने एक जलूस निकाला जिसमें 'रोटी दो' और 'अत्याचारी शासन का नाश हो' के नारे लगाये गये। 10 मार्च 1917 को पेट्रोगाड के सभी कारखनों में हड़ताल की गयी। जार ने प्रदर्शनकारियों को दण्डिज करने के लिए सेना भेजी पर सैनिकों ने प्रदर्शनकारियों का साथ दिया। अब स्थिति भयावह हो गयी थी, 11 मार्च को जार ने ड्यूमा को भंग कर दिया,12 मार्च को सैनिक टुकड़ियां अपने अधिकारियों के आदेश का उल्लंघन कर विद्रोहियों से मिल गयीं। विद्रोहियों और सैनिकों ने मिलकर एक क्रांतिकारी परिषद बनाई और 14 मार्च को क्रांतिकारी पषिद और ड्यूमा के सदस्यों की समिति ने अस्थायी सरकार की स्थापना की ,15 मार्च 1917 को जार निकोलस द्वितीय ने राजसिंहासन का परित्याग कर दिया। इस प्रकार राज्य क्रांति सफल हुई।

यद्यपि राज्य क्रांति सफल हो गयी थी और जारशाही का अंत हो गया था किंतु जो नई अस्थायी सरकार बनी थी उसमें नेतृत्व कुलीन और मध्यम वर्ग के हाथ में चला गया था और

किसानों तथा मजदूर जिन्होंने क्रान्ति को क्रियान्वित किया था उनका सरकार में कोई प्रभाव नहीं था। अस्थायी सरकार ऐसी व्यवस्था चाहती थी जो उदार हो और जिसमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता के साथ ही व्यक्तिगत संपत्ति की गारंटी भी हो लेकिन सर्वहारा वर्ग का मानना था कि उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जाये,बड़ी भू–संपत्तियों का अधिग्रहण कर उसे किसानों में बांट दिया जाये और विदेशों में चल रहे युद्धों को समाप्त कर दिया जाये।

इन्हीं परिस्थितियों में जून में पेट्रोगाड सोवियत ने अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस का अधिवेशन आयोजित किया जिसमें बोल्शेविक,मेन्सेविक और क्रांतिकारी समाजवादी दलों के लोगों ने प्रतिभाग किया। इस अधिवेशन में तीन सौ सदस्यों की एक कार्यकारिणी समिति बनाई गयी पर वास्तविक शक्ति बीस सदस्यों के प्रेसीडियम को दे दी गयी,जिसमें मेन्सेविक और क्रांतिकारी समाजवादी दल के लोगों का प्रतिनिधित्व था, इसका बोल्शेविकों ने विरोध किया।

देश में व्याप्त अराजकता और देश के बाहर लगातार पराजय के कारण रूस में अस्थायी सरकार के प्रति विश्वास खत्म हो रहा था।इन परिस्थितियों में किसान बोल्शेविकों के पक्ष में चले गये जिन्होंने उन्हें भूमि के मालिकाना हक दिलाने का वादा किया था। बोल्शेविक रूस में सशस्त्र क्रान्ति के द्वारा सत्ता प्राप्त करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने पोलिट ब्यूरो का गठन किया और बोल्शेविक नेता ट्राटस्की ने पेट्रोग्राड सोवियत की एक सैनिक क्रान्तिकारी समिति बनायी और क्रांति की तैयारियां करने लगे और 7 नवबंर 1917 ई. को क्रांति का दिन निश्चित किया गया। 5 नवंबर 1917 ई. को अस्थायी सरकार के प्रमुख करेन्स्की ने बोल्शेविक नेताओं को कैद करने की आज्ञा जारी की ,लेकिन बोल्शेविकों की क्रांति की तैयारी पूरी थी अतः 6–7 तारीख की रात को उन्होंने रेलवे स्टेशन, बैंक, पोस्ट ऑफिस, टेलीफोन एक्सचेंज आदि पर अधिकार कर लिया और 7 नवंबर की प्रातः मजदूरों, सैनिकों और नौ–सैनिकों को लेकर पेट्रोग्राड के जार के महल पर अधिकार कर अस्थयी सरकार के नेताओं को गिरफ्तार कर लिया हांलाकि केरेन्स्की भागने में सफल रहा। क्रांति सफल हुई थी और रूस को 'सोवियत समाजवादी जनतंत्र घोषित कर दिया गया।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

निम्नलिखित में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए

1. 29 अगस्त ..... ई. में नानकिंग की संधि हुई।
2. 1858 ई. में चीन को .....की संधि के लिए मजबूर किया।
3. रूस के जार ने 1850 ई. में आमूर नदी के मुहाने पर .....नामक शहर बसाया।
4. 1854 ई. में कोमोडोर पैरी जापान के साथ .....की संधि करने में सफल हुआ।
5. 1885 में कांगो फ्री स्टेट .....का एक उपनिवेश बना।
6. 1904–05 ई. में हुए रूस–जापान युद्ध में .....की पराजय हुई।
7. इरैडेन्टिस्ट नामक आंदोलन .....के प्रदेशों को इटली में शामिल करने के लिए चलाया गया।
8. 28 जून 1914 ई. को ऑस्ट्रिया के युवराज .....की बोस्निया के सेराजिवो नामक नगर में हत्या कर दी गयी।

9. 1908–09 ई. में .....को ऑस्ट्रिया द्वारा अपने साम्राज्य में मिला लिया गया था।
10. 15 मार्च 1917 को जार .....ने राजसिंहासन का परित्याग कर दिया।

4.9 सारांश

1557ई. तक पुर्तगालियों ने चीन के मकाओ प्रायद्वीप में अपनी बस्ती बना ली थी। पुर्तगालियों के पश्चात धीरे–धीरे अन्य यूरोपीय देशों के व्यापारी भी चीन पहुंचने लगे। 1575ई. में स्पेन, 1604 ई. में डच,1637 ई. में अंग्रेज, 1698 ई. में फ्रांसीसी, 1731 ई. में डेनमार्क और 1732 ई. में स्वीडन के व्यापारी भी चीन में घुसने में कामयाब हो गये।यूरोपीय राष्ट्रों को चीन की आंतरिक कमजोरी का पता चल गया। चीन की इस कमजोरी का लाभ उठाकर यूरोपीय राष्ट्रों ने चीन के बाहरी प्रदेशों में अपना आधिपत्य जमा दिया।

1854 ई. में कोमोडोर पैरी जापान के साथ कनागावा की संधि करने में सफल हुआ। इस संधि के तहत अमेरिकी जहाजों को येडो के पास शिमोदा तथा उत्तरी द्वीप पर विद्यमान हाकोदाते बंदरगाह पर रसद और जहाजों की मरम्मत हेतु ठहरने की सुविधा मिली साथ ही शिमोदा में एक वाणिज्य दूतावास खोलने की अनुमति भी मिली। अब अमेरिका की देखादेखी अंग्रेज, रूसी तथा डच लोगों ने भी जापान के साथ संधियां की।इसके बाद का इतिहास शोगुन सम्प्रदाय और सम्राट के संघर्ष और शोगुन सम्प्रदाय की समाप्ति और जापान द्वारा अपनी व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन कर तेजी से विकास का है। मेइजी काल में जापान का तेजी से विकास हुआ और वह यूरोपीय देशों की भांति ही एक विकसित राज्य बन गया।

यूरोपीय देशों की लोलुप निगाहों से अफ्रीका भी नहीं बच पाया और यूरोपीय देशों ने अफ्रीका में अपने साम्राज्यीय विस्तार को फेलाना आरंभ कर दिया जिसके परिणामस्वरूप यूरोप के भिन्न–भिन्न देशों ने अफ्रीका के अलग–अलग भाग में अधिकार कर लिया,इतिहास में इसे अफ्रीका का बंटवारा की संज्ञा दी गयी है।

बीसवीं सदी के प्रारंभ में विश्व की स्थिति अत्यंत तनावपूर्ण थी। सभी देश अधिकाधिक शक्तिशाली बनने की होड़ में शस्त्र इकठ्ठे कर रहे थे।गुप्त समझौतों के कारण विश्व दो गुटों में बंट चुका था।कुछ ऐसी घटनाऐं हुईं थीं जिनसे राष्ट्रों के बीच दूरियां बढ़ गयीं और अंततः सेराजिवो के हत्याकाण्ड की चिंगारी ने विश्वयुद्ध प्रारंभ कर दिया।प्रथम विश्वयुद्ध चार वर्ष तीन माह ग्यारह दिन तक चला, इस युद्ध में तीस देशों के लगभग साढ़े छह करोड़ सैनिकों ने भाग लिया और लगभग अस्सी लाख सैनिक मारे गये और लगभग दो करोड़ सैनिक घायल हुए। इस युद्ध में दस खरब रूपया प्रत्यक्ष रूप से खर्च हुआ और विभिन्न देशों को कुल मिलाकर लगभग चालीस हजार मिलियन पौण्ड का आर्थिक भार उठाना पड़ा।

रूस उस समय एक कृषि प्रधान देश था लेकिन किसानों की स्थिति अत्यंत शोचनीय थी। में यूक्रेन के दक्षिण–पश्चिमी भाग,काकेशस,पोलैण्ड तथा वोल्गा नदी के क्षेत्रों में किसानों के विद्रोह हुए और उन्होंने मास्को में कृषक संघ का भी निर्माण किया। रूस में मजदूरों में भी पर्याप्त असंतोष था। यद्यपि 1885 ई. में कुछ श्रमिक कानून बने थे लेकिन उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा था और

मजदूरों की दशा दिन पर दिन बदतर हो रही थी।अपनी स्थिति सुधारने के लिए ये मजदूर पूंजीवादी व्यवस्था एवं जारशाही को समाप्त कर सर्वहारा वर्ग का शासन स्थापित करना चाहते थे। समाज भी इस समय तक दो वर्गों में बंट चुका था। एक वर्ग बहुत धनी था और उसके पास सब कुछ था जबकि दूसरा निर्धन और दाने–दाने के लिए मोहताज था। इन्हीं सब कारणों से रूस में असंतोष बढ़ता जा रहा था।7 नवंबर 1917 ई. की प्रातः मजदूरों, सैनिकों और नौ–सैनिकों को लेकर पेट्रोग्राड के जार के महल पर अधिकार कर अस्थयी सरकार के नेताओं को गिरफ्तार कर लिया हांलाकि केरेन्स्की भागने में सफल रहा। क्रांति सफल हुई थी और रूस को 'सोवियत समाजवादी जनतंत्र घोषित कर दिया गया।

4.10 शब्दावली

अफीम : एक नशीला पदार्थ
पट्टा : निश्चित अवधि के लिए किराये पर लेना।
ट्रिपल एतान्त : प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान यह फ्रांस,इंग्लैण्ड और रूस का गुट था।
ड्यूमा : रूसी संसद

4.11 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1. 1842
2. टींटसिन
3. निकोलाइवेस्क
4. कनागावा
5. बेल्जियम
6. रूस
7. ट्रेन्टिनो तथा ट्रीस्ट
8. आर्क ड्यूक फ्रांसिस फर्डिनेण्ड
9. बोस्निया–हर्जीगोविना
10. निकोलस द्वितीय

4.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची / उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. विश्व का इतिहास 1500–1950 : जैन एवं माथुर, जैन पुस्तक मंदिर, चौड़ा रास्ता, जयपुर।
2. आधुनिक पश्चिम का उदय – पार्थसारथि गुप्ता
3. ए हिस्ट्री आफ वर्ल्ड सिविलाइजेशन – जे0ई0 स्वेन
4. द आउट लाइन आफ हिस्ट्री – एस0जी0 वेल्स
5. हेज, सी.जे.एच.–ए पोलिटिकल एण्ड कल्चरल हिस्ट्री ऑफ मार्डन यूरोप, भाग 1एवं 2

4.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. यूरोपीय साम्राज्यवाद पर एक निबंध लिखिए।
2. यूरोपाय देशों ने अफ्रीका का बंटवारा कैसे किया। इस बंटवारे में सबसे अधिक लाभ किसे हुआ?
3. प्रथम विश्व युद्ध के क्या कारण थे?

ब्लाक पांच

एशिया और अफ्रीका में उपनिवेशवाद और साम्राज्य विरोधी आन्दोलन

इकाई 1 चीन और दक्षिण–पूर्व एशिया में उपनिवेशवाद, जापानः आधुनिक राज्य से साम्राज्यवादी शक्ति की ओर

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 चीन में और दक्षिण–पूर्व एशिया उपनिवेशवाद
1.3.1 पृष्ठभूमि चीन का पश्चिमी देशों से संपर्क
1.3.1.1 केंटन व्यवस्था
1.3.2 अफ़ीम युद्ध
1.3.3 साम्राज्यवादी नीतियाँ और चीन की लूट
1.3.3.1 मोस्ट फेवर्ड नेशन क्लॉज़
1.3.3.2 खुले द्वार की नीति
1.3.4 कोरिया में उपनिवेशवाद
1.3.5 इंडोनेशिया में उपनिवेशवाद
1.3.6 इंडो–चाइना में औपनिवेशीकरण
1.4 जापान आधुनिक राज्य से साम्राज्यवादी शक्ति की ओर
1.4.1 पश्चिम से संपर्क
1.4.2 मिजी सुधार (1868ई.–1912ई.) (फुकोकु–क्योहेई) समृद्ध देश–मजबूत सेना
1.4.3 साम्राज्यवादी जापान
1.4.4 जापानी साम्राज्यवाद का पतन
1.5 सारांश
1.6 शब्दावली
1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.8 अध्ययन सामग्री
1.9 संदर्भ ग्रंथावली
1.10 निबंधात्मक प्रश्न

1.1.1 प्रस्तावना

इससे पहले की हम चीन और दक्षिण पूर्व एशिया में उपनिवेशवाद की बात करें हमारे लिए यह जरुरी है की हम जाने की आधुनिक युग में पश्चिमी देश उपनिवेशीकरण और साम्राज्यवाद के लिए क्यों लालायित थे। उन्नीसवीं–बीसवीं सदी में यह साफ़ दिखता है कि पश्चिमी देशों का उपनिवेशीकरण तीव्र गति से विश्व के कोने–कोने में फैला, इसके मूल में पश्चिमी देशों में बीती हुई सदियों में हुए कृषि विकास, सामाजिक सुधार, वैज्ञानिक क्रांति, और औद्योगीकरण था, जिसके चलते यूरोपीय देशों का तीव्र विकास हुआ।

मार्क्सवादी सिद्दांतों को जीवंत रूप देने वाले व्लादिमीर लेनिन ने अपनी कृति'इम्पेरीअलिज्म दी हाइयेस्ट स्टेज ऑफ़ कैपिटलिज़म' में यह कहा है कि पूंजीवाद में निहित अवसरवादी प्रवति का विस्तार ही साम्राज्यवाद था। यूरोप के बाज़ार मुनाफे के लिए अन्धाधुन्ध उत्पादन से भर गए थे, लेकिन मांग न होने से उत्पादित वस्तुओं से लाभ होने की सम्भावनायें नहीं थी। इसलिए पूंजी का निवेश ऐसे बाजारों में करना जरुरी हो गया था जहाँ मांग हो तथा प्रतिस्पर्धा में कोई न हो। साथ ही अधिक से अधिक मुनाफे के लिए सस्ते माल, भूमि, और श्रम चाहिए थे। साम्राज्यवादी देशों ने इसका उपाय विश्व के उपनिवेशीकरण में पाया, जहाँ वो परम्परागत उद्योगधंधों को बंद करा कर, अपने कारखाने और उससे से उत्पादित वस्तुओं को मुनाफे के लिए बेचें, उन्होंने इस तरह अपने उपनिवेशों को राजनैतिक और आर्थिक रूप से अपंग कर अपने लिए नए बाज़ार पैदा किये जिसके लिए उन्होंने पश्चिमी संस्कृति की वर्चस्वता का मानस तैयार किया। उनकी राजनीति और विचारधाराएंउनके पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का ही अमल/कार्यान्वयन थी। अपनी नस्ल और राष्ट्र की श्रेष्ठता के मनोभाव से भी ग्रसित होने के कारण नए और ज्यादा से ज्यादा उपनिवेश कब्जे में करना, उनके लिए शक्ति और गौरव का विषय बन गया। इसके अलावा यूरोपीय राष्ट्र 'वाइट मेन्स बर्डन' के नाम पर अपने कब्ज़े और कू–शासन को वैध मनवाना चाहते थे, इसके लिए 'सोशल डार्विनिसम' के तर्क को आधार बना कर वह विश्व की संपदा पर विश्व के सबसे सक्षम लोगों का, सही उपयोग करने की क्षमता और अधिकार की बात कर,अपने उपनिवेशीकरण को जायज़ ठहराते थे। वास्तव में पूंजीवादियों के सिंडिकेट/व्यवसायसंघ ही देश की सत्ता और राजनीति चलाने लगे थे, विकास के नाम पर युद्ध, क्षेत्र विस्तार और लोगों का दमन होने लगा था। व्यापारिक कंपनियों ने भी सबसे पहले आर्थिक हितों को धयान में रखते हुए, व्यापारिक केन्द्रों, बंदरगाहों और मार्गों को हड़पा। यह कहा जा सकता है की पूंजीवाद के चलते ही सैनिक, आर्थिक और वैचारिक तरीकों से पूंजीवादी राष्ट्रों ने विश्व का उपनिवेशीकरण किया।

प्रस्तुत इकाई के पहले खंड में हम चीन और दक्षिण पूर्व एशिया में उपनिवेश एवं साम्राज्यवादी प्रक्रिया और दमन की चर्चा करेंगे, तो दूसरे खंड में जापान के आधुनिकरण और साम्राज्यवाद की चर्चा करेंगे. इनके विरोध में हुए आन्दोलनों एवं राष्ट्रवाद के उदय की चर्चा हम अगली इकाई में करेंगे।

1.2 उद्देश्य

- हम चीन और दक्षिण पूर्व एशिया में उपनिवेशी और साम्राज्यवादी देशों की राजनैतिक और आर्थिक नीति को समझेंगे।
- हम चीन और दक्षिण पूर्व के अन्य देशों की पारम्परिक राजनैतिक एवं आर्थिक व्यवस्थाओं के बदलने के कारण और परिणाम की चर्चा कर सकेंगे।
- हम समाज और संस्कृति पर उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद के असर को जान पाएंगे।
- हम जापान पर साम्राज्यवादी राष्ट्रों के संपर्क के प्रभाव का मूल्यांकन कर सकेंगे।
- हम जापान में मिजी सुधारों के महत्व को समझ पाएंगे।
- हम जापान की सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्थाओं के बदलने के महत्व को समझ पाएंगे।
- हम जापान के आधुनिकीकरण और सैनिक शक्ति का मूल्यांकन कर पाएंगे।

1.3 चीन और दक्षिण–पूर्वएशिया में उपनिवेशवाद

1.3.1 पृष्ठभूमिः चीन का पश्चिमी देशों से संपर्क

चीन में साम्राज्यवादी शक्तियों के हस्तक्षेप का कारण उनके आर्थिक हित थे। सोलहवीं सदी में पुर्तगाल ने चीन के साथ रेशम और चाय का व्यापार शुरू करदिया था। डच और अंग्रेज़ भी पीछे–पीछे चीन में व्यापार करने पहुँच गए।मंचू वंश के अधीन चीन की अर्थव्यवस्था विश्व व्यापार का केंद्र बनी हुई थी, चीन की चाय, रेशम और प्रोसलिन की यूरोपीय बाज़ार में जबरदस्त मांग थी। ब्रिटिश यहाँ केवल आयातक की भूमिका में थे,

1.3.1.1 केंटन व्यवस्था

(1757 ई०दृ1842 ई०सिंगल पोर्ट कॉमर्स सिस्टम)रूचीन में विदेशियों के साथ व्यापार को व्यवस्थित करने के लिए चीनी सत्ता ने सारे व्यापार को केंटन के दक्षिण पोत में केन्द्रित कर दिया। 1757 ई०में बाहरी शक्तियों से अपने राजनैतिक और आर्थिक हितों की रक्षा के लिए, चीन के सम्राट ने यह व्यवस्था कायम की थी। यहाँ पर्ल नदी के किनारे केंटन से बाहर 13 कारखाने थे, 1760 ई० में तत्कालीन सम्राट के आदेश से यह 13 कारखाने 'कोहोंग'नाम से एकाधिकार इकाई बन गयी। उसके बाद से किसी भी चीनी व्यापारी को अगर समुंद्री व्यापार करना होता था, तो वह 'कोहोंग' के माध्यम से ही कर सकता था।विदेशी कम्पनियों को चीन से व्यापार करने के लिए कोमप्राडोर की मध्यस्ता की जरुरत होती थी, कोमप्राडोर की पोत–नगरों में प्रमुख हैसियत होती थी। वह विदेशियों के लिए रेशम, चाय, यार्न,कपास इत्यादि खरीदते और बेचते थे और वह बैंकों में भी कार्यरत होते थे। इनके बिना विदेशियों के लिए यहाँ व्यापार करना संभव न था।

यह व्यापार चीन के फायदे का था, दुनिया की चांदी चीन में आ रही थी। ऊपर से जब यह सामान यूरोप में बेचा जाता था तो इसकी कीमत और बड़ा दी जाती थी। जिसके चलते यूरोप में भी कम ही लोग इन्हें खरीद सकते थे। इसलिए ब्रिटिश व्यापारी जल्द ही इस घाटे के सौदे को फायदे

में बदलने को आतुर थे। भारत से अफीम लाकर चीन में आयात की जाने लगी, जिससे चाय रेशम इत्यादि मदो के दाम चुकाए जा सके। अंग्रेजी कम्पनियां जल्द ही अफीम के जरिये घाटे के व्यापार को मुनाफे में बदलने में कामयाब हो गई, अब चीन में अफीम को पहुँचाने के कारण चीन से चांदी बाहर जाने लगी। 1790ई०–1830ई० के दौरान नशाखोरी में डूबी एक पीढ़ी और सामाजिक अस्थिरता मुश्किलें लेकर चीन के सामने आ खड़ी हुई।जिसके चलते चीन और अंग्रेजों के बीच में अफीम की समस्या को लेकर युद्ध हुऐ। अंग्रेजों को हांगकांग का क्षेत्र तथा केंटन और शंघाई में व्यापारिक अधिकार मिले। हालाकिं अंग्रेजों ने चीन में भारत जैसा सीधा राजनैतिक कब्ज़ा नहीं किया। लेकिन चीन के ऊपर बहुत से साम्राज्यवादी देशों ने शिकंजा कसा और उसका भरपूर दोहन किया।

चीन में अफ़ीम से उत्पन संकट से निपटने के दो पक्ष सामने आये, पहला यह की अफीम की तस्करी रोकना नामुकिन है,इसलिए सरकार को ही इस पर एकाधिकार कर हालात को काबू कर लेना चाहिये। दूसरा पक्ष परम्परावादियों का था जो सम्राट की शक्तियों को असीम मानते थे, उनके अनुसार सम्राट आसानी से विदेशियों को काबू कर सकता है, इसलिए बिना किसी हिचकिचाहट के उसे अफ़ीम पर पूर्ण प्रतिबंध लगा देना चाहिए। चीनी सत्ता ने पूर्ण प्रतिबंध के मार्ग को ही चुना।

1.3.2 अफ़ीम युद्ध

1836ई० में अफ़ीम पर जब सरकारी प्रतिबंध लगा दिया गया तो, चीनी सरकार ने केंटन में विदेशों से लायी गयी अफ़ीम को जब्त करने के लिए एक अभियान चलाया, 1839ई० में पहला अफ़ीम युद्ध चीन का किसी भी पश्चिमी देश से पहला बड़े पैमाने का टकराव था। 1839ई० में कमिश्नर लिन त्सेशु ने लाखों किलो अफीम जब्त कर जला दी।अंग्रेजी सरकार ने इसके बदले के लिए सेना भेजी और अफीम के पहले युद्ध की शुरुआत कर दी। इस युद्ध ने चीन की सैनिक शक्ति की पोल खोल कर रख दी, चीन को हांगकांग टापू से भी हाथ धोना पड़ा।इस युद्ध के बाद से ही चीन पर अंग्रेजों और अन्य यूरोपीय देशों से बहुत तरह के आर्थिक दबाब पड़ने लगे। 1842 ई० में नानकिंग की संधिमें अंग्रेजों को व्यापार के लिए चीन में चार अतिरिक्त बंदरगाह मिले तथा चीन को युद्ध का हर्जाना भी भरना पड़ा। साम्राज्यवादी देशों को चीन की धरती में भी कानूनी प्रक्रिया में विशेष अधिकार मिले, उन पर कोई भी करवाई केवल उन्हीं के न्यायालय में और उनके देश के क़ानून के हिसाब से हो सकती थी।

दूसरे अफ़ीम युद्ध 1860ई० के दौरान यूरोपीय साम्राज्यवादियों के हितेशियों ने पिकिंग में पैंठ बना ली और पुराने ग्रीष्मकालीन महल को जला दिया गया।अपने से श्रेष्ट एवं शक्तिशाली सेना से हारने के कारण, चीन के ऊपर अंग्रेजों ने पहली गैर–बराबर अधिकारों भरी 'असमान संधि' की, ऐसी ही असमान संधियों के चलते विदेशियों के व्यापार हेतु अन्य नगर संधि बंदरगाहा' (जतमंजल चवतजे) भी खुल गए, शुरुआत में तटवर्ती क्षेत्रों के नगर और बाद में तमाम चीन ही विदेशी व्यापारियों के लिए खुल गया। इन क्षेत्रों में विदेशियों के लिए उनकी ही कानून व्यवस्था लागू की गयी। यहाँ तक की चुंगी कर भी विदेशी ही तय करते थे।

1.3.3 साम्राज्यवादी नीतियाँ और चीन की लूट

साम्राज्यवादी देशों ने समूचे चीन के ऊपर विशेषाधिकारों के साथ कब्ज़ा कर लिया और उनके बीच चीन में अपने हितों के अनुरूप हस्तक्षेप करने की स्पर्धा थी, जिसके चलते साम्राजवादी देशों ने चीन का बंटवारा कर दिया। जिसे अक्सर 'बनजजपदह व िजीम बेपदमेम उमसवद''चीनी खरबूजे का कटना' से संबोधित किया जाता है।

1.3.3.1 मोस्ट फेवर्ड नेशन क्लॉज़

मोस्ट फेवर्ड नेशन क्लॉज़ पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों ने इसलिए लागू किया ताकि सभी साम्राज्यवादी देशों को बराबर मौके मिले और साम्राज्यवादी स्पर्धा में वो पीछे न रह जाएं, इसलिए चीन द्वारा किसी भी देश को जो अधिकार और सहुलतें दी जाएँ वह अपने आप ही अन्य सभी उपनिवेशी शक्तियों को प्राप्त हो जायें। यानि अगर कोई एक देश किसी भी प्रकार चीन से व्यापारिक और राजनैतिक लाभ पाता है तो बाकि सभी साम्राज्यवादी देशों को बिना संघर्ष के भी सबसे विशेष राष्ट्र के सिद्दांत के आधार पर वो सब अधिकार और लाभ मिलें। यह चीन के लिए बड़ी विडंबना थी, जो उसकी राजनैतिक, सैनिक और आर्थिक कमजोरी को उजागर करती है। इसके चलते चीनवासियों और उनके संसाधनों पर निरंतर बोझ बढ़ता गया और चीन में अत्याचार और अराज़कता बढ़ गयी।

1.3.3.2 खुले द्वार की नीति

यू.स.ए. के सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट जॉन हैय ने खुले द्वार की नीति को रेखांकित किया था और 1899 ई० में अपने जैसे व्यापार करने वाले साम्राज्यवादी यूरोपीय देशों को दस्तावेज के रूप में भेजा था। इसके जरिये अमरीका विश्व व्यापार में आगे बढ़ना चाहता था और खासकर चीन में दूसरे राष्ट्रों से पिछढ़ना नहीं चाहता था। खुले द्वार की नीति से चीन को सभी राष्ट्रों के लिए सामान व्यापार के अवसरों के साथ खुला रखना था,ताकि कोई भी एक शक्ति वहां के व्यापार पर एकाधिकार न कर ले। साथ ही इसके अनुसार सभी देशों से चीन को समान रूप से चुंगीकर वसूलने देना था। चीन को भी यह निर्देश था की वह अपने देश के बंदरगाहों, रेलमार्ग इत्यादिमें अपने देशवासियों को भी किसी प्रकार की कर में छूट या फायदा न पहुंचाए।कहने के लिए यह नीति चीन की संप्रभुता और क्षेत्र की अखंडता को बनाये रखना था, लेकिन चीनी इतिहासकारों ने इस नीति को राष्ट्रीय निंदा के रूप में ही देखा।

ऐसी नीतियों के चलते चीन को साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने अपने कब्ज़े में कर लिया था. चीनी राजवंश अपनी तुलानात्मक रूप से पुरानी सेना से उनका मुकाबला नहीं कर सकता था. पश्चिमी देशों को तमाम अधिकार मिले हुए थे, इसलिए चीन जैसे विशाल देश को पूरी तरह अपने सीधे कब्ज़े में लेने का प्रयास नहीं किया गया. रूस, इंग्लैंड, जर्मनी, सयुंक्त राज्य अमेरिका इत्यादि अन्य पश्चिमी देशों ने और बाद में जापान ने भी यहाँ के सभी प्रमुख कारखानों, उद्योगों को जैसे खनन,

धातु, रेलमार्ग बैंकिंग इत्यादि में लगातार अपने मुनाफे के लिए चीन को अन्दर से खोखला कर दिया था।

1.3.4 कोरिया में उपनिवेशवाद

कोरिया भी अन्य कई दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों की तरह चीन का ही 'ट्रिब्यूटरी स्टेट' / सहायक देश था जिसको 1860ई० में फ्रांस ने अपने कब्ज़े में ले लिया था। जापान में प्रवेश करने के बाद पश्चिमीदेश कोरिया को भी उसी तरह अपने कब्जे में लाना चाहते थे, लेकिन कोरिया ने इसका विरोध करते हुए फ्रांस और अमेरिका से 1860ई० में और 1870ई० की शुरआत में नौ–सैनिक टकराव किया।

इस काम में जापान को सफलता मिली उसने ही कोरिया को अपने साम्राज्यवादी हितों के लिए शोषित किया। 1876ई० जापान और इंडोनेशिया के बीच में गंघवा की संधि हुई यह संधि भी गैर–बराबरी अधिकारों से लिप्त थी, जिसके चलते शक्तिशाली जापानियों को कोरिया में सारे लाभ, अधिकार और छूट मिली जबकि कोरियाई लोगो को जापान में इसे कोई भी अधिकार, लाभ या रियायते नहीं मिलती थी।

यू.एस.एऔर अन्य पश्चिमीदेशो ने भी इस अवसर का लाभ उठाया और जापान का अनुसरण करने लगे। 19 वीं सदी के आख़िर तक वह भी इस प्रकार की संधियाँ करने लगे। कोरिया को लेकर बढ़ती हुई शत्रुता के चलते 1894–1895ई० में चीन और जापान के बीच युद्ध हुआ। दस साल बाद रूस और जापान के मध्य 1904–1905ई० का युद्ध हुआ जिसमे जापान विजय रहा। 1910ई० में जापान ने यहाँ अपना विस्तार किया, साथ ही यहाँ के शाही वंश के राज का अंत हुआ।शुरू के दस सालों में जापान ने यहाँ दमनकारी सैन्य शासन किया। 1 मार्च 1919ई० में राष्ट्रव्यापी विरोध के कारण जापान को स्थानीय निवासियों को अभिव्यक्ति की कुछ छूट देनी ही पड़ी। जापान ने भी अन्य साम्राजवादी राष्ट्रों की तरह कोरिया में जो आधुनिकीकरण हेतु नगरीकरण, निवेश, वाणिज्यवाद का विस्तार किया और वहां जो औद्योगीकरण हुआ, उसका एक मात्र लक्ष्य जापान की शक्ति को बढ़ाना था। ताकि वो अन्य साम्राज्यवादी राष्ट्रों से मुकाबला कर सके और साम्राज्यवाद की लड़ाई में चीन और प्रशांत महासागरीय क्षेत्र में लड़ सके।

उपनिवेशी वर्षों में कोरियाई लोगों को जबरन जापानी कारखानों में काम के लिए भेजा जाता था, यहाँ तक की उन्हें सैनिक के रूप में युद्ध करने के लिए लड़ाई के मैदान में भेजा जाता था। जापानी सैनिकों के लिए कोरयाई महिलाओं को 'बवउवितज वउमद' के रूप में भेजा जाता था। यह वास्तव में जापानी सैनिकों के लिए वेश्याएं थी। कोरियाई लोगो पर इस बात का भी दबाब था की वो अपने नाम भी जापनी नामो की तरह रखे, 1939 ई० के नाम बदलो अधिनयम के चलते 80: कोरियाई लोगो को अपना नाम बदलना पड़ा। जापान ने कोरिया को केवल आर्थिक और राजनैतिक रूप से ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक रूप से भी उसका उपनिवेशिकरण किया. लेकिन कभी भी उन्हें जापान के समान अधिकार और नागरिकता नहीं दी गयी

1.3.5 इंडोनेशिया में उपनिवेशवाद

सोलहवीं सदी के आरंभ में पुर्तगालियों ने इंडोनेशिया के द्वीपों में आना जाना शुरू कर दिया था। उन्होंने यहाँ अपने व्यापार के साथ साथ राजनैतिक प्रभुत्व की स्थापना भी की। उन्ही के साथ साथ रोमन कैथोलिक पादरियों ने भी यहाँ प्रवेश कर लिया था। सत्रहवीं शताब्दी में हालैंड देश से डच यहाँ पहुंचे। 1641ई० में उन्होंने मलक्का को भी पुर्तगालियों से जीत लिया। डच ईस्ट इंडिया कंपनी ने भी यहाँ आकर व्यापारिक एवम् राजनैतिक प्रभुत्व की स्थापना की। अठारवीं–उन्नीसवीं सदी में फ्रांस और इंग्लैंड में यहाँ कब्ज़े के लिए खिंच–तान चलती रही। फ्रांस शासक नेपोलियन बोनापार्ट के अंत के बाद वियाना कांग्रेस के निर्णयानुसार यह क्षेत्र फ्रांस से आज़ाद होकर, फिर से डचों के अधीन आ गया।

इंडोनेशिया को अपना उपनिवेश बनाकर डच सरकार ने मालगुजारी के रूप में यहाँ के किसानों से चावल वसूल करने लगी, जो यहाँ की प्रमुख फसल थी। यहाँ किसानों को यूरोप में आसानी से बिकने वाली तमाम नकदी फसलों में से किसी न किसी को अपने खेतों के एक हिस्से में उगाना पड़ाता था। इसके बदले में उन्हें किसी भी प्रकार का हर्जाना नहीं मिलता था, ऊपर से जो भी खर्च आता था वह किसानों को ही उठाना पड़ता था, इसे कल्चर सिस्टम कहा जाता था। इस कल्चर सिस्टम के चलते एक ओर तो स्थानीय लोग गरीब होते गए, और दूसरी ओर डच अमीर होते गए। यहाँ किसानों की दशा अर्ध–दास जैसी होगई थी। जब सारे विश्व में दास प्रथा के खिलाफ़ माहोल गर्म था, और होलैंड में रह रहे डच लोगों ने इस व्यवस्था की घोर निंदा की तब कहीं जाकर इंडोनेशिया में भी हालत बदले और 1870ई० में यह व्यवस्था ख़त्म हुई।

1.3.6 इंडो–चाइना में औपनिवेशीकरण

इंडो–चाइना तीन देशों के मिलाप से बनी राजनैतिक इकाई है, जिसके अंतर्गत वियतनाम, लाओस और कंबोडिया आते हैं। यहाँ पर भी समूचे दक्षिण एशिया की ही तरह चीनी शासन और संस्कृति का ही दबदबा था। यहाँ के शासक खुद भी चीनी दर्शन और संस्कृति को आधार बना कर शासन करते थे। समुद्री रेशम मार्ग में होने के कारण यहाँ बाहरी देशो से वस्तुओं, लोगों, और विचारो का आदान प्रदान होता रहा था।

1747–1774 ई० में फ्रांस ने अन्नम के साथ व्यापार के लिये राजनैतिक सम्बन्ध बनाए साथ ही वह इस जगह को मूल ठिकाने के रूप में उपयोग करके डच और अंग्रेजों के व्यापार पर हमला करना चाहता था। 1787 ई० में फ्रांस और अन्नम के मध्य पहली संधि हुई, फ्रांसीसियों के लिए इसका महत्व उनकी राजनैतिक शक्ति का विस्तार करना था, अपना कब्ज़ा बढ़ाना था तथा कैथोलिक धर्म का प्रचार करना था। फ्रांसीसी पादरियों का प्रभाव जब बढ़ने लगा तो अन्नम के शासक को यह रास नहीं आया। 1858 ई० में बहुत से पादरियों पर हमले हुए, जिसके चलते फ्रांसीसी सेना ने 1858 ई०में यहाँ प्रवेश किया और जल्द ही कई जगहों को अपने कब्ज़े में ले लिया। 1863 ई० में टोंकिन में घुसकर फ्रांस ने उसके कुछ हिस्सों को अपने अधीन कर लिया, 1874 ई० में टोंकिन के राजा से असमान संधि कर, व्यापर के लिए विशेष अधिकार प्राप्त कर लिये

तथा यह भी मनवा लिया की राजा अपनी विदेश नीति का संचालन फ्रांस के अनुरूप ही करेगा। 1883 ई० में अन्नम के राजा ने पूर्णतः हार मानकर फ्रांस की आधीनता स्वीकार ली। असहाय चीन अपने इस आश्रित प्रदेश को फ्रांस– चीन युद्ध के बाद भी न बचा सका और अन्नम पर फ़्रांसिसी क़बज़ा हो गया। अस्सी के दशक के आसपास फ्रांस ने उत्तरी भाग में मजबूत पकड़ बना ली, और 1887 ई० में इंडो– चाइना का गठन किया गया।

फ्रांस ने भी अन्य औपनिवेशिक राष्ट्रों की तरह इस क्षेत्र को अपने निजी राजनैतिक और आर्थिक लाभों के लिए निचोड़ दिया, यहाँ चावल को एक नकदी फसल के रूप में बड़े पैमाने पर उगाया गया। चावल की खेती को बढ़ाने के लिए उन्होंने नहरें बनाकर सिंचाई का बंदोबस्त किया, 1930 ई० तक तो यहाँ से दो–तिहाई चावल विश्व के बाज़ार में जाने लगा तथा 1931 तक वियतनाम दुनिया में चावल का तीसरा सबसे बड़ा निर्यातक बन गया। लेकिन मुनाफा फ्रांसीसियों को ही हुआ जन साधारण तक इसका कोई लाभ नहीं पहुंचा। रबड़ की पैदावार दूसरी प्रमुख नकदी फसल थी, इन्ही से जुड़े कारोबार को यातायात ओर बंदरगाह की सुविधाएँ प्रदान की गयी, वहां यातायात के साधनों का विकास इसलिए भी किया गया, ताकि व्यापार ओर सैनिक सामग्री सुचारू रूप से चल सके, साथ ही साथ बड़े क्षेत्र को सीधे तौर पर जल्द नियंत्रण में किया जा सके। ऐसे आर्थिक हालातों में इंडो– चाइना में जहाँ गांवों में जमींदारी प्रथा ने पांव पसारे, वहीँ बंधवा मजदूरी बड़े पैमाने में रबड़ के उत्पादन के कारण पनपी। वियतनामी मजदूरों से बागानों में एकतरफ़ा अनुबंध व्यवस्था के तहत काम करवाया जाता था। जहाँ मजदूरों को कोई अधिकार नहीं थे, लेकिन अगर तय की गयी शर्तों के हिसाब से कम ना हो तो मजदूरों पर मुक़दमे कर उन्हें सज़ा दिलाई जाती थी। जबकि मालिकों पर ऐसी कोई करवाई नहीं हो सकती थी।

शिक्षा के क्षेत्र में भी फ्रांसीसियों ने अंग्रेजों की ही तरह नीति अपनाई, जिसका लक्ष्य स्थानीय काम काज करने वाली जनता को फ़्रांस के हितो के लिए तैयार करना था, कुलीन वर्ग के लोग ही इस महंगी शिक्षा को अपना पाए, स्थानीय लोगो को ऊँचे पदों से रोकने के लिए उच्च शिक्षा में फेल कर दिया जाता था। इसके अलावा स्कूलों में पाठ्यक्रम औपनिवेशिक शासन को सही ठहराने, और वियतनामियों को पिछड़ा और शासन करने के अयोग्य दर्शाने के काम में लिया गया। बच्चों को यह बताया गया की केसे फ्रांस के शासन के कारण वियतनाम में शांति आई है। आधुनिक दिखने के लिय स्कूलों में और जनसाधारण को पश्चिमी पहनावे और रहन–सहन के लिए भी प्रेरित किया गया। 1907ई० में टोंकिन फ़री स्कूलइसलिए ही खोला गया था।

फ्रांसीसियों ने जब हनोई जैसा वियतनाम में नया नगर बनाया तो अपनी बस्तियों में तो साफसफाई की व्यवस्था की, लेकिन देशी बस्तियों में कोई सफाई नहीं थी,ना गन्दगी को बाहर निकलने के लिए नालियाँ थी। जिसके चलते बरसातों में गन्दगी सड़कों में ही फेली रहती, आधुनिक सीवर चूहों की पनाहगाह साबित हुए। 1903 ई०में वहां ब्यूबॉनिक प्लेग महामारी के रूप में फ़ैल गया। कुलमिला के यह कहा जा सकता है कि, फ्रांसीसी उपनिवेशवाद के कारण इंडो–चाइना की न सिर्फ आर्थिक लूट हुई बल्कि वहां की संस्कृति, सभ्यता और धर्म पर भी आघात हुआ। तमाम उपनिवेशी राष्ट्र अपने उपनिवेश कोहर प्रकार से लूटते थे।

1.4 जापान आधुनिक राज्य से साम्राज्यवादी शक्ति की ओर

1.4.1 पृष्ठभूमि

विश्व के मानचित्र में सुदूर पूर्व में उगते हुए सूर्य की भूमि जापान को देखने और उसकी प्राकृतिक संशाधनो की पड़ताल करने पर हम यह पाएंगे कि, जापान के पास कितनी सीमित संपदा है, ऊपर से जापान एक सक्रिय भूकम–प्रभावी क्षेत्र है। इसके अलावा जापान ने दो परमाणु हमलों को झेला, जिसके चलते वहां मानव एवं अन्य संशाधनो की गहरी क्षति हुई, लोगो में अनुवांशिक दोष भी उत्पन हुए। तमाम विपरीत परिस्थितयों के बावजूद जापान ने एक बार फिर अपने आप को विकसित देशों की सूची में ला खड़ा किया। ऐसे में जापान के विकास के रहस्य को जानने की इच्छा होती है। जिसके कुछ चिन्ह हमे इसके इतिहास में दिखते हैं।

प्राचीन काल में एक ओर तो जापान का भौगोलिक क्षेत्र हजारों कुल–जातियों में विभाजित था जिसके चलते वहां राजनैतिक एकता नहीं थी, लेकिन दूसरी तरफ पूरे जापान में चीन के दर्शनशास्त्र का गहरा प्रभाव था। केवल दार्शनिक स्तर पर ही नहीं बल्कि जापान के लेखन एवं वास्तुकला पर भी चीन का प्रभाव साफ़ तौर पर था। 11वीं –12वीं सदी से जापान में सामंतवाद शुरू हो गया था। कहने को तो राज्य के प्रशासनिक ढांचे में सबसे ऊपर सम्राट था, लेकिन वास्तविक शक्तियां भू–स्वामियों के पास ही थी। जिन्हें दैयमो (क्ंपलउव)कहा जाता था, दैयमो अपने वफादार समुराई–लड़ाकों की सैनिक साहयता से शासन चलाता था। शोगून के शक्तिशाली हो जाने से 1192 ई. से 1867 ई. तक जापान में शोगून की सैनिक तानाशाई रही। 1560 ई. से 1600 ई. के काल में तीन शक्तिशाली शोगून ने जापान का एकीकरण किया। 1600 ई. में तोकुगावा लेयाशु ने जापान को एक कर वहां शासन की मजबूत शाखा तोकुगावा शौगनेत बनाई।

पन्द्रहवीं सदी में जापान में पश्चिम से व्यापारी और मिशनरी आने लगे थे, जापानियों को उनके साथ व्यापार अच्छा लगा, वह उनके हथियार और तकनीकी ज्ञान से प्रभावित हो गए थे। जापान में मिशनरीयों की गतिविधियों से और अन्य आंशिक लाभों के चलते बहुत से जापानियों ने धर्म परिवर्तन कर ईसाई धर्म अपना लिया , इसके प्रतिरोध में जापान में 1619 ई. में ईसाई धर्म को प्रतिबंदित किया गया, साथ ही यूरोपियन प्रभाव को रोकने के लिए यूरोपीय व्यापारियों और मिशनरीयों को जापान में आने से रोका गया। 1639 ई. में जापान ने 'क्लोज्ड कंट्री' नीति अपनाते हुए पश्चिमी देशों से सम्पर्क बंद कर दिया, केवल देशिमा बंदरगाह क्षेत्र डच और चीनी व्यापारियों के लिए खुला रहा।

1.4.2 पश्चिम से संपर्क

जापानियों ने पश्चिमी संपर्क से हुए सकारात्मक लाभों को खुले दिल से अपनाया था, उन्होंने पश्चिमी ज्ञान, विचारों को ग्रहण किया जिससे वह यूरोप की वैज्ञानिक एवं आधौगिक तकनीकों को सरलता से सीख पाए। 1774 ई. में जापानी में एनाटोमी की पुस्तक छप चुकी थी, 1787 में माइक्रोस्कोप, इलेक्ट्रीक बैटरी 1840 ई. में, स्टीम इंजन, स्टीमबोट और रेल मार्ग 1845 ई. में जापान अनुभव कर चुका था।जब प्रमुख पश्चिमी उपनिवेशवादी देश अन्य एशियाई (भारत,चीन) उपनिवेशों की समस्यों को लेकर व्यस्त थे। जापान ने बड़ी होशियारी के साथ इस समय अंतराल

का अपने विकास और आधुनिकीकरण के लिए उपयोग किया। जापान को छोड़ कर 1640 ई. से 1853 ई. तक सारे एशिया का उपनिवेशीकरण हो चुका था।

1853 ई. में यू.स कमोडोर मैथयु पैरी जब टोकियो आया तो उसने जापान के साथ यू.स.ए की व्यापार करने की इक्छा को सामने रखा, जापान यू.स.ए की समुंद्री ताकत को देख घबरा गया था, 1854 ई. में जब कमोडोर पैरी वापस आया तो जापान ने यू.स.ए के साथ कांगावा की संधि की, यू. स.ए के लिए जापान के दो बंदरगाह खोले गए। जापान के इस कदम के बाद अन्य उपनिवेशी देश जैसे इंग्लैंड, फ्रांस, डच और रूस ने यू.स.ए की तर्ज़ पर जापान के साथ गैर बराबरी वाली व्यापारिक संधियाँ की और जापान में एक्स्ट्रा–टेरीटोरिऐलिटी' विशेषाधिकार के साथ रहना शुरू किया।जापान को इस बात का एहसास था की अगर वह पश्चिमी देशों के सामने कमजोर बना रहा तो उसको भी चीन की तरह बुरे दिन देखने पड़ेंगे। 1867 ई. में तोकुगावा के सामंतवादी राज का अंत हुआ। सम्राट मूतसुहितो को मिजी की उपाधि के साथ सरकार का नियंत्रण दिया गया।

1.4.3 मिजी सुधार (1868ई.–1912ई.) (फुकोकु–क्योहेई) समृद्ध देश–मजबूत सेना

मिजी सम्राट के अधीन जापानियों ने पश्चिमी देशों के मनमाने हस्तक्षेप और प्रभाव को रोकने के लिए खुद ही आधुनिकीकरण करने की ठान ली, उनका मानना था की शत्रु से युद्ध करने में नहीं बल्कि उसे धोखे में रखना और उसका अनुशरण करने में ही भलाई है। ऐसा करने पर वह उस मुकाम पर पहुँच जायेंगे जहाँ से वह दुबारा अपने हितो की रक्षा करते हुए पश्चमी उपनिवेशी देशों से फायदेमंद व्यापारिक संधियाँ कर सके। इसके लिए उन्हें पश्चिमी तरीके से (लोकतंत्र,औदयोगीकरण, मजबूत सेना और साम्राज्यवाद) आधुनिकीकरण करना होगा। जापान की विकास गाथा उसके सामाजिक बदलाव ने लिखनी शुरू कर दी थी, समाज के सबसे निम्न स्तर में व्यापारियों को रखा गया था और उनके काम धंधों को बुरा माना जाता था, लेकिन व्यापारियों के निरंतर आर्थिक उन्नति और शांति के लम्बे अंतराल में सामुराईयों की गिरती साख के साथ–साथ पश्चिमी व्यापार और संपर्क ने समाज को नए मोड़ पर ला खड़ा किया था। अब व्यापारियों के रिश्ते नातें बड़े संभ्रांत वर्ग से होने लगे थे, कई सामुराइयों ने भी व्यापार को अपना लिया, फलस्वरूप 'ज़ाइबत्सू' (पइंजेन) व्यापारिक/ औदयोगिक घराने (सुमितोमो, मित्सुई, मित्सुबिशी और यसुदा शरुआती चार सबसे महत्वपूर्ण ज़ाइबत्सू) सत्ता और देश में अहम् भूमिका निभा रहे थे। मिजी सुधार के अंतर्गत भू–सुधार भी हुए थे, निजी सम्पति के रूप में भूमि दी जाने लगी थी, भूमि कर तय कर दिये गए थे, करों को केन्द्रीय व्यवस्था से एकत्रित किया जाने लगा। जापान में आर्थिक जरूरतों के लिए बैंकिंग और सहकारी संस्थानों का विस्तार किया गया।

सुधारवादी और विकास के लिए संकल्पित मिजी अधिकारी पुरजोर कोशिश करते रहे, किसी के विफल होने पर नए अधिकारी को जिम्मेदारी सौपीं जाती लेकिन, निजी लाभ और हानि के लिए किसी ने भी एक दूसरे के हाथ नहीं बांधे, वह निरंतर विकास को तत्पर थे। हालाकिं सम्राट की वास्तविक शक्ति में कोई खास बदलाव नहीं आया था, लेकिन सम्राट लोगों के विश्वास और राष्ट्रीय संवेदना को अपने पक्ष में बनाये रखने का माध्यम था ताकि तीव्र आधुनीकीकरण हो सके।जापान ने

यूरोप और अमरीका में (1871 ई. से 1873 ई. 'इवाकुरा मिशन') शिष्टमंडल भेजा जिनका काम पश्चिमी आधुनिकीकरण के गुर सीखना और जापान के हित में माहोल बनाना था। जिन भी देशों के जापान के साथ संबंध थे वह जापान के बारे में क्या सोचते–समझते थे, इसका भी सही–सही अनुमान लगाना था। जापान ने जर्मनी की सरकार से प्रेरित होकर उनकी तर्ज़ पर नए संविधान और संसद का निर्माण किया। साथ ही साथ सेना को भी उन्होंने जर्मनी की तर्ज़ में संगठित किया तथा समुंद्री सेना को विश्व प्रसिद्ध ब्रिटिश नेवी की तर्ज़ पर तैयार किया। 1883 ई. में सैनिक भर्ती में यह नियम बनाया गया कि इक्कीस वर्ष की आयु होने पर, हर पुरुष को कम से कम तीन साल के लिए देश को सैनिक सेवा देनी पड़ेगी।

जापानी अधिकारियों ने औद्योगीकरण का समर्थन किया और नऐ कारखाने लगाए। ज़ाइबत्सू की भरपूर सहभागिता रही, शिक्षा के क्षेत्र में भी सुधार किये गए, प्रारम्भिक स्तर से ही पश्चमी शिक्षा मिलने लगी थी। शिक्षा को फ्रांस, जर्मनी, और अमरीका के मॉडल पर सुधारा गया। अमेरिका की तरह जापान में सार्वभौमिक जन शिक्षा की योजना लागू की गई, जिसके अंतर्गत सभी बच्चों का विद्यालय जाना अनिवार्य था। सांस्कृतिक रूप से भी पश्चमी पहनावा, तौर तरीके यहाँ तक की बालों की बनावट भी अपनाई गयी। मिजी काल में हुए सुधारों ने जापान की काया पलट कर दी, जापान एशिया में सबसे पहले और सबसे अधिक औद्योगिकऔर सैनिक शक्ति वाला देश बन गया था। निम्नांकित मिजी सुधार के चलते जापान का आधुनिकीकरण हुआ जिसके फलस्रूप –

1. सामंतवाद का पूर्ण अंत हुआ
2. भूमि का पुनर्वितरण हुआ
3. आधुनिक बैंक प्रणाली प्रारभं हुई
4. मानव अधिकार और धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्तल हुई
5. आधुनिक सेना का निर्माण हुआ
6. लिखित संविधान (क़ानून) निर्मित किया गया

1900 ई. तक जापान ने 7000 ई. मील लंबे रेलमार्ग का निर्माण कर लिया था। हजारों कारखाने लगा दिए गए थे तथा चाय, रेशम और जलपोत उद्योग में मुनाफा हो रहा था। जापान के पास आधुनिक थल और समुंद्री सेना थी। जापान ने आधुनिकीकरण की राह पकड़ के अपने लिए शक्ति और सम्मान अर्जित कर लिया था। साथ ही जापानी राष्ट्रवाद की आंच ने पश्चिमी देशों के विशेषाधिकार को और गैर बराबरी वाली सभी संधियों को ख़त्म कर दिया था। जापान अब खुद साम्राज्यवादी नीतियाँ अपनाने लगा था। अन्य औद्योगिक देशों की तरह जापान ने भी सस्ते श्रम, कच्चे माल और बाज़ार के लिए तथा उग्र राष्ट्रवाद से पीड़ित होकर एशिया में अपना साम्राज्यवाद फैलाना शुरू कर दिया।

1.4.4 साम्राज्यवादी जापान

1895 ई. में जब जापान ने चीन को हराया तो एशिया में उसके लिए साम्राज्यवाद के दरवाजे खुल गए, दक्षिण पूर्व एशिया में लगभग सभी देश चीन के आश्रय में रहे थे और जापान की भांति उन पर

भी चीनी संस्कृति, और विचारों का प्रभाव था, वह भी सैधान्तिक रूप से ट्रिब्यूट सिस्टम के तहत चीन के भाग थे। अब पश्चिमी राष्ट्रों की तरह जापान ने भी चीन की खोखली ताकत को उजागर कर उपनिवेशीकरण शुरू कर दिया, जापान ने फरमोसा को अपने नियंत्रण में ले लिया ताकि कोरिया में उसका दबदबा बना रहे। साथ ही साथ ताइवान भी उसके प्रभाव क्षेत्र में आ गया।

1904–1905 ई. में पोर्ट आर्थर और मंचूरिया पर अधिकार को लेकर रूस और जापान में युद्ध हुआ, जिसमे जापान ने ज़ार शासित रूस को हरा दिया। जापान ने अचानक से रूसी जलपोत पर हमला किया, साथ ही उसने प्रशांत महासागर पर तैनात रुसी बेड़े को अपने कब्ज़े में ले लिया, और बाल्टिक के जहाज़ी बेड़े को नष्ट कर दिया।फलस्वरूप रूस को मंचूरिया से हटना पड़ा। इस युद्ध के परिणाम का असर सभी देशों पर पड़ा, एक ओर तो जापान का रुतबा पूरे विश्व में फैल गया, तो दूसरी ओर इस युद्ध ने औपनिवेशिक शक्तियों के भी हराने की सम्भावना को साकार कर दिया और शोषित देशों में भी राष्ट्रवाद की लहर को तेज़ किया। खुद रूस के लिए यह युद्ध सफल क्रांति की सीढ़ी बना। चीन के सुधारक और क्रन्तिकारी जापान में रहकर कारवाई करने लगे।

1905 ई. में कोरिया जापान का प्रोटेक्टोरेट (राजनीतिक संरक्षण अधीन) हो चूका था, जापानी सलाहकार कोरिया में स्थानीय सरकार को कमजोर और जापान की शक्तियां बढ़ाने की दिशा में निरंतर काम कर रहे थे। 1907 ई. में कोरिया के राजा ने हाथ खड़े कर दिए और शाही सेना को भी ख़त्म कर दिया गया, अंततः 1910 ई. में जापान ने कोरिया को अपने कब्ज़े में ले लिया। जापान ने वहां आर्थिक आधुनिकीकरण करने की प्रक्रिया को अपने हाथों में ले लिया। वास्तव में जापान ने अपने लाभ के लिए कोरिया की अर्थव्यवस्था को अपने औपनिवेशिक शक्ति के लिए इस्तेमाल किया। जापान ने वहां उद्योग तो लगाए लेकिन कोरियाई लोगों को व्यापार नहीं करने दिया, साथ ही कोरिया में जापानियों को बसाने के लिए उन्हें कोरियाई किसानों की भूमि भी दी गयी।

जापान ने कोरिया में मीडिया को नियंत्रित किया, समाचार पत्रों को बंद किया, तथा कोरियाई विद्यालयों को अपने नियंत्रण में ले लिया।कोरिया भाषा और इतिहास को पाठ्यक्रम से हटा के जापानी विषयों से बदल दिया। जापान के शक्तिशाली होने पर एशिया की राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था में जापान को अब नाकारा नहीं जा सकता था। दक्षिण पूर्व एशिया में जापान स्थितियां नियंत्रित करने लगा था और उसका इरादा एशिया में अपने साम्राज्य को और आगे फैलाने का था। वह चीन और भारत को भी अपने कब्जे में लेना चाहता था।

1931 ई. जापान ने मंचूरिया पर कब्ज़ा कर वहां मंचूकाओ राज्य का निर्माण किया। 1937 ई. में जापान ने चीन पर हमला कर दिया। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान जापान का साम्राज्यवादी चरित्र खुलकर सामने आया, 1940 ई. में जापान ने जर्मनी और इटली जैसे फ़ासिस्ट राष्ट्रों के साथ मिलकर बर्लिन रोम टोकियो धुरी का समझौता किया। जापान ने एशिया को पश्चिमी साम्राज्यवादी राष्ट्रों से आजाद करने के नाम पर अपने लिए 'एशिया – एशियाई के लिए' का उदेश्य बनाया और एशिया पर अपना साम्राज्यवाद थोपा। जापान ने डच ईस्ट इंडीज, बर्मा, फ्रेंच इंडो–चाइना, फिलीपींस, थाईलैंड इत्यादि एशियाई देशों पर हमला किया।

जापान के ऊपर किसी प्रकार के नियंत्रण न लगने से एक ओर यह दिखता है की पचास से भी कम वर्षों में जापान एक आधुनिक राष्ट्र के रूप में उभरा, तो दूसरी ओर जापानी सेना, आर्थिक

दबाव और 1930 ई. की विश्वव्यापी मंदी ने जापान के लिए एक ऐसे मंच का निर्माण कर दिया था, जहाँ से जापान अपने साम्राज्यवादी मनसूबों को साकार रूप दे सकता था। जापान अपने आप को चीन की बंदरबांट में सही हिस्सेदारी न मिलने के कारण परेशान था। इसलिए उसने 1937 ई. में चीन पर हमला कर विश्वयुद्ध के अंत 1945 ई. तक चीन पर कब्ज़ा जमाये रखा।

1.4.5 जापानी साम्राज्यवाद का पतन

सात दिसम्बर 1941 ई. को जब जापान ने अमरीका के जहाज़ी बेड़े पर्ल हार्बर में हमला किया तो अमरीका भी बदले की करवाई करते हुए प्रत्यक्ष रूप से विश्वयुद्ध में शामिल हो गया। 1945 ई. में अमरीका के परमाणु विस्फोटों के बाद ही दूसरा विश्वयुद्ध समाप्त हुआ। यह बम छः अगस्त हिरोशिमा और नौ अगस्त नागासाकी में डाले गए। जापान ने इसके बाद मित्रराष्ट्रों के सम्मुख बिना शर्त आत्मसमर्पण कर दिया। इस तरह औपनिवेशीकरण और साम्राज्यवाद के लिए साम्राज्यवादी राष्ट्रों की आपसी लड़ाई में जर्मनी इटली और जापान की हार हुई। जापान जहाँ खेती के लिए भूमि ना के बराबर थी और संसाधनों की कमी थी वहां का विकास और औद्योगीकरण फिर से चरमरा गया। हालांकि जापान के इतिहास का अध्ययन हमें यह समझाता है की कैसे अतीत में भी अपनी अनूठी प्रगतिशील सोच एवं संगठित प्रयत्नों से जापान विकास कर अग्रिम श्रेणी के राष्ट्रों में आ गया था।

अभ्यास एवं बोध प्रश्न

प्र 1. सिंगल पोर्ट कॉमर्स सिस्टम / केंटन व्यवस्था क्यों लागू की गयी थी?
प्र 2. नाम बदलो अधिनियमकब और कहाँ लागू किया गया था?
प्र 3. 1907ई० में टोंकिन फ़री स्कूल क्यों खोला गया था?
प्र 4. किस तोकुगावा शासक ने जापान का एकीकरण किया ?
प्र 5 ज़ाइबत्सू क्या था ?
प्र 6 . 1904–05 में जापान का किस देश के साथ युद्ध हुआ था
प्र 7 दिसम्बर 1941 को जापान ने किस पर हमला किया?

1.5 सारांश

इस इकाई में हमने जाना कि पूंजीवादी नीतियों के चलते पश्चिमी देशों ने और बाद में जापान ने भी इस को अपनाते हुए एशिया के विभिन्न देशों का औपनिवेशीकरण किया। इस प्रक्रिया में सबसे पहले व्यापारिक हितों को लेकर ही टकराव हुआ था, स्थानीय व्यपार और उद्योग व्यवस्था को ख़त्म कर पूंजीवादी देशों ने अपना कब्ज़ा कर लिया। हमने देखा की कैसे विशेषाधिकार, राजनैतिक एवं व्यापारिक संधियों और नीतियों को मनवाकर दक्षिण एशिया के विभिन्न देशों को उपनिवेश बनाया गया। हमने यह भी देखा की केवल आर्थिक असमानता, शोषण, और पतन ही नहीं हुआ था बल्कि समाज और संस्कृति का भी यही अंजाम हुआ था। यहाँ आधुनिकीकरण के नाम पर (उद्योग, यातायात, शिक्षा इत्यादि) जो भी विकास किया गया था, वह भी केवल अपने मुनाफे और अपने शासन को सही साबित करने के लिए किया गया था.

हमने जाना कि जापान एशिया में एक मात्र देश था जिसने अपने आप को साम्राज्यवादी देशों से बचा के रखा, और साम्राज्यवादी शक्तियों की मंशा को पहचान अपने भविष्य को सुदृढ करने का सफल प्रयास किया। पश्चिमी आधुनिक विचार, विज्ञान, तकनीक, शिक्षा को सफलता से अपनाया और बाद में अपनी आर्थिक, संवैधानिक और सैनिक नीतियों एवं संस्थाओं कों पश्चिमी राष्ट्रों के अनुरूप विकसित किया। जापान की सबसे बड़ी खूबी उनकी दृढ़ इच्छाशक्ति और राष्ट्रीय एकता थी। जापान की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में इसी समय बहुत से सुधार हुए थे, हालांकि पूंजीवादी मानसिकता को अपनाते हुए जापान भी साम्राज्यवाद और औपनिवेशिकरण की होड़ में लग गया तथा अपनी मजबूत सेना से जल्द ही उसने एशिया में उपनिवेश बना लिए। जापान की पूंजीवादी और फ़ासिस्ट चरित्र की सरकार ने जापानवासियों को न सिर्फ विश्वयुद्ध में घसीटा बल्कि परमाणु विस्फोटों को सहा, अंततः हम कह सकते हैं कि विश्व ने उपनिवेशिकरण और साम्राज्यवाद के चलते असमानता, गुलामी, अमानवीयता को देखा।

1.6 तकनीकी शब्दावली

कैपिटलिज्म / पूंजीवादः पंद्रहवीं शताब्दी में सामंतवाद के बाद जो नयी व्यवस्था उभर रही थी, उसे पूंजीवाद कहा जाता है। इसके अंतर्गत उत्पादित वस्तुओं पर व्यक्तिगत स्वामित्व होता है और उत्पादन मुनाफ़ा कमाने के लिए होता है। इसके चलते सम्पूर्ण विश्व एक बाज़ार बन गया।

साम्राज्यवादः एक राष्ट्र या राज्य का किसी दूसरे राष्ट्र या राज्य की भूमि, संसाधनों, अर्थव्यवस्था, भाषा या संस्कृति पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण या वर्चस्व को साम्राज्यवाद कह सकते हैं। उन्नीसवीं– बीसवीं सदी में अनेक यूरोपीय देशों ने कच्चे माल की प्राप्ति एवं निर्मित माल के बाज़ार के लिए दूसरे देशों पर अधिकार करने की साम्राज्यवादी नीति को अपनाया था।

उपनिवेशवादः जब कोई राज्य या राष्ट्र दूसरे राज्य या राष्ट्र के किसी क्षेत्र या सम्पूर्ण हिस्से को अपने अधीन कर वहां स्थायी रूप से रहता या बस्तियां बसता है, साथ ही साथ अपने लाभ के लिए अपने उपनिवेश का दोहन करता है तो उसे उपनिवेशवाद कहते है।

वाइट मैंस बर्डनः यूरोपीय साम्राज्यवादी राष्ट्रों का तथाकथित नैतिक दायित्व या भार, जिसके अंतर्गत यूरोपीय श्वेत लोगों का श्रेष्ट होने के कारण, अन्य लोगो को सुधारने, संवारने और सभ्य बनाने का तथा स्वशासन के लिए उन्हें तैयार करने की जिमेदारी थी। वास्तव में अपने शासन, शोषण और नीतियों को जायज़ ठहराने के लिए यह शीगूफ़ा छोड़ा गया था।

प्रोटेक्टोरेटः जब कोई देश आंशिक रूप से किसी दुसरे देश के नियंत्रण और सुरक्षा पर आश्रित रहता है तो उसे प्रोटेक्टोरेट कहते हैं।

धुरी राष्ट्र या रोम–बर्लिन टोक्यो एक्सिसः जर्मनी वह इटली के मध्य एक दुसरे की सुरक्षा करने के ली हुई मैत्री संधि जिसमे बाद में जापान भी 1940 ई. को शामिल हो गया था।

1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उ.1 बाहरी शक्तियों से अपने राजनैतिक और आर्थिक हितों की रक्षा के लिए, चीन के सम्राट ने यह व्यवस्था कायम की थी।

उ.2 1939 ई० कोरिया में यह अधिनियम लागू किया गया था।
उ.3 आधुनिक शिक्षा के नाम पर स्थानीय लोगों का पश्चिमीकरण करके सांस्कृतिक साम्राज्वाद कायम करने के लिए यह स्कूल खोला गया।
उ.4 तोकुगावा लेयाशु ने जापान को एक कर वहां शासन की मजबूत शाखा तोकुगावा शौगनेत बनाई थी।
उ.5 यह व्यापारिक/औद्योगिक घराने थे, जैसे की सुमितोमो, मित्सुई, मित्सुबिशी और यसुदा शरुआती चार सबसे महत्वपूर्ण ज़ाइबत्सू थे, यह जापान के औद्योगीकरण, व्यापारिक एवं सैन्य विकास में अहम् भूमिका रखते थे।
उ.6 पोर्ट आर्थर और मंचूरिया पर अधिकार को लेकर रूस और जापान में युद्ध हुआ था।
उ.7 इस दिन जापान ने पर्ल हार्बरस्थित अमरीकी जहाज़ी बेड़े पर हमला किया था।

1.8 संदर्भ सामग्री

जैन, हुकुमचंद, माथुर, कृष्णचंद. आधुनिक विश्व का इतिहास, (1500–2000ई.),पन्द्रहवां संस्करण, जैन प्रकाशन मंदिर,जयपुर, 2010., पृ. 320–323 400–424, 728–740.
दसवीं कक्षा की इतिहास की किताब,भारत और समकालीन विश्व, इंडो–चाइना में राष्ट्रवादी आंदोलन, अध्याय 2, पृ.29–48.
Perkins Dorothy, Encyclopedia of China: The Essential Reference to China its History and Culture, Fitzroy Dearborn Publisher, London, 1999, pp.195-196, 332,333,366
Bianco,Lucien. Origins Of The Chinese Revolution, 1915-1949, Stanford: Stanford University Press, 1971, pp. 8-10, 42
Fairbank John K., et al., East Asia: Modern Transformation, Boston: Houghton Mifflin, 1965, pp.513-557, 648-725.

1.9 प्रस्तावित अध्ययन सामग्री

पाण्डेय धनपति, आधुनिक एशिया का इतिहास, प्रकाशक, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, 2005.

Bianco Lucien, Origins of the Chinese Revolution, 1915-1949,Stanford: Stanford University Press, 1971.
Jean Chesneaux, et al, China from Opium War to 1911 Revolution,New York: Random House, 1976.
E.H. Norman, Japan's Emergence as a Modern State, New York: International Secretariat, Institute of Pacific Relations, 1940.
Michael J. Seth, A Concise history of Modern Korea, Rowman and Littlefield 2009.
Morinosuke Kajima, A Brief Diplomatic History of Modern Japan.
Ramon H. Myers and Mark R. Peattie (eds.), The Japanese Colonial Empire, 1895 – 1945.

1.10 निबंधात्मक प्रश्न

प्र(1) चीन की अर्थव्यवस्था को साम्राज्यवादी शक्तियों ने किस प्रकार अपने नियंत्रण में किया?
प्र(2) जापान द्वारा कोरिया के उपनिवेशीकरण पर संक्षिप्त टिप्पणी करें, क्या यह पश्चिमी देशों की औपनिवेशिक नीतियों से अलग था ?
प्र(3) जापान के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की चर्चा करते हुए मिजी सुधारों पर टिप्पणी करें?
प्र(4) जापान एक साम्राज्यवादी शक्ति क्यों और कैसे बना?

इकाई 2 दक्षिण अमेरिका में उपनिवेशवाद विरोधी आन्दोलन

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 यूरोपीय राजनीति और दक्षिण अमेरिका
2.4 स्वतंत्रता की लहर और उपनिवेश विरोधी विद्रोह
2.5 लैटिन अमेरिकी देशों की समस्याएँ
2.6 संयुक्त राज्य अमेरिका तथा लैटिन अमेरिका
2.7 सारांश
2.8 विशेष शब्दावली
2.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.10 अध्ययन सामग्री
2.11 प्रस्तावित अध्ययन सामग्री
2.12 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

हम जानते हैं कि सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी के मध्य के काल में यूरोपियों द्वारा भौगोलिक खोजों के बाद पुर्तगाल, स्पेन, इंग्लैंड, हालैंडऔर फ़्रांस ने बड़े–बड़े औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित किये थे।अमरीकी महाद्वीप में दक्षिणी अमेरिका के अधिकांश भाग पर मध्य अमेरिका, मैक्सिको, वेस्ट–इंडीज,तथा आज के संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ भाग पर स्पेन का कब्ज़ा था।यह कब्ज़ा सेनिक शक्ति पर आधारित था। स्थानीय निवासियों की विवशतायह थी की, वह नजराना दें या सोने–चांदी की खानों में काम करें।साम्राज्यवादी देशों की सोने चांदी की भूख ने यहाँ निर्मम हत्याओं का दौर शुरू किया।आलम यह था की यहाँ की बड़ी बड़ी सभ्यताएँ और कई मूल निवासियों की प्रजातियाँ जड़ से समाप्त हो गयी थी। यूरोपीय लोगों के साथ ऐसी बीमारियाँ भी आईं जिनके प्रति यहाँ के लोगों में प्रतिरोधक क्षमता नहीं थी, जिसके चलते भी, बड़े पैमाने पर लोगों की मृत्यु हुई।

जैसा की हम जानते हैं, दक्षिण अमेरिका को लैटिन अमेरिका भी कहा जाता है,अमेरिका के दक्षिण की ओर सारे पश्चिमी गोलार्द्ध में स्थित भू–भाग के लिए लैटिन अमेरिका शब्द का प्रयोग किया जाता है, इसके अंतर्गत मध्य, दक्षिणी अमेरिका तथा कैरेबियन क्षेत्र के वह भाग आते हैं जिनकी संस्कृतियों की पृष्टभूमि एक है, इस क्षेत्र के लोग लैटिन भाषा परिवार की स्पेनिश और पुर्तगाली बोलते हैं। इनमें लगभग बीस गणतान्त्रिक राज्य हैं। सात मध्य अमेरिका में, तीन कैरेबियनमें, तथा दस दक्षिणी अमेरिका में हैं। अमेरिका की खोज के बाद अनेक यूरोपीय राष्ट्र लैटिन अमेरिका में अपने–अपने साम्राज्य स्थापित करने लगे। स्पेन लैटिन अमेरिका के छरू लाख वर्ग मील पर कब्जा करने में कामयाब हो गया, जिसमें मैक्सिको मुख्य था। इसके बाद पुर्तगाल ने

एक लाख वर्गमील पर कब्ज़ा कर लिया जिसमें ब्राज़ील मुख्य था। डच, अँग्रेज और फ्रेंच दुनिया के दूसरे हिस्सों में अपने बहुत से उपनिवेश बना चुके थे अतः इसलिए उन्हें लैटिन अमेरिका के बहुत ही थोड़े से भाग का लाभ हुआ। यहाँ पर तांबा, टीन, सोना, चाँदी आदि धातुओं का भंडार था तथा यहाँ का कुछ हिस्सा नाइट्रेट से भरा हुआ था। दक्षिण अमेरिका के दक्षिण और मध्य भाग में बड़े विशाल पम्पस घास के मैदान हैं जो मवेशीयों के पालन के लिए बहुत ही अच्छे क्षेत्र हैं।ऐसे संसाधनों के दोहन के लिए लैटिन अमेरिका की बस्तियों पर स्पेन ने पूर्ण नियंत्रण कर रखा था।प्राकृतिक साधनों से परिपूर्ण होने के बावजूद लैटिन अमेरिका में कोयले व लोहे जैसे भरी औद्योगिक संसाधनों कि कमी थीऔर अधिकांश भूमि उपजाऊ भी नहीं थी।इन बस्तियों को केवल कच्चे माल का उत्पादक माना जाता था और इन उपनिवेशों को स्पेन की बनी वस्तुओं को खरीदने के लिए बाध्य किया जाता था। वाणिज्य पर भी स्पेनी व्यापारियों का पूर्ण नियंत्रण था।यहाँ अनियंत्रित एवं गैर–क़ानूनी व्यापार को अप्रत्यक्ष रूप से बढ़ावा मिला।उपनिवेशी शासन के अधीन लैटिन अमेरिकी उपनिवेशों को ना तो स्वशासन प्राप्त था, और नाही उन्हें विचारोंकी स्वतंत्रता थी।उधर पुर्तगालियों ने भी ब्राज़ील को इसी तरह कब्ज़े में कर रखा था।हालांकि ब्राज़ील में परिस्थितियां भिन्न थी।वहां कि ज़मीन प्राकृतिक संपदाओं से संपन्न थी। ब्राज़ील वर्तमान संयुक्त राज्य अमेरिका से भी बड़ा देश था और देश का अधिकाँश भाग घने जंगलों का था। पुर्तगालियों ने यहाँ तट के किनारे–किनारे खेती भी शुरू कर दी थी।1600 ई. तक लैटिन अमेरिका में मैक्सिको सिटी, पनामा, लिमा, सेंटियागो, ब्यूनस आईरस, हवाना और अन्य शहरों का निर्माण हो गया था। उस समय के अन्य राष्ट्रों की भांति स्पेन वालों ने अपने तथा उपनिवेशों के बीच व्यवहार में वाणिज्यवाद का सिद्धांत लागू किया। इस प्रकार के अनेक कठोर नियंत्रणों के कारण ही ये राज्य अपनी स्वाधीनता प्राप्ति के लिएलालायित हो गए।

2.2 उद्देश्य

- इस इकाई के अध्ययन से हम दक्षिण अमेरिका के उपनिवेशीकरण को जान सकेंगे।
- हम यहाँ हुई जनक्रांतियों और आंदोलनों को समझ सकेंगे।
- दक्षिण अमेरिका की समस्याओं को जानेंगे।
- दक्षिण अमेरिका को लेकर यूरोपीय देशों एवं सयुंक्त राज्य अमेरिका की नीतियों की चर्चा कर सकेंगे।

औपनिवेशिक दक्षिण अमेरिका में वर्ग व्यवस्था

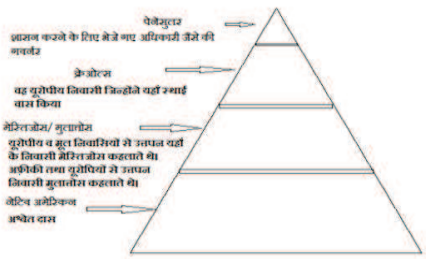

प्रस्तुत चित्रण द्वारा दक्षिण अमेरिका में औपनिवेशिक समाज की जन्म के आधार पर आधारित वर्ग व्यवस्था में यूरोपियों को सबसे अधिक अधिकार और ऊँचा स्थान प्राप्त था। जबकि मूल निवासियों और अभेत दासों को निम्न स्थान पर रखा गया था।

2.3 यूरोपीय राजनीति और दक्षिण अमेरिका

इससे पहले की हम दक्षिण अमेरिका में उपनिवेश विरोधी आंदलोनो की चर्चा करें हमे यूरोपीय राजनैतिक हलचल का जायजा लेना होगा ताकि हम समझ सकें की समय–समय पर विभिन्न यूरोपीय देश कैसे और क्यों उपनिवेशों को लेकर अलग–अलग पक्ष रख रहे थे। यूरोप में नेपोलियन कालीन युद्धों ने लैटिन नागरिकों को उस समय एक अवसर दिया था, जब सभी शक्तिशाली यूरोपीय देश नेपोलियन की शक्ति से लोहा ले रहे थे।स्पेन को नेपोलियन की सेनाओं ने रौंद डालाथा और राजा को गद्दी से हटने के लिए मजबूर होना पड़ा।नेपोलियन ने उसके बड़े भाई जोसफ को स्पेन का शासक बना दिया। जब नयी सरकार के प्रतिनिधि उपनिवेशों में पहुँचे तोबहुत से पुराने शाही अफसरों ने उनका आदेश मानने से इंकार कर दिया और पहले की ही तरह शासन करते रहे। उपनिवेशवासी भी नए राजनैतिक हालातों के चलते उन सरकारों के अभ्यस्त हो गए जो अब स्पेन से बंधी हुई नहीं थी। नेपोलियन के युद्ध की समाप्ति तक लैटिन अमेरिका में स्पेनी बस्तियां स्वशासन प्राप्ति के लिए पूर्ण रूप से तैयार हो गयी थीं। युद्ध के बाद राजा के फिर से सत्ता पर कब्ज़ा करने पर उपनिवेशों ने उसके खिलाफ विद्रोह कर दिया।

लैटिन अमेरिकी राज्यों में जो विद्रोह हो रहे थे, उसकी जानकारी उस समय सबसे प्रभावशाली व्यक्ति मेटर्निख को भी थी और यूरोप में सहानुभूति न रखने वाले लोग भी इस बात को जानते थे। इसी समय यूरोप की राजनीति में परिवर्तन हो रहे थे।1814 ई. नेपोलियन पराजित हुआ और अब यूरोप का पुनर्गठन किया जा रहा थातथा मित्र देशकृ इंग्लैण्ड, ऑस्ट्रिया, रूस, प्रशा और फ़्रांस पुनर्गठन में वयस्त थे।वह इस बात का प्रयास कर रहे थे, की नेपोलियन दुबारा अपनी सत्ता को प्रभावशाली न बना सके।अपनी औपनिवेशिक इच्छाओं के चलते यूरोप महाद्वीप के बड़े राष्ट्रों ने दक्षिण अमेरिकी विद्रोहोंको असंतोष की दृष्टि से देखा और स्पेन को उसके उपनिवेश वापस दिलाने के लिए हस्तक्षेप की धमकी दी। दूसरी ओर, ब्रिटेन इस बात के लिए उत्सुक था की लैटिन अमेरिकी गणतंत्र अपनी स्वतंत्रता बनाये रखे। उसने लैटिन अमेरिका में अपना बाज़ार विकसित कर लिया था और वह जनता था की अगर स्पेन को पुनः उपनिवेश और व्यापार का लाभ मिल गया तो वह स्वयं बर्बाद हो जायेगा। स्पेन और ब्रिटेन की आपसी टकराव में स्पेन की शक्ति क्षीण कर दी थी.

2.4 स्वतंत्रता की लहर और उपनिवेश विरोधी विद्रोह

लैटिन अमेरिका की आज़ादी के आंदोलनों पर अमेरिका तथा फ़्रांस की क्रांतियों का प्रभाव पड़ा था। उत्तरी अमेरिका में ब्रिटिश उपनिवेशवासियों द्वारा आज़ादी प्राप्त किये जाने से उन लोगो का हौसला बढ़ा था। अनेक उपनिवेश वासियों ने अपनी संतानों को यूरोपीय विश्वविद्यालय में पढ़ने भेजा, जहाँ वे अंग्रेज़ और फ़्रांसिसी दार्शनिकों की विचारधारा को अपनाने लगे। इसके साथ ही अमीर, पढ़े–लिखे लोगों के नए वर्ग ने भी इन्हें प्रभावित किया। जिसने स्पेनी संपर्कों को तो स्वीकार किया ही, लेकिन स्वतंत्रता तथा न्याय के आदर्शों को भी जरुरी माना। हालांकि 'स्पेनिश–अर्माडा' की हार (1588 ई.) के बाद स्पेन बराबर कमज़ोर होता गया और अब औपनिवेशिक सरकारों के ऊपर उसका नियंत्रण आसानी से हटाया जा सकता था। लैटिन

अमेरिकी अपने हाथों में शासन की लगाम रखना चाहते थे। हालांकि दक्षिण अमेरिकी उपनिवेशों में क्रांति अमेरिका की तरह संगठित क्रांति नहीं थी। बल्कि स्पेनिश उपनिवेश स्वतंत्र रूप से आज़ादी के लिए लड़े। 1804 ई. में हैती, 1821 ई. में मैक्सिको तथा डोमिनगो औए 1825 ई. में ब्राज़ील स्वतंत्र हुए। 1830 ई. में कोलंबिया को वेनेजुएला, कोलंबिया तथा एक्वेडोर के रूप में बाँट दिया गया तथा 1840 ई. तक लैटिन अमेरिका के टुकड़ों में विभाजन से उनकी संख्या सत्रह हो गयी। वेनेजुएला में थ्तंदबपेबव कम डपतंदकं/फ्रांसिस्को डी मिरान्डा के नेतृत्व में ही क्रांति की शुरुआत की गयी। वह सैनिक बल तैयार कर स्पेन की उपनिवेशिक सत्ता को प्रत्यक्ष टक्कर दे रहा था, अंततः उसे पकड़ कर स्पेन ले जाया गया जहाँ जेल में उसकी मृत्यु हो गयी। इस बीच छापेमारी रणनीति से संघर्ष होता रहा, उसी वर्ष जब मिरान्डा ने वेनेजुएला को स्वतंत्र करने का असफल प्रयास किया था, मैक्सिको में भी बगावत शुरू हो गयी थी। वहां हिडैल्गो नामक एक पादरी ने किसानों के एक दल को लेकर मैक्सिको में स्थित स्पेन की सेनाओं पर धावा बोल दिया। मिरान्डा की तरह यह भी पकड़ा गया और उसे फाँसी पर चढ़ा दिया गया। उसकी देशभक्ति ने मैक्सिको को प्रेरणा प्रदान की और वहां के लोगो ने कुछ ही वर्षों में गणराज्य की स्थापना की।लैटिन अमेरिका के आज़ादी के इतिहास में साइमन बोलिवर(SimonBolivar) का नाम सबसे प्रमुख है। वह वेनेजुएला के एक धनी परिवार से सम्बंधित था, उसने अपनी समस्त दौलत दक्षिण अमेरिका की आज़ादी के काम में लगा दी। वेनेजुएला, कोलंबिया, इक्वीडोर, पनामा, बोलीविया, और उत्तरी पेरू बोलिवर को अपना मुक्तिदाता मानते हैं। ये सभी पहले स्पेन के उपनिवेश थे, इन्हें क्रांति के द्वारा उसने मुक्त कराया। इसी प्रकार श्रवेम क्मैंद डंतजपद जोस डी सान मार्टिन के नेतृत्व में अर्जेंटीना, चिली, पराग्वे ने आज़ादी हासिल की। तब उसने और बोलिवर ने पेरू और बोलीविया में अंतिम स्पेनिश सेनाओं को हराया। बोलिवर एवं सान मार्टिन ने मिलकर नौ उपनिवेशों को स्पेनिश पराधीनता से मुक्ति दिलायी थी।

2.4.1 तुपक अमरु (TupacAmaru)

दक्षिण अमेरिका में उपनिवेश विरोधी कुछ विद्रोह तो फ्रांस की क्रांति से पहले ही शुरू हो गए थे। 1780 ई. तुपक अमरु विद्रोह दक्षिण अमरीका के इतिहास में महत्वपूर्ण घटना है। यह बड़े पैमाने पर होने वाली पहली घटना थी। श्रवेम ळंइतपमस ब्वदकवतबंदुनप जोस गेब्रियल कोन्दोर्कान्कुई ने पहले तो न्याय प्रक्रिया अपनाते हुए अपनी गुहार लगाई, लेकिन विफल होने पर उसने इंका शासक के नाम से'तुपक अमरु' विद्रोह का संचालन किया।विद्रोहियों ने स्पेनिश कपड़ो के कारखानों में आग लगा दी, जनसाधारण में यह विचार फैलाया गया की इंका सम्राट के पुनः शासन से ही असली आज़ादी हाथ आयेगी। उधर इस विद्रोह को रोकने के लिए इसके नेतृत्व करने वालों को फांसी की सज़ा दी गयी। हालांकि इसके बाद भी विद्रोह ख़त्म नहीं हुआ और यह बोलविया के दक्षिण भाग में कई ज्यादा उग्र रूप में सामने आया। यहाँ आयमारा लोगों ने ला–पोज़ नगर को कब्ज़े में ले लिया और सोने चांदी की खानों पर अपना खतरा बनाए रखा, जिसके चलते स्पेनिश शक्ति को सीधी चुनौती मिली। अंततः विद्रोहियों को पकड़ कर ख़त्म करके ही इस विद्रोह को शांत किया जा सका, लेकिन यह विद्रोह आने वाले आन्दोलनों के लिए एक प्रेरणा रही, इसने

आत्मनिर्भता और समानता के मूल्यों के लिए उपनिवेशी शक्ति को सीधी चुनौती देकर शासक और शोषित के बीच एक बड़ी खाई पैदा कर दी थी। इससे यह भी सामने आया की यहाँ की शोषित जनता किसी भी रूप में अपने लिए दोयम दर्ज़ा नहीं चाहती हैं।

2.4.2 हैती दास विद्रोह

फ्रांसिसी उपनिवेश हैती चीनी, कपास और नील की खेती के लिए प्रसिद्ध था यहाँ बड़े पैमाने में दासों को खेती के लिए लाया गया। 1789 ई. में बागबानो के एक दल ने फ़्रांसिसी क्रांति के सन्देश आज़ादी, समानता, और बंधुता से प्रभावित होकर दासों को हथियार दिए, ताकि वह फ़्रांसिसी शक्ति से अपने हकों के लिए, अपनी आज़ादी के लिए और अपने खुद के शासन के लिए लड़ें।ज्वनेंपदज स्वनअमतजनतम तौस्सैंत ल ओव्वेर्तुरे(1743–1803 ई.) के नेतृत्व में दासों ने क्रांति के जरिये पुरानी व्यवस्था को तोड़ने का काम किया। इन क्रांतिकारियों ने अपने लिए उनकी खुद की सत्ता की मांग की, 1804 ई. तक उन्होंने वहां की गन्ना/चीनी प्रमुख अर्थव्यवस्था का खात्मा कर दिया और आत्मनिर्भरता वाली खेती शुरु की गयी। वह अपने लिए जनतंत्र स्थापित करने में सफल रहे। अश्वेतों के इस जनतंत्र ने अन्य जगहों में संघर्ष करने वाले क्रियोल संभ्रांत वर्ग के भाइयों को एक तगड़ा संदेश दिया, हालाकिं अन्य जगहों में दमनकरी उपनिवेशी शक्तियां सतर्क हो गयी और इसी कारण वहां हैती की तरह जल्दी सफलता हाथ नहीं आई।

2.4.3 जोस मर्ती (Jos Julian Marti Perez)1853–1895 ई.

एक कवि, लेखक और क्यूबा के नायक के रूप में जोस मार्टि चाहता था कि, सयुंक्त अमेरिका की एक आवाज़ हो, जहाँ सारे व्यक्ति अपनी समस्याओं को सामने रख सके, वह एक संभ्रांत वर्ग को हटा कर दूसरे संभ्रांत वर्ग को बिठाने का पक्षधर नहीं था, वह पूरी तरह से अपने राष्ट्र की आर्थिक आत्मनिर्भरता और राजनैतिक स्वतंत्रता का पक्षधर था।हालांकि 1898 ई. में सयुंक्त अमेरिका ने यहाँ अपना वर्चस्व बढ़ाना शुरू कर दिया, ताकि वह उपनिवेशों की सारी पूंजी और अर्थव्यवस्था को अपने काबू में रख सके और यहाँ हैती की तरह कोई अश्वेतों की सरकार न बने। हालांकि यू.एस.ऐ सीनेट ने टेलर संशोधन (Teller Amendment) पारित कर अमेरिकी उपनिवेशवाद की राह में अड़चन पैदा की, लेकिन 1901 ई. के प्लैट संशोधन (Platt Amendment) के अनुसार क्यूबा की सरकार इस बात से सहमत थी की यू एस उनकी आज़ादी बनाये रखने में मदद् कर सकता है और इसलिए क्यूबा की सरकार का सहायक हो सकता है। इसके चलते क्यूबा में विचित्र राजनीतिक स्थिति उत्पन्न हो गयी, क्यूबा में कहने को अपनी नागरिक सरकार थी, लेकिन वह किसी भी रूप में लोकतांत्रिक नहीं थी। यहाँ मिआमी का विस्तार हो गया था और यू.एस.ऐ के हस्तक्षेप ने यहाँ भ्रष्टाचार, हिंसा और आर्थिक संकट पैदा कर दिया।

क्यूबा में जो नयी सरकार बनी थी वह तानाशाह थी और इसलिए देश के हालत ठीक नहीं थे, 1956–1959ई. में क्यूबा में गृह युद्ध हुए इन्हें क्यूबा की क्रांति के रूप में भी जाना जाता है, क्योंकि इस गृह युद्ध के दौरान गुरिल्ला सेनाओं का नेतृत्व करते हुए फिदेल कास्त्रो, देश की निरंकुश बतिस्ता सरकार के खिलाफ़ लड़ा था। पहेले युद्ध में फिदेल कास्त्रो की हार हुई थी, लेकिन उसने क्यूबा के जंगलों में अपनी सेनिक शक्ति बढ़ाई। 1958 ई. में क्रांतिकारियों से हारते हुए, बतिस्ता

डोमिनिकन गणतंत्र में चला गया, उसका पीछा करते हुए क्रांतिकारी भी 1959 ई. में वहां पहुँच गए। कास्त्रो को जनसमर्थन प्राप्त था क्योंकि उसने लोगो को आश्वासन दिया था की वह निरंकुश शासन से आज़ादी लेकर रहेगा, यहाँ पर क्रांतिकारी समाजवादी राज्य का गठन कर कास्त्रो ने नयी सत्ता कायम की, प्रसिद्ध 'मोटरसाइकिल डायरीज' नामक संस्मरण वाले जन नायक चे ग्वेरा भी इस क्रांतिकारी सेना में सेकंड इन कमांड की भूमिका में थे, 1963 ई. में इसका साम्यवादी विचारधारा से विकास कर यहाँ साम्यवादी सरकार कायम की गयी। नयी सरकार ने देश का एकीकरण किया और राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाते हुए काम किया। शीत युद्ध के दौरान क्यूबा जैसे सभी साम्यवादी दल और देश पूंजीवादी अमेरिका के निशाने पर रहे, और यहाँ राजनैतिक उथल–पुथल बनी रही।

2.4.4 ब्राज़ील की स्वाधीनता

ब्राज़ील की स्थिति इसके बिलकुल अलग होने के कारण उसे स्वतंत्रता भी अलग अंदाज़ में मिली थी। पुर्तगाल में नेपोलियन के हाथों वहां का राजा अपनी सत्ता खो चुका था। वह किसी तरह ब्रिटेन की सहायता से ब्राज़ील पहुँचा और ब्राज़ील पर कब्ज़ा होने के कारण वह उसे अपना ही राज्य मानता था, ऐसी स्थिति में ब्राज़ील को उपनिवेश के स्तर से उठाकर उसने अपना राज्य बना लिया।इस प्रकार एक उपनिवेश एक साम्राज्य की राजधानी बना गया। अतः ब्राज़ील बिना किसी युद्ध या रक्त क्रांति के आज़ाद हो गया था।बाद में आगे चलकर 1889 ई. में यहाँ पर राजतन्त्र को समाप्त करके गणतंत्र की स्थापना की गयी।

दक्षिण अमेरिका के विभिन्न क्षेत्रों की आज़ादी के प्रयासों के अध्ययन के बाद हम कह सकते हैं की,18वीं शताब्दी से ही दक्षिणी अमेरिका में एक प्रकार का स्वतंत्रता आन्दोलन प्रारंभ हो गया था, 19वीं शताब्दी के आरम्भ में नेपोलियन ने स्पेन व पुर्तगाल पर अधिकार कर लिया था और जब स्पेन पर फ़्रांस का अधिकार हो गया तो इस क्षेत्र के नेताओं ने अपनी–अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। जिससे छः नए देशों अर्जेंटीना, ब्राज़ील, चिली, कोलंबिया, पेरू, और मैक्सिको का उदय हुआ ।लम्बे संघर्ष के बाद दक्षिण अमेरिका के पुर्तगाली भाषा– भाषी लोगों को आज़ादी प्राप्त हुई। फलस्वरूप इनके स्वाधीन राज्य 1825 ई. में स्थापित हुऐ, वह ब्राज़ील के संघीय राज्य के नाम से सामने आया। दूसरी ओर स्पेन के उपनिवेशों ने अपना आरम्भ आठ विभिन्न राष्ट्रों के रूप में किया। ये राष्ट्र थेकृ मैक्सिको, मध्य अमेरिका, कोलंबिया, पेरू, बोलीविया, परागुए, अर्जेंटीना और चिली। परन्तु एक शताब्दी में ही इन आठ राष्ट्रों ने अट्ठारह राष्ट्रों की संख्या धारण कर ली। 1828 ई. में उरुग्वे ने अर्जेंटीना के विरुद्ध विद्रोह कर दिया तथा 1830 ई. में एक स्वतंत्र राष्ट्र बन गया। वेनेजुएला 1929 ई. में कोलंबिया से अलग हो गया, एक्वेडोर 1830 ई. में अलग हो गया तथा पनामा 1903 ई. में। 1940 ई. में मध्य अमेरिका में पांच राज्य बने– ग्वाटेमाला, होंडुरास, निकारागुआ, सैल्वेडोर और कोस्टारिका। सेन डोमिनिगो भी हैती से पृथक इसी समय हो गया। अनेक विद्रोहों के उपरांत तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के हस्तक्षेप के बावजूद 1959 ई. में क्यूबा को भी आज़ादी प्राप्त करने में सफलता मिली।

2.5 लैटिन अमेरिकी देशों की समस्याएँ

आज़ादी के संघर्ष के साथ बीसवीं शताब्दी में लैटिन अमेरिका को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था, उनमेंसे तीनसमस्याएं और भी विकट हो गयी थी। पहली समस्या जनसँख्या से सम्बंधित थी, लैटिन अमेरिका की जनसँख्या में तीव्रता से वृद्धि हो रही थी। दूसरी समस्या आर्थिक थी कि, किस प्रकार साधनों विकास और सर्वोत्तम उपयोग किया जाये ताकि बढ़ते हुए लाखों लोगों की आय में वृद्धि करके सामान्य जीवन स्तर को ऊँचा उठाया जा सके। तीसरी समस्या प्रशासकीय थी कि, किस प्रकार की राजनैतिक व्यवस्थाअपनाई जाए तथा देश में किस प्रकार की सरकार हो। जोइस निर्धन और संघर्षरत जनता का कल्याण कर सके।बीसवीं शताब्दी के मध्य में जिस गति से लैटिन अमेरिका की जनसँख्या में वृद्धि हो रही थी, इसने कुशल सरकार और साधनों के समुचित को दक्षिण अमेरिका के लिए तुरंत आवश्यक बना दिया था। 1960 ई. में वहां प्रति व्यक्ति आय 100 डालर से 799 डालर तक या इससे कम ही रहीं। कई गणराज्यों में एक ही प्रकार के उपज की प्रधानता थी। विश्व के बाज़ारों में उतार–चढाव पर इनका कोई नियंत्रण न होने के कारण स्थिति और भी ख़राब हो गयी। अपनी गतिविधियों को अनुरूप बनाने, तकनीकी तरीकों से सुधार करने के लिए उन्हें मशीनरी खरीदने, यातायात बढ़ने और उद्योगों का विकास करने को धन की आवश्यकता थी, लेकिन राष्ट्रीय आय के साथ–साथ बढ़ती जनसंख्या और सीमित साधनों के साथ वे किस प्रकार से विकास के लिये धन कीव्यवस्था कर सकते थे।इसके अतिरिक्त निश्चित परम्पराएँ, सोचने के तरीके और सत्ता के व्यवस्थित परिवर्तन की क़ानूनी परम्पराएँ लैटिन अमेरिका में न तो विकसित हो सकीं और न ही स्थापित की जा सकीं। जनता के इन उदार और दृढ आधारों की कमी ने फासिस्ट, और नात्सी तानाशाहों के लिए द्वार खोल रखे थे।उपरोक्त समस्याओं के अतिरिक्त कई अन्य छोटी बड़ी समस्याएँ लैटिन अमेरिकी राज्यों के विकास में बाधक बनी हुई थी और यह कहना गलत नहीं होगा की लैटिन अमेरिका में संयुक्त राज्य अमेरिका की रूचि ने भी इन राज्यों के लिए कठिनाई खड़ी कर दी। अल सल्वाडोर, निकारागुआ, ग्वाटेमाला तथा ग्रेनेडा में तनाव, लैटिन अमेरिका में अमेरिका की रूचि के कारण होने वाले प्रमाण रहें हैं।

लैटिन अमेरिका के बहुत से राज्यों में आपसी झगड़े भी होते रहे,मुख्यता इसका कारण उपनिवेश काल से चला आ रहा सीमा विवाद था।हालांकि गणतंत्रीय काल के शुरूआती वर्षों में सीमाएं सामान्यतः स्पष्ट कर दी गयी थीं, फिर भी प्रमुख रूप से दूर के क्षेत्रों में यह तब तक निश्चित नहीं की जा सकी, जब तक इन झगड़ेवाले क्षेत्रों में आर्थिक संपत्ति नहीं मिली।बोलविया और पैरागुए के बीच चाको युद्ध का मुख्य आधार तेल था और तेल को लेकर ही एक्वेडोर तथा पेरू के बीच वाद–विवाद था, बोलविया तथा ब्राज़ील के बीच एकर संकट का कारण रबर था।इन्ही आर्थिक टकरावों के कारण दक्षिण अमेरिका में पैरागुए युद्ध (1865–70 ई.), प्रशांत सागर का युद्ध (1879–93 ई.) तथा चाको युद्ध (1932–35 ई.) लैटिन अमेरिकी राज्यों के बीच हुए थे।

2.6 संयुक्त राज्य अमेरिका तथा लैटिन अमेरिका

संयुक्त राज्य अमेरिका में भी यूरोप से आये श्वेत लोगों ने अपनी विस्तारवादी नीति के साथ अपने निवास बनाये थे और बाद में अपने हितों की रक्षा के लिए दमनकारी औपनिवेशिक शासन

के खिलाफ़ सफल संघर्ष कर आज़ादी पायी थी। इसलिए यहाँ के बहुत से लोग लैटिन अमेरिकी राज्यों कीआज़ादी के प्रति सहानुभूति रखते थे। अमेरिकन कांग्रेस ने राष्ट्रपति से अनुरोध किया कि नए गणराज्यों को मान्यता प्रदान की जाये।अतः राष्ट्रपति मुनरो ने 'मुनरो सिद्धांत' का प्रस्ताव दिया। इसमें उन्होंने यूरोपीय राष्ट्रों को चेतावनी दी थी की वे अपनी साम्राज्यवादी नीति और व्यवस्थाएं इस क्षेत्र के किसी भी हिस्से में फ़ैलाने की कोशिश न करें और कहा कीअमेरिका भी युरोपीय मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा। यूरोपीय राष्ट्र वस्तुतः इस स्थिति में नहीं थे की लैटिन अमेरिकी गणराज्यों के विरुद्ध कोई कार्यवाही कर सकें, और अमेरिका भी उस समय ऐसी स्थितिमें नहीं था की उन्हें रोक सके।संयुक्त राज्य अमेरिका में दक्षिणी अमेरिका के स्वतंत्रता आन्दोलन का समर्थन किया गया तथा ये कहा गया कीइन उपनिवेशों में स्वतंत्रता की मांग अमेरिका से प्रेरणा प्राप्त करके की जा रही है और अमेरिकी लोगों की यह मांग थी की अमेरिका उन राज्यों को मान्यता प्रदान करे। अमेरिकी नेताओंकी भी इसमें सहमति थी, उनका मानना था की इन देशों को मान्यता प्रदान करना अमेरिका के लिए लाभदायक था, ताकि अमेरिका की उपस्थिति से वहां यूरोपीय देशों का प्रभुत्व समाप्त हो जायेगा।जिससे अमेरिकी सुरक्षा में वृद्धि होगी दूसरे यह की इन उपनिवेशों को मान्यता देने से स्पेनी शासन का अंत हो जायेगा, जिससे उनके प्रतिबन्ध लैटिन अमेरिकी देशों से हट जायेंगे और अमेरिका को अपने मालों की खपत के लिए एक बाज़ार भी मिल जायेगा।हालांकि की अमेरिका स्पेन के साथ अपने रिश्ते ख़राब नहीं करना चाहता था, वह फ्लोरिडा को प्राप्त करने हेतु स्पेन से शत्रुता नहीं कर सकता था। अमेरिकी विदेश मंत्री जॉन क्विन्जी एडम्स भी इस पक्ष में नहीं था की इस समय दक्षिण अमेरिकी राज्यों को मान्यता दी जाये, क्योंकि ये देश अभी राजनैतिक रूप से स्थिर नहीं थे। अतः 1818 ई. में इन देशों को मान्यता देने की बात को स्वीकृति नहीं मिली।हालंकि जैसे ही हालात बदले, 1820 ई. में मुनरों प्रशासन ने इन देशों की स्वतंत्रता को मान्यता प्रदान कर दी तथा उनसे राजनीतिक सम्बन्ध भी स्थापित कर लिए। पुरानी औपनिवेशिक शक्तियों के खात्मे के बाद यहाँ नव–उपनिवेशवाद की अप्रतक्ष साम्राज्यवाद और बाजारवाद की राजनीतिहावी रही थी। मुनरो सिद्धांत अमेरिका एवं ब्रिटेन दोनों ही जगह स्वीकार कर लिए गए। बाद में यह अमेरिकी विदेश नीति का मुख्य अंग बन गया। मुनरो सिद्धांत के दो भाग थे–

1. प्रथम भाग में गैर उपनिवेशवाद का सिद्धांत था जिसकी घोषणा अमेरिका ने 1821 ई. में की जिसमें यह कहा गया की अमेरिकी महाद्वीप में यूरोप के देशों के औपनिवेशिक शक्ति को स्वीकार नहीं किया जायेगा।
2. अमेरिका की राजनैतिक व्यवस्था मित्र राष्ट्रों की राजनैतिक व्यवस्था से बिलकुल भिन्न हैऔर अमेरिका यह स्वीकार नहीं करेगा की यूरोप की राजनैतिक व्यवस्था को अमेरिका में लागू किया जाये। इसमें यह भी कहा गया की यूरोप के उपनिवेशों में हमने हस्तक्षेप नहीं किया और न ही करेंगे, परन्तु वे उपनिवेश जिन्होंने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी और जिन्हें अमेरिका ने स्वीकार कर मान्यता प्रदान कर दी है, उन देशों में यदि हस्तक्षेप किया जायेगा तो अमेरिका इसे स्वयं के साथ शत्रुता का व्यवहार समझेगा।

सयुंक्त राज्य अमेरिका के कठोर कदम के बावजूद यूरोप के राजनेताओं ने मुनरो सिद्धांत को

कोई महत्व नहीं दिया, उनके लिए यह एक खोखली धमकी मात्र थी। ब्रिटिश सरकार भी मुनरो सिद्धांत से खुश न थी, क्योंकि इस सिद्धांत की घोषणा करके अमेरिका दक्षिण अमेरिका में इंग्लैण्ड के प्रभाव को नकार रहा था, जिसके चलते उनकी नव–उपनिवेशवादी नीति में अड़चने आ रही थी। इंग्लैण्ड दक्षिणी अमेरिका की स्वतंत्रता का पूर्ण श्रेय खुद की सरकार को मानता था। दक्षिणी अमेरिका में भी मुनरो सिद्धांत का कोई प्रभाव नहीं हुआ।क्योंकि वहां के राजनेताओं का भी यही मानना था कि उनकी सहायता इंग्लैण्ड की नौ–सेना ने की है, नाकी अमेरिका ने। कुछ समय बाद दक्षिणी अमेरिका के राजनेताओं ने यह प्रस्ताव रखा की अमेरिका उनसे सैनिक संधि करे, परन्तु अमेरिका ने इसे अस्वीकार कर दिया। अतः मुनरो सिद्धांत का वहां कोई प्रभाव नहीं पड़ा। संयुक्त राज्य अमेरिका की लैटिन अमेरिका के प्रति उनकी अवसरवादी नीति को उनके मुनरो सिद्धांत, डालर नीति तथा अखिल–अमेरिकावाद से समझा जा सकता है।स्पेन–अमेरीकी युद्ध के समय लैटिन अमेरिका के मामलो में अमेरिका का हस्तक्षेप, प्लैट संशोधन के द्वारा क्यूबा में हस्तक्षेप, कोलंबिया से पनामा के अलग होने पर पनामा की सहायता, 'पनामा नहर क्षेत्र पर नियंत्रण आदि इस प्रकार की घटनाएँ महाद्वीप में अमेरिकी भूमिका का ही परिणाम हैं।

राष्ट्रपति रूजवेल्ट की 'अच्छे पडोसी की नीति' का भी इन राज्यों ने बड़ा स्वागत किया। अमेरिका के साथ उनके सम्बन्ध फिर से जुड़ गए। 1947 ई. में "रिये समझौता" हुआ। यह पहली सामूहिक सुरक्षा संधि थी, जिसमे पश्चिमी गोलार्द्ध की बाह्य जगत से सुरक्षा की व्यवस्था की गयी थी। बाद में अमेरिका की प्रेरणा से ही 1948 ई. में (OAS Organization of American States)का निर्माण भी हुआ। 1951 ई. में अमेरिका ने इस संगठन की आड़ में ग्वाटेमाला में सैनिक हस्तक्षेप किया और फिर वहां पिछलग्गू सरकार बना दी गयी। 23 अप्रैल, 1954 को निकारागुआ तथा 20 मई, 1954 का होंडुरास के साथ सैनिक समझौता किया। 1948 ई. के "मानव अधिकारों तथा कर्तव्यों की अमेरिकी घोषणा" पर हस्ताक्षर करने, लैटिन अमेरिका में लोकतंत्र की सुरक्षा तथा इसको बनाये रखने का प्रस्ताव, 'बोगोटा का आर्थिक समझौता'; 'अमेरिकी राज्यों के संगठन का चार्टर' पर हस्ताक्षर करते समय इस गोलार्ध की एकता को स्वीकार किया गया। अमेरिका तथा इसके मित्र राष्ट्रों को संगठित रूप से समर्थन देने की व्यवस्था की गयी थी। युद्ध के बाद के समयकाल में अमेरिका तथा लैटिन अमेरिका के राज्यों के बीच संबंधो को बनाये रखने का एक महत्वपूर्ण साधन OAS ही रहा।एक ओर सकारात्मक रूप से OAS ने लैटिन अमेरिका के राज्यों को अमेरिका से वित्तीय सहायता प्राप्त करने में तथा आपसी सहयोग करने में काफी सहायता की है। जबकि दूसरी ओर नकारात्मक रूप से OAS ने अमेरिका की शीत युद्ध नीति की "लैटिन अमेरिका शाखा" के रूप में कार्य किया। यह लैटिन अमेरिका के राज्यों में अमेरिका का हस्तक्षेप रोकने में असफल रहा।

लैटिन अमेरिकी राज्यों के प्रति संयुक्त राज्य अमेरिका की नीतियों को लेकर यह कहना गलत नहीं होगा की उनकी नीतियों का स्वरुप हमेशा किसी न किसी रूप में साम्राज्यवादी रहा है। इन नीतियों के माध्यम से अमेरिका ने लैटिन अमेरिका क्षेत्र में अपने प्रभाव को निरंतर बढ़ाने का कम किया है। वहां अपनी कठपुतली सरकारें बनायीं, लैटिन अमेरिकी राज्यों के आतंरिक मामलों में खुला हस्तक्षेप कर उनकी प्रभुसत्ता की अवहेलना भी की और कई अवसरों पर ऐसे युद्ध को जन्म

दिया, जिन्हें नैतिक दृष्टि से कभी भी उचित नहीं कहा जा सकता है। अमेरिका ने लैटिन अमेरिका को अपनी जिम्मेदारी समझ रखा था, तथा उन्हें अपने शिकंजे में जकड़ रखा था। परन्तु क्यूबा जैसे राज्य अमेरिकी प्रभाव से मुक्त होकर स्वाधीन हो गए, तो कुछ ऐसे भी देश हैं, जिनका का भविष्य या अस्तित्व संयुक्त राज्य अमेरिका पर निर्भर करता है।

अभ्यास एवं बोध प्रश्न

प्र(1) हैती की सफल क्रांति किस वर्ग ने की थी?
प्र(2) तुपक अमरु विद्रोह कब हुवा था?
प्र(3) नीचे दी गयी जानकारी को सही मिलान करें।
(क)1804 ई. दृ ब्राज़ील की आज़ादी
(ख)1821 ई. – क्यूबा की क्रांति
(ग)1825 ई. –हैती की क्रांति
(घ)1959 ई. –मैक्सिको की

2.7 सारांश

हमने जाना की सोने–चांदी की लूट, प्राकृतिक संसाधनों के दोहन से लेकर बागानों में दास प्रथा से लिप्त नकदी फसलों के उत्पादन तक औपनिवेशिक शक्तियों ने दक्षिण अमेरिका का शोषण किया, यहाँ की सभ्यता, संस्कृति और धर्म पर भी स्पेन और पुर्तगाल की छाप पड़ी। अमेरिकी और फ़्रांस की क्रांतियों से प्रभावित, सभी वर्ग आज़ादी के लिए संघर्षशील थे। उधर उपनिवेशी शक्तियों के आपसी टकराव से भी दक्षिण अमेरिकी देशों को फायदा पहुंचा था। इन उपनिवेशिक शक्तियों से मुक्त होने के साथ ही यह राष्ट्र नव–उपनिवेशीकरण के दौर में पूंजीवादी सयुंक्त राज्य अमेरिका और इंग्लैंड जैसी शक्तियों के राजनैतिक और आर्थिक दबाब में रहा और दक्षिण अमेरिका का शोषण होता रहा. यहाँ की नयी सरकारें दमनकारी थी अतः यहाँ गृह युद्ध के हालात बने रहे। एक तरफ क्यूबा जैसे राष्ट्र साम्यवादी विचारधारा अपनाते हुए यू.एस.ए के साथ टकराव में हैं,तो दूसरी ओर शीत युद्ध के दौर से ही अनेकों दक्षिण अमेरिकी राष्ट्रों पर सयुंक्त राष्ट्र अमेरिका का हस्तक्षेप है।

2.8 शब्दावली

मोटरसाइकिल डायरीज': प्रसिद्ध चेग्वेरा का संस्मरण, जो उनकी दक्षिण अमेरिका को जानने के लिए की गयी भ्रमण यात्रा के अनुभवों को उजागर करती है। यह बताती है की, कैसे समाज में फैले अत्याचार, गरीबी, कोड़ जैसी बीमारी और साम्यवादियों पर हो रहे जुल्म से विचलित होकर, चे ग्वेरा संकल्प करते हैं कि वह इस सड़ी–गली व्यवस्था से लड़ेंगे। यह संस्मरण दक्षिण अमेरिका की दुर्दशा और खामियों को समझने में मदद करती है, और दर्शाता है कि कैसे वहां साम्यवादी क्रांति पनपी।

OAS : अमेरिकी राज्यों का संगठनरू एक अंतर–महाद्वीप संगठन है, जो 30 अप्रैल 1948 ई० में सदस्य राष्ट्रों में क्षेत्रीय एकता और सहभागिता के लिए स्थापित किया गया था।
शीत युद्धः सोवियत संघ के नेतृत्व में साम्यवादी खेमे (वारसा संधि) और सयुंक्त राष्ट्र अमेरिका के नेतृत्व में पूंजीवादी खेमे (नाटो) के बीच शक्ति के लिए संघर्ष जो दूसरे विश्व युद्ध के बाद चला।
बगोटा का आर्थिक समझौतारू नौवें अंतर्राष्ट्रीय अमेरिकन राज्य सम्मलेन 1948 ई में अपनाये गए आर्थिक समझौता, जिसके अनुसार विदेशी निवेशक को नजर में रखते हुए, विदेशी पूंजी की सुरक्षा हेतु सभी राष्ट्रों द्वारा समान और सही बर्ताव किया जाएगा.

2.9 अभ्यास प्रश्न उत्तर

उ.1 दास वर्ग ने यहाँ सफल क्रांति कर अश्वेत सरकार बनायीं थी।
उ.2 1780 ई.।

2.10 अध्ययन सामग्री

जैन, हुकुम चंद, माथुर,कृष्ण चंद.आधुनिक विश्व का इतिहास, (1500–2000ई),पंद्रहवां संस्करण, जैन प्रकाशन मंदिर, जयपुर, 2010, पृ.424–427,689–700.
Chasteen, John. Charles, Americanos: Latin America's Struggle For Independence, Oxford University Press, 2008, pp. 10,20-28, 47-58, 76,92-97109-126,198.

2.11 प्रस्तावित अध्ययन सामग्री

Frank, Charles Gibson. Capitalism And Underdevelopment In Latin America, 1969.
Frank, Andre Gunder. Capitalism And Underdevelopment In Latin America, 1969.
Stavenhagen, Rudolfo.Agrarian Problems And Peasant Movements In Latin America, 1970.
Furtado, Celso. The Economic Development of Latin America, 1973.

2.12 निबंधात्मक प्रश्न

प्र(1) सयुंक्त राज्य अमेरिका द्वारा दक्षिण अमेरिका में हस्तक्षेप के लिए अपनाई गई नीतियों की चर्चा करें?
प्र(2) दक्षिण अमेरिकी राष्ट्रों की आन्तरिक समस्याओं ने वहां की राजनीति और समाज को कैसे प्रभावित किया?
प्र(3) दक्षिण अमेरिका में साम्राज्यवाद विरोधी जन क्रांतियों की विवेचना करें?

इकाई 3 चीनी क्रांति, दक्षिण पूर्व एशिया में उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 चीनी क्रांति
3.3.1 1900 –1901ई०बॉक्सरविद्रोह
3.3.2 1911 की क्रांति और शाहीराजवंश का अंत
3.3.3 जापान की 'इक्कीस मांगे'
3.3.4 चार मई का आंदोलन
3.4.3.1 स्कूलों में प्रतिरोध
3.4.3.2 जनसाधारण का विद्रोह
3.4.3.3 अमेरिका द्वारा साम्यवादी वियतनाम के दमन का प्रयास
3.3.5 कुओमिंगतांग दल
3.3.6 माओत्से–तुंग और मार्क्सवाद का माओइकरण
3.3.7 सयुंक्त मोर्चा
3.3.8 दूसरा विश्व युद्ध और चीन
3.4 दक्षिण पूर्व एशिया में साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन
3.4.1 औपनिवेशिक शासन सुधार या विरोध
3.4.2 इंडोनेशिया स्वतंत्रता आंदोलन
3.4.3 वियतनाम में साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन
3.4.3 (क) स्कूलों में प्रतिरोध
3.4.3 (ख) जनसाधारण का विद्रोह
3.4.3 (ग) अमेरिका द्वारा साम्यवादी वियतनाम के दमन का प्रयास
3.5 सारांश
3.6 विशेष शब्दावली
3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.8 अध्ययन सामग्री
3.9 प्रस्तावित अध्ययन सामग्री
3.10 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में हमने चीन और दक्षिण पूर्व एशिया में उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के विस्तार और प्रभाव को समझा। हमने देखा था कि साम्राज्यवादी पश्चिमी देशों ने दक्षिण एशिया में किस तरह बीसवीं सदी में कब्ज़ा कर लिया था। ।चीन में अफ़ीम युद्ध के दौर से ही हमने देखा की चीनी शासक वर्ग और साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच संघर्ष होता रहा, जब भी संकट आया तो चीन को विदेशी शक्तियों को अनेक बार विशेषाधिकार और कई प्रकार की छूटदेनी पड़ी। साम्राज्यवादी देशों की पूंजीवादी नीतियों का असर चीन की अर्थवयवस्था पर गहरा पड़ा था। जनसाधारण में विद्रोह की भावना जागृत हो रही थीं।

इधर दक्षिण पूर्व एशिया में बर्मा ने अंग्रेजों के खिलाफ तीन लड़ाईयाँ लड़ी लेकिन वो, 1886 ई० में आखिरकार उनसे पूरी तरह हार गए। वियतनाम ने भी फ्रांसिसियों को अनेक बार चुनौती दी लेकिन 1863 ई० में कम्बोडिया, और 1893 ई० में लाओस फ्रांस के कब्ज़े में था जो बाद में इंडो–चाइना बना। थाईलैंड को एक ढाल के रूप में अंग्रेजो और फ्रांसिसियों ने आजाद रखा। बीसवीं सदी तक सारा इंडोनेशिया डचों के अधीन था, मलय प्रायदीप 1824 ई० के डच–अंग्रेज़ सहमति से अंग्रेजों के अधीन हो गया था; फिलिपिन्स 1898 ई० में स्पेन से तो आज़ाद हुआलेकिन बाद में अमेरिका ने 1901 ई० में उसपर कब्ज़ा कर लिया था। इस इकाई में हम इन एशियाई देशों में उपनिवेशी और साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध राष्ट्रवादी आंदोलन और क्रांतियों का अध्ययन करेंगे।

3.2 उद्देश्य

- हम चीन और दक्षिण पूर्व एशिया के राष्ट्रों में साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशीकरण के कारण हुए राजनातिक परिवर्तन को समझ सकेंगे।
- हम जनसाधारण, विद्यार्थियों एवं नवीन शिक्षा की राष्ट्रीय आंदोलनों में भूमिका समझ सकेंगे।
- हम एशिया के इन देशों में साम्यवाद के उदय को समझ सकेंगे।
- हम साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद को लेकर बीसवीं सदी के विश्व के मिजाज़ को भांप सकेंगे।

3.3 चीनी क्रांति

3.3.1 1900–1901 ई० बॉक्सर विद्रोह

चीन की धरती पर सबसे पहला साम्राज्यवाद विरोधी संगठित एवं प्रभावशाली जनसंघर्ष बॉक्सर विद्रोह था। यह एक गुप्त संस्था थी, जिसे सोसाइटी ऑफ़ दी राईटीयस एंड हर्मोनियस फिस्ट कहा जाता था। यह वास्तव में गरीब शोषित किसानो का ही समूह था, जो चीन के शासन की विफलता और बढ़ते विदेशी हस्तक्षेप को अपनी दीनता और कष्टों का कारण समझते थे। इसलिए वह राजवंश और साम्राज्यवादी विदेशी शक्तियों के खिलाफ़ थे। उनके निशाने पर विदेशी और

चीनी इसाई थे, और इन्होने रेलमार्ग और स्टेशनों की तोड़ फोड़ की। जैसे ही इन लोगों ने पीकिंग पर कब्ज़ा किया तो चालाक संरक्षिका विधवा महारानी ने विदेशियों पर हमला करने का एलान कर दिया, जिसके चलते बॉक्सर विद्रोहयों के निशाने में अब सिर्फ विदेशी ही रह गये थे। 1901 ई० में आख़िरकार विशेष विदेशी सैन्य–टुकड़ीमंगवाई गई और उसी ने इन उपद्रवियों को हराकर पीकिंग से खदेड़ दिया, इस सैन्य टुकड़ी में कई देशों के सैनिक थे। 7 सितम्बर 1901 ई० के बॉक्सर समझौते के चलते चीन की सैन्य शक्ति घटायी गयी, युद्ध के दोषियों को सज़ा मिली,और 330 मिलियन डॉलर हर्जाने के रूप में विदेशियों को देना पड़ा।

3.3.2 1911 की क्रांति और शाहीराजवंश का अंत

डा. सनयात–सेन के नेतृत्व में हुई 1911 की जनवादी क्रांति शाही राजवंश की सत्ता को उखाड़ फेंकने में कामयाब रही थी। सनयात–सेन ने गणतंत्र बनाने के विचार से 1912 ई०में राष्ट्रीय पार्टी कुओमिंतांग का गठन किया जिसके सिद्धांत राष्ट्रवाद, लोकतंत्र और सामाजिक सुरक्षा थे। लेकिन सनयात–सेन यह जानते थे की सत्ता सँभालने के लिए अभी उनका राष्ट्रवादी दल तैयार नहीं था, साथ ही यह खतरा भी था की, शक्तिशाली शासक न होने के कारण चीन को साम्राज्यवादी देश और भी आसानी से दबा पाएंगे ।इसलिए उन्होंने अपनी मर्जी से यूआन–शिकाई के हाथों में सत्ता दे दी। वह एक शक्तिशाली 'वारलॉर्ड'(सैन्य–सरदार) था।जल्द ही उसके मन में सम्राट बनने की इच्छा घर कर गई और उसने तमाम संवैधानिक राजनीतिक दलों का पतन करना शुरू कर दिया और शासक के रूप में राज करने लगा। हालांकि पूरा चीन प्रान्तीय सैनिक–सरदारों के प्रभुत्व वाले कई राज्योंमें बंट गया। इन सैनिक सरदारों के अधीन सेना को पश्चिमी और आधुनिक रूप से तैयार किया गया लेकिन देश में आर्थिक और सामाजिक स्थिति ख़राब होती गयी किसानो परअतिरिक्त करों का दबाब बढ़ने लगा और चीन के किसानो का शोषण होता रहा।1911 की क्रांति की सबसे बड़ी कामयाबी लोकतांत्रिक और संवैधानिक सरकार के मार्ग को तैयार करना था.

3.3.3 जापान की 'इक्कीस मांगे

1915 ई० में जापान ने युआनशी–काई के सामने जापान की 21 बेहद कठोर मांगे रखी थी, जिसके चलते पूरा चीन जापान के सरंक्षण में आ जाता।यह मांगे पांच भागों में रखी गयी थी, पहला भाग शांदोंग पर जापान के अधिकार को लेकर था।दूसरी मांग जापान ने चीन के मंचूरिया और मंगोलिया के भागों में विस्तृत व्यापारिक, औदयोगिक और निवास के अधिकार को लेकरथी, तीसरी मांग के अनुसार जापान को चीन के सबसे बड़े लोहा और खनिज उद्योग कंपनी हान–येह–पिंग में भागीदारी चाहिए थी, वास्तव में इसके चलते यहाँ जापान का ही असली नियंत्रण हो जाता। चौथी मांग के अनुसार चीन से कहा गया था की वह जापान के अतिरिक्त किसी भी देश या शक्ति को चीन के बंदरगाह, तट और द्वीप आय हेतु या अन्य उपयोग के लिए ना दे। पाचवीं मांग सबसे

शर्मिंदा करने वाली थी, इसके अनुसार चीन को जापान के अधीन लाने के लिए, चीनी सलाहकारों को जापान के संपर्क में रहना था ताकि वह उनका इस्तेमाल कर सकें, चीन में हथियारों के कारखाने लगाना और चीन जापान से ही हथियार खरीदें, जापान का मध्य चीन में रेलमार्ग निर्माण पर अधिकार हो तथा चीन किसी भी देश से पैसे या क़र्ज़ लेने से पहले हमेशा जापान से पूछे।जापान के बढ़ते हुए दबाव के कारण चीन को ज्यादातर मांगे माननी पड़ी, हालांकि पांचवें भाग की मांगो को टाल दिया गया।यही नहीं इन मांगो के तीन महीने बाद ही युआनशी–काई ने खुद को सम्राट घोषित कर दिया। ऐसे घटनाओं ने चीन में राजनीतिक भूचाल पैदा कर दिया था। लोगों में राष्ट्रवाद की भावना साम्राज्यवाद के खिलाफ़ आंदोलन करने को तत्पर थी।

3.3.4 चार मई का आंदोलन

1915–1921 ई० के बीच घटित 'नयी संस्कृति के आंदोलन' को ही 4 मई आंदोलन के नाम से भी जाना जाता है। यह आंदोलन विद्यार्थियों के साम्राज्यवाद विरोधी, सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रदर्शनों से ही शुरू हुआ था। 4 मई 1919ई०में 13 विश्वविद्यालयके प्रतिनिधियों ने मिलकर एक प्रस्ताव तैयार किया,लगभग तीन हज़ार विद्यार्थियों ने तयानआनमेन चौक में हस्तलिखित पर्चों के जरिये अपने विरोध को व्यक्त किया कि, देशद्रोहियों ने जिस तरह देश का सौदा और अपमान किया है, उसे वह बिल्कुल बर्दाश्त नहीं करेंगे। यह पत्र विदेश मंत्रियो के लिए छोड़े गए, उसके बाद उन्होंने उन तीन कैबिनेट मंत्रियों का घेराव किया जिन्होंने जापान के साथ गुप्त समझौता किया था।जनता में जापान से चीन की हार और बाद में 1915 ई० में जापान की 'इक्कीस मांगो' को लेकर भारी आक्रोश था।लोगों ने चीनी सरकार का वर्साय की संधि के प्रति असहनशील रवैये का विरोध किया था, जिसके चलते जापान को शांदोंग का क्षेत्र मिला था। हालांकि चीन ने पहले विश्व युद्ध में इसी शर्त के चलते भागीदारी की थी की उसे चीन में जर्मनी के प्रभाव–क्षेत्र वाले इलाके वापस मिल जायेंगे। चीन से लाखों की संख्या में मजदूरों को अंग्रेज़ सेना के साथ लड़ने के लिए फ्रांस भेजा गया था। लेकिन चीन अपने ही हितों की रक्षा नहीं कर पाया और वर्साय की संधि को कोई चुनौती नहीं दी, इस छल कपट के कारण चीनी सरकार और साम्राज्यवादी देशों के खिलाफ़ विरोध हुआ और राष्ट्रवाद की लहर दौड़ पड़ी। धीरे–धीरे इस आंदोलन के केंद्र में राजनीतिक विचारों का प्रसार मुख्य हो गया और अब यह बुद्धिजीवियों का ही नहीं, वरन जन साधारण का भी आंदोलन हो गया था जिसने भविष्य के नेताओं को पैदा किया।

3.5 कुओमिंगतांग दल

शुरू–शुरू में कूओमिंगतांग दल साम्यवादी विचारधारा के साथ आगे बड़ा, 1923 ई० में रुसी साम्यवादी सरकार से समझौते के चलते सनयात–सेन ने घोषणा की कि– "हमें (पश्चिमी) शक्तियों से कोई आशा नहीं रह गयी है, हमने उनसे प्रेरणाप्राप्त करना बंद कर दिया है। अब हमारी समस्त आशा रूस के सहयोग से फलीभूत होगी क्योंकि हमें रूस की सहायता पर अधिक विश्वास है"।

रुसी आदर्श के आधार पर चीन में अनेकों जगह कुओमिंगतांग की शाखाओं को स्थापित किया गया।लेकिन सनयात–सेन की मृत्यु के बाद दल में सैधान्तिकमतभेद उत्पन हुए, खासकर रूस के साथ कैसे संबंध रखे जाएँ इस बात पर मतभेद था।

च्यांगकाई–शेक ने साम्यवादी सदस्यों को संस्था से निकालने के बाद 1928 ई० में पीकिंग पर अधिकार कर राष्ट्रवादी दल के अंतर्गत चीन को फिर से एक करने की कोशिश की। 1931 ई० में साम्यवादी दलों का प्रमुख केंद्र कियांग्सी था।यहाँ साम्यवादी सरकार का गठन हुआ जबकि नानकिंग में कुओमिंगतांग की सरकार का केंद्र था। च्यांगकाई–शेक ने 1933 ई० में चार बार कियांग्सी की साम्यवादी सरकार पर हमला कर उसे ख़त्म करना चाहा लेकिन वह विफल रहा। 1934 ई० में लाखों साम्यवादी लोगों को मौत के घाट उतारा गया। फासिस्ट ढंग की नीली–कुर्ती नाम से एक आंतकी दल भी साम्यवादियों के दमन के लिए खड़ा किया गया था।च्यांगकाई–शेक पश्चिमी शक्तियों का सहारा लेकर चीन में साम्यवाद का सफाया कर अपनी सत्ता बढ़ा रहा था, लेकिन 1937 ई० में जापान ने चीन पर कब्ज़ा कर लिया और दूसरे विश्वयुद्ध तक चीन उससे उलझा रहा।वास्तव में कुओमिंगतांग सरकार ना तो गाँव के किसानो की समस्या सुलझा पाई थी, ना तो शहरों की समस्या का निदान कर पाई थी।अपनी पुस्तक ओरिजिन ऑफ़ दी चाइनीस रेवोलुशन 1915–1949 ई० में लुसियन बिअंको ने लिखा है की –

"Discontent and the bankruptcy of rural society created an ineÛhaustible supply of potential revolutionaries] but it was the Chinese communist party that gave this blind force purpose and direction."

गाँव में किसानों का असंतोष भूस्वामियों से था, जिनके लगान और अत्याचार से किसान ग्रस्त थे। शहरों में मजदूर अपने लम्बे काम के घंटों, कम वेतन, दुर्घटनाओं और कामकाज करने वाली जगहों की अव्यवस्था के चलते बीमारियां फैलने से परेशान था।जिसके चलते लोग साम्यवादियों की ओर उम्मीद से बढ़े।

3.6 माओत्से–तुंग और मार्क्सवाद का माओइकरण

माओत्से–तुंग , मार्क्सवादी विचारधारा से 4 मई के आन्दोलन के दौरान ही अवगत हो चुका था। जुलाई, 1919 ई० में ही माओ ने हुनान से एक पत्रिका निकालनी आरम्भ की और 1920 ई० की गर्मियों में क्रांतिकारी विचारों को फैलाने के लिए माओ ने एक सांस्कृतिक अध्ययन सोसायटी संगठित की। 1920 ई० में उन्होंने च्याघशा में साम्यवादी वर्ग भी कायम किये। 1921 ई० में चीन में साम्यवादी दल की स्थापना हुई। पहले के कुछ वर्षों के दौरान चीनी समाज की प्रकृति और चीनी क्रांति के स्वरूप सही तरह ना भांपने के कारण चीनी साम्यवादियों को लगातार कई हारों का सामना करना पढ़ रहा था। उनका सैनिक बलऔर राजनैतिक ठिकानों पर लगातार हमले हो रहे थे और वह कुओमिंगतांग की सेनाओं से घिर गए; साम्यवादी दल और राजनीति लगभग समाप्त होने की कगार तक पहुँच गयी थी लेकिन इस मुश्किलघड़ी से क्रांति को बाहर निकाल, सफलता से आगे बढ़ाने में माओ ने मंजे हुए नेता के अपने गुणों को प्रस्तुत किया।

माओत्से–तुंग ने चीनी साम्यवादी दलों की विफलता और उनके नगरीय ठिकानो पर हो रहे लगातार हमलों से यह जल्द ही यह भांप लिया की चीन जैसे बहुसंख्यक किसान आबादी वाले क्षेत्र जहाँ की 80: से भी ज्यादा जनता किसानों की थी, वहां अगर साम्यवाद लाना है तो उसके नायक किसान ही हो सकते हैं, क्योंकि वह गाँव में बसते हैं इसलिए गाँव ही इस क्रांति का केंद्र हो सकते थे।रूसी क्रांति और साम्यवादी संघठन को हुबहू चीन में लागू नहीं किया जा सका था। माओ के दिशा निर्देश में चीन में लंबी अवधी के संगर्ष, जनसाधारण को युद्ध से सीधे जोड़ने जैसे राजनीतिक एवं सैनिक फैसलें मुश्किलक्रांतिकारी संघर्षों के समय सामने आये और सफल रहे।
चीन में च्यांगकाई–शेक की शक्ति से बचने के लिए लाल सेना ने ऐतिहासिक लम्बे अभियान की शुरुआत की गयी, अक्टूबर, 1934 ई० में शुरू हुए इस महा–अभियान के दौरान लाल सेना ने लगभग हरदिन दुश्मनों से मुकाबला करते हुए 6,000 मील की यात्रा 12 प्रान्तों, 18 पहाड़ों और 24 नदियों को पार करते हुए 13 महीनों में पूरी की। 1,60,000 लोगों में से सिर्फ 8,000 लोग ही शान्सी पहुँचने तक बचे रहे। श्लम्बे अभियानश ने साम्यवादीयों की इस लड़ाई को आम वर्ग की लड़ाई बना दिया था। माओ के अधीन साम्यवादी दल ने जो सैनिक टुकड़ियाँ बनायीं उनको कठिन अनुशासन में रखा जाता था, जनता के दिलों को जीतने के लिए वह जिस भी गाँव कस्बे में जाते वहां किसी भी तरह से लूटपाट, दुर्व्यवहार और जुल्म नहीं करते थे। बल्कि वह वहां के समाज से जुड़ कर उनको अपने शोषण के खिलाफ़ लड़ने को तैयार करते, वह अपने खाने–पीने के लिए भी वहां के लोगों परआश्रित रहते, इस तरह विश्वास जीत कर लोगों को सैनिक लड़ाई की शिक्षा दी गयी। पिसता हुआ कृषक समाज जब माओ की विचारधारा से जुड़ गया तो वह अपने संघर्षके लिए उठ खड़ा हुआ और लाल सेना से कदम से कदम मिलाने लगे।

3.7 संयुक्त मोर्चा

जापान की शक्ति का सामना गृह युद्ध के दौर में आपस में लड़कर नहीं किया जा सकता था। 1936 ई० में साम्राज्यवादी जापान को देश से बाहर निकालने के लिए माओ ने कुओमिंगतान से सहभागिता करने का एक त्रि–सूत्री कार्यक्रम तैयार किया, –

1) विदेशी आक्रमण का मिलकर मुकाबला करना
2) चीन में लोकतांत्रिक सरकार का गठन करके जनता को शासन सम्बन्धी अधिकार प्रदान करना और
3) देश की वित्त–व्यवस्था में आवश्यक सुधार करके किसानों की दशा सुधारने का प्रयत्न करना।
उधर च्यांगकई–शेक साम्यवादियों से कोई समझौता नहीं करना चाहता था। वह यह समझता था की राष्ट्रीय एकता साम्यवादी शक्तियों के पतन से पहले नहीं हो सकती , और इसलिए जापान को वह नहीं हरा सकता।लेकिन चीन में अब गृह युद्ध बंद कर, जापान को हराने का लोकमत तैयार हो चुका था अतः च्यांगकई–शेक को साम्यवादियों के साथ समझौता करना पड़ा।

10 फरवरी 1937 ई० को दोनों दलों में निम्न बातों के लिए समझौता हुआ–

1) उत्तर–पश्चिम चीन के जिन प्रदेशों पर साम्यवादियों का अधिकार है, वहां पर उनका शासन ही कायम होगा।
2) इन प्रदेशों में साम्यवादियों की अपनी स्वतंत्र व पृथक सत्ता रहेगी, जो चीन के अंतर्गत रहते हुए भी शासन की दृष्टि से साम्यवादियों के अधीन होगा।
3) साम्यवादी सेना को चीन की राष्ट्रीय सेना का ही एक अंग मान लिया गया और साम्यवादी सेनापति जापान के साथ युद्ध करते हुए च्यांगकाई–शेक के आदेशों का पालन करेंगे।साम्यवादी सेना को चीन की राष्ट्रीय सेना में आठवीं सेना का नाम दिया गया।
सयुंक्त मोर्चा खोलने के बाद भी 1937 ई० में चीन–जापान युद्ध में जापान ने चीन को हरा दिया, नानकिंग पर जापान का कब्ज़ा हो गया। च्यांगकाई–शेक को इसलिये चुंगकिंग को अपनी राजधानी बनाना पड़ा।

3.8 दूसरा विश्व युद्ध और चीन

दूसरा विश्व युद्ध के चलते चीन में राजनीतिक स्थिति और भी पेचीदा हो गयी थी। चीन में तीन तीन सरकारें कायम हो गयी, जापान के अधीन मंचूरिया, 'मंचूकाओ' के नाम से एक स्वतंत्र राज्य बन गया था, यहाँ नानकिंग को राजधानी बना कर स्वतंत्र सरकार बनाई गयी। च्यांग्काई–शेक के नेतृत्व में राष्ट्रीय सरकार थी, जिसकी राजधानी चुंगकिंग थी। और तीसरी सरकार माओ के नेतृत्व में साम्यवादियों की उत्तर पश्चिम चीन में थी, जिसकी राजधानी येनान थी।

चीन के सारे समुंद्री तटों पर जापान का नियंत्रण था, लेकिन साम्यवादियों, और जापान को चीन में अपने प्रभाव को फैलाने से रोकने के लिए ब्रिटेन और अमेरिका ने हवाई सुविधाओं से च्यांग्काई–शेक को युद्ध सामग्री की सहायता दी। च्यांगकाई–शेक की सरकार को अपने पक्ष में करने के लिए 11 जनवरी 1943 ई० को अमेरिका और ब्रिटेन ने एक संधि की, जिसके अनुसार 'एक्स्ट्रा–टेरीटोरिऐलिटी' की नीति का चीन में अंत कर दिया गया।इसके अलावा उन्हें प्राप्त अन्य प्रकार के विशेषाधिकारों को भी समाप्त कर दिया गया।साथ ही यह भी मान लिया गया कि चीन राजनैतिक रूप से पश्चिमी देशों के बराबर हैसियत का है और एक शक्तिशाली राष्ट्र है, यहाँ तक की सयुंक्त राष्ट्र संघ के गठन होने पर सुरक्षा परिषद में चीन को भी स्थायी रूप से सदस्यता प्रदान की गयी।

इस बीच 1945 ई० में जापान के आत्मसमर्पण के बाद दूसरे विश्व युद्ध का अंत हुआ और जापान के अधीन क्षेत्र पर अधिकार को लेकर समस्या खड़ी हो गयी। अब तक च्यांगकाई–शेक काफी अलोकप्रिय हो गया था। क्योंकि कोओमिंगतांग सरकार ने राष्ट्रीय अर्थवयवस्था और संचार साधनों के पुनर्निर्माण पर कोई ध्यान नहीं दिया था।जबकि साम्यवादी सरकार के अधीन भू–स्वामित्व के मामलों में संशोधन किया गया, कृषि के अधीन ज्यादा भूमि लायी गयी, खेतिहरों के भूमि प्रयोग पर लगने वाले लगान की दर और पैदावार से लिऐ जानेवाले हिस्से में कमी की गयी और किसानों के भू–स्वामित्व अधिकार को अधिक मान्यता दी।सभी तरफ से समर्थन प्राप्त करने

के लिए साम्यवादी दल नए लोकतंत्र और भूमि सुधार का प्रचार कर रहे थे। आख़िरकार तानाशाह जापानी सेना, अमेरिकी जैसे पूंजीवादी देशों के समर्थन वाली च्यांगकाई–शेक की सत्ता को हराकर 1 अक्टूबर, 1949 ई०में माओ के नेतृत्व में साम्यवादी दल ने अधिकांश चीन में सरकार कायम करली।यद्यपिहांगकांग, ताइवान और मकाओ उसके दायरे से बाहर ही रहा।

3.4 दक्षिण पूर्व एशिया में साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन

3.4.1 औपनिवेशिक शासन सुधार या विरोध

शुरूआती दौर में बहुत से उपनिवेशों में लोग इस बात को लेकर अलग–अलग रहे की विदेशी शासन का पूर्ण विरोध करें या उसमे सुधार लाकर उसे अपना लिया जाए।औपनिवेशिक शासन के अधीन समाज का एक वर्ग सीधे–सीधे एकीकरण और सहभागिता की प्रक्रिया में उपनिवेशी शक्तियों के सहायक रहे, वह पश्चिमी संभ्रांत वर्ग की नक़ल करते रहे, यूरोपीय शिक्षा पाकर वो निम्न–प्रसाशनिक पदों पर काम करते रहे और अपनी बड़ी हुई हैसियत से खुश थे।बहुत से सुधारवादी नवीन शिक्षा पाकर यूरोपियों के साथ काम करके स्वायत्ता चाहते थे। सुधारवादी मंशा वाले अधिकांश पढ़े–लिखे व्यक्ति अच्छी आय के साथ अच्छा जीवन चाहते थे,वो इसलिए अपने लिए यूरोपियो से भी सम्मान तथा समान आचरण की अपेक्षा करते थे।यह लोग निम्न वर्गों के प्रति संवेदनशील नहीं थे, इसलिये उनके सुधारवादी तरीकों से निम्नवर्ग को लाभ नहीं पहुँचने वाला था और ना ही वर्ग आधारित समाज बदलने वाला था। जन साधारण को शिक्षा, रोज़गार, और राजनैतिक प्रतिनिधित्व का अवसर भेदभाव से लिप्त मिलाथा, जिसके चलते जन आक्रोश बढ़ता गया।

वहीं दूसरा वर्ग पश्चिमी शिक्षा लेकर भी यूरोपीय देशों का विरोध करना चाहताथा। वह दमनकारी उपनिवेशी शक्तियों को किसी भी प्रकार की सहभागिता के पक्षधर नहीं थे। यहाँ बीसवीं सदी के शुरुआती वर्षों में साम्यवाद का उदय हुआजिसका उद्देश्य औपनिवेशिक शक्तियों को जड़ से उखाड़ फेंकना था ।

1905 ई० में जापान की रूस पर विजय ने दक्षिण पूर्व एशिया के राष्ट्रों में नया विश्वास भर दिया जापान उनके लिए एक नायक के रूप में उबरा और यहाँ के राष्ट्रवादी नेताओं का गढ़ बना। सांस्कृतिक, धार्मिक पहचान के भाव का भी उपनिवेशी शक्तियों के विरुद्ध प्रभाव सामने आया; फिलीपींस में फ्रिअर्स स्पैनिश सत्ता का प्रतिनिधित्व करता था तथा धर्मनिरपेक्ष पादरी मूल निवासियों के समर्थन में थे, बर्मा,कम्बोडिया और लाओस में थेरावादी बुद्धिस्ट संघ औपनिवेशिक शक्तियों के प्रतिरोध के केंद्र बने । इंडोनेशिया, मलेशिया तथा दक्षिणी फिलीपींस में मुस्लिम उलेमा वर्ग ने औपनिवेशिक शक्ति के विरोध में समर्थन बढ़ाने का काम किया।

3.4.2 इंडोनेशिया स्वतंत्रता आंदोलन

बीसवीं सदी में इंडोनेशिया मेंभी राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन आरंभ हुआ। आधुनिक शिक्षा प्राप्त इण्डोनेशियाई अपने देश में समानता, स्वतंत्रता और उदारवाद चाहते थे, 1908 ई० में 'बुदी उतोमो' नामक पहली राष्ट्रीय संस्था की स्थापना की गई, जिसका उद्देश्य इंडोनेशिया में राष्ट्रीय स्तर पर स्कूलों की स्थापना करना था।वहीं1911 ई० में व्यापारिक हितों को प्रोत्साहन देने, आर्थिक सहयोग

बढ़ाने के लिए शरीयत नामक संस्था का गठन हुआ। यह संस्था संवैधानिक माध्यम से स्वायत्त शासन स्थापित करना चाहती थी। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान उपनिवेश बने देशों की तरह यहाँ भी राष्ट्रवादी आंदोलन की गति तीव्र हुई।यहाँ कई विद्रोह हुए, 1920 ई० में डच शासन के खिलाफ़ जावा और सुमात्रा मे विद्रोह आरंभ हुआ।

डच सरकार ने 1927 ई० में साम्यवादियों द्वारा आयोजित राजद्रोह को कठोरतापूर्वक दबा दिया।इसी वर्ष डॉसुकर्नो के नेतृत्व में एक इंडोनेशिया राष्ट्रीय पार्टी का गठन किया गया, हालांकि इसे 1945 ई० तक संगठन के रूप में मान्यता नहीं दी गई। दूसरे विश्व युद्ध के पहले से ही डच सरकार पर भरी दबाव था कि वो सरकार इंडोनेशिया के लोगों की मर्ज़ी पूछें। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान जापान के डच शासन से इस देश को मुक्त कर दिया, वहां जापान का सैनिक शासन हो गया, लेकिन दूसरे विश्व युद्ध में जैसे ही जापान की हार हुई, तो उसके बाद मित्र सेनाओं के कब्जे में आये हुए क्षेत्रों को डच सरकार को दे दिया गया। किन्तु जावा, मदुरा और सुमात्रा द्वीपों पर इंडोनेशियन रिपब्लिक का शासन चलता रहा।

25 मार्च 1947 ई० को इंडोनेशिया तथा डच सरकार के मध्य समझौता हुआजिसको लिंगायती समझौता कहते हैं। इस समझौते के अनुसार रिपब्लिक सरकार के अधीन क्षेत्रों को इन्डोनेशियाई रिपब्लिक के रूप में मान्यता प्राप्त होगी। दक्षिणपूर्व के जो डच अधीन क्षेत्र थे उनको भी इन्डोनेशियाई रिपब्लिक के साथ मिलाकर इंडोनेशिया का स्वतंत्र राज्य संघ बनाया गया। और 1 जनवरी 1949 ई० तक डच और मित्र राष्ट्रों की सेनाएँ हटाने की योजना थी।हालांकि 1947 ई० में डच और इन्डोनेशियाई रिपब्लिक के बीच फिर से टकराव हो गया, डच सेना ने सुकर्नो सरकार को हराकर जावा, सुमात्रा और मदुरा पर कब्जा करने की कोशिश की। सयुंक्त राष्ट्र संघ के माध्यम से विश्व स्थर पर बढ़ते दबाब के कारण साम्राज्यवादी डचशक्ति ठीली पड़ी।अंततः 'हेग सम्मेलन' में इंडोनेशिया को राज्य संघ माना गया और इन्डोनेशियाई रिपब्लिक को नियंत्रण के अधिकार दिए गए। डच और इंडोनेशिया दोनों को समान अधिकार और लोकतांत्रिक सरकार चलाने का अधिकार दिया गया।27 दिसम्बर 1949 ई० को डचों ने इन्डोनेशियाई सयुंक्त राज्य को सत्ता का हस्तांतरण कर दिया और 1963 ई० में पश्चिमी न्यूगिनी के विलय के बाद इंडोनेशिया के समस्त क्षेत्रों से डच प्रभुत्व ख़त्म हो गया।

3.4.3 वियतनाम में साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन

वियतनाम में राष्ट्रीयता का उदय बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही हो गया था। 1904–1905 ई० में जब जापान ने रूस को हरा दिया था, तो उसका प्रभाव अन्य एशियाई देशों की तरह वियतनाम पर भी पड़ा था।हनोई विश्वविद्यालय बंद करने की बात हो या पहले विश्व युद्ध के दौरान अन्नम वासियों को मजदूरों और सैनिक के रूप में उपयोग करने की बात हो, यहाँ के लोगों में फ्रांस के नकारात्मक शासन के प्रति आक्रोस बढता गया। लोगों में अपने देश के लिए कुछ कर गुजरने की इच्छाएं मजबूत होती गयी।फ़्रांसिसी क्रांति के उदार विचार,सिद्धांत और पश्चिमी दार्शनिकों का भी बुद्धिजीवी वर्ग पर गहरा प्रभाव हुआ था।

3.4.3.1 स्कूलों में प्रतिरोध

जैसा की हम जानते हैंकि अन्य साम्राज्यवादी राष्ट्रों की तरह फ़्रांसिसी सरकार ने वियतनाम के स्कूलों के पाठ्यक्रम को अपने अनुकूल बनाकर अपने शासन को सही साबित करने का प्रयास किया था। लेकिन शिक्षकों और छात्रों ने अंधे होकर पाठ्यक्रम को नहीं अपनाया बल्कि कई बार यहाँ सीधे विरोध भी देखने को मिलते हैं। 1920 ई० में साइगॉन नेटिव गर्ल्स स्कूल में ऐसा ही हुआ, जब एक स्थानीय लड़की ने फ्रांसिस विद्यार्थी के लिए आगे की अपनी सीट छोड़ने से मना कर दिया तो वहां बवाल हो गया, कई विद्यार्थियों ने उसका साथ दिया, जितने भी विद्यार्थी इसमें शामिल थे उन्हें भी स्कूल से निकाल दिया गया। बाद में बढ़ते हुए आक्रोश को देखते हुए वियतनामी छात्रों को वापस लिया गया। पढ़े–लिखे छात्रों ने अच्छी नौकरियां पाने के अधिकार के लिए, समाज के प्रति जिम्मेदारी के कारण उपनिवेशी व्यवस्था का विरोध शुरू कर दिया था।1920 ई० से ही छात्र कई राजनीतिक दल बनाने लगे और पाठशालाएं राजनीतिक–सांस्कृतिक संघर्ष के अखाड़ों में तब्दील होने लगीं और वह "अन्नानिस स्टूडेंट" जैसी पत्रिकाएं भी निकालने लगे। 'पार्टी ऑफ़ यंग अन्नान' इसी तरह छात्रों का एक राजनैतिक दल था। पढ़ा–लिखा वर्ग यह भली– भांति समझ गया की उनकी परम्पराओं और राष्ट्रीय पहचान को खतरा है। विद्यार्थी देशभक्ति की भावना से प्रेरित थे, उनको यह आभास था कि शिक्षित लोगों को समाज के भले के लिए कुछ करना चाहिए।

3.4.3.2 जनसाधारण का विद्रोह

होआ हाओ दृ 1939 ई० में शुरू हुआ होआ हाओ एक धार्मिक प्रवृति का आंदोलन था। मेकोंग डेल्टा क्षेत्र में यह बहुत लोकप्रिय रहा। इसके संस्थापक का नाम हुइन्ह फू सो था जो जादू–टोना भी करता था, सदाचार की भावना और गरीबों की मदद करने के कारण वह लोकप्रिय था। उसने स्त्रियों के व्यापार, शराब व अफ़ीम का विरोध किया। फू को पागल घोषित कर फ्रांसीसी सरकार ने आंदोलन को दबाने का प्रयास किया लेकिन वह सफल न हो सके, परन्तु 1941 में उन्हें वियतनाम के बाहर कर लाओस भेज दिया गया और इस आंदोलन को कुचलने के लिए इसके अनुयायियों को यातना शिविर में डाल दिया गया।

फान बोईदृचाऊ (1867–1940 ई०)महत्वपूर्ण राष्ट्रवादी थे। 1903 ई० में उन्होंने दुई तान होई नामक पार्टी का गठन किया था।वह राजवंश के सुधारवादी नेतृत्व की क्षमता पर यकीन रखते थे,लेकिनऐसे ही अन्य राष्ट्रवादी फान चू त्रिन्ह (1871–1926 ई०) राजतंत्र के खिलाफ़ थे। वह एक लोकतान्त्रिक सरकार के पक्षधर थे तथा राजवंश की सहायता लेने के पक्ष में नहीं थे। बीसवीं सदी के पहले दशक में "पूरब की ओर चलें" आंदोलन अच्छी तरह चला। 1907–1908 ई० में लगभग 300 वियतनामी विद्यार्थी आधुनिक शिक्षा प्राप्ति के लिए जापान गए। वे लोग फ्रांस से आजादी पाने के लिए बेताब और बेहद कार्यशील थे। जापान में उन्होंने रेस्टोरेशन सोसाइटी की स्थापना कर ली थी। फरवरी 1930 ई० में हो ची मिन्ह ने राष्ट्रवादी लोगों को एकजुट कर वियतनामी साम्यवादीपार्टी की स्थापना की।

1940 ई० में जापान का कब्ज़ा वियतनाम पर हो गया, अब वियतनामियों को फ्रांस के साथ जापान का भी सामना करना था, जो कभी उनके लिए आदर्श और सहयोगी देश था। (वियत मिन्ह) लीग फॉर दी इंडिपेंडन्स ऑफ़ वियतनाम ने जापानी कब्जे से 1945 ई० में हनोई को आज़ाद करा लिया था।जापान ने अपनी सेना वापस बुला लीं, लेकिन फ्रांस के लिए अब यहाँ अपनी सरकार बनाना संभव ना था। इस अवसर का लाभ उठा कर राष्ट्रवादी देशभक्तों ने हिन्द–चीन की स्वतंत्रता की घोषणा कर दी।इसके बाद वियतनाम लोकत्रांत्रिक गणराज्य की स्थापना की गयी। नए गणराज्य का फ्रांस के साथ आठ वर्ष तक संघर्ष हुआ। बाद में विएन फू के मोर्चे पर फ्रांस को मुंह की खानी पड़ी।

'वियेत मिन्ह' सेना ने फ़्रांसीसी एक्सपीडिशनिरी कोर के बहुत सारे सैनिकों को मार गिराया और हजारों को कैद कर लिया। फ्रांसीसियों की हार के बाद, जिनेवा शान्ति वार्ता के चलते वियतनाम का उत्तर एवं दक्षिण वियतनाम में बाँट दिया गया। उत्तर में हो ची मिन्ह और साम्यवादियों की सत्ता बन गयी थी। दक्षिण में अब भी फ्रांसीसी बाओदाई की सत्ता बनी रही। उत्तरी वियतनाम में हो ची मिन्ह के नेतृत्व वाली सरकार की सहायता से एन.एल.एफ ने देश के एकीकरण के लिए आवाज़ उठाई।

3.4.3.3 अमेरिका द्वारा साम्यवादी वियतनाम के दमन का प्रयास

वियतनाम के समाजवादी होने के भय से अमेरिका ने वियतनाम में हस्तक्षेप करना आरंभ कर दिया। अमेरिका ने लगभग 35 लाख सैनिक वियतनाम में भेजें। जिसमें लगभग 47 हज़ार सैनिकों की मृत्यु हो गयी और 3 लाख घायल हो गए। अमेरिका पूरे दम से वियतनाम पर टूट पड़ा था। रसायनिक हथियारों का बेतहाशा इस्तेमाल किया गया, जिसके चलते गाँव और जंगल नष्ट हो गए। एक अनुमान के अनुसार अमेरिका ने वियतनाम में बमों और रसायनिक हथियारों का प्रयोग इतनी संख्या में किया था जितने हथियारों का इस्तेमाल दूसरे विश्व युद्ध में भी नहीं हुआ था।अमेरिका ने हद पार कर युद्ध में रसायनिक तत्वों का भी प्रयोग किया वह वियतनाम को किसी भी कीमत पर जीतना चाहता था। अमेरिका में विकसित 'नापाम' नामक एक आर्गेनिक कंपाउंड को इस युद्ध के दौरान अग्नि बमों के लिए, गैसोलीन फूलने के उपयोग में लाया गया था।इसी तरह 1961–1971 ई० में 'एजेंट ऑरेंज' नामक घातक रसायन का उपयोगजंगलों पेड़–पौधों को झाड़ने के लिए किया गया, ताकि वियतनामी सेना को ढूँढा जा सके। इस रसायन के उपयोग से बहूत से खेत बंजर हो गये, ऐसे रसायनों के उपयोग से वियतनाम में कैंसर और अनुवांशिक विकलांगता जैसे दुष्प्रभाव भी पैदा हो गए।

हो ची मिन्ह भूल भुलैया मार्ग से होते हुए अमेरिका से लोहा लेते हुए वियतनामी सैनिक दक्षिण वियतनाम को जाते थे, इश मार्ग की सप्लाई लाइन काटने के लिए अमेरिका ने वियतनाम पर भारी बमबारी की, लेकिनफिर भी वह उनकी रसद, सैनिक और चिकित्सा सुविधाओं और बंदोबस्त को नहीं रोक पाए।जनसाधारण ने भी इसमें एहम भूमिका निभाई, बिना किसी वेतन के लोग दिन रात सैनिकों को सहायता देते रहे, वह हर बार टूटे हुए मार्ग की मरम्मत तुरंत कर देते जिसके चलते यातायात सुचारू रहता था।अमेरिका का घोर विरोध हो रहा था, और इस युद्ध में वह पूरी तरह से

विफल रहा था।अमेरिका की सरकारी नीति के खिलाफ़ बड़े पैमाने पर विरोध ने इस युद्ध को ख़त्म करने की कोशिशों को और तीव्र कर दिया था, 1974 की पेरिस शांति समझौते के बाद यह युद्ध ख़त्म हुआ, और 30 अप्रैल 1975 को एनएलएफ ने राष्ट्रपति के महल को अपने कब्ज़े में लेलिया, और वियतनाम का एकीकरण कर उसे एक राष्ट्र बना दिया।

अभ्यास एवं बोध–प्रश्न

प्र(1) निम्नलिखित तथ्यों का सही मिलान करें।
(क)1941 ई० दृ (1) स्कॉलर्स रिवोल्ट
(ख)1868 ई० दृ (2)लिंगायती समझौता
(ग)1947ई० – (3) वियेत–मिन्ह संगठन
(घ) 1927 ई०दृ (4) इंडोनेशिया राष्ट्रीय पार्टी का गठन
प्र(2) जापान ने कब और किसके सामने 21 मांगे रखी थी?
प्र(3) सोसाइटी ऑफ़ दी राईटीयस एंड हर्मोनियस फिस्ट नमक खुफ़िया संगठन किस विद्रोह में शामिल था?
प्र(4) रिक्त स्थानों को भरें–
(क) अक्टूबर ––––––में ऐतिहासिक श्लम्बे अभियानश की शुरुआत की गयी।
(ख) 11 जनवरी 1943 ई० को अमेरिका और ब्रिटेन ने एक संधि कर––––––की नीति का चीन में अंत कर दिया गया।

3.5 सारांश

जैसा की हमने समझा एशियाई देशों ने औपनिवेशिक व साम्राज्यवादी शक्तियों के दमन के खिलाफ़ प्रतिक्रियात्मक विरोध उपद्रव और बाद में सुनियोजित आंदोलन एवं राजनैतिक दलों का निर्माण कर न सिर्फ राजशाही से आज़ादी प्राप्त की बल्कि अपने देशों में गणतांत्रिक संवैधानिक सरकारें बनायीं। हमने यह भी समझा की कैसे बुद्धिजीवी वर्ग, विधार्थियों एवं कुलीन वर्ग ने आधुनिक शिक्षा प्राप्त कर अपने देश में नयी क्रांतियों एवं आंदोलनों को संचालित किया था। राष्ट्रवाद की भावना ने लोगों को संगठित रखा और अपनी पहचान बनाये रखने के संघर्षभी किया। हमने देखा की कैसे साम्यवाद ने साम्राज्यवादी शक्तियों का मुकाबला कर जन संगर्ष किया। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद से ही शीत युद्ध के दौरान साम्यवाद और पूंजीवादी विचारधारा के बीच के राजनैतिक और आर्थिक टकराव ने एशियाई देशों को युद्ध जैसे हालातों में झोंक रखा था।

3.6 विशेष शब्दावली

कोओमिंगतांगः चीन का राष्ट्रवादी, क्रांतिकारी दल जिसको राजनैतिक लोकतंत्र और समाजवाद की स्थापना के लिए मुख्य रूप से सनयात–सेन ने संगठित किया था। मूलतः 1895 ई० में इसकी स्थापना हुई थी, 1926–27 ई० में लगभग सम्पूर्ण चीन में इसका वर्चस्व था। 1925 ई० के बाद च्यांग कई–शेक के हाथों में इस संगठन की डोर आ गई थी। 1949 ई० में चीन की भूमि से हटकर यह ताइवान में ही सीमित रह गया था।

एक्स्ट्रा–टेरीटोरिऐलिटीः चीन ने (विशेषकर पश्चिमी) साम्राज्यवादी शक्तियों को अपने देश में उनपर उन्हीं के न्याय व्यवस्था के आधार पर कानूनी प्रक्रिया करने की संधि की थी, चाहे वह स्थानीय क्षेत्राधिकार के प्रतिकूल ही क्यों ना हो। इन राष्ट्रों के जहाजों और सेनाओं को चीन में आने जाने की खुली छूट थी। एक राष्ट्र या राज्य जब दूसरे राष्ट्र या राज्य को अपनी भूमि पर इस तरह की कानूनी रियायतें देता है, तो उसे एक्स्ट्रा–टेरीटोरिऐलिटी कहते हैं।

साम्यवादः यह एक तरह की विचारधारा है, जो समाजवाद का ही एक रूप है। इसके अंतर्गत सभी संसाधनों का राष्ट्रीकरण करके सरकार किसी व्यक्तिविशेष, समूह विशेष के लिए नहीं बल्कि देश के लिए उत्पादन, एकत्रीकरण और वितरण करती है और ऐसी सरकार को साम्यवादी सरकार कहते हैं। यह पूंजीवाद के विरुद्ध उसी की तरह ही सिर्फ राजनैतिक न होकर एक बहुआयामी व्यवस्था है। इसके अंतर्गत एक साम्यवादी राजनैतिक दल के पास ही सत्ता रहती है।

'वियेतमिन्ह': 19 मई 1941ई० में बनी लीग फॉर दा इंडिपेंडेंस ऑफ़ वियतनाम एक गठजोड़ संगठन था। यह एक सयुंक्त मोर्चा था, जिसमे सभी राजनीतिक विचारों वाले लोग थे। जो फ्रांस का विरोध करने के लिए तत्पर थे। जापान ने जब वियतनाम पर कब्ज़ा किया तो चीन और अमेरिका की सहायता से यह उसके विरुद्ध भी कार्रवाई करने लगी। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद यह फ्रांस और अमेरिका का भी विरोध करती रही।

होचीमिन्हः वियतनामी राष्ट्रीय आन्दोलन का एक सफल नायक जिसने तीन दशकों तक वियतनाम का नेतृत्व किया। उसने 1930 ई० में वियतनाम में इंडो–चाइना साम्यवादी दल बनाया था और बाद में 1941 ई. में वियेत–मिन्ह नामक संगठन शुरू किया।वह 1945–1969 ई० तक उत्तरी वियतनाम की गणतांत्रिक सरकार का राष्ट्रपति भी रहा।

शीतयुद्धःसोवियत संघ के नेतृत्व में साम्यवादी खेमे (वारसासंधि) और सयुंक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व में पूंजीवादी खेमे (नाटो) के बीच बिना किसी प्रत्यक्ष युद्ध के दूसरे विश्वयुद्ध के बाद से शक्ति के लिए जो संघर्ष चलता रहा उसे शीत युद्ध की संज्ञा दी गयी।

3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उ.1 क–(3), ख–(1), ग–(2), घ– (4)

उ.21915 ई० में जापान ने चीन शासक युआनशी–काई के सामने 21 कठोर मांगे रखी थी,यह मांगे पांच भागों में विभाजित थी।

उ.3 1900–1901ई. बॉक्सर विद्रोह।

उ.4 (क)1934 ई०(ख) 'एक्स्ट्रा–टेरीटोरिऐलिटी'।

3.8 अध्ययन सामग्री

जैन, हुकुम चंद, माथुर,कृष्ण चंद.आधुनिक विश्व का इतिहास, (1500–2000 ई.), पन्द्र्हवां संस्करण, जैन प्रकाशन मंदिर,जयपुर, 2010,चच.532–558,728–744.

दसवीं कक्षा की इतिहास की किताब,भारत और समकालीन विश्व, इंडो–चाइना में राष्ट्रवादी आंदोलन, अध्य्य 2, चच.32–48.

Perkins, Dorothy.Encyclopedia of China: The Essential ReferenceTo China Its History And Culture, Fitzroy Dearborn Publisher, London, 1999, pp.41-42, 67-81, 310-316, 319, 343-346,533-537.
Fairbank,John K. (et al).East Asia: Modern Transformation, Boston: Houghton Mifflin, 1965,pp.876-929.
Bianco,Lucien.Origins of the Chinese Revolution, 1915-1949, Stanford: Stanford University Press, 1971, pp23-41,63-80.

3.9 प्रस्तावित अध्ययन सामग्री

पाण्डेय, धनपति.आधुनिक एशिया का इतिहास,प्रकाशक, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, 2005.
Jansen, M.B. Japan and China: From War To Peace, 1894 – 1972.
Ricklefs, M.C. A Modern History Of Indonesia, 2nd edition. MacMillan. 1991.

3.10 निबंधात्मक प्रश्न

प्र(1) चीन के प्रमुख राजनैतिक दलों पर संक्षिप्त टिप्पणी करें?
प्र(2) वियतनाम में साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलोनों की चर्चा करें?

इकाई 4 अरब राष्ट्रवाद और दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद विरोधी आन्दोलन

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 अरब राष्ट्रवाद
4.3.1 पृष्ठभूमि
4.3.2 अरब राष्ट्रीयता
4.3.3 मस्र में राष्ट्रवाद
4.3.4 अरब लीग
4.4 दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद विरोधी आन्दोलन
4.4.1 पृष्ठभूमि
4.4.2 प्रारंभिक प्रतिकार
4.4.3 दिन प्रति–दिन के प्रतिरोध और रंग भेद विरोधी आंदोलन
4.4.4 दक्षिण अफ्रीका के समाज और राजनीती में बदलाव
4.4.5 रंग भेद का अंत और अश्वेत सरकार
4.5 सारांश
4.6 वशेष शब्दावली
4.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.8 अध्ययन सामग्री
4.9 प्रस्तावित अध्ययन सामग्री
4.10 निबंधात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

पिछली इकाईयों में हमने साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की चर्चा की, साथ ही हमने चीन, जापान दक्षिण पूर्व एशिया और दक्षिण अमेरिका पर इसके प्रभाव को जानने का प्रयास किया था। हम ने जाना की कैसे इन जगहों में राष्ट्रवाद की भावना का विकास हुआ तथा कैसे यह देश आज़ाद हुए, हमने यह भी जाना की कैसे शीत युद्ध के काल से ही सारे विश्व को अमेरिका और सोवियत रूस की खेमेबाजी का हर्जाना भरना पड़ा।अरब राष्ट्रों और अफ्रीका को भी पश्चिमी साम्राज्यवाद ने अपने कब्ज़े में कर लिया था और यहाँ भी जन साधारण को एक होकर इन औपनिवेशिक/ साम्राज्यवादीशक्तियोंसेमुकाबला करना पड़ा। इस इकाई में हम अरब और अफ्रीकामें इन सभी व्यवस्थाओं और बदलावों के स्वरुप को समझेंगे।

4.2 उद्देश्य

- हम अरब राष्ट्रवाद के मूलभूत चरित्र को समझ सकेंगे।
- पश्चिमी देशों के अरब राष्ट्रों में हस्तक्षेप का आंकलन कर पाएंगे।
- अरब राष्ट्रवाद के विकास में तुर्की और मिस्र के शासक वर्ग की भूमिका पर चर्चा कर सकेंगे।
- हम दक्षिण अफ्रीका की रंग–भेद नीति के मूल कारणों की समझ बना पाएंगे।
- हम प्रभावशाली लोक नायकों की भूमिका को समझ सकेंगे।
- हम दक्षिण अफ्रीका में अश्वेतों के राजनैतिक विकास को समझ पाएंगे।

4.3 अरब राष्ट्रवाद

4.3.1 पृष्ठभूमि

अरब राष्ट्रवाद के अंतर्गत मुख्यतरू हम मिडिल ईस्ट या पश्चिमी एशिया में आने वाले देशों के इतिहास पर नज़र डालेंगे।पश्चिमी एशिया के देशों में तुर्की, फिलिस्तीन, ट्रांस जोर्डन, सीरिया, सऊदी अरब, ईरान, लेबनान और मिस्र को गीना जा सकता है। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरु ने इन प्रदेशों को पश्चिमी एशिया नाम दिया था।पश्चिमी एशिया के यह सूखे प्रदेश पांच समुद्र तटों पर स्थित है; भूमध्यसागर, काला सागर, कैस्पियन सागर, लाल सागर, और फारस की खाड़ी। पेट्रोलियम पदार्थों से लबालब यह क्षेत्र विश्व के शक्तिशाली देशों को हमेशा अपने तेल भंडार के चलते अखरता रहा है, साथ ही यह बड़े महत्वपूर्ण व्यापारिक मार्ग तथा बड़े महाद्वीपों के संपर्क का केंद्र बिंदु भी रहा है।

पश्चिमी एशिया के इतिहास में झांके तो हम जान पाएंगे की अरब संस्कृति का उदय सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में हुआ। छोटे–छोटे कबीलों वाला यह अरब प्रदेश धीरे–धीरे मध्यकालीन विश्व का एक विशाल साम्राज्य बन गया था।माना जाता है की अरब साम्राज्य की विशालतापूर्व में सिंध नदी और चीन की सीमा से शुरू होकर पश्चिम में जिब्राल्टर और पेरिनिज़ की पर्वत माला तक थी।इन राज्यों के आपस में संगठित होने के दो महत्वपूर्ण पहलू– इस्लाम धर्म और अरबी भाषा समझे जा सकते हैं, जहाँ तक अरबी भाषा का सवाल है, यह सेमेटिक भाषा में सर्वाधिक विकसित, कुरान और सुन्नी धर्मग्रंथो का आधार थी। शुरू में कई राज्यों की अधिकारिक भाषा अरबीथी।इसके बाद फारसी, तुर्की भाषाओँ की लिपि भी अरबी के आधार पर विकसित हुई ।अरब राष्ट्र के अधीन किसी एक ही भाषा या संस्कृति के लोग नहीं थे। इनमें इराकी, सीरिया, लेबनानी, मिस्र आदि मूल के लोग थे, लेकिन सभी मूलतः अरबी ही थे। प्रो० एच. आर गिब का मानना है किकृ "मुहम्मद के विचारों से प्रेरणा पाने वाले सभी लोग जिन्हें अरबों के साम्राज्य की स्मृति, अरबी भाषा और सांस्कृतिक विरासत एक सूत्र में बंधे हुए हैं, अरबी हैं।"

4.3.2 अरब राष्ट्रीयता

सभी अरब प्रदेश जो धीरे–धीरे तुर्क साम्राज्य के अंतर्गत आ गए थे, उनमें अरब लोगों कीही बहुतायत थी। जैसा की हमने पाया की पश्चिमी देशों के संपर्क के बाद कई देशों में राष्ट्रवाद की

भावना ने जनम लिया था ठीक उसी प्रकार नई शिक्षा नीति व नवजागरण के कारण अरब प्रदेश में यह विचार आने लगे कि अरबों को तुर्क सुल्तान की अधीनता से मुक्त होकर राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करनी चाहिए।19वीं शताब्दी के मध्य तकयह विचार ज़ोर पकड़ने लगा था की, जिन लोगों की भाषा अरबी है, वे सब अरब राष्ट्रीयता के अंग हैं। सर्वप्रथम यह विचार सीरिया एवं लेबनान के लोगों के मन में आया, जहाँ फ़्रांसिसी एवं अमेरिकन लोगों ने दो विश्वविद्यालय स्थापित किये थे। यहाँ पाश्चात्य विचारों से प्रभावित होकर नवयुवक यह अनुभव करने लगे थे कि– प्राचीन काल में अरब लोगों ने सभ्यता और ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में असाधारण उन्नति की थी; और इसलिए वे इतने विस्तृत क्षेत्र में अपना साम्राज्य स्थापित करने में समर्थ हुए थे। ये नवयुवक तुर्क साम्राज्य की अधीनता के साथ साथ फ़्रांस, ब्रिटेन आदि युरोपीय देशों,जिनका अरब प्रदेशों पर प्रभुत्व स्थापित हो गया था, उन सब से मुक्त होकर अपने स्वतंत्र राष्ट्र की स्थापना करना चाहते थे। स्वतंत्र होने के लिए सभी अरब राज्यों को पूर्णतःसंगठित होने की आवश्यकता थी।

अरब जगत में कई आन्दोलन हुए, जिनमें वहाबी आन्दोलन, अखिल इस्लामवादी आन्दोलन, अखिल अरबवादी आन्दोलन प्रमुख हैं। इन आंदोलनों ने जहाँ एक ओर इस्लाम धर्म को शक्ति प्रदान की वहीं दूसरी ओर विदेशियों के विरुद्ध संगठित होने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। राष्ट्रीयता की इस भावना ने सामाजिक आर्थिक सुधारों पर भी बल दिया।सुल्तान हामिद द्वितीय ने अखिल इस्लामवादी आन्दोलन के चलते बहुत प्रयास किये, उनका मानना था कि इस्लाम की शक्ति को संगठित कर लिया जाये ताकि यूरोपीय शक्तियां तुर्की में हस्तक्षेप न कर सकें। वहीँ इस दौरान तुर्की का खलीफा भी विश्व के मुसलमानों का धर्म गुरु बनना चाहता था। उसने इस्लाम के प्रचार एवं उसकी रक्षा के लिए अनेक अरब लोगों को अपने दरबार में आश्रय भी दिया। इस्लाम के प्रचार में अब्दुल हुदा ने तुर्की के सुल्तान को ही खलीफा मानने पर बल दिया। लेकिन सुल्तान हामिद द्वितीय के प्रयास सफल नहीं हो सके क्योंकि उसके साम्राज्य में अनेक जातियां निवास करती थीं, तथा भौगोलिक बाधाएं भी उन्हें एकसूत्र में बांधने में बाधक थी।

अरबों की राष्ट्रीयता की भावना को फैलाने में इसाईपादरियों एवं पश्चिमी राष्ट्रों ने भी प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप में भूमिका निभाई थी। वास्तव में पश्चिमी राष्ट्र अरब लोगों की श्रेष्ठता सिद्ध करके तुर्की साम्राज्य का विघटन चाहते थे, जिससे अरब देशों से उनका सीधा संपर्क स्थापित हो सके। इन पादरियों ने अरब इतिहास एवं साहित्य को बढ़ावा देने का प्रयास किया, तथा उन्होंने अरबी लिपि का पहला छापाखाना भी खड़ा कर दिया। हम यह समझ सकते हैं कि राष्ट्रीयता के ये विचार अधिकतर केवल शिक्षित लोगों तक ही सीमित थे। पश्चिमी एशिया के इन देशों ने अपने शोषण का ज़बरदस्त विरोध किया, और उनके विरुद्ध उग्र आन्दोलन हुए। इन आंदोलनों में जहाँ वहाबी आन्दोलन इस्लाम के शुद्ध रूप को बनाये रखने उसकी रक्षा के लिए चलाया गया, वहां अखिल इस्लामी आन्दोलन राजनैतिक उद्देश्य से प्रेरित था, और अखिल अरबवादी आन्दोलन से राष्ट्रीयता की भावना का संचार एवं अरब जगत को जागृत करने का प्रयास किया। मिस्र में (Ihmad Urabi Pasha al Misri)अरबी पाशा के नेतृत्व में एक विद्रोह हुआ, जिसका उद्देश्य ब्रिटेन तथा फ़्रांस के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकना था।इससे मिस्र में भी राष्ट्रीयता का विकास हुआ।

4.3.3 मिस्र में राष्ट्रवाद

मिस्र अफ्रीका के उत्तर पश्चिम में नील नदी के तट पर एक छोटा–सा देश है। यह देश अपनी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति के चलते अनेक प्रमुख देशों के निशाने पर रहा, वह इस पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की कोशिश करते रहे। असल में स्वेज नहर का जलमार्ग यूरोप को दक्षिण–पूर्वी एशिया, आस्ट्रेलिया, अमेरिका तथा अफ्रीका से जोड़ता है, इस वजह से यह कई दशकों से पश्चिमी एशिया में राजनीति का केंद्र बन गया था। 1798 ई० में नेपोलियन ने भी मिस्र पर अधिकार करना चाहा था, लेकिन 1802 ई० में आमियाँ की संधि के फलस्वरूप यह पुनः आटोमन साम्राज्य में मिला लिया गया था। नेपोलियन के आक्रमण के बाद मिस्र में आधुनिकीकरण तेज़ी से आरम्भ होने लगा; क्योंकि वह अपने साथ बहुत से दार्शनिक, एवं विद्वानों को लेकर आया था जिनसे मिस्र की जनता बहुत प्रभावित हुई। नेपोलियन के अधिपत्य का अंत करने के बाद तुर्की सेनापति मेहमत अली ने मिस्र की सत्ता अपने अधीन कर ली तथा उसने तुर्की शासन से भी मान्यता प्राप्त कर ली थी। मेहमत अली ने समय की मांग को समझा और वहां प्रत्येक क्षेत्र में सुधार के नवीन प्रयास आरम्भ किये। शासन में भृष्टाचार की रोक थाम कर अनुशासित, शक्तिशाली सेना खड़ी की तथा साथ ही भूमि एवं संपत्ति सम्बंधी सुधार, कृषि एवं सिंचाई की उचित बंदोबस्त, शिक्षा के क्षेत्र में सुधार, वाणिज्य एवं व्यापार सुधार, राज्य विस्तार एवं प्रशासकीय सम्बन्धी सुधार पर जोर दिया।मेहमत अली ने देशव्यापी सुधार कर मिस्र को इतना शक्तिशाली बना दिया कि तुर्की का सुल्तान भी उससे सहायता की उम्मीद करने लगा।

सईद पाशा (1854ई०–1863ई०) में मेहमत अली के बाद उसके उत्तराधिकारियों में प्रमुख था, उसने अपने समय का सबसे जरुरी काम स्वेज नहर का निर्माण करवाया था, उसी समय ही मिस्र में रेल निर्माण भी हुआ। इतिहास में रूचि होने के कारण उसने प्राचीन इमारतों की सुरक्षा हेतु अनेक प्रबंध किये। इन कार्यों के लिए 32,92,800 पौंड 8ः ब्याज पर ऋण लिया गया था, लेकिन इसे चुकाने का कोई प्रबंध नहीं हुआ था, जिससे उसकी मृत्यु के बाद 1875 ई० तक मिस्र पर करीब 10 करोंड़ पौंड ब्रिटिश ऋण हो गया। जल्द ही मिस्र के हालत भी बिगड़ने लगे और सम्पूर्ण प्रशासन पर विदेशी कब्ज़ा होने लगा। फ़रांस तथा इंग्लैंड के द्वैध शासन से मिस्र की आर्थिक स्थिति बहुत बिगड़ गयी थी। अमीर लोगों पर टैक्स बढ़ गए थे, सैनिकों को कई माह से वेतन नहीं मिले थे, जिससे देश में असंतोष पैदा हो गयाथाऔर यह जन असंतोष अरबी आन्दोलन के रूप में सामने आया। यह आन्दोलन अरब के वहाबी आन्दोलन, अखिल इस्लामवादी आन्दोलन तथा अखिल अरबवाद से प्रेरित था। मिस्र का यह विद्रोह जिसमें प्रथम राष्ट्रीय आन्दोलन की नींव रखी गयी, इसने धीरे–धीरे मिस्र में राष्ट्रीय चेतना के विकास को राजनैतिक रूप दिया।

प्रथम विश्व युद्ध के चलते तुर्की साम्राज्य का अंत हुआ, और गैर तुर्की प्रदेशों को तुर्की की अधीनता से मुक्ति मिली। प्रथम विश्व युद्ध में तुर्की की असफलता का श्रेय भी मिस्र को ही जाता है, क्योंकि यूरोपीय देशों ने अरब राष्ट्रीयता का समर्थन कर उन्हें तुर्की के खिलाफ उपयोग किया। उसके बाद अंग्रेजों ने मिस्र के संसाधनों का दुरूपयोग करना शुरू किया, जिससे वहां के लोगों में असंतोष फैलने लगा और पुनः राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू हो गया; जिसका उद्देश्य अब देश को इंग्लैंड

से मुक्त करना था। 1936 ई०में लन्दन की संधि के बाद मिस्र को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हुई, लेकिन फिर भी वहां विदेशी सेनायें रह गयीं। 1939 ई० में द्वितीय विश्व युद्ध के आरम्भ होने पर ब्रिटेन ने मिस्र पर पुनः कब्ज़ा करना शुरू कर दिया और फिर से वहां के लोगों को युद्ध में शामिल किया जाने लगा। जुलाई 1947 ई० में मिस्र की सुरक्षा परिषद् के माध्यम से ब्रिटिश शासन का अंत करना चाहा, लेकिनवे असफल रहे। अतः 1949 ई० में मिस्र के प्रधानमंत्री नहस पाशा के द्वारा 1936 ई० की संधि को रद्द कर दिया गया। अंग्रेज़ो ने प्रतिक्रिया में उसे उसके पद से हटवा दिया। अंततः जनरल मुहम्मद नगीब और गमाल अब्देल नासिर के नेतृत्व में 26 जुलाई 1952 ई० को मिस्र में सैनिक क्रांति हुई, और वहां गणतंत्र स्थापित किया गया।

गमाल अब्देल नासिर ने अपने शासन के दौरान स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण करवाया, जिससे स्वेज नहर पर मिस्र का पूरा अधिकार हो गया। नासिर ने विदेशी नीति के सम्बन्ध में भी महत्वपूर्ण कार्य किये, उसने अरब लोगों की बढ़ती हुई राष्ट्रीयता की भावना से प्रभावित एवं प्रेरित होकर अरब राज्यों को एक सूत्र में बांधने एवं संगठित करने का प्रयास किया। 1955 ई० में इराक एवं तुर्की के मध्य बगदाद पैक्ट हुआ, जोकि मूलतः रूस के विरुद्ध था। नासिर ने इस पैक्ट के प्रति तटस्थता की नीति अपनाई। सउदी अरब और यमन ने बगदाद पैक्ट का विरोध किया। बदलते राजनैतिक हालातों में मिस्र का नया नाम संयुक्त अरब गणराज्य रखा गया। इसमें 1958 ई० में यमन एवं सीरिया भी जुड़े थे , लेकिन 1961 ई० में इन देशों ने अपने सम्बन्ध तोड़ भी लिया।

जिस तरह भारत, चीन और अन्य दक्षिण पूर्व एशियाई देशों के साथ औपनिवेशिक शक्तियों ने विश्व युद्धों के गंभीर हालातों में समझोते और प्रलोभन भरे वादे किये थे; उसी प्रकार, प्रथम विश्व युद्ध के दौरान अंग्रेजों ने अरबों को तुर्की के विरुद्ध विद्रोह करने को प्रेरित किया, और यह वचन भी दिया कि युद्ध के अंत होने पर उन्हें स्वंतत्र कर दिया जायेगा। औपनिवेशिक शक्तियों ने विश्व युद्ध के बाद भी अपना शासन कायम रखा। सीरिया और लेबनान पर फ़्रांस तथा फिलिस्तीन, ट्रांस्जोर्डन और ईरान पर इंग्लैंड का मेंडेट शासन चलता रहा। इन्होने अरब राज्यों की राष्ट्रीय प्रवृत्तियों को नष्ट करने का कार्य किया। दूसरे विश्व युद्ध के समय मित्र राष्ट्रों को फिर से अरबों का सहयोग चाहिए था। अतः इंग्लैण्ड ने पुनः अरब राष्ट्रों की आज़ादी का समर्थन करना शुरू किया। इससे अरब राज्यों में राष्ट्रीयता की भावना मजबूत होने लगी।अरब राष्ट्रों ने साम्राज्यवादियों को अरब क्षेत्र से बाहर निकालने का संकल्प कर लिया। परिणामस्वरूप परतंत्र अरब राष्ट्र एक एक करके आज़ाद होते गए। सीरिया और लेबनान 1944 ई० में आज़ाद हो गए, जार्डन की आज़ादी को मान्यता ब्रिटेन ने 1946 ई० में दी और लीबिया 1951 ई० में आज़ाद हुआ। युद्धोत्तर काल में अरब राष्ट्रवाद और राजनीतिक स्वतंत्रता के चलते इन राष्ट्रों ने अपनी भूमि से विदेशी सैनिक अड्डों को हटाना शुरू किया, क्योंकि विदेशी सैनिकों का वहां रहना आज़ादी की राह में अड़चन और दासता के प्रतीक के रूप में समझा गया, साथ ही आज़ाद हुए देशों के लिए यह राष्ट्रीय गौरव पर एक कलंक था। इसके अलावा ईरान ने 1953 ई० में एंग्लो–ईरानी तेल कंपनी तथा 26 जुलाई 1956 ई० में मिस्र ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण करके विदेशी अधिपत्य को समाप्त कर दिया।

4.3.4 अरब लीग

अरब राष्ट्रों ने विश्व–मंच पर अपनी बात रखने और आपसी संगठन कायम रखने के लिए प्रयास जरुरी समझे, इसी के चलते अपनी एकता को कायम रखने तथा उसे पूरा करने के उद्देश्य से 22 मार्च 1945 ई० को काहिरा में अरब राष्ट्रों ने संधि पर हस्ताक्षर कर 'अरब लीग' नामक एक संघ का निर्माण किया। शुरआती दौर में इस संघ में सात राज्य सम्मिलित हुएकृ मिस्र, इराक, सीरिया, जॉर्डन, सउदी अरब, यमन और लेबनान। इसके अंतर्गत सभी राज्य प्रभुता संपन्न थे एवं संघ के निर्णय को मानने के लिए वह बाध्य नहीं थे।1956 ई० में लीबिया और सूडान, 1958 ई० में मोरक्को और टयूनीशिया, 1961 ई० में कुवैत तथा 1962 ई० में अल्जीरिया भी इसके सदस्य बन गए। अभी अरब लीग के कुल 22 (देश) सदस्य हैं।

अरब लीग के प्रमुख सिद्धांत इस प्रकार हैं–

1. सदस्य देशों की प्रभुसत्ता और क्षेत्रीय अखण्डता के प्रति सम्मान रखा जाए
2. सभी को विदेशी नीति की स्वाधीनता और समझौतों की स्वतंत्रता होगी
3. अनाक्रमण और विवादों को शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाया जाए
4. सदस्य देश की शासन प्रणाली के प्रति सम्मान रखना
5. सभी सदस्यों में एकता कायम करना

अरब लीग के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

- सदस्य राष्ट्रों के बीच हुए समझौतों को क्रियात्मक रूप देना
- आपसी संबंधों को सुदृढ़ बनाना
- सदस्य राष्ट्रों की स्वाधीनता एवं प्रभुसत्ता की रक्षा करना
- अरब राष्ट्रों से संबद्ध कार्यों पर विचार विमर्श करना
- सामाजिक, आर्थिक एवं परिवहन से जुड़े क्षेत्रों में परस्पर सहयोग करना।

संगठन : अरब लीग का प्रमुख अंग परिषद् है, जिसे मजलिस कहा जाता हैं। इसमें सभी सदस्य देशों के प्रतिनिधि होते हैं, इसकी प्रति वर्ष दो बैठके होती हैं। अरब लीग का सचिवालयकाहिरा में है। यह अरब संघ के विभिन्न कार्यों में तालमेल बैठने का कार्य करता है।
मिस्र के राष्ट्रपति नासिर ने अरब एकता के लिए एक और प्रयास किया, वह यह कि उत्तरी अफ्रीका व पश्चिम एशिया के सभी भाषा–भाषी राज्यों को मिलाकर एक 'अरब संघ' का निर्माण किया जाये। नासिर ने एक बार लिखा भी था, "अरब एकता की आत्मा किसी वीर पुरुष का अवतार पाने के लिए अरब क्षेत्र में भटक रही है और हमें संकेत दे रही है कि हम सक्रिय होकर उसे ग्रहण करें और उसे शरीर प्रदान कर सजीव बनाये। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम जानते हैं की नासिर ने फ़रवरी 1958 ई० में सीरिया व मिस्र को मिलाकर 'संयुक्त अरब गणराज्य' नमक संघ की स्थापना की। इसके शीघ्र बाद इराक व जोर्डन ने मिलकर अरब संघ बनाया लेकिन दोनों ही संघ कुछ दिनों में छिन्न–भिन्न हो गए। जुलाई 1958 ई० में इराकी क्रांति के बाद अरब संघ टूट गया

और सितम्बर,1961 ई० में सीरिया 'संयुक्त अरब गणराज्य' से अलग हो गया क्योंकि 'संयुक्त अरब गणराज्य' में सम्मिलित होने से उसे आर्थिक व राजनितिक घटा उठाना पड़ा था। अरब राज्यों के संघ का एक और प्रयत्न मिस्र ने इराक, कुवैत, जॉर्डन और सीरिया को मिलाकर 'अरब साझा बाज़ार' के रूप में किया जिसका उद्देश्य सदस्य राज्यों के मध्य उत्पादित वास्तुओ व मुद्रा का स्वतंत्र आवागमन की व्यवस्था करना था।

4.4 दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद विरोधी आन्दोलन

4.4.1 पृष्ठभूमि

हम सब यह जानकर हैरान होते हैं कि अफ्रीका जैसे बड़े महाद्वीप का बंटवारा बिना युद्ध के ही यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों ने आपस में कर लिया था। उन्नीसवीं शताब्दी तक लगभग सारा अफ्रीका उपनिवेशवाद के अधीन हो गया था। दक्षिण में अंग्रेजों और डच (बोअरों) ने वाल और ऑरेंज नदियों तक के भू–भाग पर कब्ज़ा जमा रखा था। शुरुआत में दक्षिण अफ्रीका में बोअर लोगों का ही बोलबाला था जो मूल निवासियों को अपने अधीन करके, उन पर राज कर रहे थे। 1650 ई० में डचों ने केप ऑफ़ गुड होप (सदाशा का अंतरीप) में पहुंचकर उसे अपने कब्ज़ा में किया। बाद में यूरोप की बदलती हुई राजनीति के आधार पर ऐसे उपनिवेशों पर कभी फ्रांस तो कभी अंग्रेजों का कब्ज़ा हुआ। आखिरकार दक्षिण अफ्रीका में अंग्रेजों का ही कब्ज़ा हुआ, उन्होंने निरंतर (बोअर स्थानीय डच) निवासियों को निरंतर उत्तर की ओर धकेला। तंग आकर बोअर लोगों ने 1836 ई० में केप ऑफ़ गुड होप से उत्तर को नेटाल और ऑरेंज फ्री स्टेट नामक बस्तियां बसाईं। 1848 ई० में अंग्रेजों ने इन बसावटों को भी अपने कब्ज़े में ले लिया, हारकर बोअर लोगों को उत्तर की और वाल नदी के पार कर नयी बस्तियां बनानी पड़ी। 1854 ई० तक (ट्रांसवाल और ऑरेंज फ्री स्टेट) दो उपनिवेश डच बोअर के और दो (नटाल और केप कालोनी) अंग्रेजों के हो गए थे। सोने तथा हीरे की खानों के कारण दक्षिण अफ्रीका उपनिवेशवादियों का ध्यान खींचता रहा। बोअर तथा अंग्रेजों के बीच 1899–1902 ई० के युद्ध में अंग्रेज़ जीत गए, लेकिन बोअर लोगों को स्वशासन दिया गया, 31 मई 1910 ई० केप कालोनी , नटाल , ट्रांसवाल और ऑरेंज फ्री स्टेट को मिला कर दक्षिण अफ्रीका संघ बनाया गया। 1914 ई० में यह संघ अंग्रेज़ साम्राज्य का प्रोटेक्टोरेट / संरक्षण में स्वशासित प्रदेश बन गया।

हालांकि शुरू से ही यूरोपीय अपनी नस्लीय श्रेष्टता के मद में स्थानीय निवासियों को दबाने लगे। 1920 ई० में विशेष रूप से ऐसी रंग भेदी पृथक करने वाली नीतियाँ अपनाई गयी, 1948 ई० के रेसिस्ट नेशनल पार्टी के चुनाव से अफ्रीका में रंगभेद पूर्ण रूप से सामने आ गया था। (श्वेत सरकार) राज्य द्वारा नस्लीय भेदभाव को बनाये रखने के लिए आरक्षण की नीति का भी प्रयोग किया गया। अंतर–नस्लीय संबंधों को प्रतिबंधित किया गया तथा चर्च, स्कूल, यातायात इत्यादि सार्वजनिक जन सुविधाओं और केन्द्रों में रंगभेद के आधार पर लोगों के साथ रंग और नस्ल के आधार पर अलग बर्ताव किये गए। अपने ही देश में श्वेतों–अश्वेतों के अपने–अपने इलाके (स्पेशल रिज़र्वस) थे। शहरी क्षेत्रों में भी अश्वेत समुदाय श्वेतों से अलग रहते थे। अलग बसें, अलग कोच,

ट्रेन, कैफे, टॉयलेट, पार्क में लगने वाली बेंचे, अस्पताल आदि सब अलग थीं। यहां तक की समुद्री किनारा, और पिकनिक वाले क्षेत्र भी अलग थे। अश्वेत समुदाय के बच्चे श्वेतों के स्कूल में नहीं पढ़ सकते थे। उनके लिए अलग स्कूल थे। हर व्यक्ति को प्रजातीय वर्गीकरण में बांटा गया था। उन्हें विशेष पहचान पत्र दिये जाते थे। अश्वेत लोग जब श्वेतों के इलाके में जाते, तो उन्हें पास लेना पड़ता था। अश्वेतों और श्वेतों के बीच विवाह नहीं हो सकता था। पुलिस सख्त नियंत्रण रखती थी ताकि कोई नियम न तोड़ तो सके। केवल 20ः यूरोपिय जनसंख्या के आवासीय क्षेत्र के अंतर्गत दक्षिण अफ्रीका का लगभग 80ः भूभाग, संसाधन, और सुविधाएं थी । इसमें कोई सन्देह नहीं कि बिना अश्वेतों के और न ही विश्व के अन्य देशों के आर्थिक और राजनैतिक सहयोग के दक्षिण अफ़्रीकी सरकार अलगाव और नस्लभेद की राजनीति कर सकती थी और इसीलिए अश्वेतों को नस्लीय श्रेष्ठता के वर्चस्व के मिथक को अपनी एकता से तोड़ना था।

4.4.2 प्रारंभिक प्रतिकार

हम जानते हैं कि महत्मा गाँधी ने 1907 ई० की शुरुआत से ही अफ्रीका में रहते हुए बहुत सारे असमानता और भेदभाव विरोधी अभियान चलाये; उन्होंने बड़े पैमाने पर हड़ताल, जन–प्रवास किये और पंजीकरण पत्र जलाये, फलस्वरूप सरकार को अपने कुछ दमनकारी कानून वापस लेने पड़े। अफ्रीकी अश्वेत और भारतीयों ने आने वाले दशकों में अफ्रीका नेशनल कांग्रेस (एएनसी) जैसे राजनैतिक गुट बनाये, एएनसी ने संवेधानिक तरीकों से विरोध जाहिर किया और विशाल जन समूहों को राजनैतिक विरोध के लिए गतिशील किया, 1944 ई० में ऐसे ही अहिंसक विरोध से फेडरेशन ऑफ़ अफ्रीका वीमेन ने सभी महिलाओं द्वारा पासबुक रखने वाले कानूनों को ख़त्म किया। 1949 ई० में एएनसी से पैन–अफ्रीकानिस्ट कांग्रेस (पिऐसी) का गठन हुवा, जोअपने संघठान में श्वेतों की किसी प्रकार की भागीदारी नहीं चाहते थे। जब अफ्रीकन नेशनल कांग्रेस ने अश्वेतों के अधिकारों की लड़ाई लड़नी शुरू की, तो नेल्सन मंडेला भी उससे जुड़ गये। एएनसी के नेता अल्बर्ट लुथूली के साथ नेल्सनमंडेला ने आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया। उनका विरोध शांतिपूर्ण था, पर श्वेत शासन ने इसे भी कुचल दिया। 1960 ई० में जब बड़ी संख्या में अफ़्रीकी लोगों ने एएनसी और पिऐसी के कहने पर पासपोर्ट के बिना अपनी गिरफ्तारियां देनी शुरू की, तो शर्पेविले में श्वेत सरकार ने भीड़ पर गोलियां चलाकर कत्लेआम किया और 69 अश्वेत आंदोलनकारी मारे गये। इस हत्याकाण्ड के बाद तो हफ्तों प्रदर्शन, दंगे इत्यादि चलते रहे, बढ़ते हुए आक्रोश को कुचलने के लिए भरी गिरफ्तारियां की गयी और एएनसी तथा पिऐसी को प्रतिबंधित किया गया । मजबूर होकर लोग सैन्य संघर्ष द्वारा समाधान तलाशने लगे। एएनसी की एक हिंसक शाखा उमखोंतो वे सिजवे (Umkhonto we sizwe) भी बनी। 1964 ई०में राजद्रोह के मामले में मंडेला को आजीवन कारावास की सजा सुनायी गयी। जेल में रहने पर मंडेला रंगभेद की नीति के खिलाफ अंतरराष्ट्रीय प्रतीक बन कर उभरे। आगे आने वाले दशकों में दक्षिण अफ्रीका में श्वेत शासन के विरोध में आंदोलन जोर पकड़ता गया। विद्रोह का स्वरूप हिंसक भी होता गया। अब यह साफ हो गया था कि अफ्रीकन नेशनल कांग्रेस के बिना श्वेत शासन लंबे समय तक नहीं रह पायेगा।

4.4.3 दिन प्रति–दिन के प्रतिरोध और रंग भेद विरोधी आंदोलन

स्टीव बिको के विचारों ने अफ़्रीकी जनता को बहुत जागृत किया, उनका कहना था की अश्वेतों को श्वेतों के संस्थागत प्रक्रिया, विचार और तरीकों से मुक्त होना होगा जो की स्कूल, किताबों, मीडिया, और इतिहास के जरिये उन तक पहुँचते हैं । इन विचारो से युवाओं पर गहरा असर पड़ा, छात्र भी बढ़ कर आंदोलनों में भाग लेने लगे, आने वाली कई वारदातों के केंद्र में छात्र ही थे । 1977 ई० में स्टीव बिको की पुलिस के अत्याचारों के कारण मौत हो गयी, जिसे आन्दोलन को काफी क्षति पहुंची। यह हिंसक प्रकार के आन्दोलन भले ही नुकसान दायक थे, लेकिन इसके चलते नस्ल श्रेष्टता और हीनता के मानस से अश्वेतों को मुक्ति मिली, हालांकि उनके पास श्वेतों के राजनैतिक दमनकरी शासन को हटने की कोई दीर्घकालीन नीति नहीं थी। उपद्रवी घटनाओं से काम नहीं बन रहा था, इसलिए लोगों का ध्यान दिन–प्रतिदिन की समस्याओं पर गया, लोग अपने बलबूते पर उन सब महत्वपूर्ण चीजों को अपने हिसाब से करना चाहते थे, जिससे उन्हें शक्ति का एहसास हो। वह अपनी स्थानीय समस्याओं का निदान चाहते थे।

ट्रांसवाल जिलों में लोगों ने सामूहिक रूप से किराया बढ़ाने के विरोध में और अनाधिकृत निवास को न तोड़ा जाये, इसके लिए प्रदर्शन किये, उन्होंने किराया देने का भी बहिष्कार किया। द पोर्ट एलिजाबेथ ब्लैक सिविक आर्गेनाइजेशन (पिऐबसिओ) बनाई गई, जो सभी नगरों का प्रतिनिधित्व करती थी, यह संस्था श्वेत लोगों के व्यापार और बसों का बहिष्कार कर दबाव बनाने में कामयाब रही। बस के भाड़े बढने पर भी बहिष्कार किये गए, लामोंटीविलले (Lamontiville) में 18 महीने तक बहिष्कार चला। लोगों ने मिनी बस के जरिये मजदूरों को काम तक पहुँचाया, सरकारी बस प्रणाली को आख़िरकार हार माननी पड़ी। कई जगहों पर शांतिपूर्ण व अनुशासित तरीकों से भी विरोध कर गटर के पाईप, बिजली के खम्बे, सड़कें इत्यादि जन सुविधाएँ सुचारू रूप से संचालित करने में कामयाबी मिली

4.4.4 दक्षिण अफ्रीका के समाज और राजनीती में बदलाव

1982 ई० में प्रधानमंत्री पी.डब्लू. बोथा ने तीन चेम्बर वाले सदन का विचार प्रस्तावित किया जिससे श्वेत, अश्वेत और भारतीयों का प्रतिनिधित्व हो।(लेकिन अश्वेत अफ्रीकियों को इसमें कोई भूमिका नहीं मिली थी) यह एक प्रकार की चाल थी जिससे लोगों के बीच टकराव हो। लेकिन इसके उलट इससे भी बड़ी तादाद में यूनाइटेड डेमोक्रेटिक फ्रंट (यूडीअफ) 1983 ई० में उभरकर सामने आया। जिसमे 500 विभिन्न संस्थाओं के लोग जुड़े हुए थे। इन सबका एक ही लक्ष्य था दृ की उनको अपने सभी अधिकार तुरंत मिले, आलन बोएसाक (Allan Boesak)के शब्दों में ये स्पष्ट दिखता है, "We want all our rights here and we want them now".

ख़राब अर्थव्यवस्था के इस दौर में नौजवान, छात्र लगातार हिंसक घटनाओं में शामिल रहे। लगातार बहिष्कार करते रहे। अब उन लोगों की तादाद ज्यादा थी जो दबाव बनाने की जगह अधिकारियों को कुचल देना चाहते थे। शहरों में हर मुद्दे पर दंगा होना आम बात थी और इसके

चलते बहुत सारे लोग मारे जा रहे थे। कुछ कस्बों में रंगभेद करने वालों के गलों में टायर पहनाकर उन्हें जलाने की घटनाये भी हुईं। 1985 ई० में 257 परिषदों ने इस्तीफा दे दिया और उन कस्बों में सरकार एकदम गिर गई। 1982 ई० के आपातकाल के दौरान पुलिस को विशेष अधिकार देकर सरकार का विरोध करने वालों का दमन किया गया। यूडीअफ के बहुत से लोग पकड़ कर प्रताड़ित किये गए और 8000 लोगों को बिना कारण गिरफ्तार किया गया।

खूसता जैक (Khusta Jack) के नेतृत्व में अफ्रीका को एक दूरगामी सोच वाला व्यक्ति मिला, जो अहिंसक तरीके से संगठन बनाकर आन्दोलन करना चाहता था। ताकि समाज में पैदा विरोध को कुचला न जा सके। 1985 ई० में जैक पोर्ट एलिजाबेथ में श्वेत बिरादरी के बीच में बहिष्कार करने वालों का वह प्रवक्ता बन गया। श्वेत व्यापारियों को अपने व्यापार में 30 प्रतिशत का नुकसान पंहुचा और उनकी राय में बहिष्कार अश्वेतों का सबसे मजबूत और असरदार हथियार था। जैक ने जब भरी भीड़ में अपने ऊपर प्रतिबंद के आदेश पत्र को फाड़ा तो जनता में जोश की एक नई लहर दौड़ पड़ी, जब बहिष्कार दुबारा शुरू हुए तो, वह अधिक संगठित थे। बढ़ते हुए हिंसक प्रतिरोध को देख जैक और यूडीफ ने अहिंसक बहिष्कार अपना के सफल आन्दोलन की राह बनायीं रखी, जिसके चलते सकारात्मक विरोध चलता रहे। ऐसे अहिंसक आन्दोलनों का लक्ष्य यह था की लोग अपनी शक्तियों को पहचाने, वह जाने की वो अफरीका की हालात को कैसे अपने प्रयासों से बदल सकते हैं।

सरकार ने इसके उलट फिर से शक्त कदम उठाए और एक बार फिर से आपातकाल लागू किया। हजारों की तादात में लोगों को गिरफ्तार किया गया और मीडिया को प्रतिबंधित किया गया, ताकि समाज में व्याप्त अराजकता और उनके नियंत्रण के तरीकों की दुर्दशा का दुनिया को पता न चले । सरकार अपनी साख बचाये रखने के लिए तत्पर थी, वह जन सुविधओं को बहाल और बेहतर करने को तैयार थी, लेकिन अश्वेत जनता पूरी तरह यह तय कर चुकी थी की वो ऐसी रंगभेदी/नस्लभेदी सरकार को बिलकुल बर्दाश्त नहीं करेंगे। इसी दौरान अंतर्राष्ट्रीय दवाब भी देखने को मिले, यूरोपियन कम्युनिटी ने दक्षिण अफ़्रीकी रंगभेदी सरकार पर आर्थिक प्रतिबंध लगाये, जिसके चलते उनकी आर्थिक विकास दर धीमी हो गयी ।

4.4.5 रंग भेद का अंत और अश्वेत सरकार

1990 ई० में सरकार ने विरोध करने वाले दलों के ऊपर से पाबंदी हटा दी, जिसमे यूडीफ और ऐनसी भी शामिल थे। कैद किये गए नेता रिहा किये गए, जिन लोगों का देश निकाला किया गया था उन्हें भी देश में वापस आने की अनुमति दी गयी। आपातकाल को हटाया गया, मीडिया के ऊपर से भी प्रतिबंध हटाये गए। 1994 ई० में लोकतांत्रिक प्रक्रिया से चुनाव के बंदोबस्त किये गए । नवीन सांसदों से यह आशा थी की वह नया संविधान लिखे, जो अश्वेतों को मुख्य धारा से जोड़ सके, सभी लोगों के अधिकार समान हो और सबको उनका लाभ सुनिश्चित किये जाए। सभी प्रकार के अल्पसंख्यकों को पूरा अवसर और शक्तियां मिले, समाज और सरकार में सबकी भागीदारी हो ।

1980 ई०के दशक में नेल्सन मंडेला ने जेल में रहते हुए ही रंगभेदी सरकार और एएनसी के बीच वार्ताएं शुरू कर दी थीं। वह बिना किसी शर्त के 1990 ई०में जेल से रिहा कर दिये गये। इसके कुछ दिन पहले ही एएनसी और पिऐसी से प्रतिबंध भी हटा लिया गया था। जेल में 27 साल गुजारने के बाद, मंडेला ने श्वेत और अश्वेत के बीच भाईचारे की नीति पर बल दिया। आज जो दक्षिण अफ्रीका दिखता है, वह इसी नीति का परिणाम है। 1994 ई० के चुनाव में लोगों ने एएनसी सी को लगभग 62: मतों से जिताया तथा नेल्सन मंडेला को दक्षिण अफ्रीका का राष्ट्रपति चुना और बिना किसी असंतोष और क्षोभ के नेल्सन मंडेला को राष्ट्रपति बनाने की घोषणा की गयी। इन नए मिश्रित चुनावों के बाद साझी सरकार बन गयी तथा रंगभेद और नस्लभेद की नीति को दफन कर दिया गया। मंडेला ने राष्ट्रपति के रूप में अपना पहला भाषण दिया। 'हम एक विजेता के रूप में दक्षिण अफ्रीका को एक नये संवैधानिक सूत्र में नहीं बांध रहे। हमें अतीत के जख्मों पर मरहम लगाना होगा और आगे आने वाले समय में एक व्यवस्था बनानी होगी, जिसमें सभी को न्याय मिलेगा।'

अभ्यास एवं बोध प्रश्न

प्र (1) मिस्र के किस शासक ने विदेशियों से 32,92,800 पौंड, 8: ब्याज पर ऋण लिया था?
प्र(2) काहिरा में अरब राष्ट्रों ने संधि कर अरब लीग कब बनाई ?
प्र(3) बगदाद पैक्ट कब हुआ था ?
प्र(4) मिस्र ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कब किया था?
प्र(5) 'स्पेशल रिज़र्वस' क्या थे ?
प्र(6) We want all our rights here and we want them now*- "हमें यहाँ हमारे सारे अधिकार चाहिए और हमें यह अभी चाहिए" किसके भाषण के शब्द हैं ?
प्र(7) उमखोंतो वे सिजवे (न्उीवदजव्ू मे प्रूम) किसकी सैनिक शाखा थी ?
प्र(8) नेल्सन मंडेला को राष्ट्रपति बनाने की घोषणा कब की गई थी?

4.5 सारांश

अरबी भाषा और इस्लाम धर्म के स्तर पर मूलभूत समानता होने के कारण अरब क्षेत्र में संगठित राजनैतिक इकाई बनाने का प्रयास होता रहा था, आधुनिक शिक्षा और समाज में नवजागरण के चलते लोगों में जहाँ एक ओर राजवंश की अधीनता से स्वतंत्र होने की इच्छा प्रबल हो गयी थी, वहीँ दूसरी और वह साम्राज्यवादी पश्चिमी शक्तियों के वर्चस्व और हस्तक्षेप से व्याकुल थे। यहाँ हो रहे आंदोलनों ने आर्थिक, सामाजिक सुधार के लिए आवाज उठाई और साथ ही विदेशियों के विरुद्ध लोगों को संगठित किया। इन राज्यों में तेल का उत्पादन तथा स्वेज नहर के सामरिक महत्व के कारण विश्व की सभी प्रमुख शक्तियां इन पर अपना प्रभाव स्थापित करना चाहती थीं। जिसके कारण अरब राष्ट्रों को निरंतर साम्राज्यवादी दमन सहना पड़ा तथा उनको कभी संगठित

नहीं होने दिया गया। अरब राष्ट्र भी विश्व युद्धों के बदलते समीकरणों के हिसाब से प्रभावित हुए थे, बढ़ता हुआ जनविरोध और राजनैतिक चेतना के फलस्वरूप दूसरे विश्व युद्ध के बाद धीरे–धीरे सभी राष्ट्र स्वतंत्र होते चले गए। अरब राष्ट्रों में एकता बनाये रखने के लिए समय–समय पर अनेक राष्ट्रों के बीच संधियाँ हुई लेकिन वह सफल नहीं रहीं, हालांकि अरब लीग संघटन के रूप में काफी सफल रहा है।

अफ्रीका के संदर्भ में हमने देखा की अपनी विस्तारवादी नीति के चलते पश्चिमी राष्ट्रों ने नई दृनई जगहों में जाकर उपनिवेशिकरण किया था, जिसके चलते मूल निवासियों और उनकी संस्कृति को पूरी तरह बर्बाद कर दिया गया था। डच और अंग्रेजों ने भी (अन्य सभी पश्चिमी राष्ट्रों की तरह) खुद को विश्व की श्रेष्ठ प्रजाति मानते हुए विश्व के सारे संसाधनों पर अपना अधिकार मान लिया था. नस्ल–भेद के चलते वह अश्वेत लोगों को असभ्य, जंगली और बर्बर मानते थे। दूसरी और नकदी फसलों के बागानों में यह दास और कॉन्ट्रैक्ट में मजदूरी पर ले जाए जाते थे। दक्षिण अफ्रीका में नस्ल भेदी नीति के चलते अश्वेतों के लिए कड़े नियम, और अपमानजनक नीतियां बनायीं गयी थीं लोगों को उन्हीं के देश में गुलाम बना लिया गया था जहाँ उनकी स्वछंदता और नागरिकता श्वेतों के पहचानपत्रों और आरक्षण नीति से नियंत्रित थी।

गांधीवादी अहिंसक विरोध सार्वजनिक बहिष्कार, प्रवास और सविनय अवज्ञा आंदोलनों के साथ–साथ हिंसक टकराव से भी जनसाधारण ने नस्लभेदी सरकारों का विरोध किया था। अफ्रीका में संगठित विरोध और अपने अधिकारों की राजनैतिक लड़ाई के लिए बहुत सी राजनैतिक दल बनाये गए थे। अन्तर्राष्ट्रीय दबाब से ज्यादा यह अश्वेतों के अथक संघर्ष का नतीजा था कि वह अंततः अपनी सरकार बनाने में कामयाब हुए। गौर करने वाली बात यह है की हीरों की समृद्ध खानों वाला यह देश दूसरे विश्वयुद्ध से शीत युद्ध के काल में भी, जब विश्व भर में अनेकों राष्ट्र आज़ाद हुए तथा बनते–बिगड़ते रहे थे, अफ्रीका रंग–भेद से ग्रसित था, तथा साम्यवादी क्रांति भी यहाँ गुम ही रही।

4.6 विशेष शब्दावली

यंग टर्कस / युवा तुर्कः यह लोग तुर्की के सुधारवादी तथा राष्ट्रवादी दल के सदस्य थे। यह 1908ई०–1918ई० तक तुर्की का प्रमुख एवं प्रभावशाली राजनितिक दल बना रहा। इस राजनीतिक दल के युवा सदस्य जो अपने रीती–नीति से देश के जीवन को नया रंगरूप और नवजीवन देकर शीघ्र प्रगति पाना चाहते थे, यही लोग युवा तुर्क कहलाते थे।

अपार्थाइड / रंग भेद नीतिः जाती, नस्ल या रंग के आधार पर पृथक्करण करने के लिए दक्षिण अफ्रीका संघ में गोरे काले एवं अन्य वर्ण के लोगों को एक दूसरे से अलग करने के लिए व्यवहार में लायी गयी नीति को अपार्थाइड / रंग भेद नीति कहते हैं।

बोअरः दक्षिण अफ्रीका में बसे डच जाती के वंशज। इनमें और ब्रिटिश शासन में दो युद्ध हुए (वर्ष 1881 और वर्ष 1889–1902 ई०) यह युद्ध बोअर युद्ध के नाम से प्रसिद्ध हैं।

4.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उ.1 सईद पाशा।
उ.2 22 मार्च 1945 ई०।
उ.3 1955 ई० में इराक एवं तुर्की के बीच हुआ।
उ.4 26 जुलाई 1956 ई०।
उ.5 यह श्वेत सरकार द्वारा रंग भेद की ही नीति थी जिसके चलते, श्वेतों–अश्वेतों के अपने–अपने इलाके थे। इस के अनुसार अश्वेतों को श्वेतों के इलाके से निकाला गया था।
उ.6 यूनाइटेड डेमोक्रेटिक फ्रंट यूडीएफ की मांगो और लक्ष्य को सामने रखते हुए आलन बोएसाक (।ससंद ठवमें।) ने यह शब्द कहे थे।
उ.7 अफ्रीकन नेशनलिस्ट कांग्रेस (एएनसी)।
उ.8 10 मई 1994 ई.।

4.8 अध्ययन सामग्री

जैन, डॉ. हुकम चाँद, माथुर, डॉ. कृष्ण चन्द्र. आधुनिक विश्व इतिहास (1500–2000), 15वां संस्करण, जैन प्रकाशन मंदिर, जयपुर, 2010,पृ. 700–715, 427–433, 715–726.

Sharma, J.P.TheArab Mind: A Study of Egypt Arab Unity and the World, Delhi, 1990.pp-18-26.

Cremeans, Charles D. The Arabs and the World: Nasser's Arab Nationalist Policy, London, 1963, p.47, 132.

Antonlous, George. The Arab Awakening: The Story of The Arab Nationalist Movement, London, 1938, pp.12-14-15.

Ajayi, F. Ade (ed.).UNESCO General History of Africa,Vol. VI, 1989, pp.55-67.

Davidson, Basil. Modern Africa a Social and Political History, Longman,1994, pp.32-33,161-171, 249.

Flint,E (ed.). Cambridge History Of Africa, Vol. V 1976, pp.258, 490-491,551-599, 681-696.

Mazrui, A. (ed.). UNESCO General History Of Africa Vol. VIII (1993), pp.257-276, 749,753,816, 827

4-9 çLrkfor vè;;u Ikexzh

Khalidi, Rashid.(ed.) Origin Of Arab Nationalism, Columbia University Press, NewYork,1991.

Hitti Philip Khuri. History of the Arabs: From the earliest times to the present. Macmillan, London, 1970.

Crowder, Michael. (ed.).Cambridge History of Africa, Vol. VIII,1984.

Donald Crummey (ed.).Banditry, Rebellion and Social Protest in Africa 1986.

Magubane, Bernard. Political Economy of Race and Class in South Africa 1979.

4.10 निबंधात्मक प्रश्न

प्र(1) साम्राज्यवादी राष्ट्रों के हस्तक्षेप को रेखांकित करते हुए अरब राष्ट्रवाद के उदय पर प्रकाश डालें?

प्र(2) अरब क्षेत्र में एकता के लिए किये गए प्रयासों पर संक्षिप्त टिप्पणी करें?

प्र(3) दक्षिण अफ्रीका में अश्वेतों द्वारा बनाये गए राजनैतिक दल किस प्रकार से रंग–भेद विरोधी आंदोलन को सफल बनाने में सक्षम रहे थे?

प्र(4) श्वेत सरकार की रंग–भेदी नीति पर प्रकाश डालते हुए जनसाधारण के हिंसक विरोध और गांधीवादी अहिंसक आंदोलन पर टिप्पणी करें?

298

ब्लाक छः

विश्वः फासीवाद, द्वितीय विश्वयुद्ध, वि–औपनिवेशीकरण, शीतयुद्ध

इकाई 1 विश्वव्यापी मंदी और आर्थिक संकट

1.1. प्रस्तावना
1.2. उद्देश्य
1.3. आर्थिक मंदी
1.3.1. आर्थिक मंदी के कारण
1.3.2. आर्थिक मंदी के लक्षण
1.4. आर्थिक मंदी का विश्व पर प्रभाव
1.4.1. अमेरिका
1.4.2. जर्मनी
1.4.3. इंग्लैंड
1.4.4. फ्रांस
1.4.5. रूस
1.5. आर्थिक मंदी से उबरने का प्रयास
1.6. सारांश
1.7. शब्दावली
1.8. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.9. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.10. सहायक उपयोगी पाठ्यक्रम
1.11. निबंधात्मक प्रश्न

1.1. प्रस्तावना

बीसवीं सदी का आर्थिक संकट एक ऐसे समय में आया जब पूरा विश्व एक भारी विनाश के दौर से गुजर रहा था। यह वह समय था जब विश्व युद्ध के बाद पूरा विश्व विशेषकर यूरोप प्रथम विश्व युद्ध के विनाश से उबरने की कोशिश कर रहा था।इस आर्थिक संकट के आने के कई कारणों में से एक कारण विश्वयुद्ध के बाद सभी प्रमुख देशों द्वारा आर्थिक संरक्षनात्मक नीति का अनुसरण करना था। एक तरफ जहाँ जर्मनी हार के बाद वर्साय की संधि के अनुसार, युद्ध क्षतिपूर्ति की रकम को चुकाने में परेशान था वहीं दूसरी तरफ पूरा यूरोप युद्ध के दौरान अमेरिका द्वारा दिए गए कर्जों को चुकाने में लगे था। इन्हं सब घटनाओं के बीच पूरे विश्व में कृषि संकट, मुद्रा संकट, वितीय संकट ,मूल्य संकट व्याप्त हो गया। इस आर्थिक संकट के लिए धन का असमान वितरण, उपभोग्ताओं की मांग में कमी, वित्तीय हलचल तथा सरकार की भ्रमित करने वाली नीतियाँ जिम्मेदार थी। इन्ही परिस्थितियों ने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में आर्थिक मंदी को जन्म दिया जो जल्द ही सारी दुनिया में फ़ैल गयी।

1.2. उद्देश्य

यह इस खंड की पहली इकाई है, इस इकाई में प्रथम महायुद्ध से दुसरे महायुद्ध के बीच आये आर्थिक परिवर्तन के बारे में बताया गया है।

- इस इकाई को पढने के बाद आप विश्वव्यापी मंदी के पहले की आर्थिक स्थिति के बारे में जान सकेंगे।
- अमेरिका के साथ पूरे विश्व विशेषकर यूरोप में आये आर्थिक मंदी के कारणों को जान सकेंगे।
- इस आर्थिक मंदी के लक्षण क्या थे? इस इकाई को पढ़ने के बाद आप उन कारणों को जान सकेंगे।
- आर्थिक मंदी का विश्व के महत्वपूर्ण देशों पर अलग–अलग क्या प्रभाव पड़ा? इस अध्याय में बताया गया है,इसे भी आप जान सकेंगे।
- आप ये भी जान सकेंगे कि विभिन्न देशों ने इस आर्थिक मंदी से कैसे अपने आप को बाहर निकाला।

1.3. आर्थिक मंदी

बीसवीं सदी की आर्थिक मंदी दो युद्धों के बीच का वह दौर है, जिस समय पूरा विश्व एक आर्थिक संकट से गुजर रहा था। यह मंदी मूलतः अत्यधिक उत्पादन का परिणाम थी, यह प्रचुरता में अभाव को व्यक्त करती थी। विश्व के आर्थिक इतिहास में इतना बड़ा आर्थिक संकट एक ही समय में इतने अधिक देशों में कभी नहीं आया था। इसलिए इसे विश्व व्यापी मंदी कहा जाता है। यह मंदी सर्वप्रथम 1929 में अमेरिका के वालस्ट्रीट पतन के साथ प्रारंभ हुई जो धीरे–धीरे पूरे यूरोप में फ़ैल गई। इस आर्थिक संकट ने उपभोग्ताओं की मांग में कमी ला दी। पूरा विश्व आर्थिक रूप से एक नियत मुद्रा विनिमय दर जो सर्वमान था उससे जुड़े हुए थे, इस समय पूरे विश्व में धन का असमान वितरण मौजूद था जिसके कारण आर्थिक मंदी आ गयी।

1.3.1 आर्थिक मंदी के कारण

इस आर्थिक मंदी के लिए कई कारण उत्तरदायी थे जिसमें उपभोग में कमी, आय वितरण में असामनता, निवेश के अवसरों की समाप्ति, अत्यधिक सट्टेबाजी, मित्र राष्ट्रों द्वारा जर्मनी का आर्थिक शोषण, अमेरिका के द्वारा निषेधात्मक टैरिफ की नीति अपनाना, युद्धोत्तर काल में कृषि आय में ह्रास, और बेरोजगारी प्रमुख थे।इन सब के कारण पूरा विश्व एक ऐसे संकट में फंस गया जिससे वह 1937 के बाद ही उबर सका।

उपभोग में कमी इस महान आर्थिक मंदी का एक महत्वपूर्ण कारण था। सन् 1900 से 1929 के बीच की अवधी में मजदूरी की तुलना में लाभ में बहुत अधिक वृद्धि हुई, जिससे बचत तथा उपभोग के बीच का अंतर बहुत बढ़ गया था। जे. एम. क्लार्क के अनुसार, लाभ के रूप में मिलने वाले कुल आय के अनुपात में वृद्धि हुई थी और उसी प्रकार मजदूरी तथा बचत के रूप में दिए जाने वाले

आय के कुल अनुपात में कमी हुई थी। 1900 से 1929 के बीच रास्ट्रीय आय में अनुमानतः चार गुनी वृद्धि हुई थी जबकि राष्ट्रीय आय में इस असाधारण वृद्धि के परिणामस्वरुप भी जनता की क्रय शक्ति में कोई तीव्र वृद्धि नहीं हुई थी। क्रय शक्ति में वृद्धि के अभाव से उपभोग में भी संतोषजनक वृद्धि नहीं हुई ।

इस आर्थिक मंदी के लिए आय के वितरण की असामनता भी बहुत अंश तक उत्तरदायी थी। 1929 के पूर्व आर्थिक उन्नति के क्रम में राष्ट्रीय आय में जो वृद्धि हुई थी उसका एक बहुत बड़ा भाग पूजीपतियों को ही प्राप्त हुआ था। 1900 से 1929 के बीच औद्योगिक मजदूरों को दी जाने वाली मजदूरी में 33 प्रतिशत तथा वेतन में 42 प्रतिशत वृद्धि हुई थी जबकि कंपनियों के शुद्ध लाभों में 76 प्रतिशत की वृद्धि हुई, जिससे यह साबित होता है की अर्थव्यवस्था में जो विकास हो रहा था उसका लाभ अधिकतर पूंजीपतियों को जा रहा था जिसके कारण एक वर्ग धनी और दूसरा वर्ग आर्थिक रूप से निर्धन होता जा रहा था जिससे अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी।इस अव्यवस्था ने भी आर्थिक मंदी को बढाने में अहम् भूमिका निभाई।

इस समय आई आर्थिक मंदी का एक कारण निवेश के अवसरों की समाप्ति भी था। इस समय निवेश में स्थाई रूप से निवेश अवसरों की समाप्ति हो गई थी जिसके फलस्वरूप निवेश में कमी हो गई थी। निवेश अवसरों की समाप्ति भवन निर्माण में कमी और उपभोग ह्रास में कमी होने से हुई। भवन निर्माण कार्य प्रायः बंद हो गये थे।

स्टॉक एक्सचेंज में अत्यधिक सट्टेबाजी भी 1929 के आर्थिक मंदी का एक प्रमुख कारण थी, जनता द्वारा प्रतिभूतियों के क्रय द्वारा मूल्य में कृत्रिम रूप से काफी वृद्धि हो गई थी। अंश बाज़ार के ध्वंश के कारण अनेक बैंक दिवालिया हो गए थे जिससे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था भी दिवालिया हो गई थी। 1929 में अमेरिका के मुद्रा बजार में सट्टेबाजी का एक तीव्र दौर आया जिसने आम अमेरिकी महाजनों का धन आकर्षित किया और इसके परिणाम स्वरुप अमेरिका के पूँजीपति भी यूरोप को लोन देने के बजाय अपने ही देश में पूँजी लगाने लगे। यूरोप जो उस समय अमेरिकी लोन पर टिका हुआ था अचानक आधारहीन हो गया और यूरोपीय अर्थव्यवस्था इतनी डगमगाई की अर्थशास्त्री व इतिहासकार इस आर्थिक संकट को बीसवीं शताब्दी का सबसे बड़ा आर्थिक संकट मानते है।

मित्र राष्ट्रों द्वारा जर्मन अर्थव्यवस्था के आर्थिक शोषण ने भी इस मंदी को और अधिक विषम बना दिया। वर्साय के संधि के अनुसार युद्ध क्षति पूर्ती के लिए मित्र राष्ट्रों द्वारा जर्मनी से एक बहुत बड़ी रकम लेना था जो जुलाई 1920 के स्पा सम्मलेन में तय किया गया था जो 1,36,00,00,00,000 मार्क थी। यह कीमत जर्मनी को किसी भी प्रकार से चुकानी थी। परिणामस्वरुप फ्रांस ने अपनी सेना जर्मनी के औद्योगिक क्षेत्र रूर में उतार दी। इस भयंकर भूल ने यूरोप को भारी आर्थिक संकट में दाल दिया। इस राशि की पहली किश्त के रूप में जर्मनी से भारी स्तर पर कोयला उठाया गया तथा विदेशों में लगी जर्मन कंपनियों की पूँजी को हस्तगत किया गया। वर्साय की संधि के अनुसार जर्मनी के 15 प्रतिशत उत्पादक साधनों पर मित्र राष्ट्रों ने कब्ज़ा कर लिया जिसका मुख्य उद्देश्य जर्मनी की औद्योगिक एवं व्यापारिक क्षमता को लम्बे समय तक नष्ट करना था। इस स्थिति से जर्मनी में मार्क का अवमूल्यन हो गया, इसका जर्मनी के आम जनजीवन पर कुप्रभाव पड़ा, जिनके

आय के श्रोत निश्चित थे या जो ब्याज किराया आदि पर निर्भर थे वे पूर्णतः बर्बाद हो गए, समृद्ध मध्य वर्ग की दशा श्रमिकों की तुलना में बदतर हो गई।

अमेरिका के द्वारा निषेधात्मक टैरिफ की नीति को अपनाने से भी आर्थिक संकट गहरा हो गया। इसी नीति को अपनाते हुए दुसरे देशों ने अपनी अर्थव्यवस्था, कारखानों तथा कृषि को ठप हो जाने से बचाने के लिए सभी यूरोपीय देशों ने निरोधात्मक शुल्क व संरक्षात्मक टैरिफ की एक दीवार खड़ी करनी आरम्भ कर दी, जिसके परिणाम स्वरुप अंतर्राष्ट्रीय व्यापार बिलकुल ठप हो गया।

1.4. आर्थिक मंदी का विश्व पर प्रभाव

अगर इसकी प्रभावों की बात करें तो विश्व के सभी देशों पर इसका प्रभाव पड़ा लेकिन सबसे ज्यादा इसका प्रभाव यूरोप और अमेरिका पर पड़ा। ये देश उस समय विश्व में सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण थे क्यूंकि इनकी अर्थव्यवस्था का प्रभाव सभी देशों पर था, जहाँ इसकी शुरुवात अमरीका में हुई वहीं इसने बहुत ही कम समय में पूरे यूरोप को अपने चपेट में ले लिया। इस मंदी ने पूरे विश्व की अर्थव्यवस्था को तहस नहस कर के रख दिया। इस आर्थिक मंदी ने जहाँ एक तरह जर्मनी में युद्ध के बाद स्थिति को और बिगाड़ा वही दूसरी ओर अमरेका और ब्रिटेन को भी कंगाली के स्थिति में ला दिया। सारे यूरोप में केवल एक ही देश था जो इस आर्थिक संकट से बचा रहा वो था सोवियत संघ।

1.4.1. अमरीका

चूँकि इस आर्थिक मंदी की शुरुवात अमरिका से ही हुई थी अतः इसका प्रभाव भी अमरीका पर बहुत ज्यादा पड़ा। 1930 के अंत तक आते–आते अमेरिका में लगभग 1300 बैंक बंद हो गए। स्थिति अब भी स्थिर नहीं हुई और 1931 तक आते–आते 2300 और बैंक भी बंद हो गए। इसके कारण लोगों ने अपने पास जो भी पैसे रखे थे, उसे रोक लिया और नकदी का प्रयोग कम हो गया। लोगों ने विलासिता वाली वस्तुओं का उपभोग कम कर दिया। मोटर कार और ग्रामोफोन आदि का उपयोग बिलकुल कम हो गया। अगर 1930–31 के कार उत्पादन को देखें तो पाते हैं की उस समय कार का उत्पादन 50 प्रतिशत कम हो गया था।

इस आर्थिक मंदी के कारण अमरीका में बेरोजगारी भी बढ़ी। इस बेरोजगारी के कारण 1932 तक आधे से ज्यादा मजदूर बेरोजगार हो गए क्योंकि मिल मालिकों ने उत्पादन कम कर दिया या कारखाने बंद कर दिए। कृषि उत्पादन की अगर बात करें तो उस समय अमेरिका में इस पर भी बहुत प्रभाव पड़ा, कृषि उत्पादों के दाम लगातार गिर रहे थे जिसके कारण किसान कंगाल हो गए और कृषि उत्पादन भी कम हो गया। इस कारण से ग्रामीण लोगों की क्रय शक्ति कम हो गई जिसके कारण 1929 से 1932 के दौरान वस्तुओं की मांग में कमी आ गई, अमेरिकी निर्यात भी 7 प्रतिशत कम हो गया।

अमरिकी राष्ट्रपति फ्रेंक्लिन डी. रूजवेल्ट जो 1932 का चुनाव जीत कर आए थे उन्होंने इस आर्थिक मंदी से निकलने के लिए एक नई नीति को अपनाया जिसे 'नई डील' कहा गया इसके द्वारा बैंकों में विश्वास दिलाने के लिए बैंकिंग से सम्बंधित बैंकिंग अधिनियम पारित किया गये, किसानों को सब्सिडी देकर उनको प्रोत्साहित किया गया, नेशनल रिकवरी एक्ट बना कर उद्योगों को भी प्रोत्साहित किया गया, जिससे इस मंदी से बाहर निकला जा सके।

1.4.2. जर्मनी

इस मंदी का सबसे ज्यादा प्रभाव जर्मनी पर पड़ा क्योंकि उस समय जर्मनी युद्ध क्षतिपूर्ती के कारण पहले से ही परेशान था तभी उसे इस मंदी की मार भी झेलना पडी। इस मंदी के कारण जर्मनी की मुद्रा का अवमूल्यन हो गया जिसके कारण वहाँ के लोगों की क्रय शक्ति बिलकुल कम हो गयी, अब वहां के लोग एक ब्रेड खरीदने के लिए पैसा झोले में भर के ले जाते थे। मार्क जो की वहाँ की मुद्रा है उसके अवमूल्यन के कारण जर्मनी की अर्थव्यवस्था बिलकुल ख़राब हो गई।

बेरोजगारी की समस्या बहुत बड़े तौर पर वह उभर कर आई ,अमरीका में मंदी आने से और बाद में अमेरिकी निवेश के रुक जाने से जर्मनी की हरमन मुलर सरकार ने कल्याणकारी कार्यकलापों और सरकारी कार्यों में खर्च कम कर दिया जिससे वहां पर बेरोजगारी बढ़ी और वाईमर गणतंत्र से लोगों का मोह भंग हो गया। एक अनुमान के अनुसार जर्मनी में बेरोजगारों की संख्या दिसम्बर 1931 में 44,0000, सितम्बर 1932 में 5000000 तथा दिसम्बर 1932 में 6000000 तक पहुँच गई और जर्मनी के काम करने वाली जनसँख्या के हर छह लोगों में से एक व्यक्ति बेरोजगार हो गया।

1929 के आर्थिक संकट के कारण जर्मनी में वाईमर गणतंत्र का पतन हो गया, चूँकि तत्कालीन सरकार बेरोजगारी एवं मूल्यों को नियंत्रित नहीं कर पा रही थी इसलिए अब लोगों ने दूसरे विकल्प ढूंढना शुरू कर दिया जो इस संकट से जर्मनी को बाहर निकाल सके। इसी दौरान हिटलर की नाज़ी पार्टी का उदय हुआ। इस आर्थिक संकट के कारण नाज़ी पार्टी ने मध्यम वर्ग और युवा वर्ग को बहुत प्रभावित किया। ऐसी स्थिति में मुलर सरकार ने मार्च 1930 में इस्तीफा दे दिया, इससे हिटलर को जर्मनी का चांसलर बनने का मौका मिला जिसके कारण वहाँ पर लोकतंत्र का पतन हो गया और हिटलर की नाज़ी पार्टी का उदय हुआ, जिसे 1936 तक बेरोजगारी को कम करने तथा मूल्यों को स्थिर करने में सफलता भी हासिल हुई।

इस आर्थिक मंदी का एक और प्रभाव, जर्मनी द्वारा दिया जा रहा युद्ध क्षतिपूर्ति पर पड़ा। क्योंकि इस समय कई बैंकों के साथ जुलाई 1932 तक जर्मन बैंक डर्मस्डटर उन्द नेशनल बैंक (Darmstadter Und National Bank) भी दिवालिया घोषित हो गया। इसके साथ ही जर्मनी ने यह धमकी भी दे डाली की ना वह ऋणों पर ब्याज देगा ना ही वह पिछले युद्ध की क्षति पूर्ती की शेष धनराशी देगा। स्थिति को और बिगड़ने से बचाने के लिए अमेरिकी राष्ट्रपति हूवर ने जर्मनी के भुगतानों पर एक साल की रोक लगा दी जिसे स्वीकार भी कर लिया गया लेकिन इससे पहले कि एक साल पूरा होता जर्मन सरकार ने बाकी मुवावजा देने से साफ़ इंकार कर दिया, इसके बाद जर्मन अर्थव्यवस्था में धीरे–धीरे सुधार आने लगा।

1.4.3. इंग्लैंड

प्रथम विश्व युद्ध से पहले लन्दन सारे विश्व बैंकिंग का केंद्र बिंदु था तथा यहीं पर सारे विश्व के कर्जों का भुगतान होता था तथा विभिन्न मुद्राएँ सोने के साथ बदली जाती थीं, पर युद्ध के दौरान यह पहली बार हुआ जब प्रसिद्ध अंग्रेजी स्वर्ण मुद्रा सावरिन ;वअमतमपहद) को सार्वजनिक वितरण तथा प्रचलन से हटा लिया गया था। न्यूयार्क स्टॉक एक्सचेंज के धराशाई होने का बहुत बुरा प्रभाव ब्रिटेन पर एक सप्ताह के अन्दर ही पड़ने लगा था।

1929 की मंदी ने इंग्लैंड के व्यापार को भी बहुत ज्यादा प्रभावित किया, इस आर्थिक मंदी ने इंग्लैंड के परम्परागत जहाज रानी उद्योग को भी ठप कर दिया, इंग्लैंड का उद्योग कितना ज्यादा प्रभावित हुआ इसका अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि जहाँ 1913 में जहाज उत्पादन 1930000 टन में था वो 1929 में 1520000 टन तथा 1937 में 920000 टन तक पहुँच गया।
इस आर्थिक मंदी का प्रभाव रोजगार पर भी पड़ा। उस समय विश्व भर में आई कीमतों में तीव्र कमी ने अंग्रेजी निर्यात को लगभग बंद सा कर दिया। विदेशी व्यापारियों ने अंग्रेजी सामान को खरीदना बंद कर दिया जिससे इंग्लैंड में बेरोजगारी बहुत तेजी से बढ़ी, 1931 में इंग्लैंड में करीब 35 लाख लोग बेरोजगार थे जबकि सितम्बर 1932 में यह संख्या 37.5 लाख पहुच गयी।

अगर बैंकिंग प्रणाली की बात करें तो यह भी इस 1929 की आर्थिक मंदी की चपेट में बुरी तरह फंस गयी, क्यूंकि इंग्लैंड के महाजनों ने अपना पैसा जहाँ–जहाँ लगा रखा था वहाँ से उसपर ब्याज आना बंद हो गया था, साथ ही लन्दन की मंडियों से विदेशी निवेशकों ने अपना पैसा निकालना शुरू कर दिया। इस कारण 1930 तक बैंक ऑफ़ इंग्लैंड (ठंदा वम्दिहसंदक) के स्वर्ण भण्डार लगभग समाप्त हो गये, एक समय इस बैंक में 25 लाख पोंड का सोना रोज बाहर जाता था जो अब 1929 के काल में सिर्फ 14,50,00,000 पोंड का रह गया था। बैंक ऑफ इंग्लैंड फिर से अपने आप को 1935 के बाद ही ठीक तरह से स्थापित कर पाया।

1.4.4. फ्रांस

फ्रांस में इस महामंदी का असर बहुत ज्यादा नहीं दिखा क्योंकि 1920 के दशक में वह सबसे शक्तिशाली देश के रूप में उभर रहा था, इस मंदी का ज्यादा असर फ्रांस पर इसलिए भी नहीं दिखा क्योंकि उसने जर्मनी से युद्ध क्षतिपूर्ती करके युद्ध में हुई बर्बादी की भरपाई कर ली थी। उसने इसी भरपाई के कारण अपनी रेल प्रणाली को पुनः शुरू भी कर लिया थां जब यूरोप में सारे देशों की मुद्रा का अवमूल्यन हो रहा था उस समय भी फ्रांक का अवमूल्यन नहीं हुआ क्योंकि उस समय यूरोप में सबसे ज्यादा सोने का भंडार फ्रांस में ही था।

1.4.5. साम्यवादी रूस

1917 की क्रांति के बाद जब वहाँ पर साम्यवादी सरकार बनी तब रूस एक तरह से बंद अर्थव्यवस्था (Close Economy) की तरह काम कर रहा था। साथ ही रूस में स्टालिन ने अपनी पंचवर्षीय योजना, जमींदारों (Kulaks) के दमन, औद्योगिक योजनाओं के द्वारा रुसी कृषि उत्पादन, कोयले तथा लोहे का उत्पादन इतना बढ़ा दिया की जब 1929 की महामंदी आयी तो उसका रुसी अर्थव्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

1.5. आर्थिक मंदी से उबरने का प्रयास

1929 की महामंदी जिसने लगभग पूरे विश्व को अपने चपेट ले लिया था उससे उबरने के लिए विभिन्न देशों ने अपने–अपने तरीकों से अपनी अर्थव्यवस्था को बचाने की कोशिस की लेकिन इसके बावजूद एक समिल्लित प्रयास भी जरुरी था। इसी कड़ी में एक बड़ा कदम 2 सितम्बर 1931 को इंग्लैंड के द्वारा स्वर्ण आधारित मुद्रा को त्यागने के साथ ही शुरू हो गया। एक के बाद एक सभी देश स्वर्ण आधारित मुद्रा को त्यागने लगे। 1932 में यूरोप में केवल फ्रांस, इटली, स्विट्ज़रलैंड, रूमानिया और पोलैंड ही पुरानी मुद्रा का प्रयोग कर रहे थे। इस तरह स्वर्ण आधारित मुद्रा के हटते ही आर्थिक मंदी से उबरने की कोशिस तेज हो गई।

अपने–अपने देशों में सरकारों ने कई तरह के तरीके अपनाये, सबसे पहले सरकारों ने एक कड़ा मुद्रा नियंत्रण शुरू किया और विनिमय दरों पर अंकुश लगाया, साथ ही टैरिफ (Tariffs) को ठीक किया, और आयात पर रोक लगायी तथा कठोर कानून लागू किये, दूसरा उन्होंने क्षेत्रीय प्रबध किया, जिसमें नार्वे, स्वीडेन, आदि देशों ने समझौता किया और इसे रोकने का प्रयास किया, तीसरा और सबसे अहम् सभी देशों ने मिलकर प्रयास किया जिसमे 1932 में लाउसेन (Lausanne Convention) जिसने कि युद्धपूर्ति की अंतिम शर्तों को पूरा किया और 1933 का लन्दन सम्मलेन जिसमें 66 देशों ने भाग लिया। इसी समय अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने भी स्वर्ण आधारित मुद्रा त्यागने का साहसिक निर्णय लिया जिसके बाद जल्द ही अमेरिका इस मंदी से बाहर आ गया और फिर पूरे यूरोप ने भी इस महामंदी के दौर से बाहर निकलना शुरू कर दिया।

अभ्यास प्रश्न

प्रश्न 1. आर्थिक मंदी क्या है?
प्रश्न 2. १९२९ में आयी महामंदी के क्या कारण थे?
प्रश्न 3. महामंदी के लक्षणों पर प्रकाश डालिए।
प्रश्न 4. १९२९ के आथिक मंदी का जर्मनी पर क्या प्रभाव पड़ा?
प्रशन 5. इस महामंदी ने किस तरह से अमेरिका के व्यापार और उद्योगों को प्रभावित किया?
प्रश्न 6. इंग्लैंड के जहाजरानी उद्योग पर आर्थिक मंदी का क्या प्रभाव पड़ा?

1.6. सारांश

जहाँ प्रथम विश्वयुद्ध ने पूरे दुनिया को एक आर्थिक संकट में डाल दिया था वहीं इस आर्थिक संकट का विभिन्न देशों पर अलग–अलग प्रभाव देखा गया। इस आर्थिक मंदी ने यूरोप में आर्थिक परिवर्तन के साथ राजनैतिक परिवर्तन को भी बहुत ज्यादा प्रभावित किया। यही वह समय था जब यूरोप में अधिनायकवाद का उदय होता है और इसी अधिनायकवाद के तहत जर्मनी में हिटलर के द्वारा नाज़ीवाद, इटली में मुसोलिनी द्वारा फासीवाद, तथा जापान में सैन्यवाद का उदय होता है जो एक बार फिर से पूरे विश्व को ऐसे युद्ध में झोंक देता है जिसमें प्रथम विश्व युद्ध से भी ज्यादा विनाश हुआ।

1.7. शब्दावली

फासीवाद : फासीवाद लोकतंत्र और समाजवाद के खिलाफ एक ऐसा विचार है जो अधिनायकवाद पर आधारित है, इसका विकास इटली में मुसोलिनी ने किया।
नाज़ीवाद : यह जर्मनी में हिटलर द्वारा विकसित फासीवाद का उग्र रूप है।
सैन्यवाद : जापान में वहां के योद्धाओं के द्वारा जापान के विकास और पश्चिमी शक्तियों का सामना करने के लिए सैनिक आधारित शासन व्यवस्था।
पंचवर्षीय योजना : साम्यवादी रूस के द्वारा अपनी आर्थिक विकास के लिए अपनाया गया आर्थिक नीति, इसमें स्टालिन हर पाच वर्ष के लिए योजना बनाता था की किन विषयों के विकास को प्राथमिकता दी जाय।
कुलक : रूस में जमींदारों को कुलक कहा जाता था।
वाईमर गणतंत्र : प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी में स्थापित तात्कालिक गणतंत्रं

1.8. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उत्तर 1 देखें 1.3.
उत्तर 2 देखें 1.3.1.
उत्तर 3 देखें 1.3.2
उत्तर 4 देखें 1.4.2.
उत्तर 5 देखें 1.4.1
उत्तर 6 देखें 1.4.3

1.9. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

Norman Davies - & Europe.
C-M- Cipolla - & Fontana Economic History of Europe] Volume III : The Industrial Revolution.
E-J- Hobsbawm - & The Age Extremes-
E-J- Hobsbawm - & Nations and Nationalism.
James Joll - & Origins of the First World war (1989)
E-H- Norman - & Japan*s Emergence as a Modern State.
Sneh Mahajan - & Issues in Contemporary World Histor.
जेम्स जौल; यूरोप 1870 से,1991. हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय.
पार्थसारथि गुप्ता; यूरोप का इतिहास, 1983, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय.
देवेश विजय, मीना भारद्वाज, वंदना चौधरी; आधुनिक यूरोप का इतिहास आयाम एवं दिशाएं. 2010. हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय.
लालबहादुर वर्मा, – आधुनिक यूरोप का इतिहास.

1.10. सहायक उपयोगी पाठ्यक्रम

लालबहादुर वर्मा; यूरोप का इतिहास (1789–1945.
V. D. Mahajan(Modern Europe Since 1789.
अनुप कुमार; आधुनिक यूरोप का इतिहास.
हरिशंकर शर्मा; आधुनिक विश्व.
जैन और माथुर; आधुनिक विश्व इतिहासः 1500–2000.

1.11. निबंधात्मक प्रश्न

1. उन कारणों की व्याख्या कीजिए जिसने इस आर्थिक मंदी को जन्म दिया, इसने कैसे विभिन्न देशों को प्रभावित किया?
2. क्या आर्थिक मंदी ही जर्मनी में हिटलर के उदय के लिए उत्तरदायी थी? विस्तार से चर्चा करें।
3. १६२६ की आर्थिक मंदी से उबरने के लिए विभिन्न देशों द्वारा मिलकर किये गए प्रयासों का वर्णन कीजिए।
4. पूरे यूरोप में इसके प्रभाव के बावजूद क्यूँ इस मंदी से रूस बचा रहा? चर्चा कीजिए।

इकाई 2 इटली में फासीवाद, जर्मनी में नाजीवाद और जापान में सैन्यवाद

2.1. प्रस्तावना
2.2. उद्देश्य
2.3. इटली में फासीवाद
2.3.1. फासीवाद क्या है?
2.3.2. इटली में फासीवाद के उदय के कारण
2.3.3. मुसोलिनी द्वारा फासीवाद का विकास
2.4. जर्मनी में नाज़ीवाद
2.4.1. नाज़ीवाद क्या है?
2.4.2. जर्मनी में नाज़ीवाद के उदय के कारण
2.4.3. हिटलर द्वारा जर्मनी में नाज़ीवाद का विकास
2.5. जापान में सैन्यवाद
2.5.1. सैन्यवाद क्या है?
2.5.2. जापान में सैन्यवाद के कारण
2.6. सारांश
2.7. शब्दावली
2.8. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.9. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.10. सहायक उपयोगी पाठ्यक्रम
2.11. निबंधात्मक प्रश्न

2.1. प्रस्तावना

प्रथम विश्व युद्ध क बाद पूरे दुनिया में जो विनाश हुआ था उसके बाद लोगो को लगा की अब ऐसा कोई दूसरा तबाही फिर कभी नहीं होगा लेकिन 1920 के दशक में कुछ ऐसी परिस्थितियां बनी जिसके कारण इटली में फासीवाद, जर्मनी में नाज़ीवाद और जापान में सैन्यवाद का उदय हुआ। इस फासीवादी नीति ने एक बार फिर पुरे विश्व को एक ऐसी आग में धकेल दिया जिसकी लपटें पूरी दुनिया को समेट लिया।मुसोलिनी और हिटलर जैसे दो फासिस्टो ने अपनी तानाशाही और उग्र राष्ट्रवादी नीति के कारण द्वितीय विश्व युद्ध को जन्म दिया. इसका मतलब ये नहीं कि बाकि के देश इस युद्ध के लिए जिम्मेदार नहीं थे।

2.2. उदेश्य

* यह इस खंड की दूसरी इकाई है. इसमें प्रथम विश्व युद्ध क बाद तथा द्वितीय विश्व युद्ध के बिच दुनिया में हो रहे राजनितिक एवं सैनिक परिवर्तन की विशेषता बताई गई है।
* इस इकाई को पढने क बाद आप प्रथम विश्व युद्ध से द्वितीय विश्व के बीच आर्थिक और राजनितिक परिवर्तन के बारे में जान सकेंगे।
* आखिर इटली में ऐसी कौन सी परिस्थितियां थी जिसके कारण वहां पर मुसोलिनी जैसे एक फासीवादी तानाशाह का उदय हुआ।
* जर्मनी में उस समय के आर्थिक और राजनितिक और सैनिक परिस्थितियों के बारे में जान सकेंगें जिसके कारण वहाँ पर हिटलर और उसके नाजी पार्टी का उदय हुआ।
* उस समय जब पूरे एशिया महादेश पर यूरोप के साम्राज्यवादी देशों का वर्चस्व था तब एशिया के एक छोटे से देश जापान में आखिर वो कौन सी परिस्थितियां थी जिसने उसे इन यूरोपीय देशो के ना केवल समान किया बल्कि खुद साम्राज्यवादी बन गया।
* 1930 के दसक में उग्र राष्ट्रवाद कैसे इटली, जर्मनी और जापान में फैला और यह एक महाविनाशक द्वितीय विश्वयुद्ध का कारण बना।

2.3. इटली में फासीवाद

2.3.1. फासीवाद क्या है?

अंग्रेजी का फासिज्म (Fascism) शब्द लैटिन भासा के 'फासी' शब्द से बना है जिसका अर्थ छड़ियों का बण्डल या समूह और एक कुल्हाड़ी होता है। प्राचीन रोम वासी इसे अनुशासन का प्रतीक मानते थे. फासीवाद का कोई निश्चित परिभाषा नहीं है। मुसोलिनी के लेख 'द फासिस्ट' के अनुसार फासीवाद लोकतंत्र के खिलाफ राष्ट्र भक्ति भरा विद्रोह और वास्तविक राजनीति की पुनर्स्थापना है। फासीवाद शासन सहयोग के कर्त्तव्य पर जोर देता है।

रजनी पाम दत्त के अनुसार फासीवाद मौजूदा पूंजीवाद समाज के विरोध स्वरुप खड़ा कोई विशिष्ट अलग दर्शन और प्रणाली है।इसकी विपरीत फासीवाद खास परिस्थितियों में आधुनिक पूंजीवादी नीतियों और प्रवृतियों के पतन की पराकाष्ठा आने से पैदा होने वाली चीज है, और यह उसी पतन की सम्पूर्ण और सतत अभिव्यक्ति करता है ।

अगर मुसोलिनी की बातों पर ध्यान दें तो उसके अनुसार फासीवाद कोई ऐसा सिद्धांत नहीं है, जिसकी प्रत्येक बात को विस्तार पूर्वक पहले से ही स्थिर कर लिया गया हो। फासीवाद का जन्म कार्य किये जाने की आवश्यकता के कारण हुआ इसलिए फासीवाद आरम्भ से ही सैद्धांतिक के बजाये व्यावहारिक है, उसका यह भी मानना था कि फासीवाद एक धार्मिक कल्पना है जिसमें व्यक्ति को एक उच्चतर क्रांति की विधि से सम्बंधित देखा जाता है। यह विधि व्यक्ति की लक्ष्यात्मक इक्षा होती है और वह उसे एक अध्यात्मिक समाज की जागरूक सदस्यता प्रदान करती है।

अब सबसे अहम् सवाल यह उठता है कि फासीवाद और फासीवादी राष्ट्र की प्रकृति क्या होती है? अगर इसकी प्रकृति की बात करें तो पाते हैं कि फासीवादी आन्दोलनों के मामले में आतंकवाद,

संसदीय प्रणाली की अनदेखी, कानून की परवाह न करते हुए गिरोहबंदी, भड़काऊ भाषणबाजी और विरोधी गुटों का दमन आदि प्रमुख रहा है, वहीं दूसरी ओर फासीवाद राज्य को एक निरपेक्ष सत्ता के रूप में देखता है जबकि सारे लोग समूह उसी के सापेक्ष है, जो कोई भी फासीवाद कहता है उसका मतलब राज्य होता है।

रजनी पाम दत्त के अनुसार फासीवाद पूरी जटिल लोकतान्त्रिक विचारधारा का मुकाबला करता है, फासीवाद न तो शास्वत शांति की संभावना को सही मानता है ना ही उसकी उपयोगिता को। फासीवाद राज्य शासन की इच्छा का मूर्त रूप है। फासीवाद के लिए साम्राज्य का विस्तार उसके पौरुष की जरुरी अभिव्यक्ति है, फासीवाद सुख की भौतिक अवधारणा को नकारता है। फासीवादी जिस भी बात अथवा व्यवस्था के विरुद्ध होते थे उसकी भर्त्सना कर वे प्रायः अपनी पहचान करा देते थे।वही अगर फासीवाद के सिद्धान्त पर बल दे, तो पाते हैं की जिस तरह उदारवाद, साम्यवाद का अपना सिद्धांत होता है उस तरह फासीवाद का अपना कोई सिद्धांत नहीं है। अनेक बुद्धिजीवी, फासीवाद की ज्यादतियों की निंदा करते हुए भी उसके विस्तृत चर्चा के लोभ में फस जाते हैं और तुरंत इसके समाजवादी, पूंजीवादी, मजबूत व्यक्ति के शासन और नैतिक गुणों की तारीफ, युद्धों का गुणगान, जातीय और नस्लवादी नजरिये आदि जैसे विचारों की चर्चा करने लग जाते है। उपर्युक्त लिखित बातों का स्पष्टीकरण हमें मुसोलिनी की 1921 के अधिवेशन की चर्चा के दौरान पाते हैं जिसमे मुसोलिनी कहता है की राष्ट्रीय अधिवेशन के बीच के दो महीनों में फासीवाद के सिद्धान्तों की रचना कर ली जाय।

2.3.2. इटली में फासीवाद के उदय के कारण

जहाँ एकीकरण के पहले इटली एक भौगोलिक अभिव्यक्ति ही मानी जाती थी वही 1870 में एकीकरण के बाद यह एक बड़ी शक्ति बन कर उभरती है। इटली भी बाकि यूरोपीय देशों की तरह उपनिवेशवादी नीति का अनुशरण करता रहा और जब प्रथम विश्वयुद्ध होता है तो वह मित्र राष्ट्रों की तरफ से युद्ध में शामिल हो जाता है। इटली युद्ध में मित्र राष्ट्र के साथ युद्ध करता है और विजयी होता है।,पर जिस कारण से इटली प्रथम विश्वयुद्ध में शामिल हुआ वो विजयी राष्ट्र होने के बावजूद भी पूरा नहीं हो सका जो इटली में फासीवादियों के उदय का एक मुख्य कारण बना। इसके अलावा सरकार का निक्कमा पन, साम्यवादियों का डर, पूंजीपतियों एवं सामंतों का सहयोग,आर्थिक मंदी एवं बेरोजगारी आदि भी फासीवादियों के उदय के लिए जिम्मेदार थे।

प्रथम विश्वयुद्ध के पहले इटली, जर्मनी और ऑस्ट्रिया एक साथ थे पर इटली जिन क्षेत्रों के लिए इनके साथ संधि करना चाहता था उसमें से ज्यादातर क्षेत्रों पर ऑस्ट्रिया का अधिकार था। जिसके कारण इटली को लगा की अगर वह जर्मनी और ऑस्ट्रिया के साथ संधि करता है तो शायद वह युद्ध जीतने के बाद भी उन क्षेत्रों को हासिल नहीं कर पायेगा। ऑस्ट्रिया के साथ पुरानी दुश्मनी के कारण भी इटली यह संधि नहीं करना चाहता था, इसलिए वह मित्र राष्ट्रों के साथ संधि कर के ऑस्ट्रिया से 1896 ई. में अडोवा के युद्ध में अपनी हार का बदला भी लेना चाहता था। 1914 ई. में प्रथम विश्वयुद्ध की शुरुआत होती है जिसमें इटली 1915ई. में हुए लन्दन के गुप्त समझौते के

कारन मित्र राष्ट्रों के तरफ से युद्ध में शामिल होता है और मित्र राष्ट्र विजयी होते है पर विजयी राष्ट्रों में शामिल होने के बावजूद भी इटली को जीत के सम्मान के अलावा और कुछ नहीं हासिल हुआ जबकि इस युद्ध में शामिल होने से उसको सैनिक और आर्थिक नुकसान भारी मात्रा में उठाना पड़ा। जहाँ युद्ध में विजयी होने के बाद, लन्दन के गुप्त संधि के अनुसार ट्रेन्तिनो, इस्ट्रीया प्रायद्वीप, ट्रीस्ट, फ्यूम, डाल्मेशिया का तटीय क्षेत्र, और अल्बानिया आदि क्षेत्र मिलना था, पर उसे केवल ट्रेन्तिनो, डाल्मेशिया तट का कुछ भाग और दक्षिणी तिरोल ही प्राप्त हो सका। इस कारण से वहाँ के राष्ट्रवादियों और लोगों में मित्र राष्ट्रों के प्रति रोष व्याप्त था इसलिए वो एक ऐसे विकल्प ढूंढ रहे थे जो इस अपमान का बदला ले सकें और इन क्षेत्रों को इटली के अन्दर ला सके। इसका पूरा लाभ मुसोलिनी की फासी पार्टी को मिला।

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान पुरे दुनिया में इतना नुकसान हुआ की कई देशों की आर्थिक स्थिति बहुत दयनीय हो गई जिसमें इटली भी शामिल था। इस युद्ध के कारण पूरा यूरोप अमेरिकी कर्ज पर आश्रित हो गए। इस कारण अमेरिका में 1929 ई. में आर्थिक मंदी आ गई जिसके कारण पूरे यूरोप में भी आर्थिक मंदी आ गयी। इटली भी इसे अछूता नहीं रहा और वहाँ भी इस मंदी ने अपने जाल पसार दिए। इटली के सबसे बड़े शहर सिसली में बेरोजगरी चरम सीमा पर थी।1914 ई. से 1920 ई. के बीच लीरा जो इटली का मुद्रा थी उसमें अस्सी प्रतिशत (80:) तक अवमूल्यन हो गया। इसके फलस्वरूप करो का भार मध्य वर्ग पर आ गया। युद्ध के दौरान बढ़ते हुए शस्त्रों के मांग के कारण रोजगार बढ़ा परन्तु युद्धोपरांत मांग समाप्त होने से बरोजगारी फैली। धातुखनन और नौपरिवहन वित्तीय कम्पनी जो अब तक सरकार को वित्तीय सहायता मुहैया कराते थे कम होने लगी। अपने डूबते उद्योगों को बचाने के लिए राज्य की हस्तक्षेप की मांग करने लगे। पूंजीपति वर्ग फासीवाद को साम्यवाद विरोधी के रूप में सत्ता में लाना चाहती थे।

युद्ध के बाद इटली में क्रन्तिकारी लहरें काफी ऊंचाई तक पहुंची और उसका असर औद्योगिक मजदूरों, हतोत्साहित सैनिकों, गरीब किसानों, और खेतिहर सर्वहारा समेत सभी पर पड़ा। जिसके कारण ये सारे तबके किसी ऐसे नेता या सरकार की उम्मीद करने लगे जो इनकी समस्याओं को दूर कर सके। इसलिए ये लोग अब मुसोलिनी की फासी पार्टी को समर्थन देने लगते हैं। दूसरी तरफ हड़तालों के दौरान हम पाते हैं कि किसान, सामंत के जमीनों पर कब्ज़ा शुरू कर देते हैं। इससे सामंतों में साम्यवाद आने का डर बन जाता है, जिससे ये सामंत ,फासीयों को सत्ता में लाना चाहते थे, जो उनकी सामंती व्यवस्था को बने रहने में मदद करे।

फासीवादियों को सत्ता में आने के लिए सरकार के निक्कमेपन ने भी एक तरह से सहयोग दिया। सरकार 1920 ई. तक इतनी लाचार हो गई थी कि इटली में उस समय कुछ ऐसी असामाजिक घटनाएँ हो रही थी जिसको रोकने में सरकार विफल रही। अमेरिकी पत्रकार मोरवर ने लिखा है कि सेना फासीवादियों को हथियार और प्रशिक्षण देती थी। सेना की सहानुभूतियाँ भी उनके साथ होती थी। फासीवादियों के हिंसक अभियानों में अधिकारी वर्दी पहन कर भाग लेती थी। फासियों के हथियार सेना के बैरक में जमा होते थे। हत्या, हिंसा, और आगजनी में पुलिस उदासीन बनी रहती थी, फासीवादियों द्वारा समाजवादियों को जान से मारने की धमकी, मारपीट, और इस्तीफे की मांग करती थी तब अधिकारी सहयोग के बजाय कंधे बिचका के चल देती थी। जून 1921 ई. में

जियालिटी ने प्रधान मंत्री पद से त्यागपत्र दे दिया, इस तरह हम देखते है कि 1926 ई. में फासीवादी सरकार अपनी प्रयोगों के आधार पर पूरी तरह स्थापित हो जाती है।
रजनी पाम दत्त के अनुसार इटली में क्रन्तिकारी लहर को न तो बुर्जवा काटती है ना ही फासीवादी तोड़ पाते है, यह अंदरूनी कमजोरी और क्रान्तिकारी नेतृत्व के अभाव में सुधारवादियों के चलते टूट जाती है. इटली में फासीवाद तभी सामने आया जब सर्वहारा वर्ग का आन्दोलन टूट जाता है और फासीवाद पुलिस और सैनिकों के संरक्षण में अपने विरोधियों का दमन करता है, साथ ही साथ फासीवादी तानाशाह एक नये रूप में बुर्जवा नीतियों के निरंतरता का उदाहरण था।

2.3.3. मुसोलिनी द्वारा फासीवाद का विकास

बेनितो मुसोलिनी (1883–1943)इटली का एक साधारण सैनिक था,उसका जन्म 29 जुलाई 1883 ई. को डोविया के समीप वरानो डी कोस्टा गाँव में हुआ था, उसके पिता का नाम अलेसांद्रो था,उसके पिता लुहार तथा माता अध्यापिका थी, 18 वर्ष की आयु में अपनी माता के कहने पर पह खुद एक अध्यापक बना। उसके नायक जूलियस सीजर और नेपोलियन थे। पह समाजवादियों से घृणा करनेवाला एक समय समाजवादी था, समाजवादी लोग प्रथम विश्वयुद्ध के विरूद्ध थे क्यूंकि उसे पूंजीवादीयों का आपसी झगड़ा समझा जाता था, मुसोलिनी का भी शुरू से ही यही मत था लेकिन बाद में उसने युद्ध में एक अवसर देखा और इटली के युद्ध में शामिल होने का हिमायती बन गया, इसलिए उसे समाजवादी दल से हटना पड़ा।
फ्रांस सरकार के वित्तीय सहयोग से उसने नवम्बर में हस्तक्षेपवादी विचारों की पत्रिका 'पोपोलो डी इटालियन' निकालनी शुरू की, 1915 ई. में उसने मिलान में जिस 'फासी डी एजियोन इंटरवेंतिस्ता'की स्थापना की थी, वही भविष्य में फासीवादी गतिविधियों का केंद्र बना। 1919 ई. में मिलान में अपने अनुयायिओं के साथ 'फासियों डी कोम्बैन्टीमिन्तो' की शुरुआत की, जिसका कार्यक्रम अन्धास्त्रवादी, लोकतंत्रात्मक और क्रान्तिकारी लगनेवाले कार्यक्रम का मिलाजुला रूप था, दिसंबर 1920 ई. में फासी ने एक राजनैतिक पार्टी का गठन किया ,इसमें भूतपूर्व सैनिक और उग्र विचारों के राष्ट्रवादी शामिल थे। इस दल के कार्यकर्ता काली कमीज पहनते थे, अस्त्र–शत्र रखते थे और अनुशासन प्रिय थे ,मुसोलिनी अपने दल का कमांडर था जिसे 'ड्यूस' (Duce) कहा जाता था।सरकार के तरफ से इसे समर्थन प्राप्त था, 1919– 1920 ई. में सेना के अधिकारीयों के बीच 'पोपोली डी इटालियन' मुफ्त बांटी गई।
फासियों ने अपने घोषणा पत्र में कई लुभावने वादे किये जिससे वो असंतोष भरी जनता को अपनी ओर आकर्षित कर सके, इस घोषणा पत्र में उन्होंने कहा कि उनकी पार्टी राजशाही और सामंती प्रथा को समाप्त करना, युद्ध के मुनाफे जब्त करना, अंतर्राष्ट्रीय निशस्त्रीकरण, शेयर बाजारों को उठा देना, किसानों को जमीने बांटना, उद्योगों पर मजदूरों का नियंत्रण स्थापित करना इत्यादि शामिल था, फासियों के प्रचार अभियान में हड़ताल, खान–पान की सामग्री की लूट, जमीन और उद्योगों पर कब्ज़ा करने, राज्य व्यवस्था का वहिष्कार करना,उनके प्रचार अभियान में शामिल था। मुसोलिनी एक व्यक्ति, एक राज्य के शाशन में विश्वास करता था। उसका यह नारा था की राज्य

का उसके सभी रूपों सहित नाश हो क्योंकि उसके अनुसार इटली के इस दुर्दशा का कारण लोकतंत्र था और वह लोकतंत्र के प्रति बहुत अवज्ञा प्रदर्शित करता था।
1920 ई. के प्रारम्भ और 1921 ई. के अंत तक फासिस्ट सशत्र दलों ने अनेक स्थानों पर साम्यवादी कार्यकर्ताओं और क्रांतिकारी मजदूर समुदायों के विरुद्ध संघर्ष किया, इससे मुसोलिनी का दल इटली में शक्तिशाली हो गया और 1921 ई. के चुनाव में उसके सदस्य 35 स्थानों पर विजयी हुए,अपनी इस बढती शक्ति के आधार पर उसने अक्टूबर 1922 ई. को नेपल्स में फासिस्ट अधिवेशन में घोषणा की कि सत्ता हमारे हाथों में सौंप दी जाय नहीं तो हम रोम पर चढ़ाई कर देंगे। 27 अक्टूबर 1922 ई. को मुसोलिनी करीब 40000 सशत्र युवकों के साथ रोम के तरफ चल पड़ा और इटली के कई प्रमुख नगरों पर अधिकार भी कर लिया,इसके कारण तत्कालीन प्रधानमंत्री लुइगी फैक्टा ने त्यागपत्र दे दिया जिसके बाद सम्राट विक्टर इमेनुअल ने मुसोलिनी को प्रधानमंत्री का पद ग्रहण करने के लिए आमंत्रित किया। 30 अक्टूबर 1922 ई. को मुसोलिनी ने रोम पहुचकर अपना मंत्रिमंडल गठित किया और बाद में प्रधानमंत्री का पद त्याग कर अधिनायक बन गया।

2.4. जर्मनी में नाज़ीवाद

2.4.1. नाज़ीवाद क्या है?

नाज़ीवाद फासीवाद का ही एक उग्र रूप है जिसको हिटलर ने जर्मनी में विकसित किया। नाज़ीवाद के अंतर्गत राष्ट्रवाद को सर्वोचता प्रदान की गई है, रजनी पाम दत्त के अनुसार इटली में फासीवाद आने तक उदारवादी' लोकतंत्रवादी और सामाजिक लोकतंत्रवादी हलकों में आमतौर पर यह माना जाता था कि फासीवाद और यहाँ का औद्योगिक सर्वहारा वर्ग मजबूत नहीं है, लेकिन जर्मनी यूरोप का सबसे उन्नत और औद्योगिक रूप से विकसित देश था और पूरे पूंजीवादी जगत में इससे संगठित और राजनैतिक रूप से सचेत औद्योगिक सर्वहारा और कही का नहीं था।
1923 ई. के म्यूनिख विद्रोह को असफल कर दिया जाता है और हिटलर को जेल भेज दिया जाता है, परन्तु वह अपने तेरह महीने के कारावास का उपयोग अपनी जीवनी 'मीन कैम्फ़' लिखने में व्यतीत करता है। जेल से बाहर आने के बाद उसने स्वयं को पेंटर (रंगसाज) के स्थान पर लेखक कहना शुरू कर दिया। समकालीन लोग और कुछ इतिहासकारों ने इस जीवनी को 'दिवास्वाप्न' मानकर महत्व नहीं दिया इसका कारण शब्दों का आडम्बरपूर्ण होना, बनावटी शैली, बार–बार दोहराने की परवर्ती और सम्भ्रांतियों और मौलिक विचारों का पूर्ण आभाव । ए. जी. पी. टेलर के शब्दों में यह ऑस्ट्रिया के किसी भी कॉफ़ी हाउस या जर्मनी के किसी मधुशाला के वार्तालापों में गुजानेवाली अभिव्यक्ति है, कुछ हद तक यह एक भ्रामक जीवनी है, तो यह एक राजनितिक कार्यक्रम और कार्यवाही की पुस्तिका भी है, उत्तरजीविका के लिए संघर्ष का विचारहै। हिटलर लोकतंत्र का विरोधी था, उसने इसका विरोध करते हुए कहा था कि 'लोकतान्त्रिक सिद्धांत सदैव जनता की बर्बादी का कारण बने थे, नाजियों का एक मात्र उद्देश्य यह था की पूंजी तथा श्रम का उपयोग राष्ट्र के हित में होना चाहिए और राष्ट्र की सामूहिक आवश्यकताओं के हित में ही उत्पादन तथा वितरण की व्यवस्था होनी चाहिये।

2.4.2. जर्मनी में नाज़ीवाद के उदय के कारण

वर्साय की संधि जहाँ जर्मनी के लिए एक सबसे शर्मनाक घटना थी जिसने वहां नाज़ीवाद को पनपने में काफी योगदान दिया ,वहीं उस समय जर्मनी में कुछ ऐसी घटनायें हो रही थीं जिसने इसे और मजबूत स्थिति प्रदान की। इसके पीछे आर्थिक मंदी, वाइमर गणतंत्र की असफलता, साम्यवाद का डर, यहूदी विरोधी नीति, जर्मनी के संविधान की कमियाँ और हिटलर का व्यक्तित्व जर्मनी में नाज़ीवाद के विकास के मुख्य कारण थे।

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति वर्साय की संधि के साथ हुई, लेकिन यही वर्साय की संधि बाद में द्वितीय विश्वयुद्ध का कारण भी बनी, वर्साय की संधि का सबसे ज्यादा विरोध जर्मनी की जनता ने किया, क्यूंकि इस संधि के तहत जर्मनी का निशस्त्रिकरण तो हुआ ही साथ ही जर्मनी को और कई कठोर शर्तों को मानना पड़ा। इस संधि के अनुसार उसे मित्र राष्ट्रों को युद्ध की क्षतिपूर्ति के लिए एक बड़ी रकम देनी थी। मित्र राष्ट्रों द्वारा राइन प्रदेश, तथा उसके उपनिवेशों को छीना जाना तथा फ्रांस द्वारा उसके खदानों पर कब्ज़ा करना आदि से जर्मनी की जनता बहुत नाखुश थी, हिटलर तथा उसकी नाज़ी पार्टी इसका विरोध करती थी, जिसके कारण उसकी पार्टी को जर्मनी में काफी समर्थन मिला।

प्रथम महायुद्ध के बाद यूरोप में एक भयानक आथिक संकट 1929 ई. में आया। इस आर्थिक मंदी ने जर्मनी की अर्थव्यवस्था को बिगाड़ के रख दिया, रुर पर फ्रांसिसी कब्ज़े के कारण उसके उद्योग धंधे ठप हो गए तथा इस संकट के कारण जर्मनी की मुद्रा का अवमूल्यन हो गया और जर्मन मुद्रा मार्क का मूल्य घट गया। इसके कारण व्यापार और रोजगार का पतन हुआ, बेरोजगारो की संख्या वर्ष 1930 ई. तक आते आते जर्मनी में पचास लाख से अधिक पहुँच गई थी और यह वही समय था जब नाज़ी दल के सदस्यों की संख्या में असाधारण वृद्धि हुई। 1931 ई. में जर्मन कृषकों पर तीन अरब डॉलर का कर्ज था । हिटलर ने कृषकों को इन कर्ज से मुक्ति का अश्वासन दिया, वहीं दूसरी ओर छोटे–छोटे दुकानदारों को बड़े–बड़े दुकानदारों से मिल रही प्रतिस्पर्धा से हानि पहुँचती थी। हिटलर ने कहा कि बड़े–बड़े दुकानों का समाजीकरण कर दिया जायेगा, जिसके कारण नाज़ी दल के समर्थकों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई।

प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी की पराजय के बाद वहाँ पर एक गणतंत्र की स्थापना की गई जिसे वाइमर गणतंत्र के नाम से जाना जाता है, वर्साय की संधि पर वाइमर गणतंत्र की सरकार ने ही हस्ताक्षर किया था, इस कारण से जर्मन लोगों ने इस सरकार को अंतरात्मा से नहीं स्वीकार किया, वहीं दूसरी ओर नाजियों द्वारा बिखराव और फूट पैदा करने से वाइमर गणतंत्र कमजोर हो रहा था, परिणाम यह हुआ की पूंजीवादी वर्ग और सामंती समाज का मुख्य हिस्सा नाजियों में जा मिला, हिटलर वर्साय की संधि और वाइमर गणतंत्र का विरोध करता था जिससे उसकी पार्टी को सत्ता में आने में लोगो का समर्थन मिला।

1917 ई. के रुसी क्रांति के बाद वहाँ साम्यवादी सरकार स्थापित होती है जिसके बाद पूरे यूरोप में समाजवाद लाने के लिए लगभग सभी यूरोपीय देशों में कमिन्टर्न की स्थापना की गई, जर्मनी में भी समाजवादी क्रांति लाने के लिये कमिन्टर्न की स्थापना हुई जिससे वहां के पूंजीपति एवं सामंती

समाज पर खतरा मडराने लगा। इस बात की पुष्टि 1932 ई. के प्रथम लोकसभा निर्वाचन से होती है जिसमें साम्यवादियों को 89 (सीट) तथा इसी वर्ष दुसरे निर्वाचन में 100(सीट) स्थान प्राप्त हुए थे। इस कारण वहां के पूंजीपति वर्ग में समाजवाद का डर बढ़ जाता है। इसी दरम्यान हिटलर कमिन्टर्न विरोध का नारा देता है, साथ ही वह अपने कार्यकर्ताओं के साथ मिलकर कमिन्टर्न कार्यालयों पर आक्रमण करना शुरू कर देता है, अब साम्यवादी आन्दोलन और प्रतिरोध को दबाने के लिए नाजियों को पुलिस और अदालत से संरक्षण मिलने लगता है, इसके बाद हम देखतें हैं कि हिटलर को जो पहले पूंजीपतियों द्वारा आंशिक मदद मिल रही थी वह अब जर्मन पूंजीपति के साथ साथ विदेशी बुर्जवा से भी मदद तथा धन प्राप्त होने लगता है।

हिटलर की यहूदी विरोधी नीतियों ने भी नाजियों को सता में आने में एक हद तक योगदान दिया, प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी की पराजय के समय ही जर्मन जनता में यह भावना व्याप्त हो गई की जर्मनी की पराजय यहूदियों के कारण हुई थी, जर्मनी में यहूदियों की संख्या बहुत कम थी पर ये राजनैतिक रूप से काफी सचेत थे। व्यापार, व्यवसाय, शिक्षा और कला में काफी आगे थे, बड़े उद्योंगों पर इनका स्वामित्व होने से जनता इन्हें अपना शोषक मानती थी, हिटलर भी यहूदियों को उपर्युक्त कारणों के लिए जिम्मेदार मानता था और कहता था कि ये संकर जातियां है तथा ये राष्ट्रीय पतन का घोतक है, इसके साथ ही वह यहूदियों को उदारवाद तथा लोकतंत्र का पोषक मानता था इसलिए वो इनको जर्मनी से बाहर निकाल फेंकने की बात करता था, हिटलर यहूदियों की नागरिकता रद्द कर देता है, तथा सरकारी नौकरियों से हटा देता है, स्कूल और कॉलेजों में पढ़ रहे यहूदी छात्रों का नामांकन रद्द कर देता है, हिटलर की इस नीति के कारण वहाँ की जनता नाज़ी पार्टी की समर्थन करने लगती है।

2.4.3. हिटलर द्वारा जर्मनी में नाज़ीवाद का विकास

हिटलर का जन्म 20 अप्रैल 1889 ई. में ऑस्ट्रिया की राजधानी वियना के समीप एक गाँव में हुआ था,इसके पिता कस्टम अधिकारी थे और सख्त अनुशासन में विश्वास रखते थे, हिटलर अपने पिता के प्रति कभी विरोधी भावनाएं रखता था, स्कूल के समय से ही उसके अन्दर जर्मन राष्ट्रवादी भावनाएं प्रबल हो रही थी, शुरुवाती दिनों में वह पेशे से पेंटर था, हिटलर का व्यक्तित्व और भाषण का जादुई असर था क्यूंकि उसके पार्टी की जनता पर पकड़ ना होते हुए भी सरकार पर प्रभाव डाले हुए थी। हिटलर एक कुशल नेतृत्व कर्ता और जन नेता था।

प्रथम विश्वयुद्ध में वह जर्मन सेना में बतौर सैनिक शामिल हुआ और पुरष्कृत भी किया गया, 1920 ई. में म्यूनिख में फेडरर के साथ मिलकर उसने 'नेशनल सोशलिस्ट जर्मन वर्कर्स पार्टी' का गठन किया। उसकी आत्मकथा 'मीन कैम्फ' नाज़ी पार्टी के लिए एक प्रेरणा श्रोत पुस्तक बन गई। उसके द्वारा आर्यों के पवित्रता के सूचक स्वास्तिक को प्रतीक रूप से ग्रहण कर सैनिक ढंग से पार्टी संगठित की गई थी।

जर्मनी में नाजीवाद के आने के लिए हिटलर के आकर्षक कार्यक्रम ने सबसे ज्यादा योगदान दिया, उसने अपने कार्यक्रम में, वर्साय की संधि से जर्मनी पर लगा अपमान समाप्त करना, जर्मन भाषी

सभी राज्यों को मिला कर एक सुदृढ़ राज्य की स्थापना करना, प्रथम विश्वयुद्ध के उपरांत जर्मनी के छीने गये उपनिवेश पुनः प्राप्त करना, यहूदियों को जर्मन राष्ट्र से निकलना, जर्मन क्षेत्रों का विस्तार करना, साम्यवादी प्रक्रिया को रोकना, देश में शांति की स्थापना करना, बेरोजगारी को दूर करना, श्रमिकों को शोषितों से मुक्ति दिलाना, मुनाफाखोरी को रोकना तथा पुराने गौरव की स्थापना करना आदि शामिल था। इस तरह नाज़ी कार्यक्रम के कारण हिटलर को जनता का समर्थन प्राप्त होने लगता है और इस तरह 1933 ई. में हिटलर सत्ता में आकर जर्मनी में तानाशाही की स्थापना करता है।

2.5. जापान में सैन्यवाद

2.5.1. सैन्यवाद क्या है?

सैन्यवाद उग्रराष्ट्रवाद के परिणाम स्वरुप उत्पन एक ऐसी विचारधारा और राजनैतिक गतिविधि है जिसके तहत सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं, संस्कृति और राजनीति सैन्य मूल्य के अधीन हो जाता है। जिस किसी देश में भी ऐसा वातावरण हो वहाँ पर सबसे महत्वपूर्ण युद्ध तथा उससे सम्बंधित तैयारियां हो जाती हैं। जहाँ कही भी सैन्यवाद जन्म लेता है वहाँ पर मनुष्यों या उस देश के नागरिकों की सुविधाओं का ध्यान बाद में रखा जाता है जबकि इसमें युद्ध को ज्यादा महत्व दिया जाता है। इसमें सैनिकों का प्रभाव ज्यादा होता है तथा देश के कोई भी नियम उनके हिसाब से ही बनाये जाते है। ऐसी परिस्थितियों में सरकार द्वारा गठित मंत्रिमंडल जो सेना से सम्बंधित हो उसका चुनाव भी सैनिक अधिकारियों के बीच से किया जाता है, अगर सरकार चाहे भी तो उनके इजाजत के वगैर अपनी मंत्रीमंडल का गठन नहीं कर सकती, सैन्यवाद वहीं आता है जहां राजतन्त्र या लोकतंत्र कमजोर होता है।

सैन्यवाद का एक उग्र रूप जापान में भी उभर कर आता है। जापान जो एशिया महादेश का एक छोटा सा देश है, वह पश्चिमी देशों के साथ संपर्क में आ कर बीसंवी शताब्दी में खुद साम्राज्यवादी बन जाता है। उस समय एशिया महादेश के लगभग सभी देशो पर साम्राज्यवादी यूरोपीय देशों का प्रभाव था पर सिर्फ जापान ही अपना अस्तित्व बचाए रखने में सक्षम रहा,जापान में उस समय कुछ ऐसी परिस्थितियां थी जिसके कारण वहां पर सैन्यवाद मजबूत हुआ। जापान में सैन्यवाद के उदय में लोकतंत्र तथा उदारवादियों की नाकामी, उपनिवेश की इक्षा, आत्म सुरक्षा और आर्थिक विकास आदि ने बहुत योगदान दिया।

2.5.2. जापान में सैन्यवाद के कारण

1853 ई. में कॉमोडोर पैरी का जापान के तटीय क्षेत्र पर आगमन के साथ ही जापान व्यापारिक उद्देश्य से पूरे यूरोप के लिए खुल जाता है, इस घटनाक्रम के बाद वहाँ के शासक कुछ रियायतों के साथ मुक्त व्यापार की नीति मानने को तैयार हो गई थे और यही बाद में तोकुगावा का पतन और मेजी पुनःस्थापना में भी हुआ। जापान को उस समय से ही अपनी अस्तित्व बचाने के लिए इन यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों का सामना करना पड रहा था जिसके कारण जापान अपने आप को

20वीं सदी के शुरुवात तक मजबूत बनाता है। जापान में सैन्यवाद के कई कारण थे, जिसमें उपनिवेशवाद की इक्षा, आर्थिक मंदी, आत्म सुरक्षा और लोकतंत्र तथा उदारवादियों की नाकामी आदि शामिल हैं।

जापानी उपनिवेशवादी नीति ने भी सैन्यवाद को पनपने में योगदान दिया, जापान अपने आप को सैनिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में मजबूत करता है और 19वीं शताब्दी के अंतिम समय तथा 20वीं शताब्दी के प्रारंभ से खुद साम्राज्यवादी सोच अपनाने लगता है, चूँकि जापान उस समय एशिया का एक मात्र शक्तिशाली देश था इसलिए साम्राज्यवादी नीति का प्रसार करने लगता है, ताकि वह पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों के साथ कदम से कदम मिलाकर चल सके, जबकि 1895 ई. के पहले भी जापान ने अपनी सेना का निर्माण तथा आधुनिकीकरण किया था पर जापानी नेताओं ने यह महसूस किया की अभी जापान साम्राज्यवादी यूरोपीय देशों की बराबरी नहीं कर पाया है, इस कारण से जापान में 1895 ई. से 1904 ई. के बीच बड़ी तेजी से सैन्यवाद का विकास हुआ।

मध्य काल में जापान में भी सामंतवाद मजबूत था और जापान में सामंतों का शासन था पर 1867 ई. में अंतिम शोगुन सामंत द्वारा त्यागपत्र देना तथा 1868 ई. में सम्राट मुत्सुहितो द्वारा देश की सम्पूर्ण सत्ता संभालना जापान की एक बड़ी घटना थी, इसके बाद जापान जल्द ही प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति कर विश्व में शीघ्र ही एक शक्तिशाली एवं सम्मानीय देश बन गया, जापान के इतिहांस में फिर से एक मोड़ तब आया जब 1912 ई. में सम्राट मुत्सुहितो की मृत्यु के बाद सैन्यवाद ने अपना वर्चस्व बढ़ाना शुरु कर दिया जबकि 1907ई. से ही सेना के उच्च अधिकारी अपनी अहम् भूमिका निभा रहे थे। अगर इसके बाद का जापानी इतिहास को देंखे तो पाते है की 1918ई. से 1932ई. के बीच वहाँ पर दलीय सरकारें थी लेकिन वहाँ के प्रधानमंत्री और उनके मंत्रिमंडल के अधिकतर सदस्य प्रतिनिधि सभा के बहुदलीय दल के होते थे, बावजूद इसके उन्होंने एक आदर्श संवैधानिक प्रणाली के रूप में अपने आप को स्थिर नहीं कर पाया था। दूसरी तरफ उदारवादी भी जापान को एक लोकतान्त्रिक राज्य बनाने में असफल रहे। इन्ही सब परिस्थितियों में जापान में सैन्यवाद या उग्रराष्ट्रवाद का जन्म हुआ।

जापान के नेता और सैन्य अधिकारी सुरक्षा कारणों से यह महसूस करते थे कि अगर जापान अपने आप को सैन्य दृष्टि से मजबूत नहीं करेगा तो पश्चिमी साम्राज्यवादी देश विशेष कर रूस उसको जीत कर अपने प्रभाव क्षेत्र में ले लेगा, पहले भी 1904–05 ई. में रूस के साथ जापान का युद्ध हो चुका था, जिसके कारण जापानियों को लगता था कि अगर जापान सैनिक दृष्टी से कमजोर हो जायेगा तो रूस उसके ऊपर आक्रमण कर देगा, 19 वीं शदी के आखिर तक पडोसी चीन भी आर्थिक और सैनिक दृष्टि से कमजोर था जिसके कारण एशिया में अपनी साख बचाए रखने के लिए जापान ने सैन्यवाद को बढ़ावा दिया।

आर्थिक दृष्टि से भी जापान में सैन्यवाद जरुरी था, जापान की अर्थव्यवस्था पर विदेशी व्यापार का बहुत महत्व था जिसके कारण 1929 ई. में आई आर्थिक मंदी ने वहाँ के लोगों की स्थिति को दयनीय बना दिया, यह आर्थिक मंदी तब आई थी जब जापान के लोग 1923ई. में आये भूकंप और 1920 के दशक में आर्थिक अस्थिरता ने वहाँ के किसानों और मजदूरों को बहुत बुरी तरह प्रभावित कर दिया था। इस कारण से उस समय जापान में साम्राज्यवाद की भावना प्रबल होने

लगी जिससे कि विदेशी व्यापार को जारी रखा जा सके, आर्थिक विकास के लिए भी चीन के बाजार की जरुरत थी जहाँ उसके कपडा तथा निर्मित वस्तुओं का निर्यात किया जा सके।चीन इसके लिए एक अच्छा बाजार था जहाँ कच्चा माल भी प्राप्त किया जा सकता था, साथ ही जापान अपनी बढती जनसंख्या को मंचूरिया में बसा सकता था तथा वहाँ से कच्चा माल भी पा सकता था इसलिए उसने 1931 ई. में मंचूरिया पर कब्ज़ा कर लियाद्य।

2.6. सारांश

इस इकाई में प्रथम विश्वयुद्ध के बाद यूरोप में उत्पन्न राजनीति और कूटनीति के साथ इटली और जर्मनी में फासी और नाज़ी तानाशाही के साथ एशिया का सबसे शक्तिशाली देश जापान में सैन्यवाद के आने के कारणों का जिक्र किया गया है। फासीवाद और नाज़ीवाद कैसे उग्रराष्ट्रवाद की आड़ में द्वितीय विश्वयुद्ध का कारण बना, इसमें आपने मुसोलिनी तथा हिटलर के व्यक्तित्व और उसके नेतृत्व का भी अध्ययन किया। जापान कैसे यूरोपीय औपनिवेशिक देशों की बराबरी करने के लिए सैन्यवादी नीति को अपनाता है इसका भी विवरण किया गया है। दुनिया के यही वो देश और लोग थे जिन्होंने अपनी आक्रमणकरी नीति के तहत एक बार फिर पूरे विश्व को महायुद्ध में धकेल दिया, इस युद्ध के लिए दुसरी यूरोपीय शक्तियां जैसे इंग्लैण्ड और फ्रांस भी कम जिम्मेदार नहीं थी क्यूंकि इन्हें अपने उपनिवेशों को बनाए रखने की चिंता थी जबकि फासीवादी देश भूखे साम्राज्यवादी थे जिन्हें अपनी शक्ति के हिसाब से उपनिवेशों की लूट में अनुपातिक हिस्सा नहीं मिला। इसी कारण से द्वितीय विश्वयुद्ध हुआ और फासीवादी राष्ट्रों की हार हुई।

2.7. शब्दावली

वाइमर गणतंत्र : प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी के पराजय के बाद वहाँ पर एक गणतंत्र की स्थापना की गई जिसे वाइमर गणतंत्र के नाम से जाना जाता है।

कमिनटर्न :रुसी क्रांति के बाद रूस के बाहर दुसरे देशो में साम्यवादी क्रांति लाने के उदेश्य से गठित की गई संस्था।

साम्यवाद :ऐसी संस्था जिसमे संसाधनों पर सामूहिक या सर्कार की नियंत्रण हो।

पूंजीवाद : उत्पादन पर निजी स्वामित्व

साम्राज्यवाद : किसी शक्तिशाली देश द्वारा किसी दुसरे देश को शैनिक शक्ति के बल पर आधिपत्य करना और उसके संसाधनों का अपने हित के लिए उपयोग करना।

उपनिवेश : जिस देश को साम्राज्यवादी देश अपने प्रभाव क्षेत्र में लेते है उस देश को उसका उपनिवेश कहा जाता है।

राष्ट्रवाद :किसी खास भौगोलिक क्षेत्र के लोगों में अपनी संस्कृति औए समाजिक समानता के कारण अपने क्षेत्र के प्रति भावनात्मक लगाव।

उग्रराष्ट्रवाद :किसी खास क्षेत्र या राष्ट्र के द्वारा राष्ट्रवाद के नाम पर आक्रामक नीति को अपनाना ।

2.8. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

प्रश्न 1. फासीवाद से आप क्या समझते है?
उत्तर देखिये भाग 2.3.1.
प्रश्न 2. नाज़ीवाद से आप क्या समझते है?
उत्तर देखिये भाग 2.4.1.
प्रश्न 3. हिटलर के जीवन के बारे में बताइए।
उत्तर देखिये भाग 2.4.3.
प्रश्न 4. सैन्यवाद से आप क्या समझते हैं?
उत्तर देखिये भाग 2.5.1

2.9. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

रजनी पाम दत्त;फासीवाद और सामाजिक क्रांति. अनुवादक– अरविन्द मोहन. 2002.ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड.
जेम्स जौल;यूरोप 1870 से,1991.हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय.
पार्थसारथि गुप्ता;यूरोप का इतिहास, 1983, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय.
देवेश विजय, मीना भरद्वाज, वंदना चौधरी;आधुनिक यूरोप का इतिहास आयाम एवंदिशाएं.2010. हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय.
E.H. Norman; Japan's Emergence as a Modern State.

2.10. सहायक उपयोगी पाठ्यक्रम

लालबहादुर वर्मा;यूरोप का इतिहास (1789–1945.
V. D. Mahajan;Modern Europe Since 1789.
अनुप कुमार;आधुनिक यूरोप का इतिहास.
हरिशंकर शर्मा; आधुनिक विश्व.
जैन और माथुर; आधुनिक विश्व इतिहासरू 1500–2000.

2.11. निबंधात्मक प्रश्न

प्रश्न.1.फासीवाद क्या है? इसकी प्रकृति के बारे चर्चा करे
प्रश्न.2. इटली में फासीवाद के उदय के क्या कारण थे
प्रश्न.3. इटली में फासीवाद लाने में मुसोलिनी का क्या योगदान था द्य
प्रश्न.4. वर्साय के संधि के अलावा जर्मनी में ऐसी कौन सी परिस्थितिया थी जिसके कारण वहाँ नाजीवाद को पनपने में मदद मिली?
प्रश्न.5. जर्मनी में नाजियों के सता में आने के लिये हिटलर का क्या योगदान था ?
प्रश्न.6. जापान की किन परिस्थितियों ने वहाँ पर सैन्यवाद को प्रबल किया ?

इकाई 3 द्वितीय विश्व युद्ध

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 द्वितीय विश्व युद्ध के कारण
3.3.1 वर्साय की सन्धि
3.3.2 1930 की महामन्दी
3.3.3 जापानी सैन्यवाद का उभार
3.3.4 विचारधारात्मक कारण
3.3.5 हिटलर की भूमिका
3.3.6 तुष्टीकरण की नीति
3.3.7 लीग आफ नेशन्स की असफलता
3.3.8 विजेता राष्ट्रों का मनमानापन
3.3.9 इतिहासकारों का दृष्टिकोणः दोषी कौन?
3.4 युद्ध का घटनाक्रम
3.4.1 आरम्भिक चालः सितम्बर 1939–दिसम्बर 1940 सितम्बर
3.4.2 धुरी राष्ट्रों के आक्रमणों में तेजीः 1941–1942
3.4.3 धुरी राष्ट्रों के आक्रमण प्रतिरोध में फँसेः 1942:1943
3.4.4 धुरी राष्ट्रों की पराजयः जुलाई 1943–अगस्त 1945
3.5 युद्ध के परिणाम
3.5.1 जानमाल और सम्पत्ति की अभूतपूर्व तबाही
3.5.2 विस्थापन की महामारी
3.5.3 उपनिवेशवाद विरोधी उभार
3.5.4 शक्ति सन्तुलन में फेरबदल
3.5.5 सर्व–समावेशी शान्ति समझौते का अभाव
3.5.6 अफ्रीका और मध्य पूर्व में स्वतन्त्रता की लहर
3.5.7 सामाजिक और वैज्ञानिक विकास का दौर
3.5.8 युद्ध के सांस्कृतिक प्रभाव
3.5.9 संयुक्त राष्ट्रसंघ का उदय
3.6 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.8 अध्ययन के लिए ग्रन्थ सूची
3.9 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम द्वितीय विश्व युद्ध के महत्वपूर्ण पहलुओं का अध्ययन करेंगे। विश्वयुद्ध के कारणों व उसकी पृष्ठभूमि की जानकारी भी इस इकाई में हासिल कर सकेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप बीसवीं सदी के सबसे विध्वंसकारी युद्ध के विभिन्न कारकों के सापेक्षिक महत्व का विश्लेषण कर सकेंगे।

आप इस इकाई में युद्ध के प्रमुख घटनाक्रम की जानकारी हासिल करेंगें। 1939–1945 के वर्ष भारी उथल–पुथल वाले वर्षों में महायुद्ध के विभिन्न मोर्चो पर काफी महत्वपूर्ण घटनाएँ देखी गई थीं। इस घटनाक्रम की संक्षिप्त जानकारी से आप युद्ध के उन तथ्यों को जानेंगे जो उसके विश्लेषण के लिए जरूरी हैं।

युद्ध के तात्कालिक व दूरगामी परिणामों पर चर्चा व विश्लेषण भी इस इकाई में हम करेंगे, जिसके बाद इतिहास की दिशा बदल देने वाले महायुद्ध की भूमिका को आप सफलतापूर्वक जान सकेंगे।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप इन बातों में सक्षम हो जाएँगेः

1. द्वितीय विश्व युद्ध के मुद्दों को जानेंगे और उसके लिए जिम्मेदार विभिन्न कारकों के आपेक्षिक महत्व को समझ सकेंगे।
2. युद्ध की शुरुआत से अन्त तक की घटनाओं को पूरी तरह समझ सकेंगे और उसकी दिशा निर्धारक निर्णायक घटनाओं की व्याख्या कर सकेंगे।
3. युद्ध के तात्कालिक व दूरगामी परिणामों को समझकर इस युद्ध की पूरी भयावहता को उद्घाटित कर सकेंगे और तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय परिदृष्य में आमूल परिवर्तन लाने वाली इसकी भूमिका की व्याख्या कर सकेंगे।

3.3 द्वितीय विश्व युद्ध के कारण

द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिका के लिए अनेक कारक जिम्मेदार थे, जिनकी हम नीचे चर्चा करने जा रहे हैंः

3.3.1 वर्साय की सन्धि

प्रथम विश्व युद्ध के अन्त में पेरिस के वर्साय शहर में की गई इस सन्धि को दितीय विश्व युद्ध के लिए जिम्मेदार माना जाता है। कहा जाता है कि जर्मनी के साथ विजेता राष्ट्रों ने जिस तरह का अपमानजनक व्यवहार किया था उससे जर्मन स्वाभिमान आहत हुआ था। विजेता राष्ट्रों ने जिस तरह जर्मन भूमि को उससे अलग किया था, उसकी सेनाओं के आकार–प्रकार पर पाबन्दियाँ लादी

थीं और उस पर 'युद्ध अपराधी की धारा' जड़ी थी, उसने मित्र राष्ट्रों को जर्मन घृणा का निशाना बना दिया था। इसी तरह, जापान और इटली भी प्रथम विश्व युद्ध के बाद मित्र राष्ट्रों के व्यवहार से खुद को ठगा महसूस करते थे। वर्साय की सन्धि ने विभिन्न देशों के बीच शान्ति स्थापना के लिए जिस लीग आफ नेशन्स का गठन किया था, वह पूरी तरह अप्रभावी हो गई थी। वर्साय सन्धि की खुली अवहेलना हिटलर लगातार करता रहा, लेकिन लीग हाथ पर हाथ धरे बैठी रही।

3.3.2 1930 की महामन्दी

29 अक्टूबर 1929 को अमरीकी शेयर बाजार यानी वाल स्ट्रीट के औंधे मुँह गिरने के साथ दुनिया एक आर्थिक संकट, बल्कि महामन्दी के आगोश में आ गई थी, जो द्वितीय विश्व युद्ध के कारकों को और तीखा बनाने वाली साबित हुई। महामन्दी ने जर्मनी की पहले से ही संकटग्रस्त आर्थिक दशा को बिलकुल बेजार कर दिया। नतीजतन, जर्मनी ने प्रथम विश्व युद्ध के बाद यूरोपीय देशों के लिए निर्धारित क्षतिपूर्ति की अदायगी रोक दी, जिसके कारण यूरोपीय देशों के आर्थिक कार्यक्रम भी लड़खड़ाने लगे। जर्मनी की अन्दरूनी राजनीति का इस आर्थिक संकट से अछूता रहना नामुमकिन था, और वहाँ वाइमर गणतन्त्र धराशाई हो गया। इस राजनीतिक अनिश्चितता, विकास के अवसरों में कमी, क्रय शक्ति की गिरावट और श्रमिक असन्तोष के कारण मजबूत सरकार की माँग करने वालों का शोर तेज हो गया। हिटलर चालाकी से इस अवसर को भुनाने में कामयाब हुआ और जर्मनी की सत्ता पर काबिज हो गया। उसे पूँजीपतियों का भी साथ मिला, क्योंकि मजदूर संघों को मटियामेट करने व अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता से संरक्षण के अपने स्वार्थ के लिए वे उसे उपयोगी समझते थे।

3.3.3 जापानी सैन्यवाद का उभार

आर्थिक महामन्दी का असर जापान पर भी घातक साबित हुआ। बढ़ती बेरोजगारी, निर्यात में गिरावट और ग्रामीण इलाकों में फैलते जनअसन्तोष के कारण जापान राजनीतिक अस्थिरता के माहौल में डूब गया। नागरिक सरकार की नीतियों से जनता का भरोसा उठ गया, और इस माहौल में वहाँ की ताकतवर सैन्य संस्थाओं को नियन्त्रित करना उसके लिए मुश्किल हो गया। 1931 में जापान ने चीन के प्रान्त मन्चूरिया पर कब्जा जमा लिया, और फिर समूचे चीन के खिलाफ युद्ध छेड़ दिया, द्वितीय महायुद्ध में कूद पड़ा और 7 दिसम्बर 1941 को पर्ल हार्बर पर हमला कर दिया।

3.3.4 विचारधारात्मक कारण

द्वितीय महायुद्ध की आग भड़काने में वैचारिक कारकों ने भी बारूद का काम किया था। जर्मनी और इटली के फासिस्टों और जापान के सैन्यवादियों के कारण समाज का समूचा माहौल बदल गया था। विस्तारवाद की इन ताकतों का लक्ष्य अन्य देशों की जमीन हड़पकर अपनी राष्ट्रीय सीमाओं का विस्तार करना था। दूसरी तरफ रूस के बोल्शेविक विश्व क्रान्ति को अंजाम देने और

दुनिया के मजदूरों को एकताबद्ध करने में लगे थे, जिसके कारण पश्चिमी देश रूसी इरादों के प्रति सशंकित थे। फ्रान्स, जर्मनी और इटली ने तो बोल्शेविक रूस को राष्ट्र के रूप में अन्ततः 1924 में मान्यता दे दी थी, लेकिन अमरीका ने ऐसा नहीं किया, और वह 1934 तक रूस के अस्तित्व को मानने से इनकार करता रहा। दो तरह की तानाशाही, मसलन रूस में कम्युनिस्ट और इटली, जर्मनी, जापान, स्पेन और पुर्तगाल में फासिस्ट तानाशाही के उदय के कारण सामाजिक ढाँचों के पुनर्गठन की शुरुआत हो चुकी थी। ब्रिटेन और फ्रान्स के प्रभावशाली तबके में यह धारणा भी थी कि एक मजबूत जर्मनी कम्युनिज्म के विस्तार को रोक देने वाली ढाल बन सकता है।

3.3.5 हिटलर की भूमिका

इतिहासकार स्टीफेन जे. ली ने द्वितीय विश्व युद्ध के आरम्भिक दौर को 'हिटलर का युद्ध' कहा है। हिटलर का मकसद जर्मनी को फिर से महाशक्ति बनाना और जर्मन स्वाभिमान को पुनर्जीवित करना था। इस उद्देश्य के लिए जरूरी था कि वर्साय की अपमानजनक सन्धि का खात्मा करके जर्मन सेनाओं को सुदृढ़ किया जाए, सारलैन्ड और पोलिश गलियारे जैसे मित्र राष्ट्रों द्वारा छीने गए जर्मन इलाकों को वापस ले लिया जाए, सभी जर्मन लोगों को राइक के अधीन इकट्ठा करने के लिए आस्ट्रिया को जर्मनी से मिलाया जाए, और चेकोस्लोवाकिया व पोलैन्ड के जर्मन बहुल इलाकों को भी जर्मनी की राष्ट्रीय सीमाओं का अंग बनाया जाए।

अधिकांश इतिहासकार मानते हैं कि इन क्षेत्रों के अधिग्रहण की जर्मन कोशिशें समूचे पोलैन्ड व चेकोस्लोवाकिया और उत्तर में यूराल पर्वत श्रंखला तक फैली रूसी भूमि को हड़पने की हिटलर की महायोजना का अंग थी। हिटलर का लक्ष्य एक लेबेनस्रॉम (जर्मन राष्ट्र की खुशहाली के लिए जरूरी भौगोलिक क्षेत्र) को साकार करना था, जिसमें जर्मन लोगों की खाद्य जरूरतों की पूर्ति सुनिश्चित होने के अलावा अतिरिक्त जर्मन जनसंख्या का भार भी पूर्वी यूरोप के इलाकों में स्थानान्तरित हो जाता। इतिहासकारों की इस धारणा के उलट ए.जे.पी टेलर मानते हैं कि हिटलर किसी बड़े युद्ध को छेड़ने का इरादा नहीं रखता था, बल्कि केवल पोलैन्ड के साथ एक सीमित युद्ध चाहता था।

उसके दूरगामी इरादे चाहे जो रहे हों, यह तो मानना ही होगा कि हिटलर की विदेश नीति का शुरुआती दौर बेहद सफल साबित हुआ। उसने निशस्त्रीकरण के वैश्विक सम्मेलन और लीग ऑफ नेशन्स से जर्मनी को अलग कर लिया। इसके बाद पोलैन्ड के साथ एक दस साल की अवधि वाली अनाक्रमण सन्धि कर ली। एक जनमतसंग्रह के जरिए सारलैन्ड के जर्मन इलाके को जर्मनी की राष्ट्रीय सीमाओं से दोबारा जोड़ लिया। उसने सेना में अनिवार्य भरती का अभियान छेड़ दिया और वर्साय सन्धि द्वारा जर्मन सैन्य बलों की संख्या सीमित करने वाले प्रावधानों को धता बता दिया। हिटलर ने मार्च 1936 में वर्साय सन्धि द्वारा राइनेलैन्ड के असैन्यीकृत किए गए इलाके में अपनी सेनाओं की दोबारा तैनाती कर दी। 1936 में, बाद में मुसोलिनी के इटली के साथ रोम–बर्लिन धुरी और जापान के साथ कोमिन्टर्न विरोधी समझौते (1937 में जिसमें इटली भी शामिल हो गया) को अंजाम देकर हिटलर ने जर्मनी को काफी ताकतवर बना लिया। 1938 में वह आस्ट्रिया में घुस

गया, और इस तरह एन्शुलस (जर्मनी के साथ एकताबद्ध आस्ट्रिया) का सपना साकार हो गया। वर्साय सन्धि का मखौल उड़ाने वाले हिटलर के इन कदमों के लिए मित्र राष्ट्रों द्वारा अपनाई गई जर्मन तुष्टीकरण की नीति भी जिम्मेदार थी।

3.3.6 तुष्टीकरण की नीति

युद्ध से बचने के लिए जर्मनी, इटली और जापान जैसे आक्रामक देशों के प्रति बिटेन और फ्रान्स तुष्टीकरण की नीति अपना रहे थे, बशर्ते वे अत्यन्त बेजा न हों। मन्चूरिया और अबीसीनिया पर जर्मन कब्जे, जर्मन पुनर्सैन्यीकरण और राइनेलैन्ड पर फिर से दाखिल होने जैसी सभी घटनाएँ मित्र राष्ट्रों द्वारा स्वीकार कर ली गई थीं। एक तरफ स्पेन के गृह युद्ध में ब्रिटेन और फ्रान्स तटस्थ बने रहे, दूसरी तरफ जर्मनी और इटली स्पेन के तानाशाह जनरल फ्रान्को का खुला समर्थन करते रहे। जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया को अपनी राष्ट्रीय सीमा में मिला लेने यानी एन्शुलस (मार्च 1938) का ब्रिटेन और फ्रान्स ने जोरदार विरोध जरूर किया था, लेकिन उस वक्त भी ब्रिटेन में अनेक लोग इसे दो जर्मन समूहों की स्वाभाविक एकता बता रहे थे। तुष्टीकरण की इस नीति की पराकाष्ठा 29 सितम्बर 1938 को म्युनिख में तब देखी गई जब युद्ध से बच निकलने की अपनी बेकरारी के चलते ब्रिटेन और फ्रान्स ने चेकोस्लोवाकिया के जर्मन बहुल प्रान्त सुडेटेनलैन्ड को भी हिटलर को सौंप दिया। इस समझौते में चेकोस्लोवाकिया की शेष सीमाओं की रक्षा करने की गारन्टी इटली, ब्रिटेन और फ्रान्स के साथ–साथ जर्मनी ने संयुक्त तौर पर दी थी।

इन समझौतों से हिटलर की विस्तारवादी प्यास कम न हुई। नतीजतन, मार्च 1939 में हिटलर चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण करते हुए उसकी बाकी भूमि भी हड़प गया। अप्रैल 1939 में हिटलर डेन्ज़िग बन्दरगाह और पोलिश गलियारे में सड़क व रेल मार्ग स्थापित करने की माँग उठाने लगा। हालाँकि डेन्ज़िग जर्मन बहुल इलाका तो था, लेकिन इस माँग के पीछे हिटलर की असली मंशा पोलैन्ड पर हमला करने की थी। इसी दौरान, हिटलर ने सोवियत संघ के साथ दस साल के लिए एक अनाक्रमण सन्धि पर हस्ताक्षर किए, जिसके तहत पोलैन्ड पर हमला होने की सूरत में सोवियत संघ को तटस्थ रहना था, और पोलैन्ड व बाल्टिक देशों के क्षेत्रों का एक आपसी बँटवारा किया गया था (24 अगस्त, 1939)। हिटलर को मुगालता था कि रूस के तटस्थ रहने पर ब्रिटेन व फ्रान्स पोलैन्ड के सवाल पर हस्तक्षेप नहीं कर पाएँगे। लेकिन 1 सितम्बर 1939 में हिटलर की सेना द्वारा पोलैन्ड पर हमला करने के बाद 3 सितम्बर 1939 को इंगलैन्ड द्वारा जर्मनी के खिलाफ युद्ध का ऐलान कर दिया गया।

3.3.7 लीग आफ नेशन्स की असफलता

दुनिया में शान्ति कायम रखने के उद्देश्य से प्रथम विश्व युद्ध के बाद गठित लीग ऑफ नेशन्स तमाम अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के सन्दर्भ में नाकारा साबित हुई। जापान ने मन्चूरिया, इटली ने अबीसीनिया और जर्मनी ने चेकोस्लोवाकिया को हड़प लिया, और लीग मूक दर्शक बनी रही।

मतभेदों का समाधान ढूँढ़ने में इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की यह असफलता दुनिया को युद्ध की ओर धकेलने वाली साबित हुई।

3.3.8 विजेता राष्ट्रों का मनमानापन

विजेता राष्ट्रों द्वारा वर्साय सन्धि के जरिए पराजित राष्ट्रों के सीमा क्षेत्रों की काट–छाँट में जो मनमानपन किया गया वह द्वितीय विश्व युद्ध का एक कारण बन गया; एक नस्ल व संस्कृति के लोगों को बिलकुल भिन्न संस्कृति वाले राष्ट्र की सीमाओं में धकेलने से जन–असन्तोष का पनपना स्वाभाविक था। ये लोग अपन नस्लीय क्षेत्र से जुड़ने की माँग करने लगे। दक्षिण–पूर्वी यूरोप में प्रोत्साहित किए गए तेज विखन्डन के कारण नव–स्थापित देशों में जर्मन अल्पसंख्यकों की संख्या काफी बढ़ गई थी, जो भावी जर्मन आक्रामकता का एक पुख्ता आधार साबित हुआ।

3.3.9 इतिहासकारों का दृष्टिकोणः दोशी कौन?

मार्टिन गिलबर्ट कहते हैं कि हिटलर का लक्ष्य प्रथम विश्व युद्ध की शर्मनाक पराजय के दाग को मिटा देना था, और युद्ध इसलिए जरूरी था क्योकि एक युद्ध की हार के जख्म पर दूसरे युद्ध की जीत से ही मरहम लगना संभव है। ह्यू ट्रेवर रोपर का तर्क है कि हिटलर बिलकुल शुरुआत से ही एक बड़ा युद्ध करने का मन बना चुका था; कम्युनिज्म से उसे घृणा थी, जिस पर वह लगाम लगाना चाहता था, और यह लक्ष्य एक बड़े युद्ध के बिना नामुमकिन था; पोलैन्ड पर हमला उसने इसलिए किया क्योकि उस पर कब्जा किए बगैर सोवियत संघ पर हमला करना सम्भव न था। सोवियत संघ से अनाक्रमण सन्धि करने के पीछे उसकी असल मंशा सोवियत संघ को धोखे में रखकर पोलैन्ड पर कब्जा पूरा होने तक उसे तटस्थ बनाए रखना था। इस बात के प्रमाण के लिए ह्यू ट्रेवर रोपर हिटलर की किताब मीन काम्फ के अलावा होसबाक मेमोरेन्डम का हवाला देते हैं, जो कर्नल होसबाक का दिया गया नवम्बर 1937 में सेना के साथ हिटलर की उस बैठक का सारांश है, जिसमें हिटलर की रणनीति का खुलासा मिलता है।

अन्य इतिहासकार तुष्टीकरण की नीति को भी युद्ध के लिए दोषी मानते हैं। एलन बुलक तर्क करते हैं कि आरम्भिक सफलताओं के अलावा किसी तरह का प्रतिरोध न मिलने के कारण हिटलर का आगे बढ़ना और अधिक जोखिम उठाना संभव हो सका था।

ए.जी.पी. टेलर का तर्क है कि हिटलर की मंशा बड़े युद्ध की न थी। उसकी योजना पोलैन्ड के साथ केवल एक छोटा युद्ध करने की थी। टेलर के अनुसार हिटलर अवसर भाँपने में तेज था, इसलिए जर्मन तुष्टीकरण के अलावा फरवरी 1939 के चेकोस्लोवाकियाई संकट का भी उसने फायदा उठाया, जिस पर जर्मन कब्जा किसी खतरनाक दूरगामी योजना का परिणाम न होकर स्लोवाकिया की आकस्मिक घटनाओं का नतीजा था। बहरहाल, हिटलर तात्कालिक परिस्थितियों के अपने मूल्यांकन में फँस गया, क्योंकि पोलैन्ड पर जर्मन हमले के बावजूद अपने खिलाफ ब्रिटेन और फ्रान्स के युद्ध में कूद पड़ने की अपेक्षा उसने कभी न की थी। टेलर के अनुसार पोलैन्ड में अपना दाँव उलट जाने के कारण हिटलर के लिए युद्ध में उलझना एक तरह की दुर्घटना थी।

जर्मन इतिहासकार जोकिम फेस्ट तर्क करते हैं कि हरेक मामले को चरम टकराहट तक ले जाने की हिटलर की फितरत ने घटनाओं को इस तरह मोड़ दिया कि पश्चिमी देशों की समझौते की हरेक ख्वाहिश बंद गली में दम तोड़ती रही। उसका समूचा मिजाज युद्ध के लिए बना था।

अभ्यास प्रश्न : सही या गलत

1. प्रथम विश्व युद्ध का समापन करने वाली वर्साय सन्धि द्वितीय विश्व युद्ध के लिए जिम्मेदारी मानी जाती है।
2. दुनिया में शान्ति कायम करने के लिए प्रथम विश्व युद्ध के बाद गठित लीग ऑफ नेशन्स अनेक विवादित मुद्दों से निपटने में असफल रही।
3. ए.जे.पी टेलर का तर्क है कि हिटलर बड़े युद्ध की जगह पोलैन्ड के खिलाफ केवल एक सीमित युद्ध चाहता था।
4. एन्शुलस शब्द जर्मनी में आस्ट्रिया की एकता को अभिव्यक्त करता था।
5. युद्ध टालने के लिए ब्रिटेन व फ्रान्स जैसे आक्रामक देशों की माँगों को मानने वाली तुष्टीकरण की नीति जर्मनी, इटली और फ्रान्स जैसे देश अपनाते थे, बशर्ते वे माँगे बिलकुल बेजा न हों।

3.4 युद्ध का घटनाक्रम

नार्मन लो ने युद्ध के चार स्पष्ट दौर गिनाए हैं, जिनकी अब हम चर्चा करने जा रहे हैं:

3.4.1 आरम्भिक चाल: सितम्बर 1939–दिसम्बर 1940 सितम्बर

1939 के अन्त तक जर्मनी और रूस पोलैन्ड पर अपना कब्जा पूरा कर चुके थे। 29 सितम्बर 1939 को पोलैन्ड (अगस्त सन्धि या अनाक्रमण सन्धि के अनुरूप) इन देशों के बीच बाँट लिया गया था। अगले पाँच महीने शान्ति बनी रही, जिसके कारण अमरीकी मीडिया इस युद्ध को 'नकली युद्ध' कहने लगा था। बहरहाल, अप्रैल 1940 में युद्ध की हलचलें तेज हो गईं, और जर्मनी ने डेनमार्क व नार्वे पर कब्जा जमा लिया। मई 1940 में हालैन्ड, बेल्जियम और फ्रान्स पर भी जर्मन हमलों की शुरुआत हो गई, और काफी फुर्ती के साथ इन राष्ट्रों को जर्मनी ने हरा दिया। फ्रान्स के उत्तरी हिस्से और अटलान्टिक तट पर जर्मनी का कब्जा हो चुका था। शेष फ्रान्स को मार्शल पेटेन के नेतृत्व में विची से एक फ्रान्सीसी सरकार चलाने की इजाजत मिल गई, लेकिन किसी तरह की स्वतन्त्रता उसे नसीब न थी। यह कठपुतली सरकार उलटे जर्मनी से साँठगाँठ करके ब्रिटेन को अलग–थलग करने में लगी थी (फ्रान्स का पतन होने के ठीक पहले, जून में, मुसोलिनी भी युद्ध छेड़ चुका था)। हिटलर ने सोचा था कि भारी बमबारी करके वह ब्रिटेन को घुटने टेकने पर मजबूर कर देगा, लेकिन ब्रिटेन के साथ अगस्त–सितम्बर 1940 के बीच हुई जंग में उसकी यह रणनीति फुस्स हो गई। यह घटना युद्ध में पहला निर्णायक मोड़ साबित हुई, क्योंकि इसके साथ ही जर्मन अजेयता का अब तक का खौफ अचानक खत्म हो गया। इसी समय मुसोलिनी की सेनाएँ मिस्र (सितम्बर 1940) और ग्रीस (अक्टूबर 1940) पर हमला कर रही थीं, लेकिन दोनों मोर्चो पर वह पीछे धकेल दी गई। मुसोलिनी हिटलर के लिए मुसीबत बन गया।

3.4.2 धुरी राष्ट्रों के आक्रमणों में तेजी: 1941–1942

इस दौर में युद्ध वैश्विक युद्ध का आकार लेने लगा। जर्मनी ने मिस्र पर दोबारा कब्जा करने में इटली की मदद की और ग्रीस पर कब्जा कर लिया। उसने अनाक्रमण सन्धि को ताक पर रखते हुए सोवियत संघ पर (22 जून, 1941, ऑपरेशन बारबरोसा) हमला कर दिया। कुछ इतिहासकारों की नजर में जर्मनी का रूस पर हमला करना उसकी सबसे भारी भूल थी, लेकिन ह्यू ट्रेवर रोपर का दावा है कि 'रूस में सैनिक अभियान से बचने की विलासिता हिटलर को उपलब्ध न थी; वह नाजीवाद के लिए करो या मरो की स्थिति थी, जिसमें देर करना भी मुमकिन न था। वह उसके लिए अभी नहीं तो कभी नहीं वाली स्थिति थी।'

दिसम्बर 1941 को (हवाई द्वीप स्थित) पर्ल हार्बर के अमरीकी नौसैनिक अड्डे पर जापान ने हमला कर दिया। इस घटना ने अमरीकियों को द्वितीय विश्व युद्ध में सीधे तौर पर खींच लिया। इस हमले के बाद भी जापानी रुके नहीं, और वे फिलीपीन्स, मलय, सिंगापुर, हांगकांग, डच ईस्ट इन्डीज, बर्मा और अमरीकी कब्जे वाले गुआम व वेक द्वीपों में कूच कर गए। यह घटना हिटलर को भी संयुक्त राष्ट्र अमरीका के खिलाफ युद्ध घोषित करने की तरफ ले गई। यह उसकी भूल थी, क्योंकि अमरीका, रूस और ब्रिटेन के साझा सन्साधन जर्मनी के लिए काफी चुनौतीपूर्ण साबित होने वाले थे।

अपने कब्जे वाले इलाकों में जर्मन व जापानी सेनाओं का व्यवहार बेहद अमानवीय व बर्बर था। नाज़ी पूर्वी यूरोप के लोगों के साथ कमतर मनुष्य का व्यवहार करते थे और उन्हें जर्मन नस्ल का गुलाम समझते थे। इस दुराचरण के मामले में जापान कत्तई पीछे न था और वह विजित लोगों के साथ बेहद बुरा बर्ताव करता था। इसके कारण उनके प्रति लोगों में असन्तोष पैदा हुआ और विजित इलाकों में वे जन–समर्थन हासिल करने में नाकाम रहे।

3.4.3 धुरी राष्ट्रों के आक्रमण प्रतिरोध में फँसे: 1942:1943

युद्ध के तीन अलग मोर्चों पर धुरी राष्ट्रों को पराजय का मुँह देखना पड़ा। पहली घटना मिडवे द्वीप पर घटी, जहाँ ताकतवर जापानी नौसेना को अमरीकियों ने हरा दिया। जापानी रेडियो के कूट संदेशों को पढ़ लेने और जापानी सेनाओं को विभाजित करने की रणनीति के कारण अमरीकी यह करिश्मा करने में कामयाब हुए थे। हालाँकि यह लड़ाई 'द्वीप बदलते रहने' की जापानी रणनीति के कारण काफी लम्बी खिंची और 1943–44 तक जारी रही। उधर, मिस्र के अल अलामीं (अक्टूबर 1942) में रॉमेल के नेतृत्व में आक्रमण करती जर्मन सेनाओं को मान्टगोमरी की आठवीं सेना ने वापस खदेड़ दिया। मित्र राष्ट्रों की इस विजय के कारण मिस्र और स्वेज नहर जर्मन कब्जे में जाने से बच गए; दूसरी तरफ मध्य पूर्व और यूक्रेन की अपनी सेनाओं में सम्पर्क स्थापित करने के धुरी राष्ट्रों के सपने भी चकनाचूर हो गए। यह घटना उत्तर अफ्रीका से धुरी राष्ट्रों की सेनाओं के पूरी तरह खदेड़ दिए जाने के अभियान में निर्णायक साबित हुई। जंग का तीसरा महत्वपूर्ण मोर्चा रूस में था, जहाँ जर्मन सेनाएँ कूच करते हुए स्टालिनग्राड के करीब पहुँच चुकी थीं। लेकिन यहाँ

रूसियों ने जबरदस्त प्रतिरोध किया, और नवम्बर में जोरदार प्रत्याक्रमण कर दिया। 2 फरवरी 1943 में जर्मन सेनापति ने समर्पण कर दिया। यह हार जर्मन सेना का नासूर बन गई और रूसियों का मनोबल सातवें आसमान पर पहुँच गया। जर्मन सेना रूस से साफ कर दी गई।

3.4.4 धुरी राष्ट्रों की पराजयः जुलाई 1943–अगस्त 1945

अमरीका और रूस के विशाल संसाधन ब्रिटेन की नौसैनिक श्रेष्ठता और उसके विशाल साम्राज्य के संसाधनों ने मिलकर धुरी राष्ट्रों को समय के साथ पस्त कर डाला। धुरी राष्ट्रों के ढहने में इटली की हार निर्णायक साबित हुई। हार के बाद इटली के सम्राट ने मुसोलिनी को बर्खास्त कर दिया। मुसोलिनी का उत्तराधिकारी मार्शल बादोग्लिओ एक सन्धि पर हस्ताक्षर करके मित्र राष्ट्रों के खेमे में शामिल हो गया। जर्मनी ने रोम पर कब्जा कर लिया। जवाब में मित्र राष्ट्रों की सेनाएँ जर्मन सेना के खिलाफ युद्ध में डट गईं, और जून 1944 में रोम पर कब्जा कर लिया। इटली की जीत मित्र राष्ट्रों की जीत का कारण बन गईः उसके हवाई अड्डों से मध्य यूरोप व बालकन क्षेत्र पर तैनात जर्मन सेनाओं पर बमबारी की जाने लगी, जिसके कारण जर्मन सेना वहीं उलझकर रह गईं और रूस के मोर्चे पर अतिरिक्त कुमुक भेजने के जर्मन मंसूबे ध्वस्त हो गए। जर्मन कब्जे वाले फ्रान्स पर मित्र राष्ट्रों का आक्रमण (जिसे दूसरा मोर्चा कहा जाता है) 6 जून 1944 में शुरू हुआ; मित्र राष्ट्रों की सेना नारमेन्डी में घुस गई। वहाँ से तेजी के साथ कूच करते हुए मित्र राष्ट्रों की सेना कुछ सप्ताह के अन्दर उत्तरी फ्रान्स के अधिकांश हिस्से को मुक्त कराने में कामयाब हो गई, जिसके बाद 25 अगस्त 1944 को पेरिस भी आजाद करा लिया गया।

ब्रिटेन और अमरीकी सेनाओं के जर्मनी पर हमले होते रहे, लेकिन जर्मन सेनाओं ने काफी प्रतिरोध किया। बल्ज की लड़ाई में आक्रमण का जोखिम उठाते हुए हिटलर ने सब कुछ दाँव पर लगा दिया, और उसे भारी नुकसान झेलना पड़ा, जिसमें ढाई लाख सैनिक और 600 टैंक शामिल थे।

6 अगस्त 1945 को अमरीकियों ने 'लिटिल बॉय' नामक एक महाविनाशक आणविक बम हिरोशिमा पर गिरा दिया, 84, 000 इन्सान तत्क्षण मौत के मुँह में समा गए। उधर, 'फैट मैन' नाम वाला दूसरा आणविक बम अमरीका ने नागासाकी पर 9 अगस्त 1945 के दिन गिराया, जिसके कारण 40, 000 बेगुनाह इन्सान मौत के मुँह में धकेल दिए गए। इस बमबारी का असर हताहतों की इस संख्या तक सीमित न था, अनेक शारीरिक विकृतियों के रूप में आणविक विकिरण के प्रभाव भावी पीढ़ियों को भी सालते रहे। राजनीतिक नेता इस कार्यवाही को जायज ठहराने के लिए चाहे जो दलील दें, इसमें दो राय नहीं कि द्वितीय विश्व युद्ध की यह सबसे भयानक और बर्बर घटना है।

अभ्यासः सही या गलत

1. जर्मनी और इटली ने स्पेन के गृहयुद्ध में जनरल फ्रान्को का साथ नहीं दिया था
2. जापानियों ने 7 दिसम्बर 1941 को पर्ल हार्बर पर हमला किया, जिसके कारण अमरीका सीधे तौर पर युद्ध में कूद पड़ा था।
3. हिरोशिमा और नागासाकी पर गिराए जाने वाले दो बमों का नाम 'बिग बॉय' और 'थिन मैन' था।

3.5 युद्ध के परिणाम

3.5.1 जानमाल और सम्पत्ति की अभूतपूर्व तबाही

युद्ध के कारण दुनिया को जानमाल और सम्पत्ति की भारी तबाही झेलनी पड़ी। नार्मन लो के अनुसार इस युद्ध में मरने वालों की संख्या 3 करोड़ थी, जिसमें आधे तो केवल रूसी थे। इसके अलावा, लगभग 2 करोड़ 10 लाख लोग अपने घरों से उजाड़ दिए गए थे (जिन्हें मजदूर बनाने या बंदी शिविरों में कैद करने के लिए जर्मनी ले जाया गया था)। युद्ध के बाद इन लोगों को स्वदेश भेजने की समस्या खड़ी थी। एक दूसरे अनुमान के मुताबिक युद्ध में मरने वालों की संख्या पाँच से साढ़े पाँच करोड़ बताई जाती है।

द्वितीय विश्व युद्ध की बर्बरता इसलिए खास थी कि इसमें मरने वाले अधिकांश नागरिक सोची समझी रणनीति के तहत मारे गए थे। शहरों पर भारी बमबारी करना और बेगुनाह नागरिकों का जनसंहार करना युद्ध की जायज रणनीति बना दी गई थी। युद्ध में शामिल हरेक राष्ट्र ने विरोधी राष्ट्र के आम नागरिकों के प्रति कोई संवेदनशीलता नहीं दिखाई, और दुश्मन राष्ट्र के नागरिकों को बर्बरता के साथ बमबारी का निशाना बनाया।

3.5.2 विस्थापन की महामारी

युद्ध के अन्तिम दिनों में लगभग एक करोड़ पचास लाख लोग विस्थापित होने के लिए मजबूर किए गए थे। रूस के नेता स्टालिन, ब्रिटेन के चर्चिल और अमरीकी राष्ट्रपति ट्रूमैन ने पॉट्सडैम सम्मेलन (1945) में जनसंख्या के 'व्यवस्थित और मानवीय' स्थानान्तरण की बात तय की थी। लेकिन, इस वादे के उलट, पश्चिमी पोलैन्ड, चेकोस्लोवाकिया और अन्य जगहों पर पीढ़ियों से बसे जर्मन अल्पसंख्यकों को अपने घरों को छोड़ने पर मजबूर किया गया, क्योंकि इन देशों की सरकारें इन इलाकों पर जर्मनी के किसी तरह के भावी दावों की गुन्जाइश नहीं छोड़ना चाहती थीं। इस जबरन विस्थापन के कारण युद्ध के बाद सड़कों व रेलों में शरणार्थियों का रेला लग गया था।

3.5.3 उपनिवेशवाद विरोधी उभार

युद्ध ने दुनिया भर में उपनिवेशवाद–विरोधी आन्दोलनों को तेज कर दिया। 1942 में छह महीने तक जर्मन फौजों के कब्जे में रहने के कारण टुनीशिया पर फ्रान्स की औपनिवेशिक जकड़ ढीली पड़ गई और ट्यूनीशियाई राष्ट्रवाद को जैसे पंख लग गए। युद्ध के दौरान दक्षिण अफ्रीका में अफ्रीकानेर (अफ्रीकान्स बोलने वाले डच मूल के दक्षिण अफ्रीकी) लोगों का प्रतिरोध बाद में अंग्रेजों से नाता तोड़ने की उनकी तीव्र इच्छा में बदल गया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद एशिया के विभिन्न देशों में भी उपनिवेशवाद विरोधी आन्दोलनों में तेजी आ गई। अगस्त 1943 में जापानी सेना की मदद से बर्मा ने खुद को आजाद घोषित कर दिया था। इसी साल अक्टूबर में जापानी सेना की मदद पाकर फिलीपीन्स ने भी खुद को आजाद घोषित कर दिया। भारत में भी आजादी की जंग का ज्वार अंग्रेजों को हलेकान करने लगा। इन आन्दोलनों के कारण औपनिवेशिक ताकतों को

एहसास हो गया कि उपनिवेशों के आन्दोलनों को झेलना अब उनके बूते की बात नहीं है, इसलिए उन्होंने अपने साम्राज्य का बोरिया बिस्तर समेटने का मन बना लिया।

3.5.4 शक्ति सन्तुलन में फेरबदल

द्वितीय विश्व युद्ध के पहले ब्रिटेन दुनिया का सबसे शक्तिशाली साम्राज्य था, लेकिन युद्ध के बाद शक्ति सन्तुलन का पलड़ा अमरीका और रूस की तरफ झुक गया। ये दोनों देश अन्तर्राष्ट्रीय वर्चस्व के शिखर पर बिराजमान हो गए, जबकि ब्रिटेन की पुरानी चमक फीकी पड़ गई। इस युद्ध में रूस ने भारी योगदान किया था और युद्ध की समाप्ति पर आधा यूरोप उसके नियन्त्रण में था। अमरीका ने जर्मनी को हराने, हिरोशिमा और नागाशाकी पर विध्वंसक आणविक बम के जरिए जापानी सेना का समर्पण कराने में बड़ी भूमिका निभाई थी, और उसकी नौसेना का प्रशान्त क्षेत्र में दबदबा कायम हो चुका था। सोवियत संघ में समाजवाद और अमरीका में पूँजीवाद जैसी सरकार की दो बिलकुल अलग व्यवस्थाओं के कारण इन दोनों देशों के बीच तकरार होना लाजिमी था। युद्धोत्तर दुनिया की तसवीर पर उनमें किसी सहमति का होना मुश्किल था। यही वैचारिक मतभेद और टकराहटें भविष्य में 'शीत युद्ध' में बदल गए। 1945 से लेकर 1991 में सोवियत संघ के विघटित होकर अनेक नए राष्ट्रों के बनने तक, इन दो महाशक्तियों की आपसी प्रतिद्वन्द्विता ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का चरित्र निर्धारित करती रही। 1991 के बाद अमरीका सर्वोच्च महाशक्ति बन गया और हमारी द्वि–ध्रुवीय दुनिया एक ध्रुवीय दुनिया में तब्दील हो गई। यही कारण है कि आज दुनिया के दूसरे ताकतवर देश अपना प्रभाव बढ़ाकर अमरीका से होड़ करने की कोशिश कर रहे हैं, ताकि वे बहु–ध्रुवीय दुनिया कायम करने की कोशिश कर सकें।

3.5.5 सर्व–समावेशी भाान्ति समझौते का अभाव

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद दुनिया के देश वर्साय जैसी सर्व–समावेशी शान्ति सन्धि नहीं कर सके। ऐसा इसलिए क्योकि युद्ध के अन्तिम दौर में सोवियत संघ और पश्चिमी ताकतों के बीच उभरे अविश्वास ने किसी आम सहमति की सम्भावना को खत्म कर दिया था।

युद्ध के बाद राष्ट्रों के बीच हुई अलग–अलग सन्धियों के परिणामों पर नार्मन लो ने टिप्पणियाँ की हैं। युद्ध के बाद इटली के अफ्रीकी उपनिवेश खत्म कर दिए गए, और उसे अलबानिया और अबीसीनिया पर अपना दावा छोड़ने पर भी मजबूर किया गया; सोवियत संघ को चेकोस्लोवाकिया का पूर्वी छोर, पेट्सामो जिला और लादोगा झील के इर्दगिर्द फिनलैन्ड का इलाका मिल गया, और एस्टोनिया, लाटविया, लिथुआनिया और पूर्वी पोलैन्ड के 1939 में विजित हिस्से भी उसकी झोली में चले गए। रोमानिया ने बेसार्बिया और उत्तरी बुकोविना सोवियत संघ को सौंप दिया जबकि युद्ध के दौरान हंगरी के कब्जे से मुक्त उत्तरी ट्रान्सिलवानिया फिर से उसे मिल गया। ट्रीस्टे पर इटली और यूगोस्लाविया दोनों ही दावा जता रहे थे, इसलिए उसे संयुक्त राष्ट्र संघ के संरक्षण वाली मुक्त भूमि घोषित कर दिया गया। सैन फ्रान्सिसको (1951) में जापान भी पिछले नब्बे वर्षों में अपने

द्वारा विजित सभी इलाकों को लौटाने के लिए तैयार हो गया, जिसमें चीन से जापान की सम्पूर्ण वापसी शामिल थी।

3.5.6 अफ्रीका और मध्य पूर्व में स्वतन्त्रता की लहर

विश्व युद्ध के दौरान फ्रान्सीसी इन्डो–चीन, मलय और सिंगापुर और डच ईस्ट इन्डीज जैसे यूरोपीय आधिपत्य वाले इलाकों पर जापान की विजय ने यूरोपीय अपराजेयता के मिथक को ध्वस्त कर दिया था। इन क्षेत्रों की जनता भी यूरोपीय औपनिवेशिक जुए से मुक्ति के लिए जापान के साथ मिलकर लड़ी थी। युद्ध के बाद आजादी का स्वाद चख चुकी इस जनता से यूरोपीय देशों के अधीन बने रहने की आशा नहीं की जा सकती थी। इसके अलावा, एशिया की इन घटनाओं ने अफ्रीका और मध्य पूर्व के अनेक देशों पर भी जबरदस्त असर डाला और वहाँ भी आजादी की माँग तेज हो गई। इन देशों के अनेक नेता अल्जियर्स (1937) में एक सम्मेलन के लिए इकट्ठा हुए थे, और उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि वे साम्यवाद व पूँजीवाद के दो विरोधी वैश्विक ध्रुवों से खुद को तटस्थ रखना चाहते हैं। ये देश आम तौर पर गरीबी से बेजार और औद्योगिक रूप से पिछड़े थे, और दुनिया के विकसित व धनी देशों पर अपनी निर्भरता खत्म करना चाहते थे।

3.5.7 सामाजिक और वैज्ञानिक विकास का दौर

नार्मन लो ने बताया है कि एक कल्याणकारी राज्य की ब्रिटिश योजना को युद्ध के कारण ही बढ़ावा मिल सका था। बीवरिज रपट (1942) में तर्क किया गया था कि अभाव, बीमारी, ज्ञान की कमी, गंदगी और बेकारी दुनिया की ऐसी बड़ी समस्याएँ हैं जिन पर विजय हासिल करना जरूरी है। सरकारों को बीमा योजनाएँ, बाल सहायता व राष्ट्रीय स्वास्थ्य योजना लागू करते हुए पूर्ण रोजगार सुनिश्चित करना चाहिए। हालाँकि, वैज्ञानिक क्षेत्र में मानवता का समूल नाश करने में समर्थ आणविक हथियारों के उत्पादन की प्रक्रिया में तेजी भी इसी दौर की देन है।

3.5.8 युद्ध के सांस्कृतिक प्रभाव

बर्बर क्रूरता के बढ़ने और तार्किकता के लकवाग्रस्त होने के कारण दयालुता, मानवता और उदारता जैसे मूल्यों को गहरा धक्का पहुँचा था। अनेक लोग बर्बरता और अतार्किकता को मानवीय स्वभाव व सामाजिक जीवन का अभिन्न अंग व सार्वकालिक गुण मान बैठे थे। लोगों को यह भी लगा कि विज्ञान और तकनीक ने जिस पैमाने की शक्ति का संचार किया है उसे नियन्त्रित करना मनुष्य जाति के लिए संभव नहीं है। धरती से जीवन का समूल नाश करने में समर्थ आणविक हथियारों का विभिन्न देशों द्वारा उत्पादन विनाशकारी वैज्ञानिक विकास को मिलने वाले प्रोत्साहन की खतरनाक मिसाल है।

इस माहौल में दर्शन की अस्तित्वादी धारा वैचारिक जगत में सर्वप्रमुख हो गई। अस्तित्ववाद जीवन की निरर्थकता को रेखांकित करता था। सैमुएल बेकेट का नाटक वेटिंग फॉर गोदो इस दौर

में काफी लोकप्रिय हुआ। यह ''दो अंको वाली हास्य–त्रासदी'' लोगों को या तो चकित करती थी या उन्हें आक्रोश से झकझोर देती थी। नाटक में दो आवारा (ट्रैम्प) 'गोदो' नाम के जिस व्यक्ति का इन्तजार करते हैं वह अन्त तक नहीं आता, और इस तरह नाटक अपने दर्शकों को जीवन की निरर्थकता का बोध कराता है। इस नाटक में घटनाक्रम का नितान्त अभाव है, जिसके कारण मानवीय अस्तित्व किसी अर्थ या उद्देश्य से बिलकुल रहित दिखता है। 1940 के दशक में यह नाटक 'निरर्थकता के नाट्यमंच' का प्रतीक बनकर खासा प्रतिष्ठित हुआ था। 1940 के दशक में ही कला के क्षेत्र में अमूर्त अभिव्यंजनवाद (एक्सप्रेशनिज्म) के नए स्कूल का उभार हुआ, जिसमें कलाकार बौद्धिक के बजाय भावुक तत्वों को वरीयता देते थे। 1950 के दशक के पॉप कलाकारों की मंशा आम संस्कृति की मामूली चीजों व प्रतीकों का कलावस्तु के बतौर इस्तेमाल करने के जरिए कला के अभिजात चरित्र को झकझोरना था। आदर्शवाद और विवेक के प्रति एक तरह से आम अविश्वास की भावना लोगों में घर कर गई थी।

3.5.9 संयुक्त राष्ट्रसंघ का उदय

लीग ऑफ नेशन्स के उत्तराधिकारी के बतौर 24 अक्टूबर 1945 को यूएनओ की स्थापना की गई, ताकि दुनिया में शान्ति की गारन्टी हो सके। संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर 1945 में सैन फ्रान्सिसको में पारित किया गया था, जो रूस, अमरीका, ब्रिटेन और चीन के बीच 1944 में डम्बर्टन ओक्स (यूएसए) में हुए सम्मेलन की सहमतियों पर आधारित था। संयुक्त राष्ट्र संघ का उद्देश्य विश्व में शान्ति कायम करने और संघर्ष के मुद्दों को खत्म करने के लिए दुनिया में आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक और सांस्कृतिक विकास को बढ़ावा देना है। सभी जनसमुदायों के मानवीय अधिकारों व सार्वभौमिक आजादी की गारन्टी करना इसका लक्ष्य है।

अन्त में हम यही कह सकते हैं कि पहली सितम्बर 1939 के दिन पोलैन्ड पर जर्मनी के हमले से शुरू द्वितीय विश्व युद्ध मनुष्य जाति के इतिहास का सर्वाधिक भीषण युद्ध था। इस युद्ध के अनेक कारण ऐसे थे, जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय संकट को इस विस्फोटक मोड़ पर ला दिया था, और जिनकी हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं। युद्ध में जानमाल और सम्पत्ति का जो नुकसान हुआ वह युद्धों के इतिहास में अभूतपूर्व है। लेकिन यह विभीषिका भावी पीढ़ियों को इस पैमाने पर युद्ध की कार्यवाही दोबारा न करने का सबक भी है, क्योंकि यह गलती दोहराने का अर्थ मनुष्य जाति के समूल नाश के सिवा कुछ न होगा।

अभ्यासः सही या गलत

1. द्वितीय विश्व युद्ध में शहरों पर बमबारी करके आम नागरिकों का व्यवस्थित जनसंहार करना युद्ध की एक मान्य रणनीति थी।
2. पोट्सडैम सम्मेलन में जनसंख्या के व्यवस्थित और मानवीय स्थानान्तरण की व्यवस्था की गई थी।
3. युद्ध के बाद शक्ति संतुलन ब्रिटेन और फ्रान्स के पक्ष में झुक गया और वे महाशक्ति बन गए।
4. अफ्रीका और मध्य पूर्व में आजादी की माँग का तेज होना द्वितीय विश्व युद्ध का एक परिणाम था।

5. अस्तित्ववाद जीवन की सार्थकता पर जोर देता था।
6. संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना 24 अक्टूबर 1945 में विश्व में शान्ति कायम करने के लिए की गई थी।

अभ्यासः खाली स्थान भरें

1. अगस्त 1943 में बर्मा ने .....सेना की मदद से खुद को स्वतन्त्र घोषित कर दिया था
2. .....द्वारा लिखित वेटिंग फॉर गोदो नाटक .....के नाट्यमंच के बतौर प्रसिद्ध हो गया था
3. चित्रकला के क्षेत्र में 1940 के दशक में अमूर्त.....के नए स्कूल का उदय हुआ था जिसमें कलाकार बौद्धिकता की जगह भावुकता को तरजीह देते थे।
4. मुसोलिनी के उत्तराधिकारी.....ने एक सन्धि पर हस्ताक्षर करके इटली को मित्र राष्ट्रों के साथ जोड़ दिया।
5. मीन काम्फ (मेरा संघर्ष) .....ने लिखा था।

3.6 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 3.3.9 के उत्तर

1. सही
2. सही
3. सही
4. सही
5. गलत

इकाई 3.4.4 के उत्तर

1. गलत
2. सही
3. गलत

इकाई 3.5.9 के उत्तर

1. सही
2. सही
3. गलत
4. सही
5. गलत
6. सही

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

•ब्रिग्स, आसा और क्लाविन पैट्रीशिया, माडर्न यूरोपः पियरसन एजूकेशन लिमिटेड, दिल्ली, 2003
•महाजन, स्नेह, इशूज इन ट्वेन्टिएथ सेन्चुरी वर्ल्ड हिस्ट्री, मैकमिलन, दिल्ली, 2010
•लो, नार्मन, मास्टरिंग माडर्न वर्ल्ड हिस्ट्री, दूसरा संस्करण,, मैकमिलन, लंदन, 1988

- पैक्सटन, राबर्ट ओ, यूरोप इन द ट्वेन्टिएथ सेन्चुरी, तीसरा संस्करण, हारकोर्ट ब्रस एन्ड कम्पनी, फ्लोरिडा, 1997
- ली, स्टीफेन जे, हिटलर एन्ड नाज़ी जर्मनी, रूलेज, लंदन, 1998
- टेलर, ए.जी.पी, द ओरिजिन्स आफ द सेकन्ड वर्ल्ड वार, लंदन, 1963

3.8 अध्ययन के लिए ग्रन्थ सूची

- मैनविक, आर्थर, ब्रिटेन इन द सेन्चुरी आफ टोटल वार, बोस्टन, 1968
- हॉब्सबाम, ई.जे, द एज आफ इक्स्ट्रीम्सः द शार्ट 20 सेन्चुरी, 1914–1991 (1994)
- थामसन, डेविड, यूरोप सिन्स नेपोलियन, लो एन्ड ब्राइडन लिमिटेड, लंदन, 1957
- मेरीमन, जॉन, अ हिस्ट्री आफ माडर्न यूरोप, खन्ड 2, डब्ल्यू.डब्ल्यू. नार्टन एन्ड कम्पनी, न्यू यार्क/लंदन, 1996

3.9 निबंधात्मक प्रश्न

प्रश्न 1. द्वितीय विश्व युद्ध के लिए हिटलर किस हद तक जिम्मेदार था?
प्रश्न 2. तुष्टीकरण की नीति ने द्वितीय विश्व युद्ध में क्या भूमिका निभाई?
प्रश्न 3. द्वितीय विश्व युद्ध की प्रमुख घटनाओं का वर्णन करें?
प्रश्न 4. द्वितीय विश्व युद्ध के परिणामों की चर्चा करें?

इकाई–4 विऔपनिवेशीकरण और शीत युद्ध

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 विऔपनिवेशीकरण
4.3.1 यूरोपीय ताकतों ने अपने उपनिवेशों को क्यों छोड़ा
4.4 विऔपनिवेशीकरण के कारण
4.4.1 द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विऔपनिवेशीकरण की लहर
4.4.2 उपनिवेशों में लोकप्रिय राष्ट्रवाद का विकासः
4.4.3 जापान की सैन्य शक्ति का उदयः 1904–5
4.4.4 प्रमुख ताकतों के बतौर अमरीका और सोवियत संघ का उदयः
4.4.5 संयुक्त राष्ट्र संघ (यूएनओ) की भूमिकाः
4.4.6 सर्व–अफ्रीकावादः
4.5.1 शीत युद्ध विचारधारात्मक मतभेदः
4.5.2 स्टालिन की विदेश नीतियाँः
अमरीका और ब्रिटेन के नेताओं का रूस विरोधी रवैयाः
4.6 1945 से 1953 के बीच शीत युद्धः
4.6.1 पोस्टडैम सम्मेलन (जुलाई 1945)
4.7 पूर्वी यूरोप पर रूस का फन्दा :
4.7.1 ट्रूमैन सिद्धान्त
4.7.2 कॉमिनफार्म (सितम्बर 1947) की स्थापना
4.7.3 बर्लिन की नाकेबन्दी और रसद की हवाई आपूर्ति (जून 1948– मई 1949)
4.7.4 नाटो की स्थापना
4.7.5 दो जर्मन राष्ट्र
4.8 कोरिया युद्धः 1950–1953
4.9 शीत युद्ध में नरमी
4.9.1 स्टालिन की मौत (मार्च 1953)
4.9.2 1950वें दशक की घटनाएँः आपसी रिश्तों की बर्फ पिघलने लगी
4.9.3 रिश्तों में महज आंशिक सुधार
4.9.4 क्यूबा मिसाइल संकट (1962)
4.10 ग्रन्थ सूची
4.11 उपयोगी पाठ्य सामग्री
4.12 निबंधात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम एशिया और अफ्रीका के मुल्कों के औपनिवेशिक जुए से मुक्त होने की प्रक्रिया और उससे जुड़े सवालों पर गौर करेंगे। हम यहाँ उन बातों का भी जिक्र करेंगे, जो इस विषय के विश्लेषण व समग्र चिन्तन में छात्रों की मददगार होंगी।

इस इकाई में अन्तर्राष्ट्रीय जगत के दो परस्पर विरोधी सत्ता ध्रुवों, यानी अमरीकी नेतृत्व वाले पश्चिमी पूंजीवादी देशों व सोवियत संघ के नेतृत्व वाले पूर्वी यूरोप के कम्युनिस्ट देशों के दो परस्पर विरोधी अन्तर्राष्ट्रीय खेमों के बीच घटे ऐतिहासिक शीत युद्ध का विश्लेषण करेंगे। इस परिघटना के महत्वपूर्ण घटनाक्रम व उनके नतीजों की भी चर्चा यहाँ की जाएगी।

इस इकाई में हमारा मकसद ऐसी जानकारियों से समृद्ध बनाना है, जो इस विषय से जुड़े घटनाक्रम और अवधारणाओं को समझने में आपकी मदद करेंगी। हमने अवधारणाओं की व्याख्या करते समय उनके सन्दर्भ भी स्पष्ट किए हैं, ताकि छात्र किसी ऐतिहासिक घटना या परिघटना को समझने में सक्षम बन सकें।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- विऔपनिवेशीकरण की अवधारणा और अर्थ को समझ सकेंगे
- विऔपनिवेशीकरण से जुड़ी घटनाओं व चर्चा को समझ सकेंगे।
- एशिया और अफ्रीका के ऐतिहासिक घटनाक्रम के सन्दर्भ में विऔपनिवेशीकरण को समझ सकेंगे।
- दो महाशक्तियों के बीच शीत युद्ध के प्रसार को समझ सकेंगे।
- शीत युद्ध के विस्तार व घटनाक्रम को समझ सकेंगे।

4.3 विऔपनिवेशीकरण

विऔपनिवेशीकरण का सीधा ताल्लुक उस राजनीतिक विऔपनिवेशीकरण से है, जिसने उपनिवेशों पर उपनिवेश मालिकों की उन्नीसवीं सदी से चली आने वाली राजनीतिक सत्ता का खात्मा कर दिया था। 1940 से 1960 के दशकों के बीच एशियाई व अफ्रीकी मुल्कों के आजाद होने की घटना इस विऔपनिवेशीकरण का उदाहरण है। विऔपनिवेशीकरण के सन्दर्भ में अकसर इस्तेमाल की जाने वाली 'स्वतन्त्रता' व 'सत्ता हस्तान्तरण' जैसी शब्दावलियों का आशय भी यही है। बीसवीं सदी की दूसरी अर्धशती राजनीतिक विऔपनिवेशीकरण की इसी परिघटना से पहचानी जाती है, हालाँकि अलग–अलग राष्ट्रों में उसका सन्दर्भ और स्वरूप एक सा नहीं रहा है।

उपनिवेशवाद उपनिवेश पर प्रत्यक्ष विदेशी शासन कायम करने और उसके संसाधनों का दोहन करने तक सीमित न था; उसने उपनिवेशों में राजनीतिक अर्थशास्त्र, सूचना और संस्कृति की एक बहुआयामी व दूरगामी असर डालने वाली संरचना को भी स्थापित किया था। उपनिवेश–मालिक

जीवन के हरेक आयाम को बदल रहे थे; उसकी भाषा, पहनावा, कानून, खेल, शहरी आयोजना, औषधि, कला और साहित्य जैसे हरेक आयाम पर औपनिवेशिक रंग डाल रहे थे। उनके द्वारा एक ऐसे राजनीतिक, शैक्षिक व सांस्कृतिक ढाँचे को स्थापित किया गया, जो औपनिवेशिक प्रजा के समूचे अस्तित्व को निर्धारित व नियन्त्रित करने लगा था, एक बिलकुल अलग भौतिक व वैचारिक माहौल बना रहा था, उपनिवेशवाद के जिस स्वरूप के खिलाफ आन्दोलन व विद्रोह भड़क उठे थे। उपनिवेश की जनता के साथ इस उपनिवेशवाद के सारे सम्बोधन सत्ता और श्रेष्ठता के मुहावरों में बात करते थे। इस उपनिवेशवादी नियन्त्रण की सारी अकादमियाँ और शैक्षिक संस्थाएँ भी ज्ञान उत्पादन के वर्चस्ववादी उद्यम की भूमिका निभाते थे, और उपनिवेशवाद का पुनरुत्पादन कर रहे थे– औपनिवेशिक ढाँचों के कुशल प्रशासन के लिए उपनिवेशों में औपनिवेशीकृत मष्तिष्क का उत्पादन करने की कोशिशें हो रही थीं। मसलन, भारत के औपनिवेशिक ढाँचे में देशी अभिजनों को भी समाहित कर लिया गया था, जो यूरोपीय शासकों व देश की बहुसंख्यक जनता के दरमियान सामाजिक बिचौलिए की भूमिका निभा रहे थे।

4.3.1 यूरोपीय ताकतों ने अपने उपनिवेशों को क्यों छोड़ा

विऔपनिवेशीकरण के सन्दर्भ में आज की सर्वप्रमुख बहसयह है, कि यह राष्ट्रवादी आन्दोलनों के दबाव का नतीजा थी, या फिर, चाहे जिस हद तक हो, बाह्य राजनीतिक व आर्थिक दबावों का नतीजा थी। इस सन्दर्भ में दिए गए 'मेट्रोपॉलिटन सिद्धान्त' के सर्वप्रमुख प्रवक्ता राबर्ट हॉलैन्ड हैं, जो विऔपनिवेशीकरण के लिए बाहरी यानी मेट्रोपॉलिटन शक्तियों की भूमिका को प्रमुख मानते हैं। अन्य इतिहासकार इस तर्क को खारिज करते हुए कहते हैं, कि उपनिवेशों के राष्ट्रीय आन्दोलन ही विऔपनिवेशीकरण का श्रेय लेने के वास्तविक हकदार हैं। वे दावा करते हैं कि जिन देशों में औपनिवेशिक ताकतें बलात बाहर की गईं, वह राष्ट्रवादी आन्दोलनों का ही नतीजा था। दूसरे शब्दों में, इतिहासकारों के अनुसार विऔपनिवेशीकरण की परिघटना की दो व्याख्याएँ की जा सकती हैं। औपनिवेशिक शासन के खिलाफ एक तरफ उपनिवेशों में मजबूत प्रतिरोध विकसित हुए, तो दूसरी तरफ साम्राज्य की वापसी सुनिश्चित लगने पर साम्राज्यवाद के प्रति एक नया नजरिया भी उभरा, और उनके विरोध का तीखापन कम हो गया था।

4.4 विऔपनिवेशीकरण के कारण

विऔपनिवेशीकरण मुख्यतया उपनिवेशवाद के अन्तर्निहित अन्तरविरोधों का परिणाम था; औपनिवेशिक नीतियों, आधुनिकता के आगाज़ और औपनिवेशिक सत्ता के अस्वीकार की मिली–जुली जमीन पर ही उपनिवेशों में राष्ट्रवाद फला–फूला था। यह कहा जा सकता है कि औपनिवेशिक सत्ता अपने ही अन्तरविरोधों तले दबी जा रही थी। यूरोपीय औपनिवेशिक ताकतों ने अपने उपनिवेशों को खुद ही छोड़ दिया, या वे वहाँ से हटने के लिए मजबूर किए गए, उपनिवेशवाद के समर्थकों व राष्ट्रीय आन्दोलन के समर्थकों के बीच यह वैचारिक बहस जारी है।

बीसवीं सदी की शुरुआत में उपनिवेशों के विस्तार के सन्दर्भ में औपनिवेशिक ताकतों का आर्थिक व सैन्य विस्तार इतना बढ़ गया, कि औपनिवेशिक ताकतें उसके भार से झुकी जा रही थीं। उपनिवेश भी कम हो रहे थे, और औपनिवेशिक सत्ता कायम रखने का खर्च उनके मुनाफे से बढ़ने लगा था, इसलिए औपनिवेशिक शासक उन्हें छोड़ने के लिए तैयार हुए। यह सच है कि उपनिवेश खाद्यान्न जैसे सस्ते प्राथमिक उत्पादों का स्रोत थे, जो विकसित औद्योगिक देशों के मजदूरों के लिए बिलकुल जरूरी थे। जरूरी धातुओं व खनिजों की भी आपूर्ति के स्रोत भी वही थे। इतना ही नहीं, यूरोप के विकसित औद्योगिक देशों के उत्पादों का बाजार भी वहीं था। इसके अलावा, उपनिवेशों की भारी–भरकम प्रशासनिक व सैन्य मशीनरी मेट्रोपालिटन देशों की जनता के रोजगार का भी विशाल स्रोत थे। समशीतोष्ण जलवायु वाले उपनिवेशों में यूरोप की बेशी जनसंख्या भी बसती गई, और अमरीका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैन्ड, कनाडा और कुछ हद तक दक्षिण अफ्रीका यूरोपीय जनसंख्या से पट गए। यूरोपीय देशों के शासक वर्गों को प्रतिष्ठा दिलाने वाले वे उपकरण भी थे। बहरहाल, यूरोप का औपनिवेशिक अभियान उन्नीसवीं सदी में ही परवान चढ़ा, पूंजीवाद फला–फूला, औद्योगीकरण ने रफ्तार पकड़ी और उपनिवेशों से हुए धन के बहाव से औपनिवेशिक ताकतें मालामाल हुईं।

लेकिन वक्त के साथ औपनिवेशिक अभियानों की कीमत भारी पड़ने लगी, और ऐसी स्थितियाँ बनीं जिसे रणनीतिक विश्लेषक औपनिवेशिक 'ओवरस्ट्रेच' कहते हैं। हालत ये हो गई कि दो सबसे शक्तिशाली औपनिवेशिक ताकतें, ब्रिटेन और फ्रान्स को प्रथम विश्व युद्ध के मैदान में उतरने के लिए अमरीकी कर्ज की बैसाखी का सहारा लेना पड़ा। सितम्बर 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध के समय ब्रिटेन की माली हालत खस्ता थी; अमरीका के साथ 1941 की लेन्ड–लीज सन्धि ने उसे दिवालिया होने से बचाया था। उधर, प्रतिद्वन्द्वी जर्मनी और जापान की महात्वाकांक्षी ताकतें रंगमंच पर आ चुकी थीं, और विश्वयुद्धों में हुए नुकसान ने औपनिवेशिक ताकतों की हालत पतली कर दी थी। साम्राज्यवादी देशों के आपसी संघर्षों के परिणामस्वरूप होने वाले प्रथम (1914–18) व द्वितीय विश्वयुद्धों (1939–45) ने ब्रिटेन और फ्रान्स की औपनिवेशिक क्षमता को घातक नुकसान पहुँचाया, और विऔपनिवेशीकरण व्यावहारिक लिहाज से उनकी नियति बन गई।

4.4.1 द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विऔपनिवेशीकरण की लहर

प्रथम व द्वितीय विश्वयुद्धों में औपनिवेशिक देशों की बड़े पैमाने पर भागीदारी रही, जिसने उन्हें यूरोप की परिस्थितियों का जानकार बना दिया था। नतीजतन, उपनिवेशों में उपनिवेशवाद विरोधी ज्वार बढ़ने लगा। युद्ध की शुरुआत के समय औपनिवेशिक सत्ता ने उपनिवेशों की जनता से राजनीतिक सुधारों के तमाम वादे किए थे। लेकिन युद्ध के बाद स्वशासन और डोमिनियन स्टेटस की रटन्त पर कोई अमल नहीं किया गया। अब ये वादे उपनिवेशों के भीतर जन अपेक्षाओं में आग लगाने लगे। औपनिवेशिक वादाखिलाफी के खिलाफ उपनिवेशों में असन्तोष फूट पड़े और विऔपनिवेशीकरण का दबाव बढ़ गया। प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति पर साम्राज्यवाद विरोधी प्रतिरोध ठोस आकार लेने लगा था, जिसका उदाहरण 1929 में ब्रसेल्स सम्मेलन के जरिए साम्राज्यवाद–विरोधी लीग के गठन के रूप में देखा जा सकता था।

4.4.2 उपनिवेशों में लोकप्रिय राष्ट्रवाद का विकास

बीसवीं सदी के प्रथमार्ध में औपनिवेशिक जनता के बीच उपनिवेशवाद अपनी साख खो चुका था। अन्तर्राष्ट्रीय बाजार को कच्चे माल की आपूर्ति करने वाले उपनिवेश आर्थिक महामन्दी की घातक मार से पीड़ित थे। 1920 व 1930 के दशक उपनिवेशों में आर्थिक संकट, भारी बेरोजगारी, राजनीतिक अव्यवस्था व नागरिक आन्दोलनों के पर्याय बन गए। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद भारत में राष्ट्रवाद ने जो गति पकड़ी, उसका ज्वार 1947 की भारतीय आजादी के साथ ही शान्त हो सका। दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान भी यहाँ राष्ट्रवादी आन्दोलनों की आग भड़क रही थी, और विश्व युद्ध के खात्मे पर भारत अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता के बिलकुल करीब दिखने लगा था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के तहत राष्ट्रीय संघर्षों की जो छतरी तैयार हुई थी, उसने ब्रिटेन की साख को चूर कर दिया, और इस तरह भारतीय राष्ट्रवाद के ज्वार के आगे घुटने टेकने के अलावा ब्रिटेन के पास कोई चारा नहीं बचा था।

4.4.3 जापान की सैन्य शक्ति का उदय

1904–5 के रूस–जापान युद्ध में जापान द्वारा हासिल विजय ने यूरोपीय अजेयता के मिथक को चकनाचूर कर दिया था। जर्मनी के खिलाफ पहले विश्व युद्ध में जापान ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। द्वितीय विश्व युद्ध में भी ब्रिटेन के खिलाफ मलय और सिंगापुर में जापानी सेना अनेक बार विजयी हुई थी। उधर, द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान मलेशिया और वियतनाम जैसे एशियाई देशों की राष्ट्रवादी और कम्युनिस्ट ताकतों ने जापानियों से लोहा लिया था, और महत्वपूर्ण सैनिक और राजनीतिक जानकारी हासिल की थी। द्वितीय विश्व युद्ध में जापान की पराजय के बाद यही राष्ट्रवादी व कम्युनिस्ट ताकतें यूरोपीय उपनिवेशवाद को बर्दाश्त करने के लिए कत्तई राजी न थे। इन्डोचीन में फ्रान्सीसियों के दोबारा कब्जा कर लेने के बाद वियतनाम अपनी सशस्त्र लड़ाई में डटा रहा, फ्रान्सीसी सेना कुचल दी गई, और 1954 में डिएन बिएन फू की प्रसिद्ध लड़ाई में फ्रान्स की बटालियन आत्मसमर्पण करने पर मजबूर हो गई।

4.4.4 प्रमुख ताकतों के बतौर अमरीका और सोवियत संघ का उदय

बीसवीं सदी के प्रथमार्ध में अमरीका और सोवियत संघ का उदय हो चुका था, जिसने विऔपनिवेशीकरण की प्रक्रिया को काफी तेज किया। विश्व युद्धों के बाद अमरीकी ताकत और वर्चस्व बेहद बढ़ चुका था। अमरीका उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दौर में यूरोप और एशिया के अनेक संघर्षशील देशों में आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन कर रहा था। वह एशिया में भी बर्तानवी साम्राज्य के विऔपनिवेशीकरण के लिए ब्रिटेन पर दबाव बना रहा था। इन बातों ने विऔपनिवेशीकरण की प्रक्रिया को तेज तो किया, लेकिन इससे विऔपनिवेशीकरण के लाभार्थी राष्ट्रों पर महाशक्तियों के अप्रत्यक्ष राजनीतिक नियन्त्रण के दरवाजे भी खुल चुके थे।

4.4.5 संयुक्त राष्ट्र संघ (यूएनओ) की भूमिका

औपनिवेशिक शासकों पर लगातार दबाब बनाते हुए यूएनओ ने मानवाधिकारों व आजादी के नए विचारों को आगे बढ़ाया था। 1960 में संयुक्त राष्ट्र द्वारा औपनिवेशिक राष्ट्रों व जनता को आजादी देने पर घोषणा जारी की गई थी। इसमें कहा गया कि, ''लोगों को विदेशी प्रभुत्व और शोषण के अधीन रखना बुनियादी मानवाधिकारों का हनन है, संयुक्त राष्ट्र चार्टर के खिलाफ है, और विश्व शान्ति व सहयोग के विकास की बाधा है।'' 1965 के एक प्रस्ताव में संयुक्त राष्ट्र ने और आगे बढ़ते हुए औपनिवेशिक शासन को 'मानवता के खिलाफ अपराध' घोषित कर दिया था।

4.4.6 सर्व–अफ्रीकावाद

सर्व–अफ्रीकावाद वह अफ्रीकी सोच है जो अफ्रीकी मूल के सभी लोगों की, चाहे वे जहाँ के हों, सांस्कृतिक व आध्यात्मिक एकता पर बल देता है। इस विचारधारा के मानने वाले एक संघीय संयुक्त राज्य अफ्रीका की स्थापना करना चाहते थे। लेकिन यह विचार अफ्रीका के उन देशों में स्वीकार नहीं किया, जो अपनी आजादी और स्वायत्तता को बरकरार रखने में दिलचस्पी रखते थे। अन्ततः 1963 में अदिस अबाबा (इथोपिया) के सम्मेलन में उन्होंने अफ्रीका एकता संघ (ओएयू) की नींव डाली। अनेक पूर्व–उपनिवेशों के राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास में सर्व–अफ्रीकी विचारधारा का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

अभ्यासः

खाली स्थान भरें:

1. 1940 से 1960 के दशक में एशियाई और अफ्रीकाई देशों की आजादी को आमतौर पर ..... उदाहरण बताया जाता है।
2. .....थीसिस' की दलील है कि बाहरी या मेट्रोपॉलिटन ताकतें विऔपनिवेशीकरण के लिए अधिक महत्वपूर्ण थीं।
3. 1904–5 के रूस–जापान युद्ध में जापान की विजय ने .....अजेयता के मिथक को तार–तार कर दिया था।
4. 1929 में ब्रसेल्स के एक सम्मेलन में .....विरोधी लीग का गठन किया गया था।
5. 1960 में .....ने .....देशों और जनता की आजादी देने की घोषणा जारी की थी।

सही या गलतः

1. उपनिवेशों में जन राष्ट्रवाद का विकास विऔपनिवेशीकरण की प्रक्रिया में कोई महत्वपूर्ण कारक नहीं था।
2. बीसवीं सदी के प्रथमार्ध में अमरीका और सोवियत संघ के उभार ने विऔपनिवेशीकरण में भारी योगदान दिया।
3. 1941 में अमरीका के साथ किए गए लेन्ड लीज समझौते ने ब्रिटेन को दिवालिएपन से बचा लिया था।
4. अफ्रीकी एकता संगठन (ओएयू) की स्थापना अदिस अबाबा (इथोपिया) के सम्मेलन में की गई थी।

उत्तरः
1. गलत
2. सही
3. सही
4. सही

4.5 शीत युद्ध

विश्व युद्ध की समाप्ति पर सोवियत संघ और अमरीका व पश्चिमी यूरोपीय देशों के रिश्ते बिगड़ने लगे। 1945 के बाद इन दो प्रतिद्वन्द्वी गुटों के बीच हालाँकि कोई सशस्त्र संघर्ष नहीं हुआ, लेकिन संशय, प्रतिद्वन्द्विता और तनाव की प्रत्यक्ष उपस्थिति हमेशा बनी रही। यही तनाव इतिहास में शीत युद्ध कहा गया है, यानी जब आपसी दुश्मनी किसी सशस्त्र लड़ाई का रूप लेने के बजाए प्रचार व आर्थिक युद्ध का रूप लेती है। विश्व युद्ध के बाद अमरीका और सोवियत संघ महाशक्ति बन चुके थे, और अपने–अपने खेमों में अन्य देशों को शामिल करके ताकत और वर्चस्व बढ़ा रहे थे। सोवियत संघ पूर्वी यूरोप के विभिन्न देशों में कम्युनिस्ट सरकारों के गठन में मदद कर रहा था, तो दुनिया के अन्य देशों में पूंजीवादी सरकारों को मदद पहुँचाने के जरिए अमरीका अपनी ताकत बढ़ा रहा था।
शीत युद्ध के कारणः

4.5.1 विचारधारात्मक मतभेद

सोवियत संघ कम्युनिस्ट था, और अमरीका व पश्चिमी देश पूंजीवादी थे, यानी दोनों के सिद्धान्त परस्पर विरोधी थे। विश्वयुद्ध के दौरान ये देश अपनी अस्तित्वगत मजबूरियों के कारण साथ आए थे। जब जर्मन सत्ता की पराजय स्पष्ट हो गई, दोनों विरोधी खेमों के रिश्ते भी बदलने लगे।

4.5.2 स्टालिन की विदेश नीतियाँ

स्टालिन यूरोप में रूस का प्रभाव बढ़ाना चहते थे उनकी असली मंशा पर इतिहासकारों में काफी बहस रही है। अनेकइतिहासकार मानते हैं कि स्टालिन जारशाही की विस्तारवादी नीतियों की पुरानी परम्परा को ही आगे बढ़ाना चाहते थे, और दुनिया के अन्य देशों में कम्युनिज्म फैलाना चाहते थे। इतिहासकारों का दूसरा वर्ग इसका खंडन करते हुए कहते हैं, कि स्टालिन और रूस की मुख्य चिन्ता आक्रामक न होकर रक्षात्मक थी, और पश्चिम के पूंजीवादी मुल्कों के हमलावर रुख के आगे रूस की रक्षा सुनिश्चित करने के लिए, रूसी सीमाओं पर वे एक विस्तृत बफर यानी तटस्थ क्षेत्र बनाना चाहते थे। अमरीका और ब्रिटेन हर हाल में कम्युनिज्म का खात्मा चाहते थे। यहाँ तक कि युद्ध के दौरान भी, जर्मनी के खिलाफ फ्रान्स में दूसरा मोर्चा खोलने के सवाल पर

पश्चिमी देशों ने आनाकानी की थी, जो रूस पर अधिकतम दबाव बनाने और सैन्य व वित्तीय लिहाज से उसे खत्म कर देने की सोची समझी रणनीति का हिस्सा थी। उन्होंने जापान पर अणु बम गिराने के पहले स्टालिन को उसकी कोई जानकारी नहीं दी थी। यही नहीं, जापान के खिलाफ प्रत्याक्रमण में शामिल किए जाने की रूसी माँग को भी उन्होंने ठुकरा दिया था।

4.5.3 अमरीका और ब्रिटेन के नेताओं का रूस विरोधी रवैया

1945में रूजवेल्ट का उत्तराधिकार सँभालने वाले अमरीकी राष्ट्रपति हैरी ट्रूमैन रूस के प्रति काफी शंकालु थे। ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री चर्चिल की सोवियत सरकार के प्रति अरुचि जगजाहिर थी। युद्ध के अन्तिम दौर में जर्मनी में रूस न घुसे, इसके लिए चर्चिल चाहते थे कि अमरीका और ब्रिटेन पहले ही जर्मनी पर धावा बोल दें।

इतिहासकार नार्मन लो दोनों खेमों को, किसी न किसी हद तक, शीत युद्ध के लिए जिम्मेदार मानते हैं। उनके अनुसार दोनों खेमों के बीच अगर आपसी विश्वास का माहौल बनाया जाता, तो इस लड़ाई को टाला जा सकता था। लेकिन दोनों खेमों के अडियल रवैए और चरम अविश्वास से मामला खतरनाक बन गया था, और ऐसे हालात हो गए जहाँ हरेक अन्तर्राष्ट्रीय घटना की व्याख्या दो परस्पर विरोधी ढर्रों पर करने का रिवाज बन गया– कोई एक खेमा जिस कदम को अपनी आत्मरक्षा के लिए जरूरी बताता, दूसरा उसे विरोधी के खतरनाक इरादों का पक्का सबूत बताता था।

4.6 1945 से 1953 के बीच शीत युद्ध

फरवरी 1945 के याल्टा सम्मेलन में स्टालिन, चर्चिल और रूजवेल्ट तीनों शामिल हुए। काफी बहस–मुबाहिसे के बाद इस सम्मेलन में ये निर्णय लिए गए: संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना, जर्मनी का ब्रिटिश, अमरीकी और रूसी (बाद में एक फ्रान्सीसी) प्रभाव–क्षेत्रों में बँटवारा, और (अन्यथा रूसी प्रभाव क्षेत्र माना जाने वाले) बर्लिन का भी इन्हीं चार प्रभाव क्षेत्रों में बँटवारा, इसी तर्ज पर आस्ट्रिया के बँटवारे की व्यवस्था, पूर्वी यूरोप के देशों में स्वतन्त्र चुनावों की मंजूरी, सखालिन द्वीप और मन्चूरिया के कुछ इलाकों के रूस को दिए जाने के बदले जापान विरोधी युद्ध में उसके शामिल होने की सहमति।

4.6.1 पोस्टडैम सम्मेलन (जुलाई 1945)

इस सम्मेलन में जर्मनी के बँटवारे, नाजी पार्टी को भंग करने और उसके नेताओं पर युद्ध अपराधियों के मुकदमा चलाने के निर्णय लिए गए। युद्ध की क्षति पूर्ति के बतौर जर्मनी को हरजाना भरने के लिए कहा गया। इसके अलावा, जनसंख्या के 'व्यवस्थित और मानवीय' स्थानान्तरण की व्यवस्था की गई। इस सम्मेलन में अमरीकी राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अमरीकी अणु बम के बारे में स्टालिन को कोई जानकारी नहीं दी थी, और सम्मेलन खत्म होने के चन्द दिनों के अन्दर जापान पर दो अणु बम डाल दिए, जिसके कारण युद्ध फौरन खत्म हो गया।

चर्चिल ने 'लौह परदे' वाला भाषण (मार्च 1946) मिसौरी (अमरीका) राज्य के फुल्टन में दिया था। इस भाषण में चर्चिल ने कहा थाः 'बाल्टिक के स्टेटिन और एड्रियाटिक के ट्रीस्टे तक इस महाद्वीप में एक लौह परदा पड़ गया है': रूस पर अपने सिद्धान्तों और सत्ता के अनन्त विस्तार की जिद का आरोप मढ़ते हुए चर्चिल ने पश्चिमी देशों का आह्वान किया, कि वे एक ऐसा गठजोड़ बनाएँ जो कम्युनिज्म के खतरे से निपटने में समर्थ हो। यह भाषण दोनों खेमों के बीच की खाई को और चौड़ा बनाने वाला साबित हुआ।

4.7 पूर्वी यूरोप पर रूस का फन्दा

1947 में चेकोस्लोवाकिया को छोड़कर इस क्षेत्र के हरेक देश में कम्युनिस्ट सरकारें स्थापित हो चुकी थीं। उधर जर्मनी के रूसी प्रभाव क्षेत्र के साथ भी स्टालिन का रवैया ऐसा था मानो वह रूस का ही अंग हो। पश्चिमी देश रूस के इस व्यवहार से काफी क्षुब्ध थे, क्योंकि रूस याल्टा सम्मेलन में किए गए स्वतन्त्र चुनावों के अपने वादे की अनदेखी कर रहा था। हालाँकि रूस के पास भी यह तर्क था कि पड़ोस में मित्र सरकारों की उपस्थिति उसकी आत्मरक्षा के लिए जरूरी है। यहाँ तक कि विन्सटन चर्चिल भी 1944 की वार्ताओं में अधिकांश पूर्वी यूरोप को रूसी 'प्रभाव क्षेत्र' मान चुके थे।

4.7.1 ट्रूमैन सिद्धान्त

ट्रूमैन सिद्धान्त का जन्म ग्रीस में उस वक्त हुआ जब कम्युनिस्ट वहाँ राजशाही को उखाड़ फेंकने वाले थे। मार्च 1947 में अमरीका ने घोषित किया कि बाह्य ताकतों या सशस्त्र गुटों के हमलों का सामना करने वाले स्वतन्त्र देशों की वह मदद करेगा। इस सिद्धान्त की आड़ में ग्रीस की राजशाही को भारी मात्रा में हथियार व तमाम अन्य सहायता दे दी गई, जिसके बल पर राजशाही ने कम्युनिस्टों को हरा दिया। इसी नीति के तहत तुर्की को भी 6 करोड़ डालर की सहायता दी गई। 'ट्रूमैन सिद्धान्त' में स्पष्ट तौर पर कहा गया था, कि दुनिया में हर जगह कम्युनिज्म के प्रसार को रोकने की नीति पर अमरीका अमल करेगा।

मार्शल योजना एक तरह से 'ट्रूमैन सिद्धान्त' का आर्थिक विस्तार थी। अमरीकी विदेश मन्त्री जार्ज मार्शल ने कहा कि उनके देश की नीति किसी देश या सिद्धान्त के खिलाफ न होकर भूख, गरीबी, बेचारी और अराजकता के खिलाफ है, और इस नीति का लक्ष्य यूरोप का आर्थिक पुनर्निमाण और अमरीकी निर्यात के लिए बाजार सुनिश्चित करना है। उन्होंने यह भी कहा कि खुशहाल पश्चिमी यूरोप अपने इलाके में कम्युनिज्म को नहीं पनपने देगा। सिद्धान्ततः मार्शल योजना के तहत सहायता पूर्वी यूरोप के देशों के लिए भी उपलब्ध थी, लेकिन रूसी विदेश मन्त्री मोलोतोव ने इस नीति की आलोचना करते हुए इसे 'डालर साम्राज्यवाद' कहा, और इसे पश्चिम यूरोप में अमरीकी नियन्त्रण को पुख्ता करने और पूर्वी यूरोप में अमरीकी हस्तक्षेप बढ़ाने की अमरीकी रणनीति बताया। इस तरह रूस ने माशर्ल योजना को ठुकरा दिया, जिसके कारण पूर्वी यूरोप के किसी देश के लिए इसे स्वीकार करना नामुमकिन हो गया।

4.7.2 कॉमिनफार्म (सितम्बर 1947) की स्थापना

स्टालिन द्वारा यूरोप की तमाम कम्युनिस्ट पार्टियों के सामूहिक मंच के बतौर कॉमिनफार्म की स्थापना की गई थी। रूसी प्रभाव क्षेत्र की सभी पार्टियाँ इसकी सदस्य थीं, जबकि इटली और फ्रान्स की कम्युनिस्ट पार्टियों के प्रतिनिधि भी इसमें शामिल किए गए थे। इस मंच को पूर्वी यूरोप के सामूहिकीकरण, केन्द्रीकरण और औद्योगीकरण की नीतियाँ तय करना था। कॉमिनफार्म देशों को अपने व्यापार का विस्तार मुख्यतया अपने गुट तक सीमित रखना था और गैर–कम्युनिस्ट देशों के साथ व्यापारिक रिश्तों को प्रोत्साहन नहीं देना था। 1949 में मोलोतोव योजना की शुरुआत हुई, जिसके तहत रूसी प्रभाव क्षेत्र वाले देशों को आर्थिक सहायता दी जानी थी, और उनकी आर्थिक नीतियाँ निर्धारित करने के लिए कामेकान (काउन्सिल आफ म्युचुअल एकोनॉमिक असिस्टेन्स) नामक संस्था स्थापित की गई थी।

चेकोस्लोवाकिया पर कम्युनिस्ट शासन की स्थापना वहाँ के पूंजीवाद के लिए एक बड़ा झटका था। 1946 में वहाँ एक संयुक्त सरकार थी जो स्वतन्त्र चुनाव के जरिए सत्ता में आई थी। पश्चिमी देशों के अलावा संयुक्त राष्ट्र ने इस घटना का विरोध किया, लेकिन वे इसके खिलाफ कोई व्यावहारिक कदम उठाने में असफल रहे, क्योंकि इस मामले में रूसी संलिप्तता साबित करना मुश्किल था। नार्मन लो के अनुसार स्टालिन पश्चिमी देशों के साथ चेक गणराज्य के रिश्तों और मार्शल योजना के प्रति उसके झुकाव को नापसन्द करता था, जिसने चेक कम्युनिस्टों को शासन पर कब्जा करने के लिए उत्प्रेरित किया होगा। हालाँकि, आस्ट्रिया में मौजूद रूसी सेनाओं की चेक सीमा पर तैनाती महज एत्तेफाक नहीं मानी जा सकती।

4.7.3 बर्लिन की नाकेबन्दी और रसद की हवाई आपूर्ति (जून 1948– मई 1949)

यह घटना शीत युद्ध का परिणाम थी। बर्लिन के बारे में अलग–अलग मतों के कारण यह संकट उत्पन्न हुआ था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जर्मनी और बर्लिन को चार क्षेत्रों में बाँटा गया था। पश्चिम के तीन देश अपने तीन क्षेत्रों के राजनीतिक और आर्थिक पुनर्निमाण में लग गए, जबकि रूस अपने क्षेत्र को निजी प्रभाव क्षेत्र मानते हुए उसके संसाधनों को रूस स्थानान्तरित करने में लगा था।

1948 में पश्चिमी यूरोप के तीन देशों ने अपने जर्मन प्रभाव क्षेत्रों को एक एकल आर्थिक इकाई बना दिया। मार्शल योजना के तहत मिली सहायता के दम पर यह क्षेत्र खुशहाली की ओर बढ़ रहा था, जबकि रूसी प्रभाव क्षेत्र में गरीबी का साया बरकरार थी। पश्चिमी ताकतें स्वशासित पश्चिम जर्मनी के लिए एक नए संविधान का निर्माण भी कर रहे थे। जून 1948 में पश्चिमी देशों ने पश्चिम जर्मनी एक नई मुद्रा जारी की, और अपने प्रभाव क्षेत्रों व बर्लिन शहर में हर प्रकार के मूल्य नियन्त्रण और राशन प्रणाली को खत्म करने की घोषणा की। इन कदमों से रूस खुश नहीं था, और उसे अब बर्लिन की नई परिस्थितियों से परेशानी हो रही थी।

रूस ने पश्चिम जर्मनी और पश्चिम बर्लिन को जोड़ने वाले सभी रेल, सड़क व नहर मार्गों की नाकेबन्दी कर दी। उसका लक्ष्य पश्चिम बर्लिन में रसद का संकट पैदा करके पश्चिमी देशों पर वहाँ से वापस हटने का दबाव बनाना था। लेकिन पश्चिमी देश अपनी स्थिति में डटे रहे, और वे बर्लिन में जरूरी सामानों की आपूर्ति के लिए हवाई उड़ानों का सहारा लेने लगे। नार्मन लो के अनुसार अगले दस महीनों में पश्चिम बर्लिन के 25 लाख नागरिकों की जरूरतों की पूर्ति के लिए पच्चीस लाख टन सामान की हवाई रास्ते से पहुँचाया गया। अन्ततः 1949 में रूस को हार मानकर नाकेबन्दी को खत्म करना पड़ा। इस घटना से पश्चिमी खेमे का मनोवैज्ञानिक हौसला बढ़ गया, और उन्होंने अपनी सुरक्षा को और मजबूत करने के लिए नाटो (नार्थ एटलान्टिक ट्रीटी आर्गनाइजेशन) का गठन कर लिया।

4.7.4 नाटो की स्थापना

पश्चिमी देशों द्वारा नाटो की स्थापना अप्रैल 1949 में की गई। बर्लिन की नाकेबन्दी ने पश्चिम की सैन्य तैयारी की कमजोरियाँ उजागर कर दी थीं, और इस तरह यह घटना यूरोपीय देशों के और ज्यादा एकताबद्ध होने का सबब बन गई। हालाँकि, उसके पहले भी, मार्च 1948 में फ्रान्स, ब्रिटेन, हालैन्ड, बेल्जियम और लक्जमबर्ग ब्रसेल्स की सैनिक सन्धि पर हस्ताक्षर कर चुके थे, जिसमें युद्ध की परिस्थिति में परस्पर सैनिक सहयोग का प्रावधान किया गया था। नाटो की नई सन्धि में कनाडा, पुर्तगाल, अमरीका, आयरलैन्ड, डेनमार्क, नार्वे और इटली जैसे देश भी शामिल हो गए। ये सभी राष्ट्र नाटो के बाकायद सदस्य बन गए, जिसमें किसी सदस्य देश पर किया गया हमला सभी सदस्य देशों पर सामूहिक हमला मानने का प्रावधान था। इन देशों की सुरक्षा के संयोजन के लिए नाटो की एक संयुक्त कमान की स्थापना कर दी गई। इस बीच रूस ने भी अणु बम बना लिया, जिसके बाद दोनों अन्तर्राष्ट्रीय खेमों के बीच तनाव चरम पर पहुँच गया।

4.7.5 दो जर्मन राष्ट्र

पश्चिमी देश (अगस्त 1949 में) पश्चिम जर्मनी नाम के जर्मन संघीय गणराज्य की स्थापना कर चुके थे। रूस ने भी अपने प्रभाव क्षेत्र में (अक्टूबर 1949) जर्मन लोकतान्त्रिक गणराज्य यानी पूर्वी जर्मनी की स्थापना कर दी थी। कुल मिलाकर विश्व युद्ध के बाद विभाजित जर्मन राष्ट्र का एकीकरण 1980 दशक के पहले साकार न हो सका था।

4.8 कोरिया युद्धः 1950–1953

अमरीका और रूस के बीच हुए एक समझौते के अन्तर्गत कोरिया राष्ट्र 38वें अक्षांस से दो हिस्सों में बाँट दिया गया था। विभाजन का घोषित मकसद वहाँ काबिज जापानी सेनाओं के समर्पण की तैयारी करना था; और इसमें कोरियाई राष्ट्र के स्थाई राजनीतिक विभाजन की बात शामिल नहीं थी। लेकिन बाद में कोरियाई राष्ट्र की एकता शीत युद्ध की प्रतिद्वन्द्विता का शिकार हो गई, और

कोरिया के एकीकरण पर कोई समझौता न हो सका। अगस्त 1948 में कोरियाई गणतन्त्र या दक्षिण कोरिया का गठन हुआ, जिसकी राजधानी सिओल बनी। सितम्बर 1948 में कोरियाई लोकतान्त्रिक जन–गणराज्य की स्थापना हुई, जिसकी राजधानी प्योंगयांग बनाई गई। 1949 में कोरिया के इन दोनों विभाजित राष्ट्रों से अमरीकी और रूसी सेनाओं की वापसी हो गई।

जून 1950 में उत्तरी कोरिया ने दक्षिण कोरिया पर हमला कर दिया। अमरीकी राष्ट्रपति ट्रूमैन और पश्चिमी गुट दक्षिण कोरिया के पक्ष में कूद पड़े। संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद में उत्तरी कोरिया को अपनी सेनाएँ वापस बुलाने के लिए कहा गया, और उसके राजी न होने पर संयुक्त राष्ट्र ने अपने सदस्य देशों को दक्षिण कोरिया में अपनी सेनाएँ भेजने के लिए कहा संयुक्त राष्ट्र के सैनिक हस्तक्षेप के पहले उत्तरी कोरिया दक्षिण कोरिया के बड़े हिस्से को अपने कब्जे में कर चुका था। संयुक्त राष्ट्र की सेनाओं ने दक्षिण कोरिया को उत्तर कोरिया के कम्युनिस्ट कब्जे से मुक्त कराया। बाद में संयुक्त राष्ट्र की सहमति लेकर अमरीकी राष्ट्रपति ट्रूमैन ने उत्तरी कोरिया पर हमला कर दिया, और इस हमले का उद्देश्य दोनों कोरियाई मुल्कों को एकताबद्ध करना और स्वतन्त्र चुनावों की व्यवस्था करना बताया। संयुक्त राष्ट्र की इस सेना ने दो तिहाई उत्तर कोरिया पर कब्जा जमा लिया। इसी बीच, चीन युद्ध में कूद पड़ा और उसने संयुक्त राष्ट्र की सेनाओं पर प्रत्याक्रमण करते हुए उसे न सिर्फ उत्तरी कोरिया से खदेड़ दिया, बल्कि जनवरी 1951 में 38वें अक्षांस को पार करते हुए वे दक्षिण कोरिया में भी घुस गईं। बाद में, जून 1951 में संयुक्त राष्ट्र की सेनाओं ने दक्षिण कोरिया को कम्युनिस्टों से मुक्त कराया और उसकी सीमाओं की किलेबन्दी कर डाली। जुलाई 1953 में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार दोनों राष्ट्रों की सीमाएँ मोटे तौर पर 38वें अक्षांस पर निर्धारित की गईं। युद्ध के परिणाम कोरिया के लिए तबाही का पर्याय थेः देश पूरी तरह लुट गया था और चालीस लाख कोरियाई सैनिक व नागरिक युद्ध में मारे जा चुके थे, पचास लाख कोरियाई बेघर हो चुके थे; उत्तर और दक्षिण कोरिया के बीच विभाजन स्थाई बन चुका था। संयुक्त राष्ट्र ने भी अपने प्राधिकार का इस्तेमाल करते हुए आक्रमण की एक घटना को प्रत्याक्रमण में बदल दिया था। दूसरी तरफ, चीन अपनी उल्लेखनीय सैन्य सफलता को प्रदर्शित कर चुका था; और चीन व रूस के साथ अमरीका के सम्बन्ध गहरे तनाव में बदल चुके थे।

4.9 शीत युद्ध में नरमी

4.9.1 स्टालिन की मौत (मार्च 1953)

स्टालिन की मौत के बाद सोवियत संघ में नए नेता मंच पर आए, जो अमरीका के साथ रिश्ते सुधारना चाहते थे। वैसे भी, अगस्त 1953 तक, रूस और अमरीका हाइड्रोजन बम का आविष्कार कर चुके थे, इसलिए अणु युद्ध की विभीषिका से बचने के लिए इन दोनों देशों के आपसी रिश्तों का सुधार जरूरी हो गया था। निकिता ख्रुश्चेव ने स्पष्ट तौर पर कहा कि पश्चिम के साथ शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व न सिर्फ संभव है, बल्कि अपरिहार्य भी हैः केवल दो ही रास्ते हैं– या तो शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व या इतिहास का सबसे भीषण युद्ध। कोई तीसरा रास्ता नामुमकिन है।

4.9.2 1950वें दशक की घटनाएँः आपसी रिश्तों की बर्फ पिघलने लगी

कोरियाई युद्ध (1953) और हिन्द–चीन युद्ध की समाप्ति जैसी घटनाएँ इन दोनों देशों के रिश्तों की बर्फ के पिघलने के संकेत थे। 1955 में रूस फिनलैन्ड के सैन्य अड्डों को भी त्याग चुका था। दिसम्बर 1955 में संयुक्त राष्ट्र में 16 नए सदस्यों के प्रवेश पर रूस ने अपना वीटो वापस ले लिया। इसके अलावा यूगोस्लाविया से अपने मतभेद सुलझाने के लिए ख्रुश्चेव टीटो से मुलाकात करने गए। कामिनफार्म को खत्म करके प्रभुत्वाधीन राष्ट्रों को अधिक स्वतन्त्र बनाने का संकेत भी रूस दे चुका था। इन घटनाओं में मई 1955 की आस्ट्रियाई राष्ट्रीय सन्धि सर्वाधिक महत्व रखती है। वहाँ मौजूद रूसी सेनाओं को वापस बुला लिया गया, और अपनी 1937 की सीमाओं के साथ आस्ट्रिया एक आजाद मुल्क में तब्दील हो गया। आस्ट्रिया की सैनिक क्षमता सीमित कर दी गई थी, और उसे पूरब व पश्चिम की किसी लड़ाई में तटस्थ रहने का निर्देश दिया गया था, इस तरह नाटो या यूरोपीय आर्थिक संगठन जैसी संस्थाओं में उसके शामिल होने पर पाबन्दी लग गई थी।

4.9.3 रिश्तों में महज आंशिक सुधार

ख्रुश्चेव की नीति मिलीजुली थी। एक तरफ वह समझौते का हाथ बढ़ा रहे थे, तो दूसरी तरफ प्रभुत्वाधीन राष्ट्रों पर उनकी मजबूत गिरफ्त कायम थी। यह बात बुडापेस्ट (हंगरी) की उस घटना में जाहिर हो गई, जब 1956 में के विद्रोह को दबाने के लिए रूसी टैंक बुडापेस्ट में घुस गए थे। जर्मनी के नाटो में शामिल होते ही रूस और उसके प्रभुत्वाधीन राष्ट्रों के बीच वारसा संधि कायम कर ली गई। 1957 तक रूस अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र का सफल परीक्षण कर चुका था, और अपने पहले उपग्रह स्पुतनिक प्रथम को अन्तरिक्ष में भेज चुका था। जाहिरा तौर पर रूस की इस सैनिक क्षमता से पश्चिम खुद को अधिक असहज महसूस कर रहा था।
1960 में अमरीकी जासूसी जहाज यू–2 रूस की सरहद के हजारों मील भीतर मार गिराया गया। लेकिन, अमरीकी राष्ट्रपति आइजनहावर इसके लिए माफी माँगने के बजाए दावा कर रहे थे कि जासूसी उड़ानें भरना अमरीका का वाजिब हक है। यह घटना दोनों राष्ट्राध्यक्षों की पेरिस में प्रस्तावित शिखर बैठक के लिए घातक साबित हुई। रूस भी पश्चिमी ताकतों को पश्चिम बर्लिन से हटने की माँग करने लगा। अमरीकी राष्ट्रपति जॉन एफ केनेडी द्वारा यह माँग ठुकराए जाने के बाद अगस्त 1961 में पूरे बर्लिन को घेरने वाली 28 मील लम्बी बर्लिन दीवार खड़ी कर दी गई।

4.9.4 क्यूबा मिसाइल संकट (1962)

शीत युद्ध के पूरे दौर की यह सर्वाधिक नाजुक घटना थी। रूस ने क्यूबा में मिसाइलें तैनात कर दी थीं। अमरीकी समुद्र तट से उसकी दूरी महज सौ मील है। अमरीकी राष्ट्रपति केनेडी इन मिसाइलों को हटाने की माँग करने लगे, जिसके बाद तनाव इतना बढ़ गया कि दोनों महाशक्तियाँ अणु युद्ध की कगार पर खड़े नजर आने लगे। बहरहाल, अक्टूबर 1962 में इन मिसाइलों को हटाने के लिए ख्रुश्चेव राजी हो गए, और इस तरह दुनिया पर मँडराता यह भीषण संकट टल गया।

हालाँकि, इस संकट के कुछ सकारात्मक परिणाम भी दिखाई दिए। वाशिंगटन और मास्को के बीच एक टेलीफोन सम्पर्क (हॉट लाइन) कायम हो गया, ताकि दोनों देशों के बीच फौरी सलाह–मशविरा करना संभव हो जाए। जुलाई 1963 में अमरीका, ब्रिटेन और रूस के बीच एक आणविक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि हुई, जिसके तहत भविष्य में केवल भूमिगत आणविक परीक्षण ही किए जाने थे, ताकि पृथ्वी का वातावरण प्रदूषण से बचा रहे।

इन चन्द सकारात्मक बातों के बावजूद फौजी साजो सामान और नई किस्म के हथियारों की दौड़ 1970 के दशक में भी बदस्तूर जारी रही। हालाँकि, 1970 के दशक की शुरुआत में शान्ति या 'डिटेन्टे' के पहले संकेत आए जरूर थे। डिटेन्टे पूरब और पश्चिम के बीच तनावों में स्थाई कमी लाने वाली प्रक्रिया को कहा गया था।

अन्ततः 1988 से दिसम्बर 1991 के बीच लोकप्रिय विरोध की लहर व जन प्रदर्शनों के चलते पूर्वी यूरोप से कम्युनिज्म का सफाया हो गया। लगभग सभी प्रभुत्वाधीन राष्ट्रों में कम्युनिस्ट सरकारों को उखाड़ फेंका गया। दिसम्बर 1991 के अन्त में सोवियत संघ भी अनेक अलग–अलग गणराज्यों में बिखर गया, और इस तरह 74 साल बाद रूस से कम्युनिस्ट शासन का सफाया हो गया।

अन्त में, निष्कर्षतया, हम कह सकते हैं कि बीसवीं सदी में एशिया और अफ्रीका के विऔपनिवेशीकरण आन्दोलनों ने इन देशों को औपनिवेशिक जुए से आजाद किया, और राष्ट्रहित में अपने संसाधनों का इस्तेमाल करने की आजादी दे दी। औपनिवेशिक ताकतों ने इन देशों का लम्बे अरसे तक शोषण किया था, जिसके परिणामस्वरूप यहाँ गरीबी, आर्थिक पिछड़ेपन, आधुनिक विकास का अभाव, अशिक्षा जैसी चीजें मानवीय सूचकांकों में साफ तौर पर दिखती हैं।

शीत युद्ध का दौर अमरीका और सोवियत संघ जैसी महाशक्तियों के नेतृत्व वाले खेमों में परस्पर दुश्मनी का दौर था, जिसने दुनिया को द्वि–ध्रुवीय बना दिया था। 1991 में सोवियत संघ के बिखरने के बाद अमरीका अकेली महाशक्ति रह गया है, और इस तरह दुनिया फिर एक ध्रुवीय हो चुकी है। हाल में दुनिया के अन्य देशों ने अन्तर्राष्ट्रीय फलक पर अपनी दावेदारी जताई है, जिसके बाद दुनिया को बहु–ध्रुवीय बनाने की कोशिशें भी हुई हैं, ताकि अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति सन्तुलन बेहतर व न्यायपूर्ण बनाया जा सके।

खाली स्थान भरें:

1. ..... का 'लौह परदे' वाला भाषण (मार्च 1946) मिसौरी (अमरीका) के फुल्टन में दिया गया था
2. (1947 में घोषित) मार्शल योजना .....सिद्धान्त का एक आर्थिक विस्तार थी।
3. .....सम्मेलन (1945) में जनसंख्या की मानवीय व व्यवस्थित अदलाबदली की व्यवस्था की गई थी।
4. रूसी विदेश मन्त्री मोलोतोव ने ..... योजना की आलोचना करते हुए उसे डालर साम्राज्यवाद कहा था।
5. 1949 में ..... योजना शुरू की गई, जिसके तहत प्रभुत्वाधीन राष्ट्रों को रूसी सहायता दी जानी थी।
6. .....संकट के बाद वाशिंगटन और .....के बीच एक सीधी टेलीफोन लाइन (हाट लिंक) स्थापित हुई, ताकि उनके बीच तत्काल विचार–विमर्श करना संभव हो सके।

सही या गलतः

1. कोरियाई गणतन्त्र या दक्षिण कोरिया की स्थापना अगस्त 1948 में हुई, और सिओल उसकी राजधानी बनाई गई।
2. सितम्बर 1948 में कोरियाई लोकतान्त्रिक जन गणराज्य या उत्तर कोरिया की स्थापना की गई, और को उसकी राजधानी प्योंगयांग बनी।
3. पश्चिमी राष्ट्रों ने जर्मन संघीय गणराज्य या पश्चिम जर्मनी की स्थापना (अगस्त 1949) की थी।
4. रूस ने अपने प्रभाव क्षेत्र को जर्मन लोकतान्त्रिक गणराज्य या पूर्वी जर्मनी (अगस्त 1949) घोषित किया था।
5. स्टालिन ने कहा था कि पश्चिम के साथ शान्ति पूर्ण सह अस्तित्व न सिर्फ संभव है, बल्कि बेहद जरूरी हैः केवल दो ही रास्ते हैं– शान्ति पूर्ण सहअस्तित्व या फिर इतिहास का सबसे भीषण युद्ध। कोई तीसरा रास्ता नामुमकिन है।
6. वारसा सन्धि (1955) पश्चिम जर्मनी द्वारा नाटो की सदस्यता ग्रहण करने के फौरन बाद अमरीका और उसके प्रभुत्वाधीन राष्ट्रों के बीच हुई थी।

उत्तरः

1. सही
2. सही
3. सही
4. सही
5. गलत
6. गलत

4.10 ग्रन्थ सूची

- ब्रिग्स, असा, और क्लाविन पैट्रीशिया, माडर्न यूरोपः 1789–प्रेजेन्ट, पियरसन एजूकेशन लिमिटेड, दिल्ली, 2003
- देशपान्डे, अनिरुद्ध, संपादित, बीसवीं सदी के इतिहास में कुछ प्रमुख मुद्दे, हिन्दी माध्यम निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय
- लो, नार्मन, मास्टरिंग माडर्न वर्ल्ड हिस्ट्री, दूसरा संस्करण, मैकमिलन, लंदन, 1988
- पैक्सटन, राबर्ट ओ, यूरोप इन द ट्वेन्टिएथ सेन्चुरी, तीसरा संस्करण, हारकोर्ट ब्रेस एन्ड कम्पनी, फ्लोरिडा, 1997
- ली स्टीफेन, जे, आस्पेक्ट्स ऑफ यूरोपियन हिस्ट्रीः 1789–1980, रूलेज, लंदन, 1982

4.11 उपयोगी पाठ्य सामग्री

- हाब्सबाम, ईजे, द एज ऑफ एक्सट्रीम्सः द शार्ट ट्वेन्टिएथ सेन्चुरी, 1914–1991 (1994)
- थॉमसन, डेविड, यूरोप सिन्स नेपोलियन, लो एन्ड ब्राइडन लिमिटेड, लंदन , 1957
- मेरीमन, जॉन, अ हिस्ट्री आफ माडर्न यूरोप, दूसरा खंड, डब्ल्यू.डब्ल्यू नार्टन एन्ड कम्पनी, न्यू यार्क / लंदन, 1996

4.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. विऔपनिवेशीकरण से आप क्या समझते हैं?
2. विऔपनिवेशीकरण के लिए जिम्मेदार कारकों की चर्चा करिए।
3. शीत युद्ध से आप क्या समझते हैं? शीत युद्ध के क्या कारण थे?
4. शीत युद्ध से जुड़ी घटनाओं और विकासक्रम की चर्चा करिए।
5. उन घटनाओं की चर्चा करिए जो शीत युद्ध में नरमी का संकेतक थीं।
6. क्यूबा मिसाइल संकट पर एक लघु टिप्पणी लिखिए।

ब्लाक सात
संकल्पनाएं, विचार एवं शब्दावली

इकाई – 1 ब्लैक डेथ, सामंतवाद, मानववाद, प्रबुद्ध निरंकुशता, दैवीय अधिकार, चर्च की सर्वोच्चता

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 ब्लैक डेथ
1.4 सामंतवाद
1.4.1 सामंतवाद का उदय एवं स्वरुप
1.4.2 सामंतीय प्रथा की विशेषतायें
1.4.3 सामंतीय प्रथा के दोष
1.5 मानववाद
1.5.1 मानववाद से आशय
1.5.2 मानववाद का प्रभाव
1.6 प्रबुद्ध निरंकुशता
1.6.1 प्रबुद्धवाद
1.6.2 प्रबुद्ध निरंकुशता
1.7 दैवीय अधिकार
1.8 चर्च की सर्वोच्चता
1.9 विशेष शब्दावली
1.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.11 अध्ययन सामग्री
1.12 प्रस्तावित अध्ययन सामग्री
1.13 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में मध्यकालीन यूरोपीय समाज से आधुनिक काल के समाज,संस्कृति के सम्बन्ध में प्रचलित शब्दावली, कुछ प्रमुख विचार तथा संकल्पनाओं को विस्तार से समझाने का प्रयत्न किया गया है। मध्यकालीन यूरोपीय समाज को आधुनिक युग की ओर ले जाने वाली घटनाएं, जिसने समाज के प्रत्येक वर्ग को प्रभावित किया, उन्हें सुगम एवं सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया है। इन संकल्पनाओं, विचारों की यदि बात की जाए तो हम देखते है कि अनेक विचार तथा शब्दावलियों को विस्तार से समझाना आवश्यक हो जाता है, ताकि विद्यार्थियों को आगे भविष्य में इन प्रमुख शब्दों को लेकर किसी प्रकार की कोई परेशानी न हो और विद्यार्थी में इन शब्दों को लेकर कोई भ्रम

को स्थिति न रहे अर्थात इन शब्दों, विचारों को समझने के सम्बधं में उनका आधार मज़बूत हो सके और जिससे कम शब्दों में वे इन प्रमुख शब्दों को समझ कर उसका विश्लेषण कर सकें। आधुनिक विश्व के इतिहास को पढ़ते हुए विद्यार्थी कई बार कुछ विचारों, संकल्पनाओं को लेकर असमंजस की स्थिति में रहते हैं और सही तरह से तथ्यों को नहीं समझ पाते हैं। इसी बात को ध्यान में रखते हुए यहां उन विचारों, संकल्पनाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है ताकि विद्यार्थी सही तरह से घटनाओं को समझ सकें।

1.2 उद्देश्य

- विद्यार्थी इन संकल्पनाओं,विचारों एवं शब्दावली का सरल एवं सुगम भाषा में अध्ययन कर सकेंगे।
- इसके अध्ययन से विद्यार्थी का विषय से सम्बंधित आधर मज़बूत हो सकेगा, जिससे वे अपनी समझ का विकास कर सकेगे।
- विद्यार्थी इस प्रकार से शब्दावली, विचार एवं संकल्पनाओं का अध्ययन कर कम से कम शब्दों में अपनी बात को समझा सकेगे।

1.3 ब्लैक डेथ

मध्यकाल के अंत तक यूरोपीय समाज कृषि प्रधान था, और समाज के अधिकांश लोग कृषि भूमि में ही कार्यरत थे। भूमि की उत्पादक क्षमता बढ़ाने के लिए ये साल में तीन प्रकार की फसलें उगाते थे, जिससे उत्पादन अधिक से अधिक हो सके, परन्तु जनसँख्या भी उसी तेज़ी से बढ़ रही थी, 1000 ई० से 1300 ई० के बीच यूरोप की जनसँख्या लगभग दोगुनी हो गयी थी, उत्पादन अधिक होने के बावजूद लोग अपने जीवन के किसी भी पड़ाव पर भयंकर भुखमरी का शिकार हो रहे थे, इसी समय 1315–1317 ई० में फसलें ख़राब होने के कारण यूरोप में भयंकर अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गयी, जिसने लोगो के स्वास्थ्य पर हानिकारक प्रभाव डाला, और उनकी प्रतिरोधक क्षमता को बहुत कम कर दिया, परिणामस्वरुप 1348 ई० में प्लेग ने अपने पावं ही नहीं पसारे बल्कि उसका विकराल रूप भी सामने आया। यूरोप में 1349–1351 ई० में प्लेग नामक महामारी से होने वाली मृत्यु 'ब्लैक डेथ' के नाम से जानी जाती है, इस महामारी से यूरोप के लगभग 30 प्रतिशत से 60 प्रतिशत लोग काल के गाल में समा चुके थे, यह एक ऐसी महामारी थी जिसमे पीड़ित व्यक्ति को शुरू में सिर में दर्द के साथ तेज़ बुखार आता था, कुछ लोगो को हाथ, पैर एवं पीठ में तेज़ दर्द, गले में तेज़ दर्द के साथ सूजन उसके बाद शरीर के विभिन्न भागो से रक्तस्त्राव के साथ काले धब्बे पड़ने लगते थे, लोग ज्यादा से ज्यादा एक सप्ताह तक जीवित रह पाते थे, पाचन तंत्र प्रभावित होने पर व्यक्ति दो–चार दिन में ही मर जाता था, प्रतिदिन होने वाली मौत से लोगो का जन जीवन अस्त व्यस्त हो गया था, यहाँ हम यह जानने का प्रयास करेंगे की इस महामारी के पूर्व यूरोप कि परिस्थितियां क्या थी?, क्या कारण थे इस महामारी के ?, यूरोप के कौन– कौन से राज्य इससे प्रभावित हुए ? और इसने यूरोपीय समाज को कैसे प्रभावित किया?

मध्यकाल में कृषि व्यवस्था एवं उसके विकास पर ध्यान दिया जा रहा था, ताकि लगातार बढ़ रही जनसंख्या को खाद्य सामग्री उपलब्ध हो सके, उत्पादन अधिक होने के बावजूद लोग अपने जीवन के किसी न किसी पड़ाव पर भयंकर भुखमरी का का शिकार हो ही रहे थे, इसी समय 1315–1317 ई० में फसलें ख़राब होने के कारण यूरोप में भयंकर अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गयी, अंततः इस अकाल से उत्पन्न भुखमरी ने लोगो के स्वास्थ्य पर हानिकारक प्रभाव डाला, जिससे उनकी रोग प्रतिरोधक क्षमता बहुत कम हो गयी थी, परिणामस्वरुप 1348 ई० यूरोप में प्लेग ने महामारी के रूप में अपने पावं पसारने शुरू कर दिये, और 15वीं शताब्दी के आरम्भ तक इसने यूरोप कि जनसँख्या को बहुत कम कर दिया, इस बीमारी से एकबार में लगभग पूरा पूरा परिवार ख़त्म हो जाता था, इतिहास में हम इसी घटना को 'ब्लैक डेथ' के नाम से जानते हैं। 14वीं शताब्दी के सामाजिक परिवर्तन में इस महामारी का बहुत अधिक योगदान रहा है, मध्यकाल में इस बीमारी के लक्षण सर्वप्रथम 1330 ई० के समय चीन में देखे गये, परन्तु इससे पूर्व 6ठी शताब्दी में इजिप्ट में भी इसके लक्षण देखे गए थे, कुछ इतिहासकार इसकी शुरुआत इथोपिया या सूडान से मानते हैं, परन्तु उस समय इसका रूप इतना भयावह नहीं था, बहरहाल हमे यहाँ यूरोप के सम्बन्ध में देखना है, 14वीं शताब्दी में एशिया एवं यूरोप के मध्य व्यापार सम्बन्ध ने इस रोग के फैलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी, मध्यकाल में एशिया यूरोप के व्यापारिक संबंधो में भी धीरे–धीरे बढोत्तरी हो रही थी, और ऐसा विश्वास है कि 1347 ई० में चीन से सिसली के व्यापारिक जहाजों में प्लेग संक्रमित चूहे सवार हो गये, सिसली पहुचने पर इन चूहों के द्वारा जन साधारण तक ये बीमारी पहुँच गयी, इसके पश्चात् यह पिसा, जेनेवा, एवं वेनिस होते हुए यूरोप में दाखिल हो गया, व्यापार का केंद्र इटली होने के कारण यह महामारी वहां भी फैलने लगी, 1348 ई० में यूरोप के सेंट मेरिस शहर में नौ सप्ताह में लगभग 149 लोगो कि मृत्यु हो गयी, जो कि कुल जनसंख्या कि लगभग 40 प्रतिशत थी, 1348 ई० में ही सम्राट एडवर्ड कि बेटी कि भी मृत्यु प्लेग के ही कारण हुई थी, 1349 ई० में प्रत्येक दिन लगभग 2,200 लोग काल के गाल में समा रहे थे, और शताब्दी के अंत तक 75 मिलियन लोगो की मृत्यु हो चुकी थी।

मध्यकाल में व्यक्ति चर्च एवं धर्म से बंधा था, इस महामारी ने लोगो के जन जीवन को बहुत अस्त व्यस्त कर रखा था, जब लोग इस रोग की चपेट में आये तो सबसे पहले चर्च की शरण में गए, आरम्भ में पोप ने इस रोग का कारण ईश्वर द्वारा उनके पापों का मिला हुआ दण्ड था, परन्तु बाद के समय में चर्च के पास इसका कोई हल नहीं था, कुछ लोग इसे पापों कि सजा मानकर एक समूह में चलते हुए स्वयं को नुकीली जंजीरों से पीटते हुए चलते थे, इससे भयावह तो यह था कि लोगों ने यहूदियों को इसका कारण मानकर उन्हें समूह में जिंदा जला दिया, लोग ये मान रहे थे कि यहूदियों ने कुओं से पानी पी कर उसे गन्दा व अशुद्ध कर दिया जिससे यह बीमारी फ़ैल गयी, इसका कारण यह था कि लोग समझ ही नहीं पा रहे थे कि उनके साथ यह क्यों और कैसे हो रहा है, उस वक्त यह एक नयी बीमारी थी और लोगो को इसके बारे में कुछ भी नहीं पता था, लोग बस इसे ईश्वरीय प्रकोप समझ रहे थे।

इस घटना के अल्पकालिक परिणाम से कहीं अधिक दीर्घकालीन परिणाम हुए, इस महामारी से यूरोपीय जनसँख्या का एक बहुत बड़ा भाग समाप्त हो गया जिसके फलस्वरूप अब धीरे–धीरे

सामंतवादी व्यवस्था का भी ह्रास होने लगा, किसानो, एवं दास किसानों कि कमी के कारण भूमिपतियों ने उसे चारागाह में तब्दील कर दिया, अब खाद्य वस्तु अधिक सस्ती हो गयी क्योंकि उनकी उतनी अधिक मांग नहीं रही, अनेक भूमिपतियों कि ज़मीनों पर अब किसानों का अधिकार हो गया, अनेक किसान अब शहरों की ओर रुख करने लगे अब वे कृषि कार्य नहीं करना चाहते थे, क्योंकि खाद्य वस्तुओं की मांग कम होने से इन्हें मजदूरी भी कम प्राप्त होती थी, परन्तु किसानो की संख्या में भी कमी आयी जिससे उनकी मांग बढ़ गयी अतः वे मजदूरी बढ़ाना चाहते थे, इस कशमकश का अंत सामंतों के पतन से हो गया, अनेक बड़े शक्तिशाली राजाओं ने इन छोटे–छोटे सामंतो को अपने अधीन करके इस व्यवस्था को समाप्त कर दिया, इसके अतिरिक्त दूसरी ओर किसानो की उन्नति का मार्ग भी खुल गया, इसी समय एक नए वर्ग माध्यम वर्ग का भी विकास आरम्भ हो गया, अतः ब्लैक डेथ ने महामारी के द्वारा एक ओर जहाँ यूरोप के अनेक लोगो की जीवन लीला को समाप्त कर दिया जो कि यूरोप के लिए एक बुरे ख्वाब से कम नहीं था, परन्तु इसके दूरगामी परिणाम बेहतर सिद्ध हुए।

1.4 सामंतवाद

सामंतवाद मध्ययुगीन मानव जीवन का एक प्रमुख अंग रहा है, मध्यकालीन यूरोप में अनेक छोटे–छोटे राज्यों का निर्माण हुआ, इन राज्यों के शासक विभिन्न स्तरों पर एक दूसरे के अधीन होते थे, अर्थात एक मुख्य राजा के अंतर्गत कई सामंत और इन सामंतों के अधीन अनेक छोटे सामंत जिनके अधीन किसान होते थे, ये सामंत या जागीरदार अपने क्षेत्रों में रहने वाले किसानों पर प्रभाव बनाये रखना अपना अधिकार समझते थे। इतिहासकार हेज़ के अनुसार दृ "सामंत वर्ग के लोग राजा के सेवक तथा किसानों के मालिक थे, किसानों को अपने सामंतों के सामने यह प्रतिज्ञा करनी होती थी कि, उसे जो भूमि प्राप्त हुई है उसके कारण वह सामंत का सेवक है, तथा वह जीवन पर्यन्त स्वामीभक्ति के साथ उसकी सेवा करता रहेगा" इन सेवाओं के बदले ये सामंत अपने सेवको कि रक्षा का वचन देते हैं, अतः इस व्यवस्था में सेवक एवं सामंत दोनों एक दूसरे पर निर्भर थे, इसके अतिरिक्त किसानों द्वारा सामंतों, राज्य एवं चर्च को कर देना होता था तथा अपने मालिकों के खेतों में बेगार भी करना होता था।

सामंतवादी व्यवस्था भूमि संबंधों पर आधारित एक ग्रामीण व्यवस्था थी। पश्चिमी यूरोप में जब बर्बर जातियों के आक्रमण से अनेक छोटे–छोटे राज्यों में बँाट गए, तब केन्द्रीय सत्ता के अभाव में राजनैतिक संस्थाओं का जन्म हुआ जिन्हें सामंतवाद कहा गया। सामंतवाद को अंग्रेजी में 'फ्यूडलिजम' (Feudalism) कहते हैं। 'फ्यूडल' शब्द कि उत्पत्ति 'फ्यूडम' अथवा 'फिफ' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है 'संपत्ति'। अतः सामान्य शब्दों में– सामंतवाद संपत्ति के आधार पर स्थापित मध्यकाल कि वह सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक व्यवस्था है, जिसके अंतर्गत मध्ययुग के मानव को अपना जीवन यापन करना पड़ा।

यूरोप में रोमन साम्राज्य के पतन के बाद अशांति व अव्यवस्था की स्थिति थी। इस काल में अज्ञानता एवं अंधविश्वास के काले बादल सम्पूर्ण यूरोप पर छा गये थे, ऐसी स्थिति में यूरोप में स्थिरता लाने के लिये शांति व्यवस्था स्थापित करना आवश्यक था, जिससे लोग शांति से अपना

जीवन व्यतीत कर सकें। लोगों की इसी आवश्यकता के कारण मध्यकाल में सामंतवाद कि नींव पड़ी। यूरोप में इसका क्रमिक विकास हुआ और धीरे–धीरे सामंतवाद यूरोपीय समाज का आधार बन गयीं। इसी व्यवस्था के आधार पर यूरोप का जीवन सदियों तक चलता रहा जबकि इस व्यवस्था का जन्म किसी आदेश से न होकर बल्कि शासक वर्ग के प्रयासों का नतीजा था। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि 'सामंतवाद न कोई व्यवस्था थी न ही योजना, इसका विकास केवल आवश्यकता के कारण हुआ', ग्रामीण समाज में सामंत का भूमि पर स्वामित्व था, और सामंतवादी व्यवस्था का आधार उसका विभिन्न स्तरों में बँटा होना है, देश कि सारी भूमि राजा कि संपत्ति थी, वह अपने लिए कुछ भूमि रख कर शेष अपने सामंतों में बाँट देता था। ये सामंत लार्ड, ड्यूक, अर्ल कहे जाते थे, ये सामंत भी राजा से प्राप्त भूमि का एक भाग अपने पास रख कर शेष छोटे सामंतों को दे देते थे, छोटे लार्ड बैरन कहलाते थे, बैरन भूमि के बदले में सैनिक सहायता देते थे, सामंतों के इस क्रम में सबसे नीचे नाइट होते थे परन्तु सामंतीय वयवस्था में सबसे नीचे पायदान पर किसान थे। सामंत अपनी भूमि को कृषि कार्य (खेती) के लिए किसानों को देते थे और किसानों को अपनी उपज का एक भाग सामंत को देना पड़ता था। दास–किसानो को बेगार भी करना होता था, एक प्रकार से ये सामंतों के गुलाम हो गये थे, यहाँ तक कि वे अपना गाँव भी छोड़कर नहीं जा सकते थे, प्रत्येक सामंत अपनी जागीर का प्रमुख होता था, इनकी जागीर पैतृक होने से समस्या और भी बढ़ गयी जिसका परिणाम यह हुआ कि देश कि राजनैतिक एकता बिलकुल लुप्त हो गयी, और यूरोपीय देशों में केन्द्रीय सत्ता स्थापित नहीं हो सकी। कभी–कभी तो ये सामंत राजा के विरुध्द विद्रोह भी कर देते थे, क्योंकि राजा के पास सैनिक शक्ति की कमी थी।

सामंत प्रथा में अनेक ऐसे उपयोगी एवं आकर्षक तत्व थे जिनसे यूरोप के कुछ वर्गों को ठहराव मिला और लोगों ने उसे स्वीकार भी किया, जिनमें प्रमुख तत्व थे–

1. रोमन साम्राज्य के पतन के पश्चात अनेक बर्बर जातियों के आक्रमण से व्यवस्थाएं ख़राब हो चुकी थीं, उसे रोकने और यूरोप में स्थिरता एवं शांति व्यस्था लाने में सामंतीय प्रथा का काफी योगदान रहा है जिससे जन जीवन सुरक्षित हो गया और प्रगति का मार्ग पुनः खुल गया।
2. भूमि एवं कृषि कि प्रगति के लिए सामंतों ने कदम भी उठाए, उन्होंने केवल भूमि कि रक्षा ही नहीं कि बल्कि उसको उत्तम बनाने के लिए भी प्रयत्नशील रहे, उन्होंने खेतों के आस–पास लोगो को बसाया एवं खुद भी रहना शुरू किया, जिससे फसल लूटी न जा सके तथा फसलों को बर्बाद होने से बचने के लिए भी यत्न किये।
3. सामंतवाद सैनिकों का युग लेकर आया, इससे सैनिक संगठन को प्रोत्साहन मिला, चूँकि सामंतों की शक्ति का आधार सेना थी, उन पर जन साधारण की सुरक्षा का दायित्व था और शासक को सैनिक आवश्यकता कि पूर्ति भी इन्हीं से होती थी।

   अतः अशांति के युग में उन्हें शांति तथा व्यवस्था मिली, इसके अतिरिक्त इस युग में गॉथिक कला का भी विकास हुआ, साहित्य में शूरधर्म एवं रूमानी विचारधारा का प्रभाव दिखता है जो बाद के समाज में भी परिलक्षित होता है।

सामंतवादी व्यवस्था का आकर्षण कुछ ही दिनों तक बना रहा, उसके बाद धीरे–धीरे इससे लाभ कम और उनमें दोष अधिक दिखने लगे जो कि निम्न हैं–

1. सामंतवादी व्यवस्था के अंतर्गत समाज का आर्थिक विकास लगभग जैसे रुक गया था, सामंती प्रथा की नींव धीरे–धीरे कमज़ोर होने लगी अब ये सामंत अपना जीवन केवल ऐश आराम, विलासिता में व्यतीत करने लगे। समाज में भ्रष्टाचार बढ़ गया जिसने संभवतः आर्थिक प्रगति का रास्ता बिलकुल बंद कर रखा था।
2. सामंतों के लिए युध्द सबसे प्रिय मनोरंजन बन गया था, जोकि सांस्कृतिक प्रगति में रोड़ा था, साहित्य एवं अन्य कलाओं को कोई विशेष प्रोत्साहन नहीं मिल पाया अतः हम कह सकते हैं कि बौध्दिक प्रगति का रास्ता भी लगभग बंद हो चुका था।
3. सामंतीय व्यवस्था ने किसानों कि दशा को बिलकुल दयनीय कर रखा था, ये किसान पूरी तरह सामंतों की दया पर निर्भर रहते थे। एक ओर तो उन्हें अपनी उपज का एक हिस्सा कर के रूप में सामंतों, चर्च तथा राज्य तीनों को देना पड़ता था, वहीँ दूसरी ओर उन्हें अपने मालिकों की ज़मीन पर बेगारी भी करनी होती थी। उन पर तरह–तरह के अत्याचार होते थे, फिर भी वे न तो शिकायत कर सकते थे और न ही न्याय कि मांग कर सकते थे।
4. सामंती समाज मुख्य रूप से दो वर्गों में बंटा हुआ था, जिनमें एक ओर सामंतों को सारी सुविधाएं उपलब्ध थीं उनका सारा जीवन एशो आराम में बीत रहा था, वहीँ दूसरी ओर किसानों का जीवन था जो कष्ट एवं निराशा में व्यतीत हो रहा था, दास किसान की स्थिति और भी दयनीय थी सामंत उनका हर तरह से शोषण करते थे उनके साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता था। यह सामाजिक स्थिति यूरोपीय समाज के लिए अभिशाप बन गयी थी।
5. सामंतवादी व्यवस्था का आधार उनकी सेनायें थीं, परन्तु फिर भी अनेक कमजोरियां विद्यमान थीं। सर्वप्रथम तो कोई स्थायी सेना ही नहीं थी, सामंतों कि छोटी सेनाओं के संघटन में अनेक दोष थे, सभी सामंत अपने–अपने ढंग से अपनी–अपनी सेना को संगठित करते थे। इस प्रकार उनका प्रशिक्षण एवं युध्द के ढंग अपनी ही तरह के होते थे जो आपातकाल में स्वयं को संगठित नहीं कर पाते थे।

सामंती युग में अर्थव्यवस्था भी बिखर गयी, राजकीय शक्ति के अभाव में अर्थव्यवस्था का संगठन तथा संरक्षण सही तरीके से नहीं हो सका। हर जगह व्यापार तथा उद्योग–धन्धों की अवहेलना होने लगी। अतः इन दोषों के कारण समंतवाद ने धीरे–धीरे अपनी लोकप्रियता खो दी। प्रत्येक देश में इसका स्वरूप अलग था, परन्तु शोषण तथा संरक्षण सभी जगह एक जैसा था, यह व्यवस्था और कुछ नहीं, शक्तिशाली लोगों द्वारा भूमि को कब्ज़े में रखने की एक प्रणाली थी जिसमें आम जन के सुख का तो पता नहीं पर दुःख असीमित थे। अतः यह व्यवस्था अंततः अस्थायी सिध्द हुई, और राजतन्त्र तथा साम्राज्यों का पुनः उत्कर्ष आरम्भ हुआ।

1.5 मानववाद

प्राचीन काल की विकसित यूनानी तथा रोमन सभ्यता, जो मध्यकाल में लगभग समाप्त हो गयी थी, कुछ विशेष परिस्तिथियों के कारण पुनर्जागरण काल में फिर से जीवित होने लगी, इस युग में पुनः उन आदर्शों तथा मूल्यों को महत्त्व दिया जाने लगा, जिसका मध्यकाल में कोई महत्त्व नहीं था,

इनमे से मानववाद प्रमुख है। 'मानववाद' शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के ह्युमनिट्स (Humanitus) शब्द से हुई है जिसका अर्थ है 'उन्नत ज्ञान' है। अतः मानववादी साहित्यकारों ने प्राचीन यूनानी एवं रोमन साहित्य का ज्ञान आवश्यक बताया। मानववाद का उद्देश्य मध्यकालीन बंधनों (अर्थात चर्च एवं धर्म) से सम्बंधित बातों को छोड़कर उन सभी विषयों का अध्ययन करना था जो मानव जीवन से सम्बंधित हो। मानववाद का जनक पेट्रार्क (Petrarch) को कहा जाता है क्योंकि उसने ही सबसे पहले परलोक चिंतन के बजाय इस लोक के जीवन को आनंदपूर्वक व्यतीत करने पर बल दिया।

1.5.1 मानववाद से आशय

मानववाद मुख्यतः 15वीं 16वीं शताब्दी कि सोच है तथा पुनर्जागरण कि मुख्य देन है, मानववाद का अर्थ हैकृ मानव जीवन में रूचि लेना, मानव की समस्याओं का अध्ययन करना, मानव का आदर करना, मानव जीवन के महत्व को स्वीकार करना तथा उसके जीवन के प्रति एक विशेष रूचि झलकती है, क्योंकि यूनानी लोग इसी संसार में पूर्ण दिलचस्पी लेते थे, जिसमें वे रहते थे। पुनर्जागरण युग में परलोक कि अपेक्षा लौकिक रूचि को महत्व देने की विचारधारा को ही मानववाद कहते हैं, इससे ऐसा लगता है, मानो मनुष्य के विचारों एवं कार्यों पर से धर्म का दबाव ख़त्म हो गया हो। प्राचीन यूनानी एवं रोमन तत्वों को आधार बना कर मध्यकाल की धार्मिक भावनाओं, दर्शन, कला एवं शिक्षा का प्रबल विरोध किया। मध्यकाल के सभी कार्य, विचारों के विषय–वस्तु चर्च एवं धर्म केन्द्रित होते थे, परन्तु पुनर्जागरण के समय विषय–वस्तु धर्म न होकर मानव आधारित हो गया। अब साहित्य कला एवं प्रत्येक क्षेत्र में मानव एवं मानव से सम्बंधित विषयों पर लिखा जाने लगे, मानववाद के लेखक मानववादी कहलाये। उन्होंने मानव एवं मानव से सम्बंधित उनकी खुशियों उनके ग़मों को अपने चिंतन का आधार बनाया, उन्होंने अपने एवं अपने समय कि ज़िन्दगी के बारे में लिखा, अपनी कविताओं में लोगों की भावनाओं को अभिव्यक्त किया, मानववादियों के अनुसारकृ जीवन का लक्ष्य ईश्वर को खुश करना या सैनिक सेवा देना नहीं है, बल्कि मनुष्य कि सेवा करना, लोगो की भलाई के लिए काम करना होना चाहिए। मनुष्य से तात्पर्य ऐसे मानव से है जिसका सब कुछ तन, मन, भाव, भावना, सभी कुछ सुन्दर हो। मानववादी जनता को सुसंस्कृत बनाने के लिए प्राचीन रोमन एवं यूनानी साहित्य के अध्ययन पर जोर देते थे। मानववाद का उत्थान, पुनर्जागरण की एक प्रमुख विशेषता है, मध्यकाल में जनता ग्रंथों का अध्ययन धार्मिक दृष्टिकोण से ही करती थी परन्तु अब वह मानव हित की भावना से इस कार्य की ओर आकर्षित हुआ। इस प्रकार उनमे मानव हित एवं मानववादी भावनाएं जागृत हुई।

1.5.2 मानववादी विद्वानों के विचार

इटली के प्रसिध्द लेखक 'पेटार्क' ने इसके लिए बहुत कार्य किये हैं इन्होंने मानव को केंद्र में रखकर अत्यधिक रचनायें की जिसने जनता में धर्म सुधार तथा जन–सेवा कि भावना जागृत होने

लगीं। पेट्रार्क को मानववाद का पिता कहा जाता है, उसके अनुसार मनुष्य को परलोक की चिंता के बजाय अपने इसी जीवन को आनन्दपूर्वक व्यतीत करना चाहिए। उसने अन्धविश्वास एवं धर्माधिकारियों की जीवन प्रणाली का मजाक उड़ाया, वह मध्ययुग की विचारधारा जिससे लोग स्वयं को जकड़ा हुआ समझते थे उन सभी अंकुशों से लोगों को मुक्त करना चाहता था, जिससे मनुष्य प्रकृति के नज़दीक आकर उसका आनंद प्राप्त कर सके। अनेक धार्मिक प्रतिबंधों के कारण वे अपनी इच्छाओं को प्रकट और उसका विकास नहीं कर पाते थे। यदि हम यह कहें कि धर्म निरपेक्षता की भावना मानववाद की ही विशेषता है, तो गलत नहीं होगा। बुकासियो तथा ब्रसिओलोनी पर मानववादी विचारों का गहरा प्रभाव था, परन्तु इरैस्मस का नाम मानववादी विचारकों में सबसे आगे है, उसे मानववादियों का राजा कहा जाता है। जर्मनी के रयुक्लिन और मेलांकथन प्रसिध्द विचारक हुए, इंग्लैण्ड के टामस मूर और जॉन आदि मानववादी विचारकों ने अपने महत्वपूर्ण विचारों के ज़रिये मानव मूल्यों को प्रभावित किया।

1.5.3 मानववाद का प्रभाव

मानववाद का व्यापक रूप से प्रभाव हमें साहित्य एवं कला के विभिन्न क्षेत्रों में देखने को मिलता है। यूरोप में साहित्य, चित्रकला, स्थापत्यकला, मूर्तिकला इत्यादि क्षेत्रों में मानववाद का प्रभाव दिखता है, जोकि मध्यकाल से बिल्कुल भिन्न है। 15वीं शताब्दी में जिस साहित्य की रचना हुई, वह पूर्व के साहित्य से अलग था। पहले भाषा के रूप में केवल लैटिन और विषय–वस्तु, धर्म एवं चर्च ही होता था, अधिकांश रचनाएं धार्मिक विषयों पर आधारित होती थी, परन्तु परिस्थितियां अब इसके विपरीत थीं, अब धार्मिक विषयों के स्थान पर मनुष्य एवं उससे सम्बंधित विषयों का अध्ययन होने लगा। इस युग में साहित्य आलोचना प्रधान, मानववादी एवं व्यक्तिवादी हो गया। रचनाओं ने लोगों को मानव–प्रेम, देश–प्रेम एवं प्रकृति–प्रेम कि शिक्षा दी। इस युग के महान साहित्यकारों में शेक्सपियर, रेबेलास, सर्वेनटीज़ तथा दांते, पेट्रार्क एवं बुकासियो इत्यादि कवियों ने भी अपनी रचनाओं का कथानक धर्म से हटकर मानव केन्द्रित किया था। कला का क्षेत्र भी मानवता प्रभावित था, अब कला का उद्देश्य जीवन एवं प्रकृति में संतुलन बनाना था, इस युग में कला का क्षेत्र भी धार्मिक बंधनों से मुक्त होकर यथार्थवादी हो गया, मध्यकाल में चित्रकला के विषय के रूप में मरियम एवं यीशु ही थे, परन्तु अब आम आदमी एवं उससे जुड़ी घटनाओं को महत्त्व दिया जाने लगा, सादगी तथा भावों की अभिव्यक्ति, किसी बच्चे की मुस्कान हो या उड़ते हुए पक्षी का चित्र, मोनालिसा की रहस्यमयी मुस्कान हो या नक्षत्रों का मंडल सभी में मानव को प्रमुख रूप से दर्शाया गया है। इस युग के चित्रकारों में लिओनार्डो–दा–विन्ची, माइकल एंजेलो, तथा राफेल प्रमुख हैं। इस युग का स्थापत्यकला हो या मूर्तिकला इनमे भी मानववाद को महत्व दिया गया। संगीत के क्षेत्र में भी अब मनुष्य के मनोरंजन को ध्यान में रख कर धुनें बनायी जाने लगीं, अर्थात लौकिक संगीत का महत्व बढ़ गया।

अतः 15वीं शताब्दी के मानववादी आन्दोलन के महत्व के सम्बन्ध में निम्न बातें उल्लेखनीय हैंकृ मानववादियों ने मानव के बौध्दिक विकास और स्वतंत्र चिंतन में सहयोग दिया। मानववादियों द्वारा

प्राचीन ग्रीक एवं रोमन साहित्य को महत्त्व दिया गया। अब समाज में व्यक्ति को भी सम्मान प्राप्त हो गया, व्यक्ति अपनी इच्छा से स्वतंत्र विचार रखकर धर्म एवं उसकी प्रथाओं का पालन या आलोचना कर सकता था।

1.6 प्रबुद्ध स्वेच्छाचारिता

1.6.1 प्रबुद्धवाद

अट्ठारहवीं शताब्दी के यूरोप में मॉन्तेस्क्यू, वॉल्तेयर, रूसो इत्यादि अनेक ऐसे विद्वान हुए जिनके विचारों ने लोगों को सोचने पर मजबूर किया, जिसके कारण इस युग को 'बुद्धिवाद का युग' (Age of enlightenment) कहा गया। इस युग के विद्वानों ने समाज में होने वाले सभी अंधविश्वास, अन्याय एवं भ्रष्ट शासन वयवस्था तथा क्रूर न्याय व्यवस्था के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई, जिससे यूरोपीय समाज के आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक क्षेत्रों में नये विचारों, नयी मान्यताओं का विकास हुआ, अब जनता ने पुरानी व्यवस्थाओं की आलोचना शुरू कर दी।

1.6.2 प्रबुद्ध निरंकुशता

इस नवीन भावनाओं का प्रभाव केवल मध्यमवर्ग पर ही नहीं हुआ बल्कि अनेक निरंकुश शासक भी प्रबुद्धवाद से प्रभावित हुए। और इस काल में अनेक शासकों ने निरंकुश होते हुए भी प्रजा के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझा तथा उनके कल्याण के लिए कार्य किये। ऐसे निरंकुश शासन को ही प्रबुद्ध स्वेच्छाचारिता या प्रबुद्ध निरंकुशवाद (Enlightened Despotism) तथा इसका पालन करने वाले शासक प्रबुद्ध निरंकुश (Enlightened Despots) कहा गया। लॉर्ड ऐक्टन के अनुसार "सप्तवर्षीय युध्द के बाद वातावरण शान्त होने पर यूरोप की राजनीती में परिवर्तन आया, यह युग 'राजतन्त्र के पश्चाताप का युग' कहलाता है। अब निरंकुश, स्वेच्छाचारी, स्वार्थी, क्रूर, एवं दमनशील राजत्व के स्थान पर उदार, लोक कल्याणकारी, प्रबुद्ध तथा जन–साधारण के उत्थान के लिए राजत्व की स्थापना हुई। अब शासकों ने अपने राजनैतिक हित के स्थान पर लोक–कल्याण को अपना उद्देश्य बनाया, अब राजाओं के वैयक्तिक महत्वकांक्षा की जगह मानवता की जीत होने लगी जबकि राजत्व में निरंकुशता अब भी थी, परन्तु अब उसमें प्रबुद्धवाद के अंश थे। अब राजनीति लॉक, मॉन्तेस्क्यु, वॉल्तेयर, रूसो, स्मिथ के विचारों से प्रभावित होने लगी, अब जनता का शैक्षिक विकास, दासों का उत्थान, साहित्य का विकास, तथा न्याय व्यवस्था में सुधार, चिकित्सालयों का निर्माण इत्यादि महत्वपूर्ण परिवर्तन होने लगे। प्रबुद्ध निरंकुश शासकों ने सिद्धांततः यह स्वीकार किया कि शासन जनता के हित में होना चाहिए परन्तु जनता के हित का निर्णय जनता अथवा उसके प्रतिनिधियों द्वारा न होकर राजा द्वारा किया जाता है, इसलिये लार्ड एक्टन ने प्रबुद्ध निरंकुशवाद को राजतन्त्र के प्रायश्चित का नाम दिया।

1.6.3 यूरोप के कुछ स्वेच्छाचारी शासक एवं उनके कार्य

अट्ठारहवीं शताब्दीके यूरोप के प्रबुद्ध निरंकुश शासकों में प्रशा के फ्रेडरिक महान, ऑस्ट्रिया के जोज़फ़ द्वितीय, रूस की कैथरीन महान, स्पेन के चार्ल्स तृतीय तथा पुर्तगाल के जोज़फ़ प्रथम प्रमुख थे। इनके अतिरिक्त स्वीडेन के राजा गस्टब्स तृतीय, सार्डीनिया के राजा चार्ल्स इमैनुअल तृतीय, टस्कनी के शासक लिओपोल्ड प्रथम इत्यादि की गिनती भी प्रबुद्ध निरंकुश शासकों में की जाती है। इन प्रबुध्द निरंकुश शासकों में प्रशा के राजा फ्रेडरिक महान को सबसे अच्छा माना गया है।

फ्रेडरिक महान(1740–1786), अट्ठारहवीं शताब्दी के स्वेच्छाचारी शासकों में प्रशा का शासक था। शासन की समस्त शक्तियां उसके हाथों में ही केन्द्रित थीं इसके बावजूद उसने जन–कल्याण के लिए अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये। उसके अनुसार "राष्ट्र में शासक का वही स्थान है, जो शरीर में मस्तिष्क का होता है" परन्तु इसके साथ ही वह खुद को प्रजा का सेवक भी कहता था। उसने देश के आर्थिक विकास के लिए नहरों का निर्माण करवाया, किसानों को अनेक सुविधाएं उपलब्ध करवायीं जैसे– फसल ख़राब होने पर बीज देने की व्यवस्था की , भूमि कर में छूट दी, अनेक उद्योग–धंधों का निर्माण करवाया,अपनी प्रजा को शिक्षित करने के लिए अनेक प्राथमिक स्कूल खुलवाये, साहित्यकारों कलाकारों को संरक्षण दिया, एवं बौद्धिक विकास के लिए लेखन भाषण प्रकाशन की भी स्वंतत्रता प्रदान की। उसने धर्म के क्षेत्र में भी उदारता की नीति का पालन किया और देश में धार्मिक स्वतंत्रता की घोषणा कर दी परन्तु वह फिर भी यहूदियों के प्रति उदार नहीं हो सका था। इतना ही नहीं न्याय व्यवस्था में भी सुधार किये, और उदारता की नीति का पालन किया। वह राजा को राज्य का प्रथम सेवक मानता था। इतिहासकार एरगान्ग के अनुसार उसका शासन "जनता के लिए तथा जनता द्वारा न होकर सब जनता के लिए, जनता द्वारा कुछ भी नहीं था"

जोजफ द्वितीय यूरोप के इन स्वेच्छाचारी शासकों में आस्ट्रिया के जोज़फ द्वितीय (1780–1790) का स्थान दूसरा है। उसने दार्शनिक विचारों एवं तर्कपूर्ण सिद्धांतों को आस्ट्रिया के नव निर्माण के लिए ज़रूरी समझा,वह सामंतों के विशेष अधिकारों को समाप्त करके सभी वर्गों में समानता का स्थापित करना चाहता था, इसमें उसे सफलता तो नही मिली, परन्तु उसने सामंतों और कृषकों पर समान कर लगाये, सभी लोगों के लिए निःशुल्क शिक्षा कि व्यवस्था की तथा आर्थिक विकास के लिए उद्योग–धन्धों की स्थापना करवायी। उसने प्रशासन को केन्द्रीयकृत करने के लिए काफी प्रयत्न किये, धार्मिक क्षेत्र में भी वह चर्च एवं पोप के हस्तक्षेप को समाप्त करना चाहता था और चर्च को राज्य का एक अंग बनाना चाहता था परन्तु कैथलिक जनता के विरोध के कारण ऐसा करने में वह सफल नहीं हो सका।

प्रबुद्ध निरंकुश शासकों में रूस की कैथरीन (1762–1796) का भी महत्वपूर्ण स्थान है उसने, सेना, नौकरशाही, चर्च, एवं सामंतों पर नियंत्रण रखा ताकि प्रशासन को केंद्रीयकृत कर सके, उसने रूस के लोगों को सभ्य एवं शिक्षित करने का प्रयास किया तथा अनेक शिक्षण संस्थानों की स्थापना करवायी साथ ही स्त्री–शिक्षा पर विशेष बल दिया। देश की आर्थिक व्यवस्था के विकास के लिए

उद्योगधन्धों की स्थापना करवायी और स्वन्तन्त्र व्यापार की नीति को प्रोत्साहित किया एवं व्यापार से सभी प्रतिबन्ध हटा लिए। हम स्पेन के चार्ल्स तृतीय (1759–1788) को भी यूरोप के प्रबुद्ध निरंकुश शासकों में रख सकते हैं, उसने भी स्पेन में अनेक लोक कल्याणकारी कार्य किये, कृषि व्यवस्था में सुधार किये, सिंचाई के लिए नहरों को बनवाया, सामंतों को व्यापार के लिए प्रेरित किया, धार्मिक न्यायालयों तथा जेसुइटों के अधिकार को सीमित कर दिया, स्पेनी जनता को शिक्षित करने के उद्देश्य से प्राथमिक स्कूल खुलवाये। उसके सुधारों के कारण ही स्पेन की राष्ट्रीय आय में वृद्धि भी हुई।

जोजफ प्रथम पुर्तगाल के शासक जोज़फ प्रथम (1750–1777) के जन–कल्याण कार्यों के कारण हम उसे भी प्रबुद्ध निरंकुश शासकों की श्रेणी में रख सकते हैं, उसने अपने मंत्रियों के सहयोग से सामंतों एवं धर्माधिकारियों के अधिकारों को सीमित कर अपनी शक्ति को बढ़ाने की कोशिश की, शिक्षा के विकास के लिए भी ध्यान दिया, और अनेक स्कूल स्थापित किये गये, अतः जन साधारण के लिए उसने अनेक कार्य किये।

अट्ठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के इन प्रबुद्ध निरंकुश शासकों ने अपनी जनता के हित के लिए अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये, फिर भी ये सभी सुधार समय के साथ ख़त्म हो गए क्यूँकि इन सुधारों का आधार मज़बूत नहीं था, एक उदार शासक इन सुधारों को शुरू करता परन्तु उसका अनुदार उत्तराधिकारी उसे तुरंत बदल सकता था, प्रबुध्द निरंकुश शासकों के द्वारा कानूनों का निर्माण तो होता था, परन्तु उसके स्थायित्व के लिए कोई नीति नहीं बनायी गयी थी।

1.7 दैवीय अधिकार

15वीं शताब्दी में जब पुनर्जागरण हो रहा था तो प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन के साथ ही राजाओं की स्थिति में भी परिवर्तन आया। सामंतवाद का पतन, चर्च के विरुद्ध विद्रोह, और पवित्र रोमन साम्राज्य की शक्ति में कमी आ जाने के कारण सामंती राजा अपने राज्यों में धीरे–धीरे निरंकुश होने लगे और अपनी शक्ति में वृद्धि करने में लग गये, धर्मसुधार आन्दोलन से चर्च का प्रभाव कम होने के कारण राजाओं की शक्ति में और भी अधिक वृद्धि हो गयी।

मध्यकाल में अनेक राजा तथा सामंत शक्ति के लिए आपस में लड़ते रहते थे,कोई किसी की आधीनता आसानी से स्वीकार करने के पक्ष में नहीं था, पर इन राजाओं में से ही अनेक बड़े सम्राटों का विकास हुआ जिन्होंने सामंतों को अपने अधीन कर लिया, अब ये सामंत अपने झगड़ों से निपटने या न्याय के लिए इन शक्तिशाली राजाओं के पास आने लगे, अब ये सामंत अपने राज्यों की अपेक्षा बड़े सम्राटों के दरबार में अमीर के रूप में रहना ज्यादा सम्मान समझते थे। 17वीं सदी तक लगभग यूरोप कि यही स्थिति थी, इस परिवर्तन का मुख्य कारण बारूद का प्रयोग था क्योंकि तोपों और बारूद के प्रयोग के कारण सामंतों के मिट्टी के दुर्ग आसानी से टूटने लगे, जिससे वे कमज़ोर हो गए तथा अब बड़े शासक अपनी सेना भी रखने लगे थे, इसके अतिरिक्त 14वीं–15वीं शताब्दी यूरोप में युद्धों का काल रहा है, जिसमें अनेक वंश समाप्त हो गए, जिनके स्थान पर शक्तिशाली राजाओं का उदय हुआ और धीरे–धीरे वे निरंकुश हो गए। इंग्लैण्ड, फ्रांस, स्पेन, रूस आदि देशों में

भी शक्तिशाली राजाओं का जन्म हुआ और उन्होंने सामंतों को काबू में कर लिया। इंग्लैण्ड का राजा हेनरी अष्टम, फ्रांस का राजा लुई 14वाँ, स्पेन का राजा फिलिप द्वितीय, रूस का राजा पीटर सभी अपने क्षेत्रों में निरंकुश थे, परन्तु जर्मनी एवं इटली अब भी पवित्र रोमन साम्राज्य के अधीन थे और प्रशा के रूप में जर्मनी का भी विकास हो रहा था।

सामंती व्यवस्था का पतन हो जाने पर यूरोप में जो शक्तिशाली शासक वर्ग आया वे बहुत ही शान–शौकत से अपनी राजधानियों में रहा करते थे और विलासिता पूर्ण जीवन जीते थे। यूरोप के राजाओं का शासन के सम्बन्ध में मूल सिद्धांत यह था कि राजा पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है वह शासक बनता नहीं, बल्कि ईश्वर कि इच्छा से या स्वयं ईश्वर ने उसे बनाया है। जिस तरह ईश्वर पृथ्वी पर सभी प्राणियों का मालिक है उसी प्रकार सम्राट अपने साम्राज्य पर अपनी इच्छा से शासन कर सकता है, इसके लिय कोई भी उससे प्रश्न नहीं कर सकता था, उनके अनुसार शासक को अनेक दैवीय अधिकार प्राप्त थे। यदि राजा दयालु है, तो प्रजा का सौभाग्य और यदि अत्याचारी है तो कोई कुछ नहीं कर सकता क्योंकि वह ईश्वर द्वारा चुना गया है। ईश्वरीय प्रकोप जैसे आंधियां, तूफ़ान, महामारी, प्राकृतिक आपदा आने पर हम कुछ नहीं कर सकते उसी प्रकार राजकीय प्रकोप को भी सहना ही चाहिए, फ्रांस का शासक लुई 16वां कहता था "वही कानून है, क्योंकि ये मेरी इच्छा है, राज्य की शक्तियां मुझमें ही हैं, कानून बनाने का हक केवल मुझे ही है, इसके लिए मुझे किसी का सहयोग लेने की आवश्यकता नहीं" अब ये निरंकुश शासक रोम के पोप की अधीनता स्वीकार नहीं करना चाहते थे, परन्तु साथ ही वे यह भी बर्दाश्त नहीं कर सकते थे कि उनकी प्रजा किसी ऐसे धर्म को माने जो राजधर्म न हो। अलग संप्रदाय मानने वाली जनता पर बहुत अत्याचार किये जाते थे, जिसके परिणामस्वरूप कई देशों की प्रजा एक ही धर्म को मानने वाली हो गयी जबकि पहले सम्पूर्ण इसाई जगत यूरोप का एक भाग था, और पोप उसका प्रमुख।

इन अत्याचारों के फलस्वरूप राजाओं के इस निरंकुश शासन में कुछ ऐसे प्रदेश थे, जहाँ जनता के शासन का आरंभ हो रहा था, हालैंड ,स्पेन के विरुद्ध विद्रोह कर स्वतंत्र हो गया और स्वतंत्र हालैंड में जनता का शासन स्थापित हुआ। 18वीं सदी में इंग्लैण्ड के स्टुअर्ट वंश के राजाओं की निरंकुशता के विरुद्ध वहां भी क्रांति हुई। इस तरह इन निरंकुश शासकों की निरंकुशता के विरुद्ध अनेक विद्रोह एवं क्रांतियां हुई, इन्ही क्रांतियों में सबसे महत्वपूर्ण फ्रांस की राज्य क्रांति अट्ठारहवीं सदी के अंत में 1789 ई० में हुई जिसमें जनता के प्रत्येक वर्ग ने भाग लिया। इस क्रांति में ही " समानता ,स्वतंत्रता एवं भ्रातृत्व" की मांग की गयी। इस क्रांति के पश्चात यूरोप के लगभग सभी देशों में राजतन्त्र का अंत एवं लोकतंत्र शासन की स्थापना हुई। अतः लोकतंत्र शासन का आरम्भ आधुनिक युग की महत्वपूर्ण घटना है।

1.8 चर्च की सर्वोच्चता

इसाई धर्म के उद्भव के बाद इस नए धर्म के प्रचार–प्रसार का कार्य शुरू हुआ। ईसा मसीह के शिष्यों में सेंट पाल और सेंट पीटर का नाम प्रमुख है, जिन्होंने इसाई धर्म के लिए अनेक अत्याचारों को सहते हुए उसके प्रचार–प्रसार का कार्य जारी रखा और इनके कुशल प्रयास का ही परिणाम

था कि कुछ ही समय में बहुत से लोग इस नए धर्म के अनुयायी हो गये। अतः इसाई धर्म को मानने वाले लोगों एवं प्रचार कार्य को योजनाबद्ध तरीके से करने के लिए चर्च की आवश्यकता महसूस की जाने लगी, कुछ सच्चे, धार्मिक एवं अनुशासित लोगों की ज़रूरत थी जो धार्मिक कार्यों के लिए अपना पूरा समय दे सकें और क्योंकि किसी भी धर्म के लिए एक धार्मिक पुस्तक, एक धार्मिक स्थल, एवं धर्म को संचालित करने वाले धर्माधिकारी वर्ग अथवा धर्मगुरु की आवश्यकता होती है, अतः धार्मिक पुस्तक के रूप में 'बाइबिल', धार्मिकस्थल के रूप में चर्च की स्थापना के पश्चात धर्मगुरु के रूप में पोप सम्पूर्ण इसाई जगत का पिता बन गया। रोम के पोप के अधीन सभी चर्च होते थे, रोम के प्रथम पोप का नाम सेंट पीटर था।

मध्यकालीन यूरोप में भी चर्च का प्रभाव प्राचीन काल की ही तरह कायम रहा बल्कि इस काल के पूर्वार्द्ध में चर्च यूरोप की सबसे प्रभावशाली संस्था के रूप में स्थापित होगया था,अब चर्च यूरोप की राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक एकता का भी प्रतीक बन गया था। मध्यकाल के अंधकारमय युग में चर्च एक रौशनी की तरह कार्य करता था, जब सारा यूरोप राजनैतिक रूप से बिखर चुका था, उस समय चर्च ने उसे धार्मिक एकता के सूत्र में पिरोकर रख रखा था। आम लोगों तथा चर्च के मध्य दूरियां नहीं थीं, धीरे–धीरे चर्च का प्रभाव इतना बढ़ गया कि वे सरकार की तरह कानून निर्माण, न्याय तथा जेलों की सजाऐं देना प्रारंभ कर दिया, चर्च ने आम जनता के लिए शिक्षा की व्यवस्था की, चर्च गरीबों अनाथों, विधवाओं, एवं रोगियों की देखभाल भी करता था, उस समय के दुःखी समाज पर चर्च के अच्छे प्रभाव पड़े, चर्च ने जन–कल्याण के लिए अनेक कार्य किये, विवाहों वसीयतों पर चर्च का कठोर नियंत्रण था; यद्यपि आरम्भ में लगभग दो शताब्दी तक चर्च के पास बहुत अधिक शक्ति नहीं थी परन्तु मध्यकाल के उत्तरार्द्ध में यूरोप का चर्च बहुत समृद्ध एवं शक्तिशाली हो गया। चर्च के अधीन यूरोप की लगभग बीस प्रतिशत भूमि थी जिससे राजस्व के रूप में मिलने वाले धन से चर्च काफी संपन्न हो गया। किसानों से चर्च के द्वारा 'टीथ' नामक कर भी वसूल किया जाता था जो उनकी आय का दसवां भाग था, दान एवं उपहार के रूप में मिलने वाली भूमि से उनकी सम्पन्नता और बढ़ी। इस तरह ग्यारहवीं सदी के अंत तक यूरोप में शासक तथा पोप दोनों ही प्रभावशाली व्यक्ति के रूप में उभरे फर्क यह था की पोप के कार्य आध्यात्मिक तथा शासक के सांसारिक कार्य थे। एक मनुष्य की आत्मा था तो दूसरा उसका शरीर, और शरीर नश्वर जबकि आत्मा अमर है इसी धारणा के तहत धीरे–धीरे चर्च एवं पोप का स्थान शासक एवं शासक वर्ग से ऊँचा होता चला गया और अब चर्च के आध्यात्मिक कार्यों का दायरा काफी विस्तृत होने लगा था। उसका संगठन एवं व्यवस्था ऐसी थी कि प्रत्येक व्यक्ति चर्च के अधीन और उसकी आज्ञाओं का पालन करे, एवं उसके कायदे–कानूनों का अनुसरण करे, राज्य के समान चर्च भी लोगों से टैक्स वसूल करता था परन्तु चर्च से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति, पुरोहित पर राजकीय कर नहीं लगाये जाते थे और इसके विपरीत चर्च के टैक्स से कोई भी मुक्त नहीं था। चर्च के अपने कानून, न्यायालय, एवं पुलिस की व्यवस्था थी, प्रत्येक मनुष्य चर्च के अधीन था, परन्तु राज्य का कोई कानून चर्च के लोगों पर लागू नहीं होता था।

चर्च की स्थिति सभी राजाओं से ऊपर थी और यूरोप के लगभग सभी राजा चर्च के अधीन थे। चर्च को यह अधिकार था कि वह चाहे तो किसी भी राजा को उसके पद से हटा सकता था यदि कोई

मनुष्य चर्च की बात को न माने तो उसका धर्म बहिष्कार किया जा सकता था, चाहे वह शासक ही क्यों न हो। शासक यदि धर्म बहिष्कार से भी काबू में न आये तो, चर्च के अधिकारी धार्मिक हडताल पर चले जाते थे, कोई संस्कार चाहे विवाह संस्कार हो या फिर अंतिम संस्कार नहीं कराये जाते थे, चर्च के घंटे नहीं सुनाई देते थे, जिससे राज्य में हाहाकार सा मच जाता था। अंततः राजा को चर्च के सामने अपना सिर झुकाना ही पड़ता था, यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसके खिलाफ धर्म युद्ध की घोषणा एवं उसे उसके पद से हटाया भी जा सकता था। ऐसे समय में जनता भी चर्च एवं पोप का ही साथ देती थी, क्योंकि उस समय की यूरोपियन जनता चर्च की आज्ञा को टाल नहीं सकती थी। दैवीय अधिकार के रूप में पोप तथा चर्च की शक्ति और उसकी प्रतिष्ठा में भी काफी वृद्धि हुई, उसे धरती पर ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाने लगा, अब उसकी आज्ञा का उल्लंघन पाप था। अतः मध्यकाल में चर्च की शक्ति काफी बढ़ गयी थी।

मध्यकाल में ही 'पवित्र रोमन साम्राज्य' की पुनः स्थापना हुई, जिसके कुछ महत्वाकांक्षी शासक पोप के सामने झुकना अपनी शान के खिलाफ समझते थे। एक ओर शासक विश्व विजय करना चाहते थे जिसमे चर्च भी उनके अधीन हो, जबकि वहीं दूसरी ओर पोप 'सिटी ऑफ़ गॉड' की कल्पना कर रहे थे जिसके अंतर्गत समस्त इसाई जगत चर्च के अधीन हो, अंततः राज्य एवं चर्च के मध्य संघर्ष आवश्यक हो गया।

अभ्यास प्रश्न

1. प्रश्न – यूरोप में ब्लैक डेथ की घटना कब और क्यों हुई?
2. प्रश्न – मानववाद से क्या आशय है?
3. प्रश्न – सामंतवाद के अंत का मुख्य कारण क्या था?

1.9 विशेष शब्दावली

- डायटः यह पवित्र रोमन साम्राज्य की प्रतिनिधि सभा थी, जिसे साम्राज्य से सम्बंधित मामलों पर विचार के लिये बुलाया जाता था, इसमें इलेक्टर के भू कुछ सदस्य होते थे।
- मानववादः यह एक पुनर्जागरण काल की चेतना है, जिसने मध्ययुगीन व्यवस्थाओं से हट कर पुरानी रोमन एवं यूनानी विचारधारा में रूचि जागृत की तथा मानव एवं मानव जीवन में रूचि लेना शुरू कर दिया।
- प्रबोधनः यह एक एसी विचारधारा है जिसे हम सामूहिक रुप से तर्क, निरीक्षण, बुद्धिवाद, प्रकृतिवाद आदि के लिए इस्तेमाल करते हैं, जिसके अंतर्गत धर्म निरपेक्षता एवं तर्कपूर्ण ज्ञान को प्रोत्साहित किया गया।
- टीथः यह एक धार्मिक कर था, जो यूरोप के प्रत्येक इसाई को अपनी आय का 10 प्रतिशत चर्च को देना होता था।

1.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. उत्तर – यूरोप में ब्लैक डेथ की घटना 1348–1352 ई० के मध्य हुई, यह बीमारी प्लेग ग्रसित चूहों से फैली जो कि चीन से आने वाले व्यापारिक जहाजों में सवार हो गए थे
2. उत्तर – मानववाद मुख्यतः मानव जीवन में रूचि लेना, मानव समस्याओं में रूचि लेना मानव का आदर करना ,मानव जीवन के महत्व को स्वीकार करना तथा उसके जीवन को सुधारने का प्रयास है।
3. उत्तर – सामंतवाद के अंत का मुख्य कारण बारूद का उपयोग है, तोपों का इस्तेमाल होने से बड़े राजाओं ने इन सामंतों को अपने अधीन लाकर इनकी शक्ति को कम कर दिया जो सामतंवाद के अंत की एक मुख्य वजह है।

1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- वर्मा लाल बहादुर, यूरोप का इतिहास (पुनर्जागरण से क्रांति तक) (1453–1789), प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली, आवृति 2008.
- गुप्ता पार्थसारथी, यूरोप का इतिहास, दिल्ली विश्वविद्यालय पुनर्मुद्रण 1992
- जैन, हुकुम चंद, माथुर, कृष्ण चंद, आधुनिक विश्व का इतिहास,(1500–2000ई.),जैन प्रकाशन मंदिर,जयपुर, 2010.
- सिन्हा, बिपिन बिहारी, 'प्राचीन एवं मध्य कालीन इतिहास' ज्ञानदा प्रकाशन, नई दिल्ली.
- Southern, R- W-, The Making of Medieval ages, New Haven, 1953

1.12 प्रस्तावित अध्ययन सामग्री

Darity William A (ed) & International Encyclopedia of the Social Sciences, second edition, vol&1 to 9 (relevant pages only), Macmillan Refrence Gayle 2008-
http@www-nationalarchives-gov-uk@
http@wwwhistory-ac-uk@

1.11 निबंद्धात्मक प्रश्न

1. सामंतवादी व्यवस्था कि विशेषताओं पर प्रकाश डालिए?
2. प्रबुद्ध निरंकुशता तथा कुछ प्रबुद्ध निरंकुश शासकों के कार्यों का उल्लेख करें?

इकाई 2 मध्यकाल, राष्ट्रीय राज्य, पुनर्जागरण, धर्म सुधार, डार्विनवाद, पवित्र रोमन साम्राज्य

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 मध्यकाल
2.3.1 मध्यकाल की विशेषताएँ
2.4 राष्ट्रीय राज्य
2.4.1 राष्ट्रीय राज्यों का उदय
2.4.2 राष्ट्रीय राज्यों के उदय के सकारात्मक एवं नकारात्मक पहलू
2.5 पुनर्जागरण
2.6 धर्म सुधार आन्दोलन
2.6.1 रोमन कैथोलिक चर्च
2.6.2 धर्मसुधार के कारण
2.7 डार्विनवाद
2.8 पवित्र रोमन साम्राज्य
2.8.1 रोमन साम्राज्य का उदय
2.8.2 रोमन साम्राज्य और पुनर्जागरण काल
2.8.3 साम्राज्य का पतन
2.9 विशेष शब्दावली
2.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.11 संदर्भ ग्रंथावली
2.12 प्रस्तावित अध्ययन सामग्री
2.13 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में मध्यकालीन यूरोपीय समाज से आधुनिक काल के समाज,संस्कृति के सम्बन्ध में प्रचलित शब्दावली, कुछ प्रमुख विचार तथा संकल्पनाओं को विस्तार से समझाने का प्रयत्न किया गया है। मध्यकालीन यूरोपीय समाज को आधुनिक युग की ओर ले जाने वाली घटनाएं, जिसने समाज के प्रत्येक वर्ग को प्रभावित किया, उन्हें सुगम एवं सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया है। इन संकल्पनाओं, विचारों की यदि बात की जाए तो हम देखते है कि अनेक विचार तथा शब्दावलियों

को विस्तार से समझाना आवश्यक हो जाता है, ताकि विद्यार्थियों को आगे भविष्य में इन प्रमुख शब्दों को लेकर किसी प्रकार की कोई परेशानी न हो और विद्यार्थी में इन शब्दों को लेकर कोई भ्रम को स्थिति न रहे अर्थात इन शब्दों, विचारों को समझने के सम्बधं में उनका आधार मज़बूत हो सके और जिससे कम शब्दों में वे इन प्रमुख शब्दों को समझ कर उसका विश्लेषण कर सकें। आधुनिक विश्व के इतिहास को पढ़ते हुए विद्यार्थी कई बार कुछ विचारों, संकल्पनाओं को लेकर असमंजस की स्थिति में रहते हैं और सही तरह से तथ्यों को नहीं समझ पाते हैं। इसी बात को ध्यान में रखते हुए यहां उन विचारों, संकल्पनाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है ताकि विद्यार्थी सही तरह से घटनाओं को समझ सकें।

2.2 उद्देश्य

- विद्यार्थी इन संकल्पनाओं,विचारों एवं शब्दावली का सरल एवं सुगम भाषा में अध्ययन कर सकेंगे।
- इसके अध्ययन से विद्यार्थी का विषय से सम्बंधित आधर मज़बूत हो सकेगा, जिससे वे अपनी समझ का विकास कर सकेंगे।
- विद्यार्थी इस प्रकार से शब्दावली, विचार एवं संकल्पनाओं का अध्ययन कर कम से कम शब्दों में अपनी बात को समझा सकेंगे।

2.3 मध्यकाल

इतिहास होने वाली घटनाओं का क्रमबद्ध विवरण है, जिसका विभाजन करना संभव नहीं है किन्तु अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इतिहास में घटित हुई कुछ विशेष घटनाएं जिनसे समाज में व्यापक रुप से परिवर्तन आया हो तो उन्हीं के आधार पर विद्वानों ने विश्व इतिहास को प्राचीनकाल, मध्यकाल, तथा आधुनिक काल– इन तीन भागों में बांटा गया हैं यूरोप के सम्बन्ध में सामान्यतः प्राचीन युग में पूर्व–पाषाण काल से महान रोमन साम्राज्य के पतन अथवा 400 ई० तक, मध्य युग के अंतर्गत लगभग 400 ई० से 1453 ई० तक अथवा पवित्र रोमन साम्राज्य की राजधानी कुस्तुन्तुनियां पर आटोमन तुर्कों की विजय तक तथा आधुनिक युग का आरम्भ 1453 ई० के बाद के इतिहास का अध्ययन किया जाता है यदि मध्य युग की बात की जाय तो अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इसे पूर्व–मध्य युग तथा उत्तर–मध्य युग में भी विभाजित किया गया है।

2.3.1 मध्यकाल की विशेषताएँ

रोमन साम्राज्य के पतन से यूरोप के प्राचीन इतिहास का अंत और यूरोप में मध्य युग का आरम्भ होता है। बर्बर जातियों के आक्रमण से 400 ई० तक पश्चिमी रोमन साम्राज्य का अंत हो गया था, किन्तु पूर्वी रोमन साम्राज्य का अस्तित्व लगभग एक हज़ार वर्षों तक बना रहा। बर्बर जातियों के आक्रमण के पश्चात पश्चिमी साम्राज्य अनेक छोटे–छोटे राज्यों में बंट गया था। 6ठी और 7वीं सदी

का युग यूरोप के इतिहास में अव्यवस्था एवं अराजकता का युग था, इस अव्यवस्था से पूरे यूरोप में लगभग अन्धकार सा हो गया था। इस अव्यवस्था ने ही सामंतवाद को जन्म दिया, जोकि मध्यकाल की महत्वपूर्ण व्यवस्था थी, इससे न केवल राज्यों का नुकसान हुआ, बल्कि मानव चेतना का भी ह्रास हुआ। इस युग की और भी अनेक विशेषताएँ हैं।

ईसा के पश्चात इसी युग में इसाई धर्म का प्रचार–प्रसार के लिए सेंट पीटर ने चर्च की स्थापना की। पोप को सम्पूर्ण इसाई जगत का धर्मगुरु मान लिया गया। पीटर के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों ने जब रोमन साम्राज्य उनके अधीन हो गया तो चर्च पर एकछत्र राज करना शुरू कर दिया, क्योंकि अब सम्पूर्ण यूरोप ने भी इसे स्वीकार का लिया, अब रोमन चर्च सभी राज्यों के चर्चों के सर्वेसर्वा बन गये। इसाई मनुष्य जन्म से लेकर मृत्यु तक चर्च का ही मुहं देखता था। जन साधारण के साथ–साथ उन्होंने राज्य को भी चर्च के अधीन कर लिया, धर्म ही नहीं राजनीति में भी अब उन्होंने हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया अर्थात इस युग में समाज राजनीति ,अर्थव्यवस्था ,समाज का प्रत्येक क्षेत्र हो या कला सभी चर्च के अधीन थे। शासक भी चर्च की इच्छा के विरुद्ध नहीं जा सकते थे, जिससे चर्च एवं पोप की शक्ति में अपार वृद्धि हो गयी। इस युग में मनुष्य के सभी क्रिया–कलापों का केंद्र धर्म ही था, अब चर्च शिक्षा, न्याय, दण्ड, कारागार इत्यादि का केंद्र बन गया, सत्ता का विस्तार होने पर यह पाप का भी केंद्र बनता जा रहा था अब इसमें अनेक बुराइयाँ आने लगीं थीं।

इस युग की दूसरी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता सामंतवाद है, यह एक ऐसी आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था थी, जिसके अंतर्गत अधिकांश अधिकार एवं भूमि बड़े–बड़े सांमन्तों के पास थी, कृषकों को भूमि जोतने के लिए न केवल शुल्क देना पड़ता था बल्कि कृषक दासों को बेगार भी करना पड़ता था। यह व्यवस्था शासक एवं सामंतों के आपसी संबंधों पर आधारित थी, इस व्यवस्था में शासन को कई स्तरों पर संगठित किया गया था। पश्चिमी यूरोप जब बर्बर जातियों के आक्रमण से अनेक छोटे–छोटे राज्यों में बँट गए, तब केन्द्रीय सत्ता के अभाव में राजनैतिक संस्थाओं का जन्म हुआ जिन्हें सामंतवाद कहा गयां सामंत वर्ग के लोग राजा के सेवक तथा किसानों के मालिक थे, दूसरी ओर किसान सामंतों को अपनी स्वामिभक्ति का, और इन सेवाओं के बदले ये सामंत अपने सेवकों की रक्षा का वचन देते थे। अतः इस व्यवस्था में सेवक एवं सामंत दोनों एक दूसरे पर निर्भर थे परन्तु वास्तविकता इससे इतर थी कृषकों एवं कृषि–दासों को अपने मालिको के खेतो में बेगार भी करना होता था। यह अनिवार्य रूप से किया जाने वाला कार्य था, जिसके बदले में उन्हें कुछ भी नहीं प्राप्त होता था, किसानों को अपनी फसल का अधिकांश भाग कर के रूप में देना पड़ता था, इस व्यवस्था में सामंत दिन–प्रतिदिन अमीर एवं आम किसान गरीब होता जा रहा था, मध्ययुगीन अर्थव्यवस्था सामंतवाद से अलग नहीं थी, बल्कि उसका आधार ही सामंतवाद था।

अधिकतर विद्वान पश्चिमी रोमन साम्राज्य के पतन से ही मध्यकाल का आरम्भ मानते हैं यद्यपि पश्चिमी रोमन का पतन हो गया परन्तु पूर्वी साम्राज्य का अस्तित्व अभी भी था। इस साम्राज्य की राजधानी कुस्तुन्तुनिया थी, राजनैतिक दृष्टि से रोमन साम्राज्य की याद में पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना हुई थी, यह साम्राज्य पूरे मध्य यूरोप खासकर जर्मन भाषी क्षेत्र में फैला था। धीरे–धीरे इसका भी पतन हो रहा था। फ्रांस के एक लेखक वोल्टेयर के अनुसार ' यह न पवित्र है, न रोमन,

न ही साम्राज्य' सच कहा जाय तो या मुख्यतः राज्यों का समूह था, जो प्रायः स्वतंत्र थे। इन क्षेत्रों के सात प्रमुख शासकों को सम्राट चुनने का अधिकार था, जो इलेक्टर कहलाते थे लेकिन चुनाव नाममात्र का होता था, क्योंकि प्रायः आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग परिवार से ही सम्राट चुने जाते थे जबकि नीतियों का निर्धारण 'डायट' नामक संस्था या इलेक्टर करते थे, फिर भी प्रमुखता सम्राट की ही थी उसकी बातों का विरोध नहीं होता था परन्तु खुद सम्राट इन सामन्तों कि सहायता पर निर्भर होता था इसलिये वह साम्राज्य की शक्ति का नही बल्कि एकता का प्रतीक था।

मध्ययुग में ईसा के शिष्यों द्वारा इसाई धर्म के प्रचार–प्रसार के लिए एक संगठन का निर्माण किया गया जिससे इसाई धर्म के अनुयायियों की संख्या दिनोंदिन बढ़ रही थी, और लोग चर्च एवं पोप को सर्वेसर्वा समझने लगे थे। लगभग इसी समय 6ठी 7वीं शताब्दी में मध्य एशिया में एक नए धर्म इस्लाम का भी प्रादुर्भाव हो रहा था। अतः इन दोनों धर्मों के अनुयायियों विशेषकर तुर्कों के अधीन प्रदेशों को पुनः प्राप्त करने के लिए ही इसाई एवं मुसलमानों के मध्य जो युद्ध हुआ, उसे ही क्रुसेड कहा गया परन्तु व्यवहार में यदि किसी राज्य में चर्च विरोधी भावनाऐं विकसित हुई या वहां के निवासियों द्वारा पोप एवं उसके अधिकारियों के आदेशों का पालन न करने वालों के खिलाफ भी धर्मयुद्ध की घोषणा कर दी जाती थी।

मध्यकालीन यूरोप की ये कुछ बड़ी विशेषताए थीं, जिनपर हम प्रकाश डाल चुके हैं। अब जन–साधारण की दशा भी जानना आवश्यक है जिससे हमें मध्यकाल की पूरी तस्वीर समझ में आ जाएगी। इस काल में शिक्षा का प्रचार बहुत कम था, साधारण जनता प्रायः अशिक्षित ही होती थी, और कभी–कभी तो बड़े राजा एवं सामंत भी पढ़ेलिखे नहीं होते थे। धार्मिक शिक्षा के लिए मठों कि व्यवस्था थी, जहाँ केवल लैटिन भाषा को ही महत्व प्राप्त था। उस समय के विद्वान केवल लैटिन एवं ग्रीक भाषाओँ को ही पढ़ते थे इसके अतिरिक्त अन्य भाषाएँ जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेजी, इटैलियन इत्यादि को असभ्य समझा जाता था। इन भाषाओँ में साहित्य का आभाव था, क्योंकि इन्हें हीन भाषा समझा जाता था। मध्यकालीन यूरोप में विश्वविद्यालय स्थापित तो हो गये, पर शुरू से ही ये इसाई मठों के अंग थे, अतः यहाँ भी धर्म एवं धार्मिक शास्त्रों की शिक्षा पादरियों द्वारा दी जाती थी। ज्ञान–विज्ञान का विकास जो आधुनिक युग में दिखता है उसका अभाव था।

मध्ययुगीन समाज एवं संस्कृति को अज्ञानता एवं अन्धकार का युग कहा जाता है, इस युग में धर्म का अत्यधिक प्रभाव था, समाज के अंतर्गत धर्मशास्त्रों के अध्ययन तथा लोकप्रिय अंधविश्वासों पर बल दिया जाता था। अतः मध्य युग में धार्मिक असहिष्णुता व्याप्त थी, किसी बीमारी का इलाज करना पाप समझा जाता था, लोगों का ख्याल था कि रोग ईश्वर के नाराज़ होने पर होता है जिनसे बचने के लिए लोग पूजा को एकमात्र साधन समझते थे, इसी अन्धविश्वास के कारण ही मध्ययुग में कोई वैज्ञानिक प्रगति नहीं हो सकी। पृथ्वी, सूर्य, समुद्र आदि के सम्बन्ध में लोगों में बहुत अन्धविश्वास था, इस काल में पृथ्वी चपटी तथा उसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का केंद्र समझा गया जिसका खंडन आधुनिक युग में ही संभव हो सका।

विश्व इतिहास में मध्ययुग को अंधकार युग कहा जाता है, इसमें सच्चाई तो है परन्तु हम इससे पूरी तरह सहमत भी नहीं हो सकते। यह सत्य है कि इस युग में प्रगति की गति बहुत धीमी थी, लोग अपने अज्ञान से ही संतुष्ट थे, किसी प्रकार की कोई जिज्ञासा नहीं थी, इतना कुछ होते हुए भी

उस युग में परिवर्तनों पर किसी प्रकार का कोई अंकुश नहीं था यदि ऐसा न होता तो क्या मध्यकाल के अंत तक पुनर्जागरण, बौद्धिक आन्दोलन इत्यादि संभव थे?

2.4 राष्ट्रीय राज्य

मध्यकालीन यूरोप राजनैतिक रूप से अनेक छोटी–छोटी इकाइयों में विभक्त था, जिनका आधार धर्म था। वहां के लोग क्षेत्रीय भावनाओं एवं स्वार्थों तथा धार्मिक कारणों को अधिक महत्व देते थे परन्तु 16वीं शताब्दी में वहां के राजनीतिक ढांचे में महत्वपूर्ण परिवर्तन आये, इन छोटी इकाइयों के स्थान पर राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण होने लगा। इन राज्यों में इंग्लैण्ड, फ्रांस, स्पेन, पुर्तगाल आदि राष्ट्रों का जन्म हुआ। इन राज्यों ने पुरानी परम्पराओं से हट कर सहित्य, भाषा, चेतना को महत्व दिया। इटली के मैक्यावेली ने "द प्रिन्स" में लिखा है– देशभक्त राज की कल्पना कर राष्ट्रीय राज्यों को जन्म दिया" पुनर्जागरण के बाद पुरानी थोपी हुई एकता के स्थान पर राष्ट्रीय राज्यों के निर्माण से अनेक संगठित इकाइयों का जन्म हुआ। पुनर्जागरण ने यूरोप तथा विश्व के राजनैतिक जीवन को राज्य की नयी अभिधारणा दी। 15वीं सदी के अंत तक अनेक राष्ट्रीय राज्यों का उदय हुआ जिसने मध्ययुगीन इसाई जगत की एकता को ख़त्म कर दिया।

2.4.1 राष्ट्रीय राज्यों का उदय

1469 ई० में अरागान के फर्डीनेन्ड तथा कैस्तील की इजाबेला के मध्य वैवाहिक सम्बन्ध ने स्पेन के इतिहास में एक नए युग का निर्माण किया, इससे दारा अरागान तथा कैस्तील एक प्रशासन के अंतर्गत आ गए। इसके साथ उनकी ग्रेनाडा एवं नवार की विजयों ने स्पेन का एकीकरण संपन्न किया। 1492 ई० में अमेरिका की खोज ने स्पेन की शक्ति को और बढा दिया फर्डीनेंड तथा इजाबेला ने शक्तिशाली सेना के गठन, कुलीनों पर नियंत्रण, सामंतीय सभा पर प्रतिबन्ध आदि के द्वारा राज्य की शक्ति को सुदृढ़ करने का प्रयास किया, इतना ही नहीं उन्होंने अपनी पुत्रियों का विवाह पुर्तगाल, इंग्लैण्ड, तथा जर्मनी के राजपरिवारों के साथ किया जिससे विदेशों में स्पेन का प्रभाव बढ़ गया। अतः 1500 ई० तक स्पेन यूरोप का एक शक्तिशाली देश बन गया था।

स्पेन के पश्चात यूरोप के महत्वपूर्ण राष्ट्रीय राज्यों में फ्रांस प्रमुख था जबकि यहाँ का राष्ट्रीय राजतन्त्र का इतिहास स्पेन से पूर्व ही शुरू हो जाता है परन्तु उसका उत्कर्ष 15वीं शताब्दी में ही होता है। पोप के सभी अधिकारों को समाप्त कर दिया गया, सम्राट चार्ल्स सप्तम ने सेना का गठन किया, तेइल नामक एक नया राष्ट्रीय कर लागू किया तथा राज्य की अर्थव्यवस्था को नियंत्रित करने का प्रयास किया। राजा चार्ल्स के पुत्र लुई नवम ने राजतन्त्र की संरचना की और उसे सुदृढ़ किया। उसके शासनकाल में फ्रांस के एकीकरण की प्रक्रिया गतिशील हो गयी उसे फ्रांस के राष्ट्रीय राज्य का संस्थापक कहा गया। फ्रांस के उच्च वर्गीय कुलीनों ने फ्रांसिसी एकता एवं राजा के निरंकुश तंत्र को रोकने के लिए एक संघ बनाया किन्तु छोटे सामंतों तथा मध्यम वर्ग ने राजा की सहायता की जिससे सम्राट उच्च कुलीनों के संघ का दमन करने में सफल रहा। उसके

शासनकाल को सामंतवाद के पतन का काल कहा जाता है। सम्राट लुई नवम की मृत्यु के पश्चात ऐसी कोई संस्था नहीं रह गयी थी जो राजा के प्रभुत्व को चुनौती दे सके, उसके उत्तराधिकारी चार्ल्स अष्टम ने 1483–1498 ई० में ब्रिटनी पर अधिकार करके फ्रांस की एकता को पूर्णता प्रदान किया तथा राष्ट्रीय साम्राज्यवादी नीति को स्वीकार कर यूरोपीय राजनीति में एक नवयुग का सूत्रपात किया।

इंग्लैण्ड तीसरा राज्य था जहाँ राष्ट्रीय शासन के विकास को प्रोत्साहन मिला। 14वी शताब्दी में इंग्लैण्ड अनेक आर्थिक परिवर्तनों से प्रभावित था, जिसका आरम्भ पहले ही हो चुका था। उद्योग का विकास, नगरों का उदय, धन का वृहद् उपयोग, तथा श्रमिकों की दुर्बलता ने सामंतीय व्यवस्था को कमज़ोर कर दिया था। इससे सामंतों का धीरे–धीरे पतन होने दिया, दूसरी ओर 'शतवर्षीय युद्ध' ने राजा के सैनिक एवं वित्तीय अधिकारों में वृद्धि कर उसे सामंतीय समर्थन से मुक्त करने का प्रयास किया। राजा पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए विरोधी दलों के मध्य होने वाले संघर्ष ने सामंतवाद का अंत कर दिया। यह संघर्ष इतिहास में 'गुलाबों का युद्ध* (war of roses 1455–85 ई०) के नाम से जाना जाता है। इस युद्ध में अनेक कुलीनों की मृत्यु एवं अव्यवस्था ने राजा हेनरी सप्तम की शक्ति में वृद्धि करने का अवसर दिया, उसने विरोधी सामंतों के खिलाफ दमनकारी नीति का अनुसरण किया। उसने सामंतों के सैनिक रखने के अधिकार को ख़त्म कर दिया, तथा इनसे निपटने के लिए 'स्टार चैम्बर के न्यायालय' (Court of Star Chamber) की स्थापना की। सामंतों से निपटने के लिए उसने दूसरी ओर मध्यम वर्ग तथा व्यापारिक वर्ग की सहानुभूति प्राप्त करने की कोशिश की, उसने इंग्लैण्ड की अर्थव्यवस्था को मज़बूत बनाने के लिए भी अनेक कदम उठाए। विदेशों में प्रभाव बढ़ाने के लिए जल सेना का गठन किया। अतः दीर्घकालीन संघर्ष के पश्चात उसने शांति एवं सुरक्षा की व्यवस्था की, उसने जिस निरंकुशता कि नीवं रखी वह उसके पुत्र हेनरी अष्टम के काल तक यह अपनी पराकाष्ठा पर पहुच गया था।

स्पेन, फ्रांस, और इंग्लैण्ड में राष्ट्रीय राज्यों का उदय तो हो चुका था, किन्तु जर्मनी एवं इटली इससे भिन्न थे। जर्मनी में तीन सौ से अधिक छोटे–छोटे राज्य थे, और ये सभी 'पवित्र रोमन साम्राज्य में आते थे, जर्मनी एवं इटली का एकीकरण 19वीं शताब्दी में ही संभव हो सका।

2.4.2 राष्ट्रीय राज्यों के उदय के सकारात्मक एवं नकारात्मक पहलू

राष्ट्रीय राज्यों के उदय से सामंतीय व्यवस्था का खात्मा, कृषि दासता की समाप्ति, उन्नत उत्पादन एवं उत्पादन में वृद्धि, विनिमय के तरीकों में सुधार, घरेलु उद्योगों को संरक्षण, तथा भौगोलिक खोजों को बढ़ावा आदि सकारात्मक प्रभाव देखने को मिले परन्तु इसके नकारात्मक प्रभाव भी थे। राष्ट्रीय राज्यों के शासकों ने सामंतों की राजनैतिक शक्ति को समाप्त कर अपने राज्यों में एक सुदृढ़ केंद्रीयकृत शासन स्थापित करने का प्रयास तो किया, परन्तु राष्ट्रीय सुदृढ़िकरण से राजवंशों में झगड़े शुरू कर दिए जोकि आगे चलकर अंतर्राष्ट्रीय युद्धों के रूप में बदल गए, जिससे हर छोटे–बड़े राज्य अपनी प्रधानता स्थापित करने को लालायित हो उठे। अतः राष्ट्रों के मध्य इस शत्रुता ने 'शक्ति संतुलन' को जन्म दिया, जिसका कार्य राज्यों की महत्वाकांक्षा पर अंकुश लगाना

था तथा शक्ति संतुलन को बनाये रखना था, परन्तु फिर भी इस प्रतिद्वंदिता ने भविष्य में अनेक बड़े युद्धों को जन्म दिया।

2.5 पुनर्जागरण

पुनर्जागरण का अर्थ 'पुनर्जन्म' या फिर से जागना है अथवा किसी ख़त्म होती हुइ सभ्यता का पुनरुद्धार है। कुछ इतिहासकार इसे ही सांस्कृतिक पुनरुद्धार कहते हैं, इसकी कोई स्पष्ट परिभाषा तो नहीं परन्तु यह कह सकते हैं कि यूरोपीय इतिहास में मध्य एवं आधुनिक युग के संक्रमण काल में प्राचीन यूरोपीय सभ्यता एवं संस्कृति, साहित्य एवं कला इत्यादि को पुनः महत्व दिया गया, उसे ही संस्कृति का पुनर्जन्म या पुनर्जागरण कहते हैं। इतिहासकार एरगान्ग के अनुसार, "सांस्कृतिक पुनर्जागरण का अर्थ मध्य युग से आधुनिक युग की ओर ले जाने वाले उन सभी परिवर्तनों से है, जैसे सामंतीय व्यवस्था का पतन, प्राचीन साहित्य में रूचि, राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना, विज्ञान के क्षेत्रों में विकास, छापेखाने, बारूद, कुतुबनुमा का आविष्कार, नए व्यापारिक मार्गों का विकास जिससे नए देशों की खोज तथा पूंजीवाद का आरंभिक विकास से है।" संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि 13वीं शताब्दी से 16वीं शताब्दी तक होने वाले सभी सांस्कृतिक परिवर्तन ही पुनर्जागरण है।

इतिहसकार शेबिल लिखते हैं, "पुनर्जागरण का अर्थ मध्ययुग के साथ सम्बन्ध विच्छेद नहीं था, बल्कि यह एक सांसारिक आन्दोलन था तथा इसमें वे सभी परिवर्तन आते हैं जो मध्ययुगीन यूरोप के अंत तथा आधुनिक काल के आरम्भ में दिखाई देते हैं।" हम यह कह सकते हैं कि मध्यकाल के अंत में मध्यकाल की व्यवस्थाओं जैसे, सामंतवाद, रोमन साम्राज्य, इत्यादि से लोगो का मोह भंग हो गया था और अब वहां भी परिवर्तन के चिन्ह दिखने लगे थे। इसकी शुरुआत तो 13वीं शताब्दी से ही आरम्भ हो गयीं थीं पर 14वीं 15वीं शताब्दी में स्पष्ट रूप से इसके लक्षण दिखने लगे थे। अतः पुनर्जागरण एक ऐसा बौध्दिक एवं उदार सांस्कृतिक आंदोलन था, जिसमें प्राचीन यूरोप की सभ्यता एवं संस्कृति से प्रेरणा लेकर उसी के आधार पर आधुनिक यूरोप के निर्माण का प्रारंभ हो रहा था, लोग मध्यकालीन बंधनों से मुक्त होकर स्वतंत्र चिंतन कर रहे थे जो जीवन के विभिन्न पहलुओं का विकास कर रहे थे और जो उस युग की कला, साहित्य, दर्शन एवं विज्ञान के क्षेत्र में दिखता है।

यूरोप के जिस समाज में पुनर्जागरण शुरू हुआ वह मध्ययुगीन समाज रूढ़िवादी था और सामंतवादी व्यवस्थाए लोगों के जीवन का अभिन्न अंग बन चुकी थीं। ऐसे समाज में पुनर्जागरण कैसे संभव हुआ? या पुनर्जागरण के क्या कारण थे? यह जानना आवश्यक है। यदि हम पुनर्जागरण के कारणों का अध्ययन करें तो हमें ज्ञात होगा कि यह आन्दोलन किसी एक अचानक होने वाली घटना का परिणाम नहीं थी बल्कि यह क्रमिक एवं क्रमबध्द विकास का परिणाम था जिन्होंने पुनर्जागरण के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी, जिसका विवरण हम निम्न बिन्दुओं से समझ सकते हैं।

इसाई एवं इस्लाम धर्म के अनुयायियों के मध्य जो युद्ध हुए इन्हें ही क्रुसेड या धर्म युद्ध कहते हैं। इन धर्मयुद्धों के कारण जब अनेक यूरोपीय, पूर्वी लोगो के संपर्क में आये तो उनका बौद्धिक विकास संभव हुआ, क्योंकि उस समय तक पूर्व के देशों में ज्ञान के प्रकाश का उदय हो चुका था। इन धर्म युद्धों ने यात्राओं एवं भौगोलिक अध्ययन को प्रोत्साहन दिया, जिससे उन्हें नए विचार प्राप्त करने का मौका मिला। एक दुसरी सभ्यता के लोगों से नये अनुभव लेकर आने वाले लोगों के मन से चर्च का प्रभाव कम होता चला गया। अतः इन युद्धों ने नए विचारों का प्रसार करके तथा पुराने विचारों, विश्वासों एवं संस्थाओं को समाप्त करने का कार्य किया, जिससे पुनर्जागरण संभव हो गया।

पुनर्जागरण का एक अन्य कारण व्यापार का उदय था। धर्मयुद्ध के पश्चात पूर्वी देशों के साथ अनेक व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गये थे, परिणामस्वरूप व्यापार में काफी वृद्धि हुई, जिससे अंततः पुनर्जागरण की भावना का उदय हुआ, क्योंकि व्यापार के बाद जब वे अपने देश आये तो अनेक नए विचारों के साथ आये। व्यापार के विकास ने यूरोप में नए नगरों वेनिस, मिलान, फ्लोरेंस इत्यादि को जन्म दिया। इन नगरों में स्वतंत्र विचारों का विकास हुआ, और चर्च के प्रति शक की भावना शुरू हुई और जब ये व्यापारी समृद्ध होने लगे तो पुनर्जागरण कि गति भी तीव्र होने लगी।

मध्ययुग में होने वाले छापेखाने के विकास ने बौद्धिक विकास का मार्ग खोल दिया अब और अधिक एवं सस्ती किताबें छपने लगीं, अब ज्ञान पर से विशिष्ट लोगों का अधिकार ख़त्म होने लगा, लोगों में साक्षरता की इच्छा के साथ–साथ सांस्कृतिक जागरण की भावना को बल मिला। लैटिन के आलावा अब क्षेत्रीय भाषाओँ में साहित्य छपने लगे, जिससे आवश्यकता पड़ने पर वे ग्रंथों को पढ़ सकते थे, जिससे अब चर्च एवं समाज की सच्चाई लोगों के सामने थी। छापेखाने के आविष्कार ने लोगों को अपने अधिकारों से रुबरु कराया, ज्ञान की वृद्धि से यूरोपीय समाज ने अन्धविश्वास को छोड़कर तर्क के मार्ग को अपना लिया जिससे बौद्धिक चेतना का विकास हुआ। 1453 ई० में तुर्कों ने पूर्वी रोमन साम्राज्य की राजधानी कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार कर लिया जिससे पूर्वी देशों से व्यापार का मार्ग अवरूध्द हो गया। अतः यूरोपीय नये व्यापारिक मार्ग, जल मार्ग खोज निकालने के लिए लालायित हो गये। नये जल मागों की खोज ने उन्हें नये देशों से परिचित कराया, जिनमें अमेरिका, भारत, अफ्रीका प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त कुस्तुन्तुनिया ज्ञान दर्शन एवं कला का महान केंद्र था। तुर्कों के आक्रमण से यहाँ के विद्वान, दार्शनिक, कलाकार आजीविका की खोज में इंग्लैड, फ्रांस, इटली, जर्मनी आदि देशों में चले गये, और अपने साथ प्राचीन रोमन एवं यूनानी ज्ञान–विज्ञान, तथा नयी चेतना ले गये।

अतः इन सभी कारणों ने मिलकर पुनर्जागरण का मार्ग प्रशस्त किया, जिससे यूरोपीय समाज ने स्वयं को धार्मिक चिंतन से मुक्त करके तर्क को महत्व दिया तथा अनुभव और प्रयोग के माध्यम से सत्य की खोज की। पुनर्जागरण के लिए सबसे महत्वपूर्ण मानववाद का जन्म है, अब लोगों ने साहित्य, चित्रकला, स्थापत्यकला, मूर्तिकला, संगीत, ज्ञान–विज्ञान लगभग सभी क्षेत्रों में मनुष्य एवं उससे सम्बंधित क्रिया–कालापों को अपना विषय बनाया। अब तक समाज के प्रत्येक पहलु का केंद्र चर्च, पोप, एवं इसाई धर्म ही होता था, पर पुनर्जागरण ने इस व्यवस्था को बदल दिया और अब मानव एवं उससे सम्बन्धित सुख–दुःख अधिक महत्वपूर्ण हो गये।

2.6 धर्मसुधार आन्दोलन

16वीं शताब्दी के आरम्भ में यूरोप में धर्म के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण आन्दोलन हुआ जिसके परिणाम स्वरुप अनेक यूरोपीय राज्य रोमन कैथोलिक चर्च से अलग हो गए। इस तरह यूरोप में सदियों से चली आ रही धार्मिक एकता ख़त्म हो गयी और इसाई धर्म कई सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। इस महत्वपूर्ण एवं व्यापक आन्दोलन को 'धर्मसुधार आन्दोलन' (Reformation Movement) या प्रोटेस्टेंट आन्दोलन (Protestant Movement) कहा गया। इस आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य कैथोलिक चर्च में व्याप्त कुरीतियों का नाश कर उनमे नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन के प्रति जागरूक करना था, तथा पोप के विस्तृत एवं असीमित अधिकारों को सीमित करना था। इतिहासकार फिशर के अनुसार, "धर्मसुधार पोप की धार्मिक निरंकुशता, पादरियों के विशेषाधिकारों, तथा भूमध्यसागरीय जातियों के वंशानुगत धर्म (कैथोलिक धर्म) के खिलाफ एक विद्रोह था, एक ओर इसने पादरियों के अधिकारों के विरुध्द विद्रोह कर लिया, दूसरी ओर धार्मिक पुनरुत्थान एवं इसाई धर्म की मौलिकता को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया।"

2.6.1 रोमन कैथोलिक चर्च

16वीं शताब्दी के शुरू में यूरोप में रोमन चर्च एक महत्वपूर्ण संस्था थी। पश्चिमी यूरोप में व्यक्ति जन्म से ही चर्च का सदस्य होता था, तथा अपनी मृत्यु तक होने वाले सभी संस्कारों के लिए चर्च का मुंह देखता था, जिससे पोप एवं चर्च की शक्तियां एवं अधिकार बहुत बढ़ गयीं, सिर्फ बढ़ी ही नही बल्कि असीमित भी हो गयीं। पोप सम्पूर्ण इसाई जगत का प्रधान शासक था, वह आदेश जारी करता था, मुख्य न्यायाधीश भी वही था, क्योंकि न्याय भी वही करता था। कैथोलिक चर्च के अनुसार पोप को ये अधिकार ईसा द्वारा प्राप्त थे, जिससे ये अधिकार विरासत के रूप में उनके उत्तराधिकारियों को भी मिल गए। पोप की सहायता के लिए कैथोलिक चर्च में विभिन्न पदों पर कार्डिनल, आर्चबिशप, बिशप, पादरी आदि अनेक पदाधिकारी होते थे। इन अधिकारीयों द्वारा ईसाईयों के धार्मिक, राजनैतिक, एवं नैतिक जीवन को नियंत्रित किया जाता था, परन्तु 16वीं सदी के अंत तक ये संस्थाएं एवं उसकी व्यवस्थाएं टूटने लगी थीं। पुनर्जागरण के फलस्वरूप लोगों में चेतना जागृत हुई और अब वे चर्च एवं पोप की आलोचना करने लगे थे, क्योंकि लोग पोप के भ्रष्ट जीवन को समझ गये थे। रोमन कैथोलिक चर्च के विरुद्ध यूरोपीय देशों में जो प्रतिक्रियाएं हुईं उससे प्रभावित होकर अनेक राज्य रोमन कैथोलिक चर्च के नियंत्रण से अलग हो गए, इसे ही धर्मसुधार आन्दोलन कहा गया।

2.6.2 धर्मसुधार के कारण

धर्मसुधार आन्दोलन या प्रोटेस्टेंट आन्दोलन का एकमात्र कारण धार्मिक ही नहीं था बल्कि इसके अतिरिक्त अन्य कारण भी थे जो उस समय की राजनैतिक, तथा आर्थिक दशा से सम्बंधित थे जिनके सहयोग से प्रोटेस्टेंट आन्दोलन का उदय हुआ। अतः इन कारणों का विवरण निम्न किया जा रहा है–

15वीं शताब्दी के अंतिम चरण में कैथोलिक चर्च के अंतर्गत अनेक दोष उत्पन्न हो गये थे। पोप अपनी असीमित शक्तियों के कारण भ्रष्ट हो गए थे। पोप अलेक्जेंडर षष्ठ से लेकर पोप लियो दशम तक सभी का चरित्र ख़राब था। पोप की अनेक अवैध संताने थी। चर्च में अनुशासन नहीं रह गया था यह धीरे–धीरे रुढियों, अन्धविश्वासों, भ्रष्टाचार और शोषण का उपकरण बन गया था तथा चर्च से पुराने पोपों कि विद्वता, सेवा भाव समाप्त हो चुकी थी, पैसों कि लालच में अब वे पदों की बिक्री तक करने लगे थ,द्य अतः कैथोलिक चर्च के भ्रष्टाचार ने धर्मसुधार आन्दोलन का मार्ग प्रशस्त किया।

16वीं शताब्दी से पूर्व रोमन कैथोलिक चर्च न केवल धार्मिक संस्था थी, बल्कि यह राजनैतिक संस्था भी मानी जाती थी, जिसे राजनैतिक और आर्थिक शक्तियां प्राप्त थीं। कैथोलिक चर्च के अधिकारी सभी राजकीय नियमों से मुक्त थे, तथा उनकी जागीरें राजकीय करों से भी मुक्त होती थीं। कैथोलिक चर्च अपने अनुयायियों से तरह–तरह के कर वसूल करती थी, जिसमें राज्य का कोई हस्तक्षेप नहीं होता था, यह सत्य है कि सामंतवादी युग में कैथोलिक चर्च यूरोपीय राजनीति कि एक महत्वपूर्ण संस्था थी, उसकी उपयोगिता भी थी, क्योंकि इस काल में राजसत्ता निर्बल थी। 16वीं शताब्दी में राष्ट्रीय राज्यों एवं स्वतंत्रता की भावना का विकास हो रहा था, ये नवोदित राज्य किसी बाहरी शक्ति का हस्तक्षेप नहीं चाहते थे। इंग्लैण्ड में चर्च के अधिकारियों की नियुक्ति में पोप के अधिकार समाप्त कर दिए, अब धर्म स्ंचालन का कार्य राजकीय अधिकारी करते थे। इसी तरह. फ्रांस और जर्मनी में राष्ट्रीयता की भावना ने पोप की शक्ति को कम कर दिया था। राष्ट्रों एवं राष्ट्रीयता के उदय से निरंकुश राजसत्ता का जन्म हुआ, कोई भी निरंकुश शासक धर्म को अपने अधिकार क्षेत्र से अलग नहीं रखना चाहता था, और अपने राज्य में दोहरी सत्ता को भी स्वीकार नहीं कर सकता था, अतः चर्च के अपने अधीन रखने की भावना रोम के साथ विरोध का कारण बनी।

पूंजी के विकास के कारण लोगों की निगाह चर्च की अपार संपत्ति पर लगी हुई थी। चर्च की संपत्ति का कुछ भाग मिलने की आशा में पोप लोग के खिलाफ राजाओं की सहायता कर रहे थे। पूंजीवाद व्यवस्था के जन्म के कारण लोग चर्च के धन को व्यर्थ समझने लगे, क्योंकि देश के उत्पादन में उसका कोई सहयोग नहीं था, जिससे व्यवसायी एवं पूंजीपति वर्ग इसके विरुद्ध हो गया, इसका एक कारण यह भी था कि लोग अपने राष्ट्र की एक मुश्त धनराशी को विदेश (रोम) नहीं जाने देना चाहते थे। अतः 16वीं शताब्दी में प्रभावशाली व्यक्तियों ने धार्मिक तथा सामाजिक अशांति उत्पन्न की जिससे धार्मिक विद्रोह शुरू हो गया।

इसके अतिरिक्त उस युग में कैथोलिक चर्च एवं राज्य के बीच संघर्ष शुरू हो गया। चर्च को करों के द्वारा काफी धनराशी प्राप्त होती थी, चर्च प्रत्येक इसाई की आय का 10 प्रतिशत कर "टाईथ" नामक वसूल करता था। प्रत्येक राष्ट्र का एक बड़ा भाग रोम जाता था, जिसे चर्च के अधिकारी अपने ऐशो–आराम पर खर्च करते थे जबकि यूरोप की जनता, शासक वर्ग व्यापारी एवं पूंजीपति वर्ग सभी इसके खिलाफ थे, अतः आन्दोलन स्वाभाविक था।

पुनर्जागरण से लोगों में बौद्धिक चेतना, आलोचनात्मक प्रवृत्ति एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हुआ, इसी काल में मानववादी विद्वानों ने पोप एवं चर्च में फैली बुराइयों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया इससे धर्म के संस्कारों की आलोचना की जाने लगी, इन मानववादी विद्वानों में

'एरैस्मस' प्रमुख था, अपनी रचनाओं से इन विद्वानों ने धर्मसुधार आन्दोलन का मार्ग प्रशस्त किया। यूरोप में एक प्रगतिशील बौद्धिक जाग्रति का उदय हुआ जिससे परंपरागत ज्ञान इस काल के वैज्ञानिक अविष्कारों तथा मानव से सम्बंधित विचारों ने चर्च के वर्तमान स्वरुप पर विचार करने के लिए विवश कर दिया जिससे चिंतन एवं अध्ययन से चर्च के बंधन कमज़ोर पड़ने लगे और चर्च की बुराइयों ने लोगों का ध्यान आकर्षित किया, जिससे धर्मसुधार आन्दोलन को बल मिला।

धर्मसुधार आन्दोलन का तात्कालिक कारण कैथोलिक चर्च द्वारा खुले आम 'क्षमा पत्रों' (Indulgences) का बेचा जाना था। क्षमापत्रों को प्रदान करना कोई नई बात नहीं थी, इसका उद्देश्य था कि भविष्य में पाप न किया जाय। किन्तु पोप लियो दशम ने सेंट् पीटर चर्च के निर्माण के उद्देश्य से धन एकत्र करने के लिए साम्राज्य में क्षमापत्रों की बिक्री शुरू कर दी और टेटजेल पत्र की बिक्री करते हुए कहता था कि इसे खरीदने वाला अपने पिछले पापों से तो मुक्त हो ही जाता है, साथ ही भविष्य के पापों से भी वह मुक्त हो जायेगा तथा जैसे ही धन पेटी में पैसे गिरने की आवाज़ होती है पापी आत्मा नरक से स्वर्ग में चली जाती है।

1517 ई० में जब टेटजेल क्षमापत्रो को बेचता हुआ विटेनबर्ग पहुंचा जहाँ मार्टिन लूथर ने इन क्षमा पत्रों का विरोध किया, जबकि बह स्वयं चर्च का अधिकारी था। उसके विटेनबर्ग के चर्च के द्वार पर 95 आक्षेप लिखकर चिपका दिए तथा पोप की घोर आलोचना की। उसके अनुसार पोप केवल उन्हीं दण्ड को क्षमा कर सकता है जो उसने खुद दिए हों, अथवा जिनको क्षमा करने के लिए धर्मशास्त्रों में लिखा हो। लूथर, ज्विन्गली, कैल्विन आदि के प्रभावशाली विचारों से जल्दी ही सम्पूर्ण यूरोप में विद्रोह कि लहर फ़ैल गयी और चर्च में सुधारों की मांग की जाने लगी। इस प्रकार धर्मसुधार आन्दोलन का आरम्भ हुआ जिसके परिणामस्वरूप इसाई जगत में प्रोटेस्टेंट, प्रेस्बिटेरियन आदि सम्प्रदायों का उदय हुआ और कैथोलिक चर्च कमज़ोर पड़ने लगा। अंततः प्रति धर्मसुधार आन्दोलन के द्वारा पुनः कैथोलिक चर्च की बुराईयों का पुनरुद्धार किया गया।

2.7 डार्विनवाद (नस्लभेद)

मनुष्य जाति के मध्य भेदभाव मानव इतिहास में आरम्भ से ही उजागर होना शुरू हो गया था, जिसे हम मानव दासता के रूप में समझ सकते हैं। जहाँ एक प्रजाति के लोगों को रंग, नस्ल या भौतिक भिन्नता के चलते दासता का दंश सहना पड़ा। नस्लभेद के कारण विश्व अश्वेत लोगों की दासता का साक्षी रहा है। 18वीं–19वीं सदी में अमेरिका में हुए 'अबोलोनिस्ट' आन्दोलन दासता के ही खिलाफ थे। इस प्रकार होने वाले घटनाक्रम ने 20वीं सदी में हो रहे मानव नस्ल के अध्ययन को मूल आधार दिया। नस्लभेद, रंग के भेद से आगे बढ़ कर सांस्कृतिक विभेद के रूप में नज़र आने लगा। 1960 के दशक और उसके बाद बहुत से सामाजिक आन्दोलन (मुख्य रूप से अमेरिका में) हुए, जिनका मुख्य मुद्दा नस्लभेद भी रहा। 20वीं शताब्दी के कुछ देशों ने उग्र राष्ट्रवाद के मद में साम्राज्यवादी विस्तारवाद की नीति को अपनाया।

यदि हम नस्ल की प्रारंभिक परिभाषा को सामने रखें तो यह कह सकतें हैं कि नस्ल सामाजिक संबंधों को बदलने वाली सांस्कृतिक जनजातीय पहचान के रूप में समझा गया, नस्ल एक तरह से उस श्रेणी के रूप में कार्य करने लगी, जिसके आधार पर लोगों के गुण, अवगुण, कामयाबी,

विफलता, उनके चरित्र, संस्कृति और धरोहर का मूल्यांकन होने लगा था, यही नहीं किसी क्षेत्र में विस्थापन और बसासत के अध्ययन में भी नस्ल कारक के रूप में अध्ययन किया जाने लगा। जटिल अथवा बढ़ते मनुष्य समाज में वितरण और संचालन की शक्ति पर शक्तिशाली व्यक्ति या वर्ग अपना अधिकार या नियंत्रण चाहता था, नस्ल के आधार पर भेदभाव करना इसी साजिश का एक पक्ष रहा है।

अगर हम ध्यान दें तो यह पाएंगे कि जहाँ विभिन्न सामाजिक आन्दोलन और सुधारों और सुधारों के चलते निम्न वर्ग के लोगों, जैसे कि मजदूर वर्ग को उनके अधिकार मिलने लग गए थे, लेकिन उसके बाद भी हम यह समझ सकते हैं कि नस्लभेद एक समस्या के रूप में जस की तस बनी रहा। श्वेत मजदूरों को तो अधिकार मिले किन्तु वही अधिकार वास्तविक रूप से अश्वेत लोगो को नहीं मिले, यही नहीं अन्य कई मुद्दों और क्षेत्र में अश्वेत लोगो को इस तरह के नस्लीय भेदभाव का सामना करना पड़ा, जिसका मूल कारण उनका अश्वेत होना था।

जैसा कि हम जानते हैं कि डार्विन ने मानव 'उत्पत्ति का सिद्धांत' दिया है, जिसके अंतर्गत डार्विन मनुष्य और पशु के बीच क्रमबद्ध बदलाव से आधुनिक उत्पत्ति के चक्र पर ध्यान आकर्षित करते हैं। मनुष्य की उत्पत्ति का अध्ययन करते हुए आधुनिक मानव और पशु के बीच 'निम्न नस्ल' की बात सामने आयी। बाद में इस पर ध्यान केन्द्रित कर नस्लवादी विचारकों ने नस्लीय उत्पत्ति के अध्ययन को जारी रखा, वे यह जताने लगे कि कैसे नस्लीय भेदभाव, श्रेष्ठता, नस्लीय वर्गीकरण आदि प्राकृतिक है।

डार्विन के 'प्राकृतिक चुनाव' (Natural Selection) और हर्बर्ट स्पेंसर के 'अति जीविका का सिद्धांत' (Survival of the Fittest) ' जो संघर्ष करके सफल होता है, वह अंत तक बचा रहता है', इसी विचार को नस्लीय रूप दे दिया गया, यही नहीं यह भी जताया गया कि इसी आधार पर संस्कृति, ज्ञान, और मूल्यों का विकास हुआ है।

यदि हम डार्विन के सिद्धांतों को सही तरह से ध्यानपूर्वक पढ़ें तो हमें ज्ञात होगा कि कुदरती चुनाव केवल प्राथमिक चुनाव की प्रक्रिया थी, जिसके चलते पशु जगत से मनुष्य आगे बढ़ गया। मनुष्य पशु से ज़्यादा कुशल (बौध्दिक क्षमता) उन्नत होने के बाद अपनी जैविक कमियां, आपसी सहयोग, सामाजिक व्यवस्था और वैज्ञानिक तौर पर अयोग्य को भी आगे ले जाने में तथा उसका अस्तित्व बनाए रखने में कामयाब हो गया।

हालाँकि समाज में आमतौर पर यह मानसिकता कायम रही कि नस्लों के गुण–अवगुण का चुनाव जीवन के संघर्ष की प्रक्रिया का ही परिणाम है और बाद में समय के साथ–साथ यह लक्षण स्थिर रूप से नस्ल में सदैव के लिए रम गए, हालाँकि इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि मानव सभ्यता का निर्माण हमें यह समझाता है कि मानव निरंतर एक जगह से दूसरी जगह चलता रहा और इस प्रक्रिया में भिन्न समझे जाने वाला इस नस्लों में आपसी मिश्रण होने के अनुमान को नकारा नहीं जा सकता, नस्लीय भेदभाव के चिन्ह स्वरुप सिर की खोपड़ी का आकार, रंग, गर्दन और होंठ आदि की बनावट मुख्य रूप से रहे।

मानव उत्पत्ति के अध्ययन के साथ ही युजिन (Eugenic) विज्ञान मनुष्य के विकास और नस्ल के अध्ययन की एक शाखा के रूप में सामने आया। यह वैज्ञानिक अध्ययन नस्ल के विकास के

कार्यक्रम के रूप में प्रचलित हुआ, नात्सी विचारधारा में भी हम इस तरह की परिभाषा के तहत अपंग लोगों, जिप्सियों, यहूदियों की हत्या और आर्य जाति के वर्चस्व की संकल्पना को जर्मनी में घटित होते देखते हैं। शुरू में यहाँ नस्ल सुधारने की प्रक्रिया चलाई गयी और आगे चलकर नात्सी सरकार ने यहूदीयों का नरसंहार किया। इस तरह आर्य नस्ल की जैविक नस्लीय श्रेष्ठता कायम करने के अभियान ने नस्लवाद को सामाजिक और राजनितिक बुराईयों के रूप में उजागर किया। युजिन विज्ञान के अंतर्गत मानसिक या व्यवहारिक मूल्य और शारीरिक चिन्ह एक मनुष्य और नस्ल में वंशानुगत होते है, इस तरह आरम्भ में ही मानसिक और शारीरिक असमानताओं के रूप में योग्य और अयोग्य लोगो में फर्क किया गया, इसलिए कुष्ठ रोगियों तथा पागलों को समाज का अंग न मानते हुए समाज से अलग–थलग करके रखा गया। समय काल में इस मानसिकता के साथ निचले वर्ग के मजदूर को कमतर समझा जाने लगा और इसलिए उनके साथ सामाजिक राजनैतिक एवं आर्थिक भेदभाव हुआ, जैसा कि औद्योगिकरण के पश्चात स्पष्ट रूप से सामने आया।

शुरूआती दौर के ही हम अनेक एतिहासिक श्रोतों से यह जानकारी प्राप्त करते आये हैं कि किस तरह जाति, राष्ट्र, और क्षेत्रीय श्रेष्ठता की बात कही गयी है। उपनिवेशीकरण के अंतर्गत भी इसी प्रकार की मानसिकता के आधार पर यूरोपीय देश स्वयं को श्रेष्ठ तथा दूसरों को हीन समझते थे। 19वीं सदी में ही इस तरह की विचारधारा सामने आने लगी, जो उपनिवेशीकरण तथा साम्राज्यवाद को सही साबित करती है और इसका मुख्य आधार नस्लीय श्रेष्ठता को ही रखा जाता था। भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार श्वेत नस्ल को मेहनती, संघर्षशील एवं बुद्धि में श्रेष्ठ समझाया गया वहीँ दूसरी ओर अश्वेत लोगों को पशु समान केवल शारीरिक क्षमताओं वाला बर्बर साबित करना, जिनमे आधुनिक सभ्यताओ की क्षमता नहीं थी।

ई.बी.टेलर के अनुसार, निम्न और उच्च नस्लों के बीच में साफतौर फर्क है, मंदबुद्धि वाले बर्बर के पास इतनी वैचारिक क्षमता नहीं है कि वह सभ्य मनुष्यों के मूल्यों के स्तर तक आ सके मानव विज्ञान (Ethnographical / Anthropological Studies) में यह बात सामने लाने का प्रयास किया गया कि मूल निवासी, मनुष्य की उत्पत्ति के पैमाने में सबसे नीचे हैं, उत्पत्ति के सिद्धांतों और अध्ययनों को रचनात्मक रूप से इस्तेमाल करके यूरोपीय एथ्नोग्राफर प्रशासनिक अधिकारियों ने अपने शोषण, व्यवस्थाओं एवं शक्ति को जायज़ ठहराया।

भारत के इतिहास की व्याख्या ब्राह्मणवादी विचारधारा एवं उपनिवेशी काल के यूरोपीय अध्ययन ने भी इसी प्रकार के नस्लभेद को प्रस्तुत किया है, जिसमे आर्य जाति की श्रेष्ठता और द्रविड़ अथवा मूल निवासियों को कमज़ोर और पिछड़ा हुआ समझा गया।

2.8 पवित्र रोमन साम्राज्य

2.8.1 रोमन साम्राज्य का उदय

प्राचीन काल में इटली में एक सभ्यता का जन्म हुआ, जिसे रोम की सभ्यता के नाम से जाना जाता था। इटली की राजधानी रोम थी, क्योंकि इस सभ्यता का केंद्र रोम में था और रोम में सम्पूर्ण रोमन साम्राज्य की आत्मा बसती थी। आरम्भ में रोम एक छोटा सा नगर था, परन्तु समय के साथ इसका

विकास एवं विस्तार होता चला गया। जुलियस सीज़र, आगस्टस सीज़र तथा शार्लमैन ने साम्राज्य के विस्तार की और अपना ध्यान दिया, परन्तु सम्राट ऑगस्टस ने साम्राज्य विस्तार से अधिक साम्राज्य के संगठन को प्राथमिकता दी और अपने सम्पूर्ण साम्राज्य को संगठित कर उसने 'रोमन साम्राज्य' की स्थापना की। परन्तु आगस्टस के पश्चात उसके योग्य उत्तराधिकारी न होने के कारण हूणों एवं बर्बर जातियों के आक्रमण से 395 ई० में रोमन साम्राज्य दो भागों में विभक्त होगया। पूर्वी साम्राज्य की राजधानी रोम थी, तथा पश्चिमी साम्राज्य की राजधानी कुस्तुन्तुनिया (Constantinople) थी। पूर्वी साम्राज्य के अंत से अनेक छोटे–छोटे सामंतों स्वतंत्र राज्य की स्थापना की होड़ में आपस में संघर्ष कर रहे थे। इस संघर्ष में सबसे अधिक सफलता चार्ल्स मार्टल को मिली, इसने 751 ई० तक फ्रांस, बेल्जियम, हालैंड, जर्मनी, एवं आस्ट्रिया पर अधिकार कर उसका सम्राट बन बैठा। इन प्रदेशों के सामंत उसके अधीन कार्य करते थे, इसके पश्चात 768 ई० में शार्लमेन इस विस्तृत साम्राज्य का शासक बना, उसने अपने साम्राज्य का और विस्तार कर 775 ई० तक इटली एवं रोम को भी अपने अधीनस्थ कर लिया, उसका साम्राज्य पुराने रोमन साम्राज्य की याद दिलाता है यद्यपि रोम का राजनैतिक साम्राज्य विनष्ट हो चुका था, परन्तु धार्मिक साम्राज्य अभी भी विद्यमान था। रोम के पोप सम्पूर्ण इसाई जगत के गुरु थे। 795 ई० में पोप के पद पर लियो तृतीय बैठा तो अनेक लोगों ने उसका विरोध किया, उसने इस विरोध को शांत करने के लिए शार्लमेन से सहायता मांगी, जिसके सहयोग से उसने पुनः पोप का पद प्राप्त कर लिया। अतः प्रसन्न होकर 800 ई० में पोप लियो तृतीय ने क्रिसमस के दिन शार्लमेन को रोम का सम्राट घोषित कर दिया, इसके पश्चात 962 ई० में जर्मनी के शासक ऑटो प्रथम ने स्वयं को रोम के शासक के रूप में स्थापित किया। इसी के समय से रोम का साम्राज्य 'पवित्र रोमन साम्राज्य' तथा इसका शासक 'पवित्र रोमन सम्राट' कहा जाने लगा। यह साम्राज्य सारे मध्य यूरोप विशेषकर जर्मन भाषी क्षेत्र में फैला था और लगभग यह नियम सा बन गया कि जर्मनी के शासक का इटली एवं रोमन राजाओं पर भी अधिकार होता था। इस युग में शासक स्वयं रोमन चर्च से अत्यंत प्रभावित थे, जिसका फायदा पोप ने उठाया और चर्च एवं उसकी शक्ति को इतना बढाया कि वह राज्य से मुकाबला करने में सक्षम हो सके। हम देखते हैं कि कुछ ही समय में पोप एवं चर्च राज्य पर हावी होने लगे। मध्य युग में ही सामंतवाद का भी जन्म हुआ, अतः राज्य एक ओर सामंतों एवं दूसरी ओर चर्च से घिर गया था जिससे रोमन सम्राट की स्थिति कमज़ोर हो गयी। वोल्तेयर कहता है कि "यह न पवित्र है, न रोमन है, न ही साम्राज्य" जो कि सत्य ही था।

2.8.2 रोमन साम्राज्य और पुनर्जागरण काल

रोमन साम्राज्य को यदि करीब से देखा जाय तो यह अनेक राज्यों का समूह था। आस्ट्रिया, हंगरी, के अलावा इटली के उत्तरी क्षेत्र आदि पर भी उसका शासन था। अन्य राज्य पूरी तरह से स्वतंत्र थे। इस क्षेत्र के सात प्रमुख शासक, मैंत्स, ट्रायर, कोलने के आर्च बिशप तथा बोहेमिया, प्रशा, पैलेटाईन और सैक्सनी के शासकों को सम्राट चुनने का अधिकार था। इन्हें इलेक्टर कहा जाता था, इनकी संख्या बाद में बढा दी गयी परन्तु यह नाम मात्र का चुनाव होता था क्योंकि हमेशा

हैप्सबर्ग परिवार के सदस्य ही सम्राट चुने जाते थे और 'डायट' नामक प्रतिनिधि संस्था पूरे जर्मन क्षेत्र की नीतियों का निर्धारण करती थी। डायट में इलेक्टर के भी सदस्य होते थे और साथ ही सामंत एवं धर्माधिकारी वर्ग भी शामिल होते थे लेकिन सम्राट महत्वपूर्ण था उसकी बाते महत्वपूर्ण थीं, परन्तु सम्राट को सामंतों की सहायता पर निर्भर होना पड़ता था, अतः रोमन साम्राज्य शक्ति का नहीं बल्कि एकता का प्रतीक बन गया था।

पुनर्जागरण के पश्चात जब राष्ट्रीय राज्यों का उदय एवं पूंजीवादी व्यवस्था का विकास हो रहा था, तो अन्य अनेक यूरोपीय राज्यों का संगठन बढ़ा परन्तु पवित्र रोमन साम्राज्य का विघटन आरम्भ हो गया। पुनर्जागरण का युग इस साम्राज्य के लिए खतरा बन कर आया क्योंकि यही साम्राज्य सबसे अधिक कमज़ोर था और आस्ट्रिया तक सीमित होकर रह गया और स्पेन, फ्रांस, इंग्लैण्ड तथा बाद के वर्षों में इटली एवं जर्मनी विश्व पटल पर स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में उभरे।

2.8.3 साम्राज्य का पतन

अनेक यूरोपीय राज्यों के उत्थान के बाद 19वीं शताब्दी में जब नेपोलियन द्वारा जर्मनी का एकीकरण किया गया तब अंतिमरूप से पवित्र रोमन साम्राज्य का अंत हो गया, अनेक जर्मन जातियों ने रोमन साम्राज्य से स्वयं को अलग करके नेपोलियन की अधीनता स्वीकार की औरं रहाइन के राज्यसंघ (कन्फिडरेशन) का निर्माण किया, जो फ्रांस के संरक्षण में बना था, यह साम्राज्य अब नाम मात्र का रह गया इसके अधिकांश राज्य अब तक स्वतंत्र हो चुके थे। आस्ट्रिया का शासक, हंगरी, बोहेमिया, कोटिया, गेलेसिया आदि का भी सम्राट था, और पवित्र रोमन सम्राट के गौरवशाली पद को भी प्राप्त किये हुए था परन्तु अब उसका महत्व नहीं रह गया, उसकी सत्ता को अस्वीकार कर दिया गया था। अतः 6 अगस्त 1806 को उसने खुद ही इस प्राचीन महान पद का परित्याग कर दिया, अब आस्ट्रिया का शासक पवित्र रोमन सम्राट नहीं था, और न ही कहीं पवित्र रोमन साम्राज्य रहा।

अभ्यास प्रश्न

1. प्रश्न– हर्बर्ट स्पेंसर का सामाजिक डार्विनवाद सिद्धांत क्या है?
2. प्रश्न– पूर्वी रोमन साम्राज्य की राजधानी क्या थी?
3. प्रश्न– मैक्यावेली ने अपने किस ग्रन्थ में 'राष्ट्र' की अवधारणा को बताया है?
4. प्रश्न– प्रोटेस्टेंट संप्रदाय के जन्मदाता कौन हैं?

2.9 विशेष शब्दावली

- क्षमापत्र : पोप द्वारा धन लेकर पापों से मुक्ति के लिए दिया गया पत्र, जो उसकी आत्मा के स्वर्ग तक ले जाने का जरिया अथवा प्रमाण था, जिसके खिलाफ मार्टिन लूथर ने आवाज़ उठाई, और कैथोलिक चर्च की बुराइयों को ख़त्म करने की मांग करी।
- प्रेस्बिटेरियन : 1563 ई० में इंग्लैण्ड के राष्ट्रीय चर्च की स्थापना से असंतुष्ट ईसाईयों ने एक नए दल की स्थापना की जो इंग्लैण्ड के चर्च की व्यवस्था का प्रबंध बुजुर्गों के हाथों में चाहते थे, यही दल प्रेस्बिटेरियन कहलाया।

- अपार्थाइड :यह मुख्यतः अफ्रीका में होने वाली रंग भेद नीति है अर्थात जाति या नस्ल के आधार पर अलगाव, 1991 ई० तक दक्षिण अफ्रीका संघ में गोरों, कालों, एवं रंग के आधार पर एक–दूसरे से अलग करने के लिए व्यवहार में लायी गयी नीति।

2.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. उत्तर– हर्बर्ट स्पेंसर के 'अति जीविका का सिद्धांत' (ैनतअपअंस वि जीम थ्पजजमेज) को सामाजिक डार्विनवाद कहते हैं, उनके अनुसार जो जीवन में संघर्ष करके सफल होता है, और संघर्ष करता रहता है, वही अंत तक बचा रहता है।

2. उत्तर– पूर्वी रोमन रामराज्य की राजधानी कुस्तुन्तुनिया (ब्वदेजंदजपदवचसम) थी, जिसका अंत 1453 ई० में तुर्कों के आक्रमण से हो गया था। इतिहासकार इसी घटना से आधुनिक युग का आरम्भ मानते हैं।

3. उत्तर– मैक्यावेली इटली का विद्वान था, उसने अपनी रचना 'द प्रिंस' में देशभक्त राजा की कल्पना कर राष्ट्रीय राज्यों के उत्थान की बात कही, उसने राष्ट्र हित की दृष्टि से राजतन्त्र को आवश्यक बताया, उसकी यही पुस्तक राजाओं के लिए बाइबिल बन गयी।

4. उत्तर– मार्टिन लूथर को प्रोटेस्टेंट वाद का जनक कह सकते हैं, उसने ही सबसे पहले कैथोलिक चर्च एवं पोप में व्याप्त बुराइयों को जनता के समक्ष लाने का प्रयास किया और एक नए संप्रदाय प्रोटेस्टेंट का जन्म हुआ।

2.11 संदर्भ ग्रंथावली

- गुप्ता पार्थसारथी, यूरोप का इतिहास, दिल्ली विश्वविद्यालय पुनर्मुद्रण 1992
- जैन, हुकुम चंद, माथुर, कृष्ण चंद, आधुनिक विश्व का इतिहास,(1500–2000ई.),पंद्रहवां संस्करण, जैन प्रकाशन मंदिर,जयपुर, 2010.
- सिन्हा, बिपिन बिहारी, 'प्राचीन एवं मध्य कालीन इतिहास' ज्ञानदा प्रकाशन, नई दिल्ली.
- Sinha, Arvind, Transition in Europe, New Delhi.

2.12 प्रस्तावित अध्ययन सामग्री

Encyclopedia of world History, An ed- William L, Langer, Boston, 1980.
http@www-nationalarchives.gov.uk
http@wwwhistory-ac-uk@

2.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. प्रश्न– पुनर्जागरण से क्या तात्पर्य है? संक्षेप में पुनर्जागरण तथा धर्मसुधर आन्दोलन के संबंधों को स्पष्ट कीजिये?

2. प्रश्न– पवित्र रोमन साम्राज्य की सामान्य दशा का वर्णन करते हुए इसके क्रमिक पतन का विवरण दीजिये?

इकाई –3 नारी अधिकार, संसदीय लोकतंत्र, महाद्वीपीय व्यवस्था, फासीवाद, नाजीवाद और साम्राज्यवाद

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 नारी अधिकार
3.3.1 महिला अधिकारवाद / स्त्रीवाद
3.4 संसदीय लोकतंत्र
3.5 महाद्वीपीय व्यवस्था
3.6 फासीवाद
3.7 नाजीवाद
3.8 साम्राज्यवाद
3.8.1 साम्राज्यवाद रू सिद्धांत एवं विचारधारा
3.9 अभ्यास प्रश्न
3.10 विशेष शब्दावली
3.11 अभ्यास प्रश्न उत्तर
3.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.13 प्रस्तावित अध्ययन सामग्री
3.14 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में मध्यकालीन यूरोपीय समाज से आधुनिक काल के समाज,संस्कृति के सम्बन्ध में प्रचलित शब्दावली, कुछ प्रमुख विचार तथा संकल्पनाओं को विस्तार से समझाने का प्रयत्न किया गया है। मध्यकालीन यूरोपीय समाज को आधुनिक युग की ओर ले जाने वाली घटनाएं, जिसने समाज के प्रत्येक वर्ग को प्रभावित किया, उन्हें सुगम एवं सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया है। इन संकल्पनाओं, विचारों की यदि बात की जाए तो हम देखते है कि अनेक विचार तथा शब्दावलियों को विस्तार से समझाना आवश्यक हो जाता है, ताकि विद्यार्थियों को आगे भविष्य में इन प्रमुख शब्दों को लेकर किसी प्रकार की कोई परेशानी न हो और र्विद्यार्थी में इन शब्दों को लेकर कोई भ्रम को स्थिति न रहे अर्थात इन शब्दों, विचारों को समझने के सम्बधं में उनका आधार मज़बूत हो सके और जिससे कम शब्दों में वे इन प्रमुख शब्दों को समझ कर उसका विश्लेषण कर सकें। आधुनिक विश्व के इतिहास को पढ़ते हुए विद्यार्थी कई बार कुछ विचारों, संकल्पनाओं को लेकर असमंजस की स्थिति में रहते हैं और सही तरह से तथ्यों को नहीं समझ पाते हैं। इसी बात को ध्यान में रखते हुए यहां उन विचारों, संकल्पनाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है ताकि विद्यार्थी सही तरह से घटनाओं को समझ सकें।

3.2 उद्देश्य

- विद्यार्थी इन संकल्पनाओं,विचारों एवं शब्दावली का सरल एवं सुगम भाषा में अध्ययन कर सकेंगे।
- इसके अध्ययन से विद्यार्थी का विषय से सम्बंधित आधर मज़बूत हो सकेगा, जिससे वे अपनी समझ का विकास कर सकेंगे।
- विद्यार्थी इस प्रकार से शब्दावली, विचार एवं संकल्पनाओं का अध्ययन कर कम से कम शब्दों में अपनी बात को समझा सकेंगे।

3.3 नारी अधिकार

हाल ही के समय तक महिलाओं की अभिरुचियों, लगाव और मुद्दे को राजनीति के दायरे में नहीं रखा जाता था। जिसके मुख्य कारण थे; लिंग के आधार पर निजी और सार्वजनिक क्षेत्र का विभाजन तथा राजनीति और भाषा की पितृसत्तात्मक अवधारणा।

समाज में महिलाओं को समान न्यायिक अधिकार नहीं थे। उनको मतदान का अधिकार नहीं था, विवाहित महिलाओं का सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं था और जिन स्त्रियों के पास संपत्ति थी उन्हें संपत्ति कर देना पड़ता था। पति को अपनी पत्नी पर इतना सामाजिक और व्यक्तिगत अधिकार था की वह उन्हें दण्डित, प्रताड़ित कर सकते थे, तलाक के क़ानून और तलाक के बाद बच्चों पर अधिकार सम्बंधित नियम पुरुष के ही पक्ष में थे। घर से बाहर काम–धंधे स्त्रियों के लिए बंद ही थे। कुलीन वर्ग की स्त्रियों को जो शिक्षा और दक्षता प्रदान की जाती थी उसका भी उद्धेश्य उनको अच्छे घराने की गृहणी बनने के अवसर प्रदान करना था, जो दयावान, पवित्र, घरेलू और समर्पण करने वाली हो। स्त्रियों के लिए घर का निजी परिवेश जहाँ वह सुरक्षित थी, उत्तम माना गया था, जबकि सार्वजनिक क्षेत्र पुरुषों के लिए था।

स्त्रियाँ जब बाहर या कारखानों में काम करने लगी तो उन्हें पुरुषों की तुलना में केवल आंशिक ही वेतन मिलता था। स्त्रियों को विधि, और चिकित्सा के व्यवसाय के लिए उपयुक्त नहीं समझा जाता था। स्त्रियों को शिक्षा के भी अवसर मुश्किल से ही प्राप्त होते थे। इस व्यवस्था के अंतर्गत ऐसी संस्कृति का बोलबाला रहा जिसमें स्त्री पूर्णतः पुरुषों पर निर्भर रही। आधुनिक युग के क्रांतिकारी दौर में भी स्त्रियों की भूमिका एक आदर्श माँ की थी जो भविष्य के आदर्श नागरिकों का पलान–पोषण करें।

3.3.1 महिला अधिकारवाद / स्त्रीवाद

शुरुआती दौर में स्त्रीवाद का सिद्धांत नारी को एक भिन्न जैविक संरचना के चलते पुरुष से अलग श्रेणी के रूप में समझता था बाद में यह विचार सामने आ गया की स्त्री की परिकल्पना सामाजिक, मनोवैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक है, जिसका मुख्य कारण पितृसत्तात्मक और पुरुष प्रधान समाज है। ऐसी सामाजिक व्यवस्था के चलते स्त्री को हमेशा समाज मे दूसरे दर्जे का माना गया। स्त्रीवादियों

का लक्ष्य स्त्री को ऐसी सामाजिक व्यवस्था से संघर्ष कर मुक्त करवाना और समानता का दर्जा प्राप्त करवाना रहा। स्त्रीवाद के मूल में सबसे अहम् पहलू रहा कि समाज में स्त्री को मनुष्य के रूप में स्वीकारा जाए न कि दूसरे दर्ज़े के लिंग के रूप में।

नारी स्वतन्त्रता आन्दोलन की तीन मुख्य लहर रहीं।

1) 19वीं –20 वीं सदी, जिसका मुख्य लक्ष्य राजनैतिक समानता (मतदान का अधिकार) था। 1920 में मताधिकार प्राप्त कर, 1960 के दशक में दूसरी लहर चली।
2) 1960–1980, यह समय सामाजिक और सांस्कृतिक समानता के संघर्ष और राजनीतिक क्रांतियों का दौर था।
3) 1990 से अबतक

मैरी वोलस्टोनक्राफ्ट (Mary Wollstonecraft) आधुनिक नारीवाद की अग्रदूत मानी जाती हैं। अपनी पुस्तक ' ए विंडीकेशन ऑफ़ दी राइट्स ऑफ़ वीमेन ' (1792) में उन्होंने रुसो के आदर्श शिक्षा के दर्शन का खंडन किया, जिसके अंतर्गत लड़कों में, विचारों में स्वातंत्र्य और निर्णय लेने की क्षमता का विकास करना तथा लड़कियों को आज्ञाकारी, पतिव्रता और सद्गुणी पत्नी के रूप में विकसित करना था। मैरी बल देकर यह कहती हैं कि स्त्रियों के राजनैतिक अधिकार न देने के पीछे कोई तार्किक आधार नहीं हैं, सदियों से स्त्रियों की क्षमता को नज़रअंदाज़ कर उनके अन्दर आभासी हीनता का विकास हो गया है। वह कहती हैं कि मेरी इच्छा यह नहीं कि महिलाओं का पुरुषों के ऊपर वर्चस्व हो बल्कि वह अपने नियंत्रण, अधिकार अपने पास रख सकें यही आवश्यक है।

एलिज़ाबेथ स्टनटोन (Elizabeth Stanton) की पुस्तक 'डिकलारेसन ऑफ़ सेंटिमेंटस' 1848 में सामने आयी, वह संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में महिला मताधिकार आन्दोलन की अग्रणीय रही। उन्होंने मानव के इतिहास को स्त्री के प्रति पुरुष का बारम्बार चोट और विघटन का इतिहास माना है, जिसका सीधा उद्देश्य पुरुष का स्त्री के ऊपर परम भय का निर्माण करना था।

सिमोन द बोउआर की पुस्तक 'द सेकंड सेक्स' (1949) समाज का लैंगिक विभेद एवं स्त्री का वस्तुकरण तथा नारी में नारीत्व का निर्माण एवं नियंत्रण करने की परम्परा को ही नारी की दुर्दशा का कारण मानती है, यानि स्त्री पैदा नहीं होती बल्कि बनाई जाती है। सिमोन अस्तित्वादी और चयन की नैतिकता पर बल देती है। वह स्त्री को अपने आत्म–अनुभवों के अनुरूप कार्य करने का आहवान करती है, और चाहती हैं की स्त्रियों को यौन स्वतंत्रता भी हासिल करनी होगी तभी वह पूर्णता मुक्त हो सकती है, फिर चाहे यौन–सम्बन्ध में वह खुद 'ऑब्जेक्ट' बनने की उसकी अपनी इच्छा ही क्यों न हो।

हेलेन फ़िशर ने अपनी पुस्तक 'द फर्स्ट सेक्सरू द नेचुरल टैलेंट ऑफ़ वुमन एंड हाउ दे आर चेंजिंग द वर्ल्ड ' में नारी को प्रथम दर्जे के लिंग का माना उन्होंने मानव उत्पति एवं विकास के डार्विन सिद्धांत को चुनौती देते हुए उसे गलत ठहराया। उनका मानना था की स्त्री का मष्तिष्क पुरुष से बेहतर होता है और स्त्री की इन्द्रियां पुरुषों की तुलना में बेहतर कार्य करती हैं तथा स्त्रियाँ दीर्घकालीन योजनाएं बना और संचालित कर पाती हैं।

1963 में बेट्टी फ्रीडन की पुस्तक 'द फेमिनिन मिस्टीक' के साथ ही दूसरी लहर की शुरुआत मानी

जाती है। उन्होंने 'नेशनल आर्गनाइज़ेशन ऑफ़ विमेन' की स्थापना भी की। उनका मानना था की अमेरिकी घरों में महिलायें बंदी की भांति हैं जिन्हें सभी सुख उपलब्ध हैं लेकिन उनके जीवन में सूनापन है, परिवार की जिम्मेदारियों के अलावा उनकी जीवन की सार्थकता शून्य ही है। स्त्रियों को अपने मन की आवाज सुन कर ही अपने अकेलेपन और शुन्यता को भरना है। वह चाहती थी की समाज यह समझे की स्त्रियाँ अपने परिवार के इतर कुछ और भी चाहती है।

स्त्रीवाद की तीसरी लहर में पहले के महिला अधिकारवाद की बड़ी खामी सामने आयी, जहाँ अश्वेत, निम्नवर्गीय स्त्रियों और तीसरी दुनिया की स्त्रियों को यह नज़रंदाज़ करती रही। साथ ही नयी प्रौद्धोगिकी एवं नयी अर्थ–व्यवस्था से घिरी स्त्रियों की समस्याओं पर भी ध्यान देने में सक्षम नहीं रही थी। अब उतर–आधुनिकता के तहत अस्मिता की राजनीति तथा बहुलसंस्कृतिवाद पर अधिक बल दिया गया। अश्वेत महिलाओं की इसमें विशेष भूमिका रही तथा स्त्रीवाद दुनिया के अन्य देशों में फैला।

1776–1807, न्यू जर्सी संपत्ति धारी महिलाओं को मतदान का अधिकार ।

1848, सेनेका फाल महिला अधिकारवाद की पहली सार्वजनिक शुरुआत। (seneca fall women rights convention)

1890, राष्ट्रीय अमेरिकन महिला मताधिकार एसोसिएशन।

1913, illinois state पहला राज्य जहाँ महिला मताधिकार दिया गया, राष्ट्रीय महिला दल बना।

1920, 19वां संशोधन लिंग के भेदभाव के बिना मताधिकार अमेरिकी संविधान का हिस्सा बना।

1923, समान अधिकार संशोधन की मांग सभी प्रकार के लिंग आधारित भेदभाव के खिलाफ था।

1928, महिलाओं को ओलिंपिक में भाग लेने की अनुमति)।

1963, समान वेतन अधिकार।

1964, लिंग, रंग, धर्म इत्यादि के आधार पर भेदभाव न हो, नागरिक अधिकार अधिनियम पारित।

1966, राष्ट्रीय महिला संगठन बना।

(सारणी.1) सयुंक्त राज्य अमेरिका महिला अधिकारवाद से जुड़े कुछ तथ्य।

महिला अधिकारवाद की यह विजय रही कि राजनीतिक एवं संवैधानिक समानता को बहुत हद तक हासिल किया जा सका और इस दिशा में अथक प्रयास जारी है।

3.4 संसदीय लोकतंत्र

ब्रिटिश संसदीय लोकतंत्र की उत्पत्ति –

इंग्लैंड में आधुनिक संसद के रूप में लोकतांत्रिक व्यवस्था की शुरुआत 13वीं सदी से मानी जा सकती है। जन प्रतिनिधित्व विचार के आधार पर ही अंग्रेज नागरिक अधिकारों की बुनियाद तय की गयी थी। 1215 में मैग्नाकार्टा द्वारा राजा जॉन ने यह स्वीकार कर लिया कि किसी भी अहम फैसले से पहले वह अपने सामंतों से सलाह करेगा (खासकर करों से सम्बंधित मामलों में)। मैग्नाकार्टा घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर करने के साथ यह तय हो गया कि इंग्लैंड की जनता पर अब से पक्के कानूनों से ही शासन किया जायेगा। इस समय से लार्ड (lords), बिशप (Bishops), और अब्बोट (Abbots) 'रॉयल कौंसिल' में राजा से निरंतर ही मिलने लगे थे। आगे चल कर 'रॉयल कौंसिल' ने ही 'हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स' का रूप ले लिया।

(1272–1307) एडवर्ड प्रथम के समय व्यक्तिगत स्तर पर एवं संगठनों द्वारा अर्जी दायर कर संसद से अनुरोध, अपने लिए समर्थन, न्याय और दोबारा से समस्या पर नजर डालने की कोशिश होने लगी थी, अर्जी दायर करना संसद के सशक्तिकरण का एक अहम् पहलु बना था। अर्जियों पर ध्यान देने के कारण संसद को उच्च–न्यायालय का दर्ज़ा हासिल हुआ। हालांकि अभी भी राजा और रॉयल कौंसिल ही संसद के मुख्य केन्द्र थे। धीरे–धीरे यह विचार उभर के सामने आने लगा कि समाज और न्याय के ढांचे में किसी प्रकार के बड़े बदलावों के लिए पहले संसद में अधिनियम को पारित कराया जाय।

13वीं सदी के अंत में यह विचार जोर पकड़ने लगा था कि संसद की रजामंदी के साथ ही राजा द्वारा करों में हेर–फेर किया जाय। एडवर्ड प्रथम के काल में निरंतर युद्ध के कारण राजा को विवश होकर संसद से कर लगाने के लिए मंजूरी लेनी पड़ी। परिणाम स्वरुप कर निर्धारण और प्रतिनिधित्व परस्पर सम्बंधित हो गये। राज्य के निवासियों की सहमति को ध्यान में रख कर ही संसद राजा को यह छूट दे सकती थी कि वह उनकी भूमि और मदों पर कर लगाए, यह मूर्तरूप में 1362 में अधिकृत किया गया।

14वीं सदी में संसद समाज के तीनों वर्गों (Lord, Clergy and Commons) को सम्मिलित करने लगी थी, शक्तिशाली लार्ड वर्ग राजा की शक्ति को सीमित करने के लिए अध्यादेश लाया, 1322 में संसद ने इस अध्यादेश को हटा दिया क्योंकि इसको केवल कौंसिल ऑफ़ लॉड्र्स की ही सहमति मिली थी। इसके बाद से यह तय हो गया कि संसद में सभी मुख्य मुद्दों पर प्रतिक्रिया राजा और उसके शासन क्षेत्र के सभी लोगों के बीच के समझोते पर आधारित होंगे। किसी एक वर्ग के नेतृत्व और सुझाव में आकर संसद कार्य नहीं करेगी। 14 वीं सदी के अंत में संसद द्वारा राजसत्ता की आलोचना और मंत्रियों के चुनाव का अधिकार बढ़ने लगा था। संसद ने पहली बार महाभियोग 'प्उचमंबीउमदज' का उपयोग कर हाउस ऑफ़ कॉमन्स ने किसी अभियुक्त को परिक्षण के लिए हाउस ऑफ़ लॉड्र्स में प्रस्तुत किया था।

हेनरी प्ट के शाही तख़्त पर बैठने के समय इंग्लैंड में राजसत्ता पाने के लिए संघर्ष चल रहा था। इसी दौरान संसद राजा से अधिक रियायतें लेने में कामयाब हो गयी थी। 1407 में हाउस ऑफ़ कॉमन्स ने यह बात रख दी कि करों के सभी अनुदान की उत्पत्तियां या निर्धारण उनके यहाँ से ही हो। 1414 में विधियों को पारित करने के लिए हाउस ऑफ़ कॉमन्स को हाउस ऑफ़ लॉड्र्स के समतुल्य का महत्व और स्थान मिल गया था। यह एक महत्वपूर्ण कदम था जिसके द्वारा अधिक से अधिक जनता की आवाज को स्वीकृत किया जा सके और जनता को ज्यादा प्रतिनिधित्व मिल सकता था।

हेनरी VIII के शासन काल में संसदीय अधिनियमों ने आधुनिक इंग्लैंड की रूपरेखा तैयार करने में मदद की। अंग्रेज़ समाज में बड़े परिवर्तन करने के लिए संसद की शक्ति का उपयोग किया गया, जैसे मठों को तोड़ने तथा इंग्लैंड में चर्च का निर्माण। इसके कारण उत्तरी क्षेत्रों में 1536 पिल्ग्रिमेज ऑफ़ ग्रेस (Pilgrimage of Grace) नामक विरोध भी हुए और इसी समय 1536–43 के एक्ट ऑफ़ यूनियन अधिनियम से वेल्स को इंग्लैंड के साथ सम्मिलित कर लिया गया था।

ट्युडर काल में हाउस ऑफ़ कॉमन्स में हो रही गतिविधियों का विस्तारपूर्वक दस्तावेज तैयार किया

जाने लगा था, 1586 में यह भी तय हो गया कि विवादित चुनावों का फैसला स्टैंडिंग कमेटी किया करेगी। हालांकि अभी भी सांसदों को शासक द्वारा बुलाया जाता रहा, लेकिन संसद इस बात को लेकर गंभीर थी कि वह अपने आप को राजा से मुक्त कर सके।

1621 में जेम्स प्रथम ने राजा के दिव्य अधिकारों के तहत संसद के ऊपर होकर कार्य करने की कोशिश की लेकिन इससे हर बार संसद से उसका टकराव होता रहा, संसद हमेशा राज्य की विदेश नीति में हस्तक्षेप को अपना अधिकार मानती रही। जेम्स प्प ने दिव्य अधिकार को दोबारा लागू करना चाहा और डिक्लरेशन ऑफ़ इंडलजेनस 'Declaration of Indulgence' पारित किया। परिणाम स्वरूप संसद से उसका टकराव हुआ और इंग्लैंड में गृह युद्ध शुरू हो गया।

इस के बाद पुनर्स्थापना काल में 1679 में हबेस कार्पस 'Habeas Corpus' अधिनियम पारित हुआ जिसके अनुसार किसी भी व्यक्ति को बिना आरोप पत्र के गिरफ्तार नहीं किया जा सकता था उन्हें अपने ऊपर चल रहे मुक़दमे को जल्दी कराने या जमानत पर रिहा होने का अधिकार था।

1688 की 'गौरवपूर्ण क्रांति' ने संसदीय लोकतंत्र के निर्माण में अहम भूमिका निभाई। अब संसद परम राजनीतिक संस्था के रूप में कायम हो गयी थी। जेम्स प्प के खिलाफ़ हुए विद्रोह के बाद इंग्लैंड का राजतन्त्र उसके दामाद विलियम और बेटी मेरी के हाथों में चला गया। 1689 में इन दोनों ने 'बिल ऑफ़ राइट्स' को स्वीकृत कर लिया और शपथ ली कि वह संसद द्वारा अधिकारों की घोषणा की रक्षा करेंगे। इसके साथ ही उत्तराधिकार की समस्या का भी समाधान हो गया। अब से कोई भी रोमन कैथोलिक शाही ताज नहीं पहन सकता था। इसी समय मंत्रिपरिषद 'बंइपदमज' प्रणाली शुरू की गयी।

18 वीं सदी के अंतिम दशकों में अमेरिका ब्रिटेन, तथा फ्रांस में होने वाली क्रांतिकारी घटनाओं एवं बदलावों के चलते आधुनिक राज्यों का उदय हुआ। यह राज्य जनता को अधिक प्रतिनिधित्व देने के दावे पर आधारित थे। लोकतंत्र के निर्माण में अब राजनीतिक दलों ने महत्व पूर्ण भूमिका निभानी शुरू कर दी, यह दल अपनी विशेष वैचारिक स्थिति के लिए तथा उसके साथ ही स्वयं अपने लिए भी जानता के बीच पैंठ बनाने का प्रयास करते रहे।

1707 में पारित अधिनियम 'एक्ट ऑफ़ यूनियन' के साथ ही स्कॉटलैंड और इंग्लैंड की संसद एक हो गई थी। 1832 और 1867 के सुधार अधिनियमो के अंतर्गत मुख्यता चुनाव क्षेत्रों को सही प्रकार से चुनावी सीटों का बंटवारा करना गाँव के साथ शहरों को सही अनुपात में अवसर देना तथा मतदान करने के लिए तय की गयी आवश्यक अहर्ताएं को कम करना था ताकि ज्यादा लोग मतदान कर सकें। 1832 के सुधार द्वारा लगभग 300,000 पुरुषों को मताधिकार मिला, इसके द्वारा भूमि अधिकरी वर्ग के अलावा उद्योग–धंधे में लिप्त लोगों का भी संसद में प्रतिनिधित्व बढ़ाने का प्रयास किया गया और पहले की तुलना में कम संपत्ति और आय वाले लोगों को भी मताधिकार मिला। 1867 के सुधार अधिनियम से श्रमिक वर्ग को भी मताधिकार मिल गया।

1911 के संसद अधिनियम द्वारा लॉर्ड्स के सदस्यों को वित्त बिल को खारिज़ करने और हथियार रखने के अधिकार से वंचित कर दिया। कॉमन्स द्वारा पारित कोई भी अन्य बिल भी तीन बार पारित करने के बाद लॉर्ड्स द्वारा खारिज़ नहीं किया जा सकेगा। 1918 में 21 वर्ष से बड़े उम्र के पुरुष और 28 वर्ष से बड़ी महिलाओं को मताधिकार मिला, 1928 में 21 वर्ष से बड़ी महिलाओं को भी मताधिकार मिल गया।

हमने देखा कि किस तरह मजदूरों, स्त्रियों और जन सामान्य के हितो की रक्षा, समान कानूनी व्यवस्था एवं सरकार अथवा सत्ता में सबके हितों का प्रतिनिधित्व करने और राजतन्त्र की जगह लोकतांत्रिक सत्ता का निर्माण किया गया। हाउस ऑफ़ कॉमन्स का शक्तिशाली होना राजनीतिक दलों का निर्माण और उनका जनसाधारण से समर्थन अर्जित करना तथा संसद में संविधानिक रूप से जनहित में कानून और व्यवस्थापक परिवर्तन करना ब्रिटेन में संसदीय लोकतंत्र के कायम होने के प्रमुख तत्व थे। मुख्यमंत्री, मंत्रिमंडल, कार्यपालिका संविधान और संसद ही सबकुछ निर्धारित करने लगी थी। निरंतर प्रयास रहा कि कैसे प्रजातांत्रिक शासन अथवा राज्य बने।

3.5 महाद्वीपीय व्यवस्था

महाद्वीपीय व्यवस्था द्वारा नपोलियन ब्रिटेन की आर्थिक शक्ति को क्षीण करना चाहता था, ताकि वह यूरोप में अपने साम्राज्य को बढ़ा सके। फ्रांस और ब्रिटेन दोनों ही एक दूसरे की राजनीतिक और व्यापारिक साख धूमिल करना चाहते थे।

ब्रिटेन को आधुनिक कारथेज के रूप में देखा जा रहा था, जो दमनकारी था और केवल मुनाफ़े के लिए पूरे यूरोप की घेरेबंदी कर रहा था। ब्रिटेन की समुंदरी बेड़े का लोहा दुनिया मान चुकी थी। स्पेनिश नौ–सैना को विफल कर समुन्द्र पर अब ब्रिटेन का राज था। समुंदरी व्यापार में उसका एकाधिकार होता जा रहा था, औदद्योगिक क्रांति के बाद यूरोप सस्ते कपड़े का निर्माण भी करने लगा था। नेपोलियन ने ब्रिटेन को बनियों के देश की संज्ञा दी थी। उसने ब्रिटेन विरोधी खेमा बनाने का प्रयास किया।

नेपोलियन ने नवंबर 1806 (Berlin decree) बर्लिन की आज्ञप्तियों द्वारा ब्रिटिश द्वीप समूह के विरुद्ध रोकथाम कर दी, फ्रांस साम्राज्य के साथ ब्रिटेन का हर तरह के वाणिज्यिक, कारोबारी संपर्क रोक दिए गए थे। ब्रिटेन और उसके उपनिवेशों से आने वाले माल के व्यापार पर रोक लगा, यह आदेश भी दे दिया गया कि फ्रांस की सीमा में आने वाले ब्रिटिश और उसकी बस्तियों का माल जहाजों से जब्त कर लिया जाए। 1807 की टिलसिट की संधि के बाद रूस और ऑस्ट्रिया भी इसी व्यवस्था में शामिल हो गए।

युद्ध के माहौल में ब्रिटेन ने भी नेपोलियन के महाद्वीपीय व्यवस्था के जवाब में आर्थिक प्रतिबंध लागू कर दिए, ताकि वह अपने दुश्मन की वाणिज्यिक गतिविधियों को रोक सके उसने ने भी जवाब में तटस्थ राज्यों के जहाजों को यूरोप में व्यापार करने हेतु ब्रिटिश बंदरगाहों से लाइसेंस प्राप्त करने की शर्त लगा दी। साथ ही यह आग्रह किया कि वह उसके प्रभाव क्षेत्र में प्रवेश के लिए इंग्लंड के बंदरगाहों में रूकें, ताकि ब्रिटिश उनसे चुंगी कर वसूल कर सके और उनपर अपना सामान लाद सके।

नेपोलियन ने 1807 में फोंतेब्लों (Fontainbleau) और मिलान आज्ञप्तियों के द्वारा यह चेतावनी प्रसारित कर दी कि जिन निरपेक्ष रज्यों के जहाज़ ब्रिटेन के साथ व्यापार करेंगे, वह फ्रांस द्वारा ब्रिटिश जहाज समेत कब्ज़े में कर लिए जायेंगे। 1810 में नेपोलियन ने 'त्रीयवों टैरिफ' (Triavon Tariff) लगा दिया, फ्रांस भी अब लाइसेंस देने लगा और औपनिवेशिक मॉल पर 'टैरिफ' लगा

दिया। 1810–1812 में फ्रांस में आर्थिक मंदी का दौर चला और नेपोलियन को ही इसका दोषी समझा गया। इस बीच जल्द ही स्पेन, स्पेन की बस्तियां और पुर्तगाल फ्रांस के नियंत्रण से अलग होकर ब्रिटेन के साथ व्यापार करने लगी। तुर्की और रूस भी जल्द ही महाद्वीपीय व्यवस्था से अलग हो गए।

चीनी और तम्बाकू की मांग के चलते, महाद्वीपीय व्यवस्था विफल हो गयी। इसके साथ ही भूमि मार्ग से व्यापार धीमा और महँगा साबित हो रहा था। फ्रांस में जो भी उत्पादन हो रहा था, उसमे अधिकतर युद्ध की आवश्कताओं की सस्ती पूर्ति करने के कारण लाभान्वित नही कर रही थी, दूसरी और चोरी–छुपे फ्रांस में तस्करी के जरिये ब्रिटेन का माल पहुंच रहा था, जिससे फ्रांस को दोहरा नुकसान हो रहा था। एक तो फ्रांस से मुद्रा बाहर जा रही थी, दूसरा फ्रांस के उत्पाद की बिक्री प्रभावित हुई और ब्रिटेन को लेकर उसकी व्यवस्था विफल हुई सो अलग। नेपोलियन अपने देश के अन्दर ही सभी उत्पादन करने की नीति अपना चूका था, लेकिन सभी आवश्कताओं की पूर्ति करने में फ्रांस सक्षम नहीं था। ऐसे में बाहर से मदों के आने को रोका नहीं जा सकता था।

फ्रांस के साथ व्यापार करने वाले राज्यों को फ्रांस पर कोई शुल्क लगाने का अधिकार नहीं था, जबकि फ्रांस उनपर शुल्क लगाता था। पूर्वी–यूरोप में निर्मित मदों की मांग थी, लेकिन वह पूर्ण नहीं हो पा रही थी। पोलैंड, प्रशा और रूस जैसे देश अपने उत्पाद को नही बेच पा रहे थे। ब्रिटेन के प्रति वहां सहानुभूति का माहौल बनने लगा था, साथ ही ब्रिटेन ने लैटिन–अमेरिका में व्यापार कर अपने नुकसान की भरपाई कर ली थी।

अंततः कहा जा सकता है की फ्रांस द्वारा महाद्वीपीय व्यवस्था और ब्रिटेन द्वारा 'ब्लोकऐज' का लक्ष्य समान था। दोनों दुश्मन के वाणिज्यवाद को नुकसान पहुंचा, एक–दूसरे के निर्यात को रोक कर अपने पक्ष में यूरोपीय बाज़ार को और अधिक खोलना चाहते थे। इस व्यवस्था में आगे चलकर फ्रांस को ही हानि हुई और नेपोलियन ने 1813 में लाइसेंस देकर यह व्यवस्था त्याग दी।

3.6 फासीवाद

फासीवाद एक उग्र–राष्ट्रवादी विचारधारा है, यह ऐसी विचारधारा के रूप में उभर के सामने आयी जो उदारवाद, समाजवाद, संरक्षणवाद और साम्यवाद के खिलाफ़ थी। फासीवादी यह मानते थे कि यह सब व्यवस्थाएं ही राष्ट्र को कमजोर कर रही है और यह सब आर्थिक–मंदी, राजनैतिक धोखाधड़ी और समाज तथा राष्ट्र की मर्यादा के पतन के कारण थे।

फासीवादी विचारधारा समग्रवादी या सर्वसत्तावादी (Totalitarian) सत्ता की पक्षधर है, जिसके अनुरूप सत्ताधारी जीवन के हर पहलु को नियन्त्रित करते हैं, जिसके चलते समाज या देश में निजी और स्वतंत्र क्षेत्र एवं संस्था नहीं होती। फासीवादी सरकार उग्र–राष्ट्रवाद के मद और दमन की नीति के साथ नागरिक पर हावी होती है, मुसोलिनी का मानना था कि देश के नागरिकों को अगर सशक्त होना है तो उन्हें राज्य को बिना किसी शर्त के पूर्ण समर्थन और सहयोग देना चाहिए। पूरी तरह से राज्य के अधीन होने पर ही राज्य विकसित होगा और तब ही नागरिक लाभान्वित होंगे। वह मानता था कि फासीवादी सरकार लोगों को सशक्त करना चाहती है और यही चीज़ उसे

निरंकुश और दमनकारी सरकार या राज्य से भिन्न करती है। वह राज्य को सबसे सर्वश्रेष्ठ मानते थे, उनके अनुसार 'राज्य के भीतर सब कुछ है, राज्य के बाहर कुछ नहीं, राज्य के विरुद्ध कुछ भी नहीं'।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद इटली और जर्मनी के जो हालत थे, उन्ही के फलस्वरूप वहां फासीवादी सत्ता का उदय हुआ। यहाँ जो सरकारें उभर कर आयी वह मानवीय गतिविधियों पर अपना पूरा नियंत्रण कायम करना चाहती थी, यह समग्रवादी या सर्वसत्तावादी सरकार थी। जिसे इटली में बेनिटो मुसोलिनी ने और जर्मनी में नात्सी सरकार के रूप में अडोल्फ़ हिटलर ने चलाया।

पेरिस की शान्ति सम्मेलन से इटली को बहुत निराशा हुई थी उसकी सारी कूटनीति विफल हो गयी क्योंकि गुप्त–संधि के अनुसार मित्र राष्ट्रों के जितने पर उसे जो क्षेत्र देने के वादे थे वो अधिकतर तोड़ दिये गए थे। इटली की भावनाओं और अंतर्राष्ट्रीय सम्मान को ठेस पहुंची थी। ऊपर से प्रथम विश्व युद्ध के बाद उसकी अर्थव्यवस्था बुरी तरह बिगड़ गयी थी। इटली की सरकार को इन सब अव्यवस्थाओं को न संभाल पाने के कारण नाकारा समझा जाने लगा था। साम्यवाद के बढ़ते प्रभाव से इटली का पूंजीवादी वर्ग बहुत ही भयभीत था। हम यह जानते हैं कि पूंजीवादी देशों ने साम्यवाद के खात्मे के लिए इस तरह के फासीवादी शक्तियों को बढ़ावा दिया था। इटली में मुसोलिनी के नेतृत्व में फासीवादी दल खुद को साम्यवाद का कट्टर विरोधी साबित करता रहा। इन सब हालातों के बीच लुभावने सपने दिखाने वाले फासीवादी दल ने जनता की सभी समस्याओं के समाधान के रूप में खुद को प्रस्तुत किया।

इटलीवासियों को न तो अपने शासन से अपने राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा का भरोसा था न उनसे देश में अच्छी सरकार की आशा थी। 1919 में बेनिटो मुसोलिनी ने 'फासिस' शब्द अपनाया। यह प्राचीन रोमन शब्द था और युद्ध के फरसे के चारों ओर 'लकड़ियों का बंधा हुआ गट्ठर' वाले चिन्ह को अपनाया गया था, यह एकता का प्रतीक था। इसके माध्यम से मुसोलिनी ने इटली के लोगों के बीच यह बात रखी कि अलगाव में कमजोरी और एकता में ही शक्ति है।

1922 में मुसोलिनी ने इटली में फासीवादी शासन की स्थापना कर दी। इसने एक काली कमीज (Black Shirt) दस्ते द्वारा दमनकारी शासन चलाया। फासीवादी आंदोलनों को साम्यवाद के विरोध के लिए काफी बढ़ावा मिला। फासीवादी आन्दोलन में राष्ट्र के पुनरुत्थान और राष्ट्र विस्तार के ख्याल पर बल दिया गया। वास्तविकता में सरकार बनने के बाद फासीवादी सत्ता केवल अपने दल और नेताओं की महत्वकांक्षाओं को पूरा करने में लगी रही। एक बार सत्ता में आकर सत्ता में बने रहना ही इन नेताओं का एक प्रमुख उदेश्य था।

मुसोलिनी ने 1932 में अपनी विचारधारा 'डॉक्ट्रिन ऑफ़ फासिज्म' में अपने फासीवादी विचारों को सामने रखा। फासीवादी एक मर्यादापूर्ण राज्य की संरचना करना चाहते थे। यह राज्य इतिहास और परम्पराओं के आधार पर आपस में जुड़े हुए समुदायों का स्वरुप था। राज्य का यह दायित्व था कि वह आपस में परस्पर संघर्ष में लीन संस्थाओं, तत्वों, व्यवस्थाओं इत्यादि में न्याय और व्यवस्था बनाये रखे। राज्य का कर्तव्य था कि वह व्यक्ति के व्यक्तिव का निर्माण करे, ताकि व्यक्ति अपने पूर्ण सामर्थ्य को प्राप्त कर सके।

फासीवाद ने उदारवाद, समाजवाद और लोगों का प्रतिनिधित्व करने वाली सरकारों की असमर्थता

जाहिर की और उनका विरोध कर प्रश्न खड़े किये, फासीवादियों ने यह रेखांकित किया कि बहुमत में केवल कुलीन ही राजनीतिक शक्ति को अपने हाथों में रखते हैं और राज करते हैं। साथ ही फासीवाद ने समाजवाद को भी राजनीतिक व्यवस्था के रूप में खारिज़ कर दिया, उन्हें समाजवाद द्वारा समाज में समानता लाने और सार्वभौमिक शांति के स्वप्न पर कोई भरोसा नहीं था।

फासीवादीयों ने अपनी सत्ता को एक अनुशासनात्मक, कार्यकुशल, समरूपक व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत किया तथा इस रूप में स्वीकार किये जाने के लिए अपना प्रोपेगैंडा का प्रचार और प्रसार किया। फासीवादी विचारधारा को बनाये रखने के लिए फासिस्ट युवा संगठन का निर्माण किया गया जिससे उन्हें आन्तरिक समर्थन मिलता रहे। स्कूलों में भी फासीवाद के सिद्धांतों की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाने लगी।

वह खुद को हर राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक समस्या के समाधान के रूप में प्रस्तुत करते और समाज में निहित टकराव से उबारने का दावा पेश करते। मुसोलिनी ने सिण्डीकेट व्यवस्था को राष्ट्रव्यापी रूप दिया, मजदूरों और मालिकों के अलग–अलग राष्ट्रीय सिण्डीकेट संघ बनाये गए। मुख्य रूप से 13 प्रमुख राष्ट्रीय सिण्डीकेट स्थापित किये गए। इसका मुख्य उद्देश्य उद्दोगपतियों एवं श्रमिकों के बीच वर्ग संघर्ष को समाप्त करना था। इसी व्यवस्था में दोनों पक्षों के हितों की रक्षा, आपसी सहयोग और समझोतों से ही मुमकिन थी। वह मानते थे कि निगमित राज्य के रूप में समाज को फिर से व्यवस्थित कर वर्गों के बीच के टकराव को ख़त्म किया जा सकता है तथा सभी समूहों में समान आर्थिक अभिरुचियों होने से संभावित वर्ग विभाजन से उभरा जा सकता है।

मुसोलिनी ने प्रथम विश्व युद्ध के बाद इटली में व्याप्त असंतोष और अराजकता स्थिति का लाभ उठया, उसने झूठे वादों और उग्र–राष्ट्रवाद की भवनों से आक्रामक एवं दमनकारी नीतियों का पालन किया। जल्द ही यह साफ़ हो गया कि फासीवाद समाजवाद का ही दुश्मन नही अपितु सभी प्रकार के उदारवादी, लोकतांत्रिक सरकारों का भी दमनकर्ता है, बलपूर्वक तानाशाही कर वह इटली को दूसरे विश्व युद्ध में खींच लाया जहाँ अंततः फासीवादी शक्तियों की हार हुई।

3.7 नाजीवाद

नात्सी विचारधारा के अनुरूप इतिहास मनुष्यों के बीच निरंतर होने वाले संघर्ष का तानाबाना है। सभी लोग किसी न किसी नस्लीय समुदाय के होते हैं और यदि इन विभिन्न नस्ल के व्यक्तियों का आपस में संपर्क या विवाह संस्कार हो जाए तो नस्ल भ्रष्ट हो जाती है। ऐसा होने से उसका अंततः पतन हो जाता है। किसी भी नस्ल के बचे रहने और सफलता उसके पवित्रता पर ही निर्भर है। नात्सी विचारधारा से प्रभावित जर्मनी के लोगों को यह विश्वास हो चला था कि जर्मन लोग नस्ल के रूप में बाकि सभी नस्लों से बेहतर और पृथक है।

हिटलर के अधीन हो रहे युद्ध एवं दूसरे देशों में हस्तक्षेप को सही दर्शाने के लिए अपनी नस्लीय श्रेष्टता तथा उग्र–राष्ट्रवाद की भावना को फैलाया गया। जर्मनवासियों और जर्मन राष्ट्र को अपनी श्रेष्टता के भ्रामक सिद्धांत एवं विस्तारवाद के प्रोपेगैंडा से जोड़ा गया। हिटलर मानता था कि जर्मन

लोगों को ज्यादा से ज्यादा इलाकों में सफलतापूर्वक बसने के लिए विस्तारवाद की नीति के तहत नए क्षेत्रों को अपने कब्ज़े में लेना होगा। जर्मनवासियों से यह भी कहा गया कि उन सब वर्ग और समुदायों को निष्कासित करना होगा जो समाज के पतन के कारक और सरकार के विरोधी हैं।

हिटलर अपनी नस्लभेदी विचारधारा की सफलता के लिए अत्यंत गंभीर था, उसने अपने राष्ट्र में महिलाओं (माताओं) को सबसे जरूरी नागरिक के रूप में देखा। वह जानता था कि, एक माता से परिवार में नात्सी विचारधारा, जर्मन राष्ट्रवाद और जर्मन आर्य नस्ल को संचालित किया जा सकता है। ज्यादा से ज्यादा जर्मन आर्य नस्ल के बच्चों की तादात के लिए उसने स्त्रियों के लिए 'ऑनर क्रोस्सेस ऑफ़ जर्मन मदरहूड' नामक पदक रखे। 4–5 बच्चे पैदा करने पर कांस्य पदक, 6–7 बच्चे पैदा करने पर रजत और 8 या 8 से अधिक् बच्चे पैदा करने पर स्वर्ण पदक।

हिटलर ने अपनी नात्सी विचारधारा को प्रबल करने के लिए जर्मन बच्चों को नात्सी विचारधारा से शिक्षा प्रदान की, स्कूलों से यहूदी, अपाहिज और जिप्सियों को बाहर कर दिया, पाठ्यक्रम को बदला गया और उसमें नस्ल विज्ञान को सम्मिलित किया गया। बच्चों को जर्मनी व जर्मन नात्सी सरकार का वफादार बनाने की मनोवैज्ञानिक एवं वैचारिक शिक्षा दी गयी, जिसे उन्हें अपने जीवन में समाहित करनी होती थी। इसके अलावा दस साल और उनसे बड़े बच्चों के लिए संगठन बनाये गए थे।

यहूदियों को एक नस्ल के रूप में जर्मनी का विशेष दुश्मन समझा गया, नात्सी प्रोपेगैंडा और नीति लगातार नस्लवाद के आधार पर यहूदियों का दमन चाहती थी, हिटलर के अनुसार जर्मनी की सभी समस्यों के लिए कहीं न कहीं यहूदी ही जिम्मेदार थे। उन्ही के कारण जर्मनी को आर्थिक और राजनीतिक संकट झेलने पड़े थे। वह मानता था कि जर्मनी के सभी संसाधनों पर यहूदी लोगों ने कब्ज़ा कर लिया है एवं वह विशेष ओहदों पर रह कर जर्मनी को नुकसान पहुंचा रहे हैं।

यहूदियों को ही साम्यवाद को अपने निजी फायदों के लिए फैलाने का दोषी माना गया। वह साम्यवाद को यहूदियों की ही साज़िश समझते थे। हिटलर के अधीन नात्सी जर्मन सरकार ने यहूदियों से (जिन्हें वह अपनी परम समस्या मानते थे) छुटकारा पाने के लिए अंतिम समाधान के रूप में सोची–समझी योजना के आधार पर जर्मनी में निवास कर रहे यहूदियों को मौत के घाट उतार दिया। नात्सी शिवरों में सबसे पहले तो यहूदियों को गिरफ्तार कर कैद किया गया फिर उनके साथ अमानवीय व्यवहार कर यातनाएं दी गयी और अंततः यहूदियों को मार दिया गया। नात्सी यातना शिविरों में यहूदियों का बड़े पैमाने पर बंधक बना कर सामूहिक मानव संहार किया गया।

नात्सी सरकार में शारीरिक और मानसिक रूप से असहाय अथवा अपंग लोगों को समाज के लिए बोझ समझा गया। नात्सी उनको नस्ल के रूप में बीमार, कमजोर और दोषपूर्ण मानते थे, वह अपनी नस्लीय श्रेष्टता बनाये रखने के लिए इन लोगों को समाज का हिस्सा बनाये नही रखना चाहते थे। वह मानते थे कि ईश्वर भी नहीं चाहता की ऐसे अपंग और असहाय लोग प्रजनन करें।

हिटलर के सत्ता में आने के साथ ही, जैविक शुद्धिकरण की नीतियाँ बनी और उनको लागू भी किया गया। रोग मुक्त जर्मनी के लिए सभी प्रकार के अनुवांशिक रोगों एवं समस्याओं वाले लोगों को प्रजनन करने से विमुक्त किया गया। अन्धे, बहरे, मंद्बुद्धि, मिर्गी, मानसिक रोगियों इत्यादि लोगों को भी इस श्रेणी में रखा गया था।

नात्सियों ने जिप्सियों, पोलैंड मूल के निवासियों, समलैंगिकों और युद्ध–बंधियों की भी हत्याएं करवाई। वास्तव में राजनीतिक और आर्थिक स्वार्थों की पूर्ति हेतु राजनीतिक हत्याएं व बिना अपराध के ही कई लोगों को मृत्यु के घाट उतार दिया जाता था।

नाज़ीवाद समाज को केवल भय, पीड़ा और रोगयुक्त करता रहा, इसके तहत राष्ट्रवाद उग्रवाद एवं नस्लवाद में बदल गया था। पूंजीवादी व्यवस्था में पनपे साम्राज्यवाद ने समाज को जो नुकसान पहुँचाया था उसी की प्रतिक्रिया स्वरुप फासीवादी और नाजीवादी शक्तियों का उदय हुआ। इन व्यवस्थाओं ने ही इस आत्मघाती अनियंत्रित बल को पैदा किया था जो दूसरे विश्वयुद्ध में हिटलर की मृत्यु और बर्लिन–रोम–टोक्यो धुरी की हार के साथ समाप्त हुआ। लेकिन प्रतिक्रिया सवरूप और एक प्रवृति के रूप में इसका भय सदैव बना रहेगा।

3.8 साम्राज्यवाद

साम्राज्यवाद केवल सीधे तौर पर किसी देश पर कब्ज़ा कर लेना ही नहीं होता। न ही यह केवल राजनीतिक और सैनिक अधिग्रहण होता है। साम्राज्यवाद आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक रूप में भी किसी दूसरे देश पर अपने वर्चस्व को कायम करना होता है।

हमारे अध्ययन काल आधुनिक यूरोप के इतिहास में साम्राज्यवाद का स्वरूप तेजी से बदल गया। पहले प्रत्यक्ष और बाद में अप्रत्यक्ष साम्राज्यवाद भी देखने को मिलता है। वस्तुओं और पूंजी के तीव्र गति से अंतर–राष्ट्रीय स्तर पर हस्तांतरण के चलते विभिन्न राज्य, राष्ट्र और महाद्वीपों में राजनीतिक संबंध कायम हुए। आधुनिक प्रोद्योगिकीकरण एवं तकनीकों के विकास के चलते कुछ देश दूसरे देशों से आगे निकल गए। अपने निजी लाभों के लिए प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से शक्तिशाली देश दूसरे देशों पर अधिकार कर वहां के संसाधन, श्रम एवं बाज़ार पर कब्ज़ा कर अपने हितों के लिए उनका दोहन करने लगे। भारत में जहाँ ब्रिटेन ने प्रत्यक्ष रूप से शासन के साथ साम्राज्यवाद कायम किया वहीँ चीन अप्रत्यक्ष रूप से विभिन्न साम्राज्यवादी शक्तियों में बंट गया था।

15वीं–17वीं में अधिकांश पश्चिमी साम्राज्यवादी शक्तियाँ नयी भौगोलिक खोजें कर अपने राजा और राष्ट्र का परचम लहराने तथा विश्व के वैभव को समेट लाने की परिकल्पनाओं से प्रायोजित की गयी थी तथा धार्मिक विस्तार भी मिशनरियों को खींच लाया था। अपने पहले चरण में व्यापारिक विस्तार के लिए एकाधिकार की नीति के साथ पश्चिमी देशों में अपना विस्तार किया। उनकी मंशा दुनिया भर से सोना–चांदी को मुद्रा के रूप में अपने पास बटोरने की थी। 17वीं सदी के मध्य से 18वीं सदी का दौर वाणिज्यिक मुद्रा के निर्माण का दौर रहा। वहीँ 1870 के दशक से औद्योगिक पूंजी निवेश का दौर शुरू हो गया। इसके साथ ही एकाधिकार, उग्र–राष्ट्रवाद की विचारधारा के साथ पूंजीवादी देश सम्पूर्ण विश्व को हड़प लेने के लिए आपस में टकराने लगे। इस तरह हम कह सकते हैं कि पूंजीवाद की मूलभूत तीन अवस्थाओं के साथ साम्राज्यवाद का फैलाव हुआ। (वाणिज्यिक पूंजीवाद, औद्योगिक पूंजीवाद और निवेश पूंजीवाद)

3.8.1 साम्राज्यवाद रू सिद्धांत एवं विचारधारा

जे. ए. हाबसन अपनी कृति इम्पेरीलिस्म (Imperailism1902) में साम्राज्यवाद को पूंजीवाद की देन मानता है। वह उदारवादी विचारधारा और दृष्टिकोण से साम्राज्यवाद को देखने की कोशिश करता है। देश के अंदर कम भाव और खपत होने के कारण मुनाफ़े के लिए बाज़ार तथा निवेश करने के लिए देश के बाहर राह तलाशी जाती है, बाज़ार की जरुरत और फायदेमंद निवेश के लिए ही पूंजीवादी साम्राज्यवाद के कारक बनते हैं। हाबसन पूंजीवाद को दोषपूर्ण व्यवस्था नहीं मानता था। उसके अनुसार यदि सही रूप से साम्राज्यवादी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था काम करे तो साम्राज्यवाद से समस्याएं उत्पन्न नहीं होंगी। उसने ब्रिटेन की जनता को जागरूक करना चाहा और बतलाया कि कुछ पूंजीवादी निवेशक अपनी इच्छापूर्ति तथा अधिकतम लाभ के लिए आम लोगों से ज्यादा से ज्यादा पैसा निकाल लेना चाहते थे। जिसके फलस्वरूप सामाजिक सुधार नहीं हो पता है और वेतन और मजदूरी को बढाया नहीं जा सकता। हाबसन के अनुसार यदि पूंजीवाद सही रूप से कार्य करे तो सब को उससे लाभ होगा।

रुडोल्फ हिलफिर्डिंग (Rudolph Hilfirding) मार्क्सवादी चिन्तक था, वह मानता था कि पूंजीवाद स्पर्धा के काल से अब एकाधिकार के काल में आ गया है। पूंजीवाद के अंतर्गत अंत में बड़े बैंक निवेशक संस्थाएं औद्योगिक घरानों पर नियंत्रण रखती हैं। जिसे निवेश पूंजीवाद (Finance capitalism) के रूप में जाना जाता है। देश में निवेश पूंजीवाद के चलते बैंक और औद्योगिक पूंजी मिलकर एकाधिकार पूंजीवाद का समर्थन करती हैं जिसके लिए उसे देश के अन्दर राज्य से सुरक्षा की दरकार होती है। एक बार देश में एकाधिकार होने के बाद यह निवेश करने के लिए साम्राज्यवादी विस्तार करना चाहते हैं ताकि वह सस्ता और सुरक्षित कच्चामाल प्राप्त कर सके और अपने उत्पादों के लिए बाज़ार तथा निवेश के नए अवसर हथिया सकें। यूरोपीय देशों के बीच इन्हीं कारणों के चलते साम्राज्यवाद की नीति के अंतर्गत राजनैतिक शत्रुता उत्पन्न हो गयी। राजनीतिक नियंत्रण का निवेश पूंजीवाद द्वारा उपियोग ही साम्राज्यवाद उत्पन होता है। समाजवाद केवल साम्राज्यवाद की प्रतिक्रिया के चलते उसके विरुद्ध उत्पन होता है।

रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग (Rosa Luxempourg) ने अपनी कृति 'एकुमिलेसन ऑफ़ कैपिटलिज्म' (Accumulation of Capitalism) (1913) में यह सिद्धांत स्थापित करना चाहा कि पूंजीवादी व्यवस्था के अंदर उत्पादन जरुरत से ज्यादा उत्पादन अधिशेष होने के कारण उत्पादित चीजों का पूर्ण उपभोग नहीं होता, जिसके कारण पूंजीवादी को मुनाफा नहीं होता। इस अवस्था से बाहर आने के लिए पूंजीवादी उन गैर–पूंजीवादी क्षेत्रों में बढते रहते हैं जहाँ उनके उत्पादों को बेचा जा सके। अंततः यह प्रक्रिया समाप्त हो जाएगी, जब सब जगह पूंजीवाद स्थापित हो जायेगा और अधिशेष उत्पादन की कोई मांग नहीं रह जाएगी। रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग साम्राज्यवादी शक्ति और उपनिवेशों के बीच के असमान संबंधों पर बल देती है। उपनिवेशों को लाभ का भागीदार नहीं बनाया गया, वह केवल संसाधनों की पूर्ति मात्र करते रहे।

वी.आई. लेनिन (V.I. Lenin) ने पूंजीवाद के विरुद्ध राजनीतिक विरोध चलाया वह मार्क्सवादी सिद्धांतों को व्यवाहरिक रूप में लागू करने में कामयाब रहा। उसने पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के

खिलाफ़ अपने विचार 'इम्पेरिलिस्म दी हाईयस्ट स्टेज ऑफ़ कैपिटलिज्म' (Imperilism The Highest Stage of Capitalism1916) में सामने रखे। पूंजीवादी देश अपने देश को पूर्णतया लूट चुके हैं, वहां से वह और मुनाफा नहीं कमा सकते हैं। ऊपर से यहाँ के हालात सुधारने की पूंजीवादी व्यवस्था में कोई गुंजाइश नहीं हैं। वह साम्राज्यवाद को पूंजीवाद की चरम सीमा मानता है जबकि स्टालिन ने उपनिवेशवाद को पूंजीवाद की चरम सीमा माना है।

जोसफ शुमपीटर (Joseph Schumpeter) 'इम्पेरिलिस्म एंड दी सोशल क्लासेस' (Iimperialism and The Social Classes1931)– वह साम्राज्यवाद और पूंजीवाद को अलग–अलग मानता है। उसकी दृष्टि में समाज में आदिकाल से ही श्रेष्ठ, बलशाली होने की मानसिक व्यवहार होता है। जिसे वह 'अटाविस्टिक' Atavistic व्यवहार कहता है। जबकि पूंजीवाद आधुनिक है, जिसके लिए क्षेत्रों पर नियंत्रण करने की आवश्कता नहीं है। यह कल्पनाशील, उत्पादक और लाभदायक है। साम्राज्यवाद दिशाहीन निरंकुशता मात्र है।

विश्व युद्धों की समाप्ति और अमेरिका के बढ़ते हुए वर्चस्व के बाद साम्राज्यवाद को समझने के लिए 'निर्भरता का सिद्धांत' (Dependency theory) सामने आया। पूंजीवादी व्यवस्था के चलते परस्पर निर्भरता के इस सिद्धांत के अनुसार पूंजीवादी राष्ट्र (जो की विकसित है जैसे की अमेरिका) के अल्पविकसित देशों से असमान हस्तांतरण का संभंध होता है। यहाँ अल्पविकसित प्राधियों (peripheries) से केन्द्र (centre) की और अधिसेश (Surplus) का निरंतर असमान हस्तांतरण होता है। केन्द्र को मुनाफा और आय होती है जबकि प्राधियाँ वित्त सहायता के लिए आश्रित रहती हैं। इसके चलते केन्द्र और प्राधियों के मध्य व्यवस्थापक रूप से आर्थिक दुरी बनी रहती है।

इस सिद्धान्त के अंतर्गत आंद्रे गुन्द्र फ्रैंक (Andre Gunder Frank) ने अपनी कृति 'कैपिटलिज्म एंड अंडरडेवलोपमेंट' (Capitalism and Under development 1967) में कहा कि वैश्विक आर्थिक ढाचों ने उत्तर और दक्षिण को आपस में एक दूसरे पर आश्रित कर दिया है, लेकिन इसमें दक्षिण को सारी कीमत चुकानी पड़ रही है। आधुनिक काल में तीन बार इस तरह का आपसी जुड़ाव हुआ है,

(1) उपनिवेशिक निर्भरता, (2) औध्योगिक एवं निवेश के लिए और (3) बहु–राष्ट्रय कम्पनियों के चलते निर्भरता। क्योंकि,कम विकसित देश विकसित औद्योगिक देशों पर आश्रित हें इसलिए वह व्यवस्थापक रूप से ही कम विकसित रह जाती हैं।

आधुनिक विश्व व्यवस्था के सिद्धांत द्वारा इम्मानुएल वालरस्टीन (Immanuel Wallerstien 1974) ने दर्शया की वैश्विक आर्थिक ठांचे ही निर्धारित करते हैं कि विश्व कैसे काम करेगा। राज्यों के मध्य श्रम का विभाजन आपस में निर्भरता को बढाता है।

अंततः हम कह सकते हैं की शुरवाती दौर में पूंजीवादीयों ने अपनी असीमित लाभ की प्यास का समाधान उपनिवेशीकरण में पाया। जहाँ वो परम्परागत उद्योग धंधों को बंद करा कर, अपने कारखाने और उससे से उत्पादित वस्तुओं को मुनाफे के लिए बेच सकें, उन्होंने इस तरह अपने उपनिवेशों को राजनैतिक और आर्थिक रूप से अपंग कर अपने लिए नए बाज़ार पैदा किये। उन्होंने पश्चिमी संस्कृति की वर्चस्वता का मानस तैयार किया। ज्यादा से ज्यादा उपनिवेश कब्जे में करना, उनके लिए शक्ति और गौरव का विषय बन गया।

वास्तव में पूंजीवादियों के सिंडिकेट / व्यवसाय संघ ही देश की सत्ता और राजनीति चलाने लगे थे, विकास के नाम पर युद्ध, क्षेत्र विस्तार और लोगों का दमन होने लगा था। यह कहा जा सकता है की आधुनिक इतिहास काल में पूंजीवाद के चलते ही सैनिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और वैचारिक तरीकों से विश्व में साम्राज्यवाद फेला।

अभ्यास प्रश्न

1) प्र. गौरवपूर्ण क्रांति कब और कहाँ हुई ?
2) प्र. नाज़ीवादी विदेश नीति 'लेबेन्स्त्राउम' का क्या लक्ष्य था?
3) प्र. हेलेन फ़िशर द्वारा किस पुस्तक में स्त्रियों को प्रथम दर्जे का लिंग माना गया है?
4) प्र. महाद्वीपीय व्यवस्था किसके द्वारा लागू की गयी थी?
5) प्र. लेनिन द्वारा साम्राज्यवाद को किस व्यवस्था का उच्चतम स्तर माना गया है?

3.9 विशेष शब्दावली

1. अबोलोनिस्ट (Abolitionists): अमेरिका में वह अल्पसंख्यक नागरिक जो रंगभेद और दासता के विरुद्ध थे। यह दासों की मुक्ति तथा एफ्रो–अमेरिकन लोगों को समान अधिकार दियें जाने की पक्षधर थे।
2. द पिल्ग्रिमेज ऑफ़ ग्रेसरू हेनरी VIII के विरुद्ध यॉर्कशायर में 1536 में हुए प्रचलित विरोध था। यह विरोध हेनरी द्वारा रोमन कैथोलिक चर्च के साथ संबंध तोड़ने के कारण था।
3. ब्लैक शर्ट (Black Shirt): यह एक प्रचलित एवं बोलचाल की भाषा में 1919 में इटली में बने फासिस्ट सैनिक दस्ते थ्ेंबप कप Combattimento को कहा जाता था। काली कमीज़ इनकी वर्दी का अंग थी और यह इनकी मुख्य पहचान बन गई। इस सैनिक दस्ते में मुख्यता अशंतुष्ट उग्र–राष्ट्रवादी पुराने सैनिक थे, यह फासीवादी सरकार का दमनकारी दस्ता था।
4. संसदीय लोकतंत्ररू यह एक लोकतांत्रिक सरकार है जहाँ बहुमत वाले दल या दलों के आपसी गठबंधन के रूप में सदस्य संसद में प्रतिनिधित्व करते हैं। संसद में उनका मुख्य नेता प्रधानमंत्री अथवा चांसलर के रूप में सरकार का नेतृत्व करता है।

3.10 अभ्यास प्रश्न उत्तर

उ. 1) 1668 ईसवीं में इंग्लैंड में बिना रक्तपात के गौरवपूर्ण क्रांति हुई थी। इसके चलते उत्तराधिकार की समस्या का निदान, बिल्स ऑफ़ राइट्स स्वीकृत हुए तथा कैबिनेट का निर्माण हुआ था।

उ. 2) इस नीति का मुख्य लक्ष्य जर्मनी का साम्रज्यवादी विस्तार था, हिटलर के अनुसार पवित्र जर्मन नस्ल की सफलता, सुरक्षा और उनके अधिकारस्वरुप अधिक से अधिक क्षेत्र को शुद्ध नस्ल के लिए अर्जित करना था।

उ. 3) हेलेन फ़िशर ने अपनी पुस्तक 'द फर्स्ट सेक्सरू द नेचुरल टैलेंट ऑफ़ वुमन एंड हाउ दे आर चेंजिंग द वर्ल्ड ' में नारी को प्रथम दर्जे के लिंग का माना है।

उ. 4) नेपोलियन बोनापार्ट द्वारा ब्रिटेन की शक्ति क्षीण करने के लिए महाद्वीपीय व्यवस्था लागू की थी।
उ. 5) लेनिन के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था के चलते अंततः सारे विश्व पर शक्तिशाली पूंजीवादियों का कब्ज़ा हो जायेगा और साम्राज्यवाद ही पूंजीवाद का उच्चतम स्तर है, इसके अंत से ही समाजवाद संभव है।

3.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- गुप्ता पार्थसारथी, यूरोप का इतिहास, दिल्ली विश्वविद्यालय पुनर्मुद्रण 1992. पृ, 78–82, 710–725, 751–767.
- वर्मा लाल बहादुर, यूरोप का इतिहास (फ़्रांसिसी क्रांति से द्वितीय महायुद्ध तक), प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली, आवृति 2008. पृ, 54–90, 272–286.
- जैन, हुकुम चंद, माथुर, कृष्ण चंद, आधुनिक विश्व का इतिहास,(1500–2000ई.),पन्द्रँ संस्करण, जैन प्रकाशन मंदिर,जयपुर, 2010, पृ, 226–228, 261–269, 393–400, 494–531.
- इस्सर देवेन्द्र, स्त्रीमुक्ति के प्रश्न, संवाद प्रकाशन, मेरठ, 2009, पृ, 13–52
- Hobsbawm Eric: Age Of Extremes, Viking Penguin India,pp. 372&402

3.12 प्रस्तावित अध्ययन सामग्री

- Darity William(ed), International Encyclopedia of the Social Sciences, second edition, vol&1 to 9 (relevant pages only), Macmillan Refrence Gayle 2008.
- Frank, Andre Gunder, Capitalism And Underdevelopment In Latin America.
- J. H. Parry, The Age of Reconnaissance
- Meena Phukan, Rise of the Modern West: Social and Economic History of Early Modern
- Europe Stearns, Peter N, Western Civilization in World History, New York, Routledge Taylor, USA, 2003

3.13 निबंधात्मक प्रश्न

प्रश्न 1) फासीवादी एवं नाजीवादी विचारधारा का विश्लेषण करें ?
प्रश्न 2) महिला अधिकारवाद अथवा स्त्रीवादी विचारधारा एवं आन्दोलनों की विवेचना करें?

इकाई 4 राष्ट्रमंडल, समाजवाद, रंगभेद और शीतयुद्ध

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 राष्ट्रमंडल
4.4 समाजवाद
4.4.1 उदारवादी / यूटोपियन समाजवादी विचारक
4.4.2 कार्ल मार्क्स एवं वैज्ञानिक समाजवाद
4.4.3 अराजकतावाद (Anarchism)
4.4.4 अंतर्राष्ट्रीय संगठन
4.5 रंगभेद
4.5.1 रंगभेद का विरोध
4.6 शीत युद्ध
4.6.1 शीत युद्धः अहम् पहलू एवं घटनाक्रम
4.7 विशेष शब्दावली
4.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
4.10 प्रस्तावित अध्ययन सामग्री
4.11 निबंधात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में मध्यकालीन यूरोपीय समाज से आधुनिक काल के समाज,संस्कृति के सम्बन्ध में प्रचलित शब्दावली, कुछ प्रमुख विचार तथा संकल्पनाओं को विस्तार से समझाने का प्रयत्न किया गया है। मध्यकालीन यूरोपीय समाज को आधुनिक युग की ओर ले जाने वाली घटनाएं, जिसने समाज के प्रत्येक वर्ग को प्रभावित किया, उन्हें सुगम एवं सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया है। इन संकल्पनाओं, विचारों की यदि बात की जाए तो हम देखते है कि अनेक विचार तथा शब्दावलियों को विस्तार से समझाना आवश्यक हो जाता है, ताकि विद्यार्थियों को आगे भविष्य में इन प्रमुख शब्दों को लेकर किसी प्रकार की कोई परेशानी न हो और र्विद्यार्थी में इन शब्दों को लेकर कोई भ्रम को स्थिति न रहे अर्थात इन शब्दों, विचारों को समझने के सम्बधं में उनका आधार मज़बूत हो सके और जिससे कम शब्दों में वे इन प्रमुख शब्दों को समझ कर उसका विश्लेषण कर सकें। आधुनिक विश्व के इतिहास को पढ़ते हुए विद्यार्थी कई बार कुछ विचारों, संकल्पनाओं को लेकर असमंजस की स्थिति में रहते हैं और सही तरह से तथ्यों को नहीं समझ पाते हैं। इसी बात को ध्यान में रखते

हुए यहां उन विचारों, संकल्पनाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है ताकि विद्यार्थी सही तरह से घटनाओं को समझ सकें।

4.2 उद्देश्य

- विद्यार्थी इन संकल्पनाओं,विचारों एवं शब्दावली का सरल एवं सुगम भाषा में अध्ययन कर सकेंगे।
- इसके अध्ययन से विद्यार्थी का विषय से सम्बंधित आधर मज़बूत हो सकेगा, जिससे वे अपनी समझ का विकास कर सकेंगे।
- विद्यार्थी इस प्रकार से शब्दावली, विचार एवं संकल्पनाओं का अध्ययन कर कम से कम शब्दों में अपनी बात को समझा सकेंगे।

4.3 राष्ट्रमंडल (1649–1653)

इंग्लैंड के इतिहास और उसकी संसद के निर्माण की प्रक्रिया को पढ़कर हमने यह जाना कि किस तरह इंग्लैंड में चर्च और राजा की शक्ति को निरंतर कम करने का प्रयास चलता रहा और लोगों को प्रतिनिधियों के माध्यम से संसद द्वारा शासन और राज्य की नीतियों एवं व्यवस्थाओं में सक्रिय भूमिका निभाने का मौका मिला। इंग्लैंड में हाउस ऑफ़ कॉमन और हाउस ऑफ़ लार्ड के रूप में दो सदनों वाली संसद थी। हाउस ऑफ़ कॉमन के माध्यम से ही अधिक लोगों का प्रतिनिधित्व किया जा सकता था। हालांकि इंग्लैंड में अभी भी सभी वर्गों को मताधिकार प्राप्त नही हुआ था जिनमें महिलाएं और निर्धन लोग शामिल थे। मताधिकार के लिए एक निश्चित आय, संपत्ति और स्तर का होना आवश्यक था।

इस सब के बीच सत्ता के स्वरुप को लेकर इंग्लैंड में 1642 में गृह युद्ध आरंभ हो गया। इस गृह–युद्ध में एक तरफ़ राजा और उसके समर्थकों ने पारंपरिक राज्य और चर्च की सत्ता कायम करने के लिए मोर्चा खोला तो दूसरी ओर संसद के समर्थकों ने उनका मुकाबला किया। जो धर्म और आर्थिक नीतियों में क्रांतिकारी परिवर्तन के साथ राष्ट्रीय स्तर पर सत्ता में ज्यादा भागीदारी चाहते थे।

ओलिवर क्रोमवेल ने 'आयरनसाइड्स' (Ironside) नामक घुड़सवार टुकड़ी का नेतृत्व किया। वह एक कुशल नायक था और वह राजा के समर्थकों को हराने में कामयाब रहा, जिसके फलस्वरूप 1649 में राष्ट्रमंडल की स्थापना हुई।

1649 में राजा चार्ल्स प्रथम को मृत्यु का दंड देकर हाउस ऑफ़ कॉमन के अल्पसंख्यक दल 'रम्प' (Rump) का शासन आरम्भ हो गया था। अब न राजा और न हाउस ऑफ़ लॉड्र्स बल्कि हाउस ऑफ़ कॉमन सत्ता का केन्द्र था। जनवरी 1649 में रम्प ने गणतंत्र की स्थापना कर दी, उन्होंने घोषणा की कि लोग अब ईश्वर के अधीन हैं। लोगों द्वारा चुने गए उनके प्रतिनिधि रम्प के पास ही परम शक्ति और अधिकार हैं। इस नयी सत्ता को उन्होंने राष्ट्रमंडल का नाम दिया।

सत्ता में आने के साथ ही उनके द्वारा एक नयी मोहर बनवाई गयी इसमें इंग्लैंड का मानचित्र और हाउस ऑफ़ कॉमन का चित्र अंकित था। राजा की पुरानी मोहर को हटाकर यह राष्ट्रमंडल में होने वाले सभी सरकारी/कानूनी हस्तान्तरणों को वैधता प्रदान करने के लिए बनायीं गयी थी। हाउस ऑफ़ कॉमन ने प्रस्ताव रखा कि हाउस ऑफ़ लार्ड को भंग कर दिया जाए और इसके दूसरे ही दिन यह भी प्रस्ताव रखा गया कि हाउस ऑफ़ कॉमन यह मानती है कि दृ इस देश में किसी भी एक व्यक्ति के पास शक्तियों का होना अनुचित, खतरनाक और अनावश्यक है। इस तरह का नियंत्रण और शक्ति का एक ही व्यक्ति के पास होना लोगों की सुरक्षा, आज़ादी, और जन इच्छाओं के विरुद्ध है, इसलिए इस प्रावधान को ख़त्म कर देना चाहिए, जिसके लिए एक अधिनियम लाया जायेगा। 17–19 मार्च को इसी संदर्भ में दो अधिनियम पारित किये गए। जिसके द्वारा राजा और हाउस ऑफ़ लार्ड को हटा दिया गया। अब हाउस ऑफ़ कॉमन एकमात्र प्रशासन करने वाली सर्वोच्च इकाई रह गयी। राष्ट्रमंडल (रम्प के शासन) के दौरान कोई भी सामान्य चुनाव नहीं कराये गए। राष्ट्रमंडल के अंतर्गत प्रशासन का मुख्य अंग कौंसिल ऑफ़ स्टेट थी, इसका चुनाव संसद द्वारा वार्षिक होता था और इसमें 41 सदस्य होते थे। कौंसिल ऑफ़ स्टेट अपना कार्य स्टैंडिंग कमेटियों के द्वारा करती थी। इन कमेटियों में सेना, नौ–सेना, आयरलैंड और विदेशी सम्बन्ध वाली कमेटियां प्रमुख थी। राष्ट्रमंडल के दौरान सामान्य स्तर पर सभी के लिए एक जैसी न्याय व्यवस्था थी और गैर–राजनीतिक मामलों में इन्साफ निष्पक्ष होता था।

20 अप्रैल 1653 में ओलिवर क्रोमवेल (Oliver Cromwell) ने रम्प के राष्ट्रमंडल को भंग कर दिया, और वह इंग्लैंड, स्कॉटलैंड और आयरलैंड राष्ट्रमंडल का लार्ड प्रोटेक्टर बन गया। इस सत्ता काल को प्रोटेक्टोरेट (Protectorate) की स्थापना के रूप में जाना जाता है। क्रोमवेल ने यह माना कि वह कौंसिल ऑफ़ स्टेट और एक सदन वाली संसद के साथ अपनी शक्तियों का विभाजन करेगा। यह सैनिक शक्ति पर आधारित तानाशाही सत्ता थी। क्रोमवेल के बाद उसका बेटा इस सत्ता को संभाल नहीं सका और अंततः 1660 में रम्प को दुबारा बुलाया गया जिससे राष्ट्रमंडल दोबारा सक्रिय हो गई। इस समयकाल को इंग्लैंड के इतिहास में 'पुर्नस्थापना का समय' (Restoration) की संज्ञा से जाना जाता है।

4.4 समाजवाद

हम जानते हैं कि विश्व में सबसे पहले औद्योगिकीकरण इंग्लैंड में हुआ था। पूंजीवादी औद्योगिक व्यवस्था के चलते आधुनिक कारखानों में जहाँ पूंजी, भूमि, औज़ार, मशीन इत्यादि तो मालिक द्वारा उपलब्ध करवाए जाते थे। वहीँ इस व्यवस्था के कारण कारीगर, जो पारंपरिक उत्पादन व्यवस्था में उत्पादन प्रक्रिया का संचालन करता था अब केवल एक मजदूर भर बनकर रह गया था। मशीनों के बढ़ते इस्तेमाल से और कार्य का अत्यधिक वर्गीकरण करने से कारीगरों की कुशलता प्रभावित हुई। आधुनिक कारखानों में वह केवल एक हिस्से के निर्माण से जुड़े रहते थे न कि संपूर्ण प्रक्रिया से। 19वीं सदी के पूंजीवाद एवं औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम स्वरुप यूरोप के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में एक बड़ा बदलाव यह आया कि समाज में दो नये वर्गों का उदय हुआ– (1)

पूंजीवादी बुर्जुआ वर्ग, जो उद्योगों का मालिक था। इनका व्यापार, उत्पाद और आर्थिक विस्तार आदि पर कब्ज़ा था। वह उत्पादन के साधनों के मालिक थे और वही उत्पादन की प्रणाली, एवं व्यवस्था का भी संचालन करते थे। इसके साथ–साथ औद्योगिक उत्पादन के चलते (2) सर्वहारा वर्ग (मजदूर वर्ग) उभर कर सामने आया। सर्वहारा वर्ग के पास किसी भी प्रकार का कोई नियंत्रण नहीं था वह केवल मजदूर के रूप कष्टदाय परिवेश तथा परिस्थितियों में सस्ते से सस्ता श्रम देने को बाध्य था। दोनों वर्गों में अंतर्विरोधी संबंध थे। पूंजीवादी बुर्जुआ वर्ग कम से कम निवेश कर अधिक से अधिक मुनाफा कमाने की नीति से संचालित थे।

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था से समाज में आर्थिक वर्गीकरण के साथ राजनीतिक, आर्थिक शोषण और भेदभाव अत्यधिक बढ़ता गया, मजदूर वर्ग की हालत बहुत ही ख़राब थी, वह बीमार कर देने वाले गंदे हालातों में काम और निवास करते थे। इनके निवास स्थल छोटे होने के साथ–साथ मूलभूत सुविधाओं से भी वंचित थे। ऊपर से वह बहुत ज्यादा भीड़ भरे इलाके, बीमारियों एवं संक्रमण फैलने के कारण जीवन को बहुत ही कठिन बना देते थे। मजदूरों के कार्यस्थल और घर, उनके साथ हो रहे दुर्व्यवहार को साफ़ जाहिर करते थे। स्त्रियों और बच्चों का तो इन कार्य–स्थलों में और भी बुरा हाल था। उनका वेतन और भी कम था तथा बच्चों को अक्सर सबसे तंग और जोखिम भरी जगहों में काम करना पड़ता था।

अपनी असहनीय परिस्थितियों से आज़ादी पाने और अपने अधिकारों के लिए सर्वहारा वर्ग को एक होने की आवश्कता थी। धीरे–धीरे ट्रेड यूनियन के रूप में मजदूर अपने आपको संगठित करने लगे और उनका विरोध सामने आने लगा। मशीनों और कारखानों पर हिंसक हमलों की ख़बर कई जगह से सामने आने लगी, कुछ मजदूर 1830 और 1848 की क्रांति में भी शामिल हुए।

समाजवादी सर्वहारा वर्ग सामाजिक और आर्थिक समानता चाहता था और इसी के लिए समाजवाद के तहत प्रयत्नशील हुआ। धीरे–धीरे पृथक राजनैतिक शक्ति बन पूंजीवादी व्यवस्था के खिलाफ़ शोषित वर्ग ने आवाज़ उठाई। शुरुआती दौर में विरोध स्वरुप लोगों ने मशीनों की तोड़–फोड़ कर अपने विरोध को जाहिर किया। राजनैतिक और क़ानूनी बंदिशों के चलते विरोधियों पर दवाब बनाया गया। उनकी सभाओं और संगठनों को गैर – क़ानूनी समझकर दबाया गया।

4.4.1 उदारवादी / यूटोपियन समाजवादी विचारक

समाजवाद की विचारधारा का जन्म इस बीच आरंभ हो गया था। सबसे पहले उदारवादी एवं यूटोपियन समाजवादी विचारक उभर के सामने आए। समाजवादी विचारक व्यक्तिगत संपत्ति (च्तपअंजम च्तवचमतजल), अधिकतम मुनाफ़े के लिए उत्पादन के पक्षधर नहीं थे क्योंकि इस व्यवस्था में मजदूर को अपनी मजदूरी का पूरा फल नहीं मिलता था, उन्हें शोषित कर ही पूंजीवादी अपना मुनाफा बनाते थे। यह व्यवस्था मानव और प्रकृति की खुली लूट की नीति से संचालित थी जिससे समाज का बड़ा वर्ग केवल आश्रित बन गया था और सारी शक्ति तथा पूंजी, पूंजीपतियों के हाथ में थी।

जर्मन उद्योगपति वाल्टर राथनाव समाजशास्त्री था और पूंजीवाद में सुधार की आशा रखता था,

वह पूंजीवाद का पक्षधर था ना कि उसके समूल नाश का। वह आय का पुनर्वितरण करने के पक्ष में था ताकि असमान आय के बुरे प्रभावों को रोका जा सके, वह विलासी उपभोग पर अंकुश और वंशानुगत संपत्ति को ख़त्म करने का पक्षधर था। वह श्रमिकों को भी प्रबंधकर्ता वर्ग का भाग बनने का विचार रखता था। लेकिन उसके इन विचारों को उसके समय में क्रियान्वित नहीं किया जा सका, उसके विचारों को उद्योगपतियों ने सिरे से नकार दिया।

अमरीकी समाजशास्त्री थोरश्ताइन वबलन ने अपनी पुस्तक ' थ्योरी ऑफ़ द लेबर क्लास' (1899) में यह बात सामने रखी कि अमीरों का दिखावटी वैभव भरा जीवन जरुरत से ज्यादा उपभोग के कारण मजदूरों के जीवन में इतनी ज्यादा असमानता और विषमतायें हैं जो इस व्यवस्था से और बढ़ती जा रही हैं। मजदूरों की दशा सुधारने और कल्याणकारी योजना लागू करने की मालिकों की रूचि नहीं है। इससे मजदूरों की कार्य करने की निष्ठा पर प्रभाव पड़ता है। विरोध के चलते हड़तालें और तालाबंदी के प्रयास को बढावा मिलता है।

टॉमस पेन ने 1971 में अपनी पुस्तक 'राइट्स ऑफ़ मैन' में भूमि के समाजीकरण (भूमि पर व्यक्ति विशेष का अधिकार न होकर समाज का अधिकार) और मजदूर वर्ग को वृद्धावस्था के लिए पेंशन और जरूरी समय में अवकाश की मांग की, खासकर प्रसवकाल में स्त्रियों के लिए।

साईमोंड डी सिसमोंडी (1773–1842) ने पुरानी अर्थनीतियों की आलोचना की और एडम स्मिथ की अहस्तक्षेप की नीति की निंदा की। वह चाहता था कि राज्य को आर्थिक मामलों पर जरुरत पड़ने पर सामाजिक क्रांति के दुष्प्रभावों को रोकने के लिए अपनी दखलंदाजी करनी चाहिए।

रोबर्ट ओवन संविधानिक और अहिंसक तरीकों से हालत सुधारने के पक्ष में था। वह एक उदारवादी व्यापारी था। वह अपने निजी कारखाने में बहुत से सुधार लागू कर मजदूरों की हालत को सुधारना चाहता था। वह अधिकतम लाभ की जगह न्यूनतम लाभ में संतुष्ट था। उसने काम के घंटों में कटौती की, वेतन बढ़ाया। इसके बावजूद भी वह लाभ कमाने में सफल रहा। वह तर्कों के माध्यम से मालिक वर्ग को मजदूरों के साथ अच्छे व्यवहार के लिए प्रेरित करता रहा। 1819 में इस प्रकार की मुहिमों का नतीजा यह रहा कि 'द कॉटन मिल्स एंड फैक्ट्री एक्ट बना। रोबर्ट ओवन ने 'द न्यू व्यू ऑफ़ सोसायटी' और 'द बुक ऑफ़ न्यू मोरल वर्ल्ड' में अपने सिद्धांत सामने रखे। वह चाहता था कि मजदूरों की सहकारी समितियां बने और मजदूरों का कारखानों में हिस्सा हो जाये। इसी प्रकार विलियम थाम्पसन, टॉमस होडस्किम, जॉन ग्रे आदि अन्य समाजवादी विचारकों ने भी उत्पादन में श्रम के महत्व को सही मूल्य देने का पक्ष रखा और माना कि लाभ का उन्हें भी सही फायदा मिले।

फ्रांस में महान क्रांति के बाद 1795 में बैब्यूफ (बाबेफ) नामक व्यक्ति ने समाजवादी राज्य स्थापित करने का प्रयास किया। बैब्यूफ का विचार था कि सम्पूर्ण संपत्ति राष्ट्र की होनी चाहिए और समाज से गरीबी और विषमता का अंत होना चाहिए। उसके अनुसार व्यक्ति के मरने पर उसकी संपत्ति पर राष्ट्र का अधिकार हो जाना चाहिए।

काउंट हेनरी डी सेन्ट साइमन (1760–1825) को फ्रांस में समाजवाद का असल पथ–प्रदर्शक माना जाता है, वह नए वैज्ञानिक विचारों का समर्थक था। उसने अपनी कृति 'द न्यू क्रिश्चिननिटी' में समाजवादी विचार और सिद्धांत सामने रखे। वह समाज को वैज्ञानिक तरीकों से पुनः व्यवस्थित

करना चाहता था। वह संपत्ति के उचित प्रयोग पर बल देता रहा, और वह मानता था कि उत्पादन प्रक्रिया जिम्मेदार लोगों के हाथ में होनी चाहिए न कि अमीर, सुविधा–संपन्न गैर–जिम्मेदार लोगों के हाथों में तथा हर व्यक्ति को अपनी क्षमता के अनुसार मानव सुधार का कार्य करना चाहिए।

चार्ल्स फुरे (1772–1837) के अनुसार आर्थिक व राजनीति में समाहित वर्गीकरण और भेदभाव का कारण लोगों के जीवन निर्वाह की शैली से बंधा हुआ है। वह चाहता था कि समाज को छोटी–छोटी मनुष्यों की आर्थिक इकाइयों में बांटा जाये, ताकि वह उस समूह में अंतर संबंधों के साथ मिलकर वस्तुओं और संसाधनों का उपयोग कर निर्वाह कर सकें। इसी तर्ज़ पर अमेरिका में ब्रूस फार्म का निर्माण किया गया था, लेकिन अनुभव विफलता का रहा।

लुई ब्लां (1811–82) फ्रांस का प्रभावशाली विचारक और नेता था। वह निजी आर्थिक स्वतंत्रता की जगह सार्वजनिक कारखानों अथवा राष्ट्रीय कारखानों के निर्माण पर विश्वास रखता था। वह यह मानता था कि क्रान्तिकारी विरोध से सत्ता हासिल की जा सकती है और उसके बाद समाजवादी राज्य का निर्माण संभव है। वह मानता था कि आर्थिक हितों से पहले राजनीतिक हितों को पाना आवश्यक है। उसके मजदूरों को राज्य अपने नियंत्रण में लेकर अपने हितों की रक्षा करनी है। राज्य की यह जिम्मेदारी है कि वह हर मजदूर को यंत्र इत्यादि की सुविधा दे। 1839 में उसने 'आर्गेनाइजेशन ऑफ़ लेबर' नामक कृति में अपने विचारों को प्रस्तुत किया। वह मजदूर संघों के हित में था।

4.4.2 कार्ल मार्क्स एवं वैज्ञानिक समाजवाद

कार्ल मार्क्स ने समाजवाद की वैज्ञानिक सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। उसने न केवल समाजवाद के उद्देश्य स्पष्ट किये बल्कि समाजवाद की ऐतिहासिक उत्पति को समझाया, जो इतिहास की भौतिकवादी सिद्धांत पर आधारित था। साथ ही उसने समाजवादी समाज की रूपरेखा को भी प्रस्तुत किया। 1848 में फेडरिक एंगेल्स के साथ मिलकर उसने साम्यवादी घोषणा–पत्र (कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो) लिखा, तथा उसने 'दास कैपिटल' की रचना भी की। वह पूंजीवाद को एक विश्वव्यापी व्यवस्था के रूप में समझ पाया। वह उत्पादन के साधन एवं उत्पादन की प्रक्रिया पर पूंजीवादी बुर्जुआ वर्ग के स्थान पर सर्वहारा वर्ग का नियंत्रण चाहता था। वह मानता था कि पूंजीवाद का खात्मा तय है, और सर्वहारा वर्ग द्वारा क्रांति के जरिए ही समाजवाद लाया जा सकता है। इसलिए वह विश्वभर के मजदूरों को एक होकर संघर्ष एवं क्रांति करने के पक्ष में था। वह निजी स्वामित्व को ख़त्म कर संसाधनों के राष्ट्रीयकरण का पक्षधर था। मार्क्स के सिद्धांत को अपनाकर न केवल अर्थव्यवस्था का अध्ययन किया गया बल्कि इतिहास, राजनीति और समाजशास्त्र का अध्ययन भी किया गया।

4.4.3 अराजकतावाद (Anarchism)

अराजकतावाद राज्यविहीन समाज की कल्पना करता है, जहाँ स्वशासित स्वैच्छिक संस्थाएं हों। मार्क्सवादी विचारधारा की तरह अराजकतावादी भी राज्य विरोधी, निजी संपत्ति के खिलाफ़ और पूंजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेकने के पक्षधर थे, वह किसी भी प्रकार के राजनीतिक शक्ति

या व्यवस्था के खिलाफ़ थे। मिखाइल बुकानिन (Mikhail Bukanin) के विचार में सर्वहारा वर्ग के पास सारी सत्ता आने वह खुद भी शोषण करने का जरिया बन जाएगा, अत्याचार और दमन होता रहेगा जो कि और ज्यादा बुरा होगा। अराजकतावादी राजनीतिक शक्ति का हस्तांतरण छोटी–छोटी उत्पादकों की एसोसिएशन अथवा छोटे समुदायों के पास करना चाहती थी।

4.4.4 अंतर्राष्ट्रीय संगठन

प्रथम इंटरनेशनल की नींव 1864 में लंदन में हुई, यह अंतर्राष्ट्रीय कामगार समिति थी। समाजवादी विचारधारा के सभी प्रकार के चिन्तक इस समिति के सदस्य बने थे। इसमें घोषणा की गयी कि मजदूरों को खुद ही अपनी आज़ादी की मंजिल पानी होगी। प्रथम इंटरनेशनल का मुख्य उद्देश्य 'सम्पूर्ण वर्ग शासन का उन्मूलन' तय किया गया था तथा सभी व्यक्तियों के लिए समान नागरिक अधिकारों की मांग करना। यह विभिन्न देशों में मजदूर दलों के लिए संगठनात्मक ढांचे का आदर्श रूप बन के उभरा। वह मानते थे कि बिना अधिकारों के कोई कर्तव्य नहीं और बिना कर्तव्य कोई अधिकार नहीं ।

द्वितीय इंटरनेशनल के निर्माण तक बहुत सारे देशों में समाजवादी संगठन बन गए थे,विभिन्न जगहों में उनका प्रतिनिधित्व सांसदों में होने लगा था। 1889 में पेरिस में हुए सम्मेलन के परिणाम स्वरुप द्वितीय इंटरनेशनल की स्थापना हुई। इसी में 1 मई को मजदूर एकता दिवस के रूप में मनाने का फैसला लिया गया था। यह तय किया गया कि सब जगह एक साथ काम करने के केवल 8 घंटे निर्धारित हों। यह संगठन युद्ध और सैन्यवाद के विरुद्ध आन्दोलन खड़ा करने का प्रयास करता रहा, लेकिन आपसी मतभेद और प्रथम विश्व युद्ध में वह सफल नहीं हो पाए थे, द्वितीय इंटरनेशनल भी ठप्प हो गया।

समाजवाद की सफल क्रांति के रूप में रूस (सोवियत संघ)के निर्माण को माना जाता है। रूस में सर्वप्रथम क्रांति द्वारा समाजवादी सरकार बनी, इसके बाद बहुत से देशों में क्रियाशील समाजवादी संगठनो ने भी अपनी राजनीतिक शक्ति बढ़ाई, चीन में भी माउत्से तुंग के सफल नेतृत्व में साम्यवादी सरकार बनी। अंतर्राष्ट्रीय संगठनों और आंदोलनों ने सर्वहारा वर्ग में यह ऊर्जा और विश्वास बनाये रखने का प्रयास किया कि भविष्य में वर्गरहित – शोषणरहित समाज का निर्माण होगा। समाजवाद एक विचारधारा राजनीतिक चेतना और प्रयास के रूप में सक्रिय रहेगा।

4.5 रंगभेद

अफ्रीका में यूरोपीय के आने के साथ–साथ रंगभेद भी प्रचलित हो गया था। शुरू से ही यूरोपीय अपनी नस्लीय श्रेष्ठता के मद में स्थानीय निवासियों को दबाने लगे थे। 1920 में श्वेत सरकार द्वारा रंगभेद के आधार पर लोगों को बांटने के लिए नीतियाँ अपनाई गयी, 1948 में के नेशनल पार्टी के चुनाव से अफ्रीका में रंगभेद पूरी तरह स्पष्ट हो गया। सरकार द्वारा 1948 में कानून बनाकर श्वेतों

और अश्वेतों को अलग–अलग निवास कराया गया, इस नीति को ही रंगभेद या आपार्थाड (Apratheid) कहा जाता है।

श्वेत सरकार द्वारा नस्लीय भेदभाव को बनाये रखने के लिए आरक्षण की नीति लागू की गयी, श्वेत और अश्वेत लोगों के बीच किसी प्रकार के सामाजिक रिश्तों खासकर विवाह प्रतिबंधित किया गया। चर्च, स्कूल, यातायात जैसे सार्वजनिक और जन सुविधा केन्द्रों में रंगभेद के आधार पर लोगों के साथ भेदभाव होने लगा था। स्थिति इतनी ख़राब थी कि अपने ही देश में श्वेतों–अश्वेतों के अपने–अपने इलाके बंट गए थे जिन्हें स्पेशल रिज़र्व्स के नाम से जाना जाता है। सरकार ने अश्वेतों को बलपूर्वक उनके गांवों से यह कह कर निकाला कि यह श्वेतों का निवास स्थान है, उनकी जमीनों को सस्ते दामों पर श्वेत किसानो को बेचा गया, बड़े पैमाने पर लोगों का विस्थापन कर बन्टूस्तान (Bantustan) भेजा गया। लोगों को शहरी क्षेत्रों में भी अश्वेत और श्वेत अलग रहते थे, उनके लिए सारी सार्वजनिक सेवाएँ अलग–अलग कर दी गयी थी (स्कूल, मनोरंजन, यातायात इत्यादि)। हर व्यक्ति को प्रजातीय वर्गीकरण में बांटा गया था।

अश्वेतों को विशेष पहचान पत्र दिये जाते थे। अश्वेत लोग जब श्वेतों के इलाके में जाते, तो उन्हें अनुमति स्वरुप पास लेना पड़ता था। पुलिस सख्त नियंत्रण रखती थी ताकि कोई नियम न तोड़ तो सके। असमानता इतनी विकट थी कि केवल 20 प्रतिशत यूरोपीय जनसंख्या के आवासीय क्षेत्र के अंतर्गत दक्षिण अफ्रीका का लगभग 80 प्रतिशत, भूभाग, संसाधन, और सुविधाएं थी। बहुलक अश्वेत जनसंख्या निम्न श्रेणी की सुविधाओं और साधनों के साथ निर्वाह कर रही थी।

4.5.1 रंगभेद का विरोध

हम जानते हैं कि महात्मा गाँधी ने 1907 की शुरुआत से ही अफ्रीका में रहते हुए मानवता और समान अधिकार हेतु अभियान चलाये; उन्होंने औपनिवेशिक शासन के खिलाफ़ विरोध दर्ज कराने के लिए बड़े पैमाने पर अहिंसक हड़ताल, जन–प्रवास किये और पंजीकरण पत्र जलाये, फलस्वरूप सरकार को अपने कुछ दमनकारी कानून वापस लेने पड़े। अफ्रीकी अश्वेत और भारतीयों ने आने वाले दशकों में अफ्रीका नेशनल कांग्रेस (एएनसी) जैसे राजनैतिक गुट बनाये, एएनसी ने संवैधानिक तरीकों से विरोध जाहिर किया और विशाल जन समूहों को रंगभेदी शासन के विरुद्ध राजनीतिक विरोध के लिए गतिशील किया।

1944 में ऐसे ही अहिंसक विरोध से फेडरेशन ऑफ़ अफ्रीकी वीमेन ने सभी महिलाओं द्वारा पासबुक रखने वाले कानूनों को आखिरकार ख़त्म किया। 1949 में एएनसी से एक और दल पैन–अफ्रीकानिस्ट कांग्रेस (पिऐसी) का गठन हुआ, जो अपने संगठन में श्वेतों की किसी प्रकार की भागीदारी नहीं चाहते थे।

जब एएनसी ने अश्वेतों के अधिकारों की लड़ाई लड़नी शुरू की, तो नेल्सन मंडेला भी उससे जुड़ गये। एएनसी के नेता अल्बर्ट लुथूली के साथ नेल्सन मंडेला ने आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया। उनका विरोध शांतिपूर्ण था, पर श्वेत शासन ने इसे भी कुचल दिया।

1960 में जब बड़ी संख्या में अफ्रीकी लोगों ने एएनसी और पिऐसी के कहने पर पासपोर्ट के बिना

अपनी गिरफ्तारियां देनी शुरू की, तो शर्पेविले में श्वेत सरकार ने भीड़ पर गोलियां चलाकर उनका दमन किया, इसमें 69 अश्वेत आंदोलनकारी मारे गये। इस हत्याकाण्ड की प्रतिक्रिया स्वरुप हफ्तों प्रदर्शन और दंगे हुए। स्थिति को अपने नियंत्रण में लाने के लिए बड़ी संख्या में गिरफ्तारियां की गयी और एएनसी तथा पिऐसी को प्रतिबंधित किया गया। अब सैन्य संघर्ष द्वारा भी विरोध और परिवर्तन लाने के लिए प्रयास आरंभ हो गया, एएनसी की एक हिंसक शाखा उमखोंतो वे सिजवे (Umkhonto We Sizwe) भी बनी।

1964 में राजद्रोह के मामले में मंडेला को आजीवन कारावास की सजा सुनायी गयी। जेल में रहने पर मंडेला रंगभेद की नीति के खिलाफ अंतर्राष्ट्रीय प्रतीक बन कर उभरे। दक्षिण अफ्रीका में श्वेत शासन के विरोध में आंदोलन जोर पकड़ता गया। विद्रोह का स्वरूप हिंसक भी होता गया।

स्टीव बिको के विचारों ने अफ्रीकी जनता को बहुत जागृत किया, उनका कहना था कि अश्वेतों को श्वेतों के संस्थागत प्रक्रिया, विचार और तरीकों से मुक्त होना होगा जो कि स्कूल, किताबों, मीडिया, और इतिहास के जरिये उन तक पहुँचते हैं। इन विचारों से युवाओं पर गहरा असर पड़ा, छात्र भी आंदोलनों में बढ़ कर भाग लेने लगे। 1977 में स्टीव बिको की पुलिस के अत्याचारों के कारण मौत हो गयी, जिससे आन्दोलन को काफी क्षति पहुंची।

दक्षिण अफ्रीका में हिंसक आंदोलनकर्ता कुछ हद तक अपने विरोध जताने और लोगों को प्रभावित करने में सफल रहे, हालांकि उनके पास श्वेतों के दमनकरी शासन को हटाने की कोई दीर्घकालीन नीति नहीं थी। उपद्रवी घटनाओं से काम नहीं बन रहा था। इधर सामान्य लोग अपने बलबूते पर उन सब महत्वपूर्ण चीजों को अपने हिसाब से करना चाहते थे, जिससे उन्हें शक्ति का एहसास हो। वह अपनी स्थानीय समस्याओं का निदान चाहते थे।

ट्रांसवाल जिलों में लोगों ने सामूहिक रूप से किराया बढ़ाने के विरोध में और अनाधिकृत निवास को न तोड़ा जाये, इसके लिए प्रदर्शन किये, उन्होंने किराया देने का भी बहिष्कार किया। द पोर्ट एलिजाबेथ ब्लैक सिविक आर्गेनाइजेशन (पिऐबसिओ) बनाई गई, जो सभी नगरों का प्रतिनिधित्व करती थी, यह संस्था श्वेत लोगों के व्यापार और बसों का बहिष्कार कर दबाव बनाने में कामयाब रही।

बसों के भाड़े बढने पर बहिष्कार किया गया, लामोंटीविले (Lamontiville) में 18 महीने तक बहिष्कार चला। लोगों ने मिनी बस के जरिये मजदूरों को काम तक पहुँचाया, सरकारी बस प्रणाली को आख़िरकार हार माननी पड़ी। कई जगहों पर लोगों को शांतिपूर्ण व अनुशासित तरीकों से विरोध करने पर गटर के पाईप, बिजली के खम्बे, सड़कें इत्यादि जन सुविधाएँ सुचारू रूप से संचालित करने में कामयाबी मिली।

1982 में प्रधानमंत्री पी.डब्लू. बोथा ने तीन चेम्बर वाले सदन का विचार प्रस्तावित किया जिससे श्वेत, अश्वेत और भारतीयों का प्रतिनिधित्व हो। (लेकिन असल में अश्वेत अफ्रीकियों को इसमें कोई भूमिका नहीं मिली थी) यह एक प्रकार की चाल थी जिससे लोगों के बीच टकराव हो। हालांकि इसके उलट पहले से भी बड़ी तादाद में यूनाइटेड डेमोक्रेटिक फ्रंट (यूडीअफ) 1983 में उभरकर सामने आया। जिसमे 500 विभिन्न संस्थाओं के लोग जुड़े हुए थे। इन सबका एक ही लक्ष्य था, कि अश्वेत अफ्रीकावासियों को अपने सभी अधिकार तुरंत दिए जाएं।

ख़राब अर्थव्यवस्था के इस दौर में नौजवान, छात्र लगातार हिंसक घटनाओं में शामिल रहे। लगातार बहिष्कार करते रहे, कुछ कस्बों में रंगभेद करने वालों के गलों में टायर पहनाकर उन्हें जलाने की घटनायें भी हुईं। शहरों में आए दिन दंगे बढ़ रहे थे और इसके चलते बहुत सारे लोग मारे जा रहे थे। 1982 के आपातकाल के दौरान पुलिस को विशेष अधिकार देकर सरकार का विरोध करने वालों का दमन किया गया। यूडीफ के बहुत से लोग पकड़ कर प्रताड़ित किये गए और 8000 लोगों को बिना कारण बताये गिरफ्तार किया गया। इस तरह के भयपूर्ण हिंसक माहौल के बीच 1985 में 257 परिषदों ने इस्तीफा दे दिया और उन कस्बों में सरकार एकदम गिर गई।

खूसता जैक (झीनेजं श्रंबा) के नेतृत्व में अफ्रीका को एक दूरगामी सोच, अहिंसक तरीके से संगठन बनाकर आन्दोलन करने वाला व्यक्ति मिला। 1985 में खूसता जैक, पोर्ट एलिजाबेथ में श्वेत बिरादरी के बीच में बहिष्कार करने वालों का प्रवक्ता बन गया। श्वेत व्यापारियों को अपने व्यापार में 30 प्रतिशत का नुकसान पंहुचा और उनकी राय में बहिष्कार अश्वेतों का सबसे मजबूत और असरदार हथियार था। जैक ने अपने ऊपर लगे प्रतिबंद के आदेश पत्र को फाड़ कर लोगों में उतेजना भर दी, जब बहिष्कार दोबारा शुरू हुए तो, वह अधिक संगठित थे। खूसता जैक और यूडीफ ने अहिंसक बहिष्कार का तरीका अपना के सफल एवं सकारात्मक विरोध की राह बनायीं रखी। अहिंसक आन्दोलनों का लक्ष्य यह था कि लोग अपनी शक्तियों को पहचाने, वह जाने की वो अफ्रीका की हालात को कैसे अपने प्रयासों से बदल सकते हैं।

सरकार ने इसके उलट फिर से सख्त कदम उठाए और एक बार फिर से आपातकाल लागू किया। हजारों की तादात में लोगों को गिरफ्तार किया गया और मीडिया को प्रतिबंधित किया गया। सरकार अपनी साख बचाये रखने के लिए तत्पर थी, वह जन सुविधाओं को बहाल और बेहतर करने को तैयार थी, लेकिन अश्वेत जनता पूरी तरह यह तय कर चुकी थी कि वो ऐसी रंगभेदी, नस्लभेदी सरकार को बिल्कुल बर्दाश्त नहीं करेंगे। इसी दौरान अंतर्राष्ट्रीय दवाब भी देखने को मिला, यूरोपियन समुदायों ने दक्षिण अफ्रीकी रंगभेदी सरकार पर आर्थिक प्रतिबंध लगाये, जिसके चलते उनकी आर्थिक विकास दर धीमी हो गयी।

अंततः नेल्सन मंडेला जो की जेल में रहते हुए भी रंगभेदी सरकार और एएनसी के बीच वार्ताऐं जारी रखने में भूमिका निभा रहे थे उन्हें 1990 में बिना शर्त जेल से रिहा किया गया, इसी वर्ष सरकार को विरोध करने वाले दलों के ऊपर से पाबंदियां हटानी पड़ी तथा सरकार को कैद किये गए नेताओं को रिहा करना पड़ा। देश से विस्थापित लोगों को भी देश में वापस आने की अनुमति दी गयी और देश में लगे आपातकाल को हटाया गया। 1994 के चुनाव में लोगों ने एएनसी को लगभग 62 प्रतिशत मतों से जिताया तथा नेल्सन मंडेला को दक्षिण अफ्रीका का राष्ट्रपति चुना। इन नए मिश्रित चुनावों के बाद साझी सरकार बन गयी तथा रंगभेद और नस्लभेद की नीति का अंत कर दिया गया।

4.6 शीत युद्ध

दूसरे विश्व युद्ध के बाद से 1989 तक सयुंक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के बीच में दीर्घकालीन संघर्ष के काल को ही शीत युद्ध की संज्ञा दी गयी है। विचारधारा के स्तर पर जहाँ

सयुंक्त राज्य अमेरिका पूंजीवादी था वहीँ सोवियत संघ साम्यवादी था। इस टकराव का कारण विश्व पर अपने राजनीतिक, वैचारिक, आर्थिक और सैनिक वर्चस्व को कायम करना था, दोनों देश विश्व की महाशक्ति बनने की दौड़ में थे। एक दूसरे को पछाड़ने के लिए वह सम्पूर्ण विश्व की खेमेबाजी करने लगे तथा अपने प्रभाव–क्षेत्र बनाने लगे, इस तरह विश्व के अधिकांश देश शीतयुद्ध की कूटनीति से प्रभावित रहे। इसके लिए दोनों खेमों ने जासूसों, विदेशी सहायता, संधियों, प्रोपेगैंडा, और अप्रत्यक्ष युद्ध का सहारा लिया।

पश्चिमी यूरोप में संयुक्त राज्य अमेरिका के हस्तक्षेप अथवा सहायता से उसकी विघटन प्रक्रिया थमी तथा उनमें सामंजस्य बना रहा वहीँ पूर्वी यूरोप में यही भूमिका सोवियत संघ ने निभाई। दोनों राष्ट्रों के बीच कोई सीधा युद्ध तो नहीं हुआ लेकिन उनके बीच में चल रहे दीर्घकालीन वैचारिक और कूटनीतिक संघर्ष के कारण कई बार ऐसे मौके आए जब लगा की तीसरा विश्व युद्ध होने ही वाला है। विश्व में हथियारों की स्पर्धा पुनः आरम्भ हो गयी, सयुंक्त राज्य अमेरिका के पास परमाणु शक्ति थी, इसलिए सोवियत संघ के लिए भी परमाणु शक्ति होना एक अनिवार्यता हो गयी, 1949 में सोवियत संघ ने भी परमाणु शक्ति अर्जित कर ली। परमाणु युद्ध के खतरों और दुष्प्रभावों को अभी पूरी तरह आँका भी नहीं जा सका था कि विश्व फिर से इसकी चपेट में आने की संभावनाओं से भयग्रस्त हो गया था। जापान की तबाही से सबक लेते हुए इस प्रकार के परमाणु युद्ध से बचने में ही सबकी भलाई थी, इसके चलते ही आपस में प्रत्यक्ष युद्ध को दोनों शक्तिशाली खेमे टालते रहे। हालांकि विभिन्न देशों में दोनों राष्ट्र अप्रत्यक्ष युद्ध (Proxy War) में शामिल रहे।

शीतयुद्ध के दौरान निरंतर शांति और समझोतों का दौर भी चलता रहा, लेकिन इस दौर की राजनीति में न तो शांति ही संभव थी और न ही युद्ध की संभावनाओं को नकारा जा सकता था। 1989 में बर्लिन की दीवार के गिरने और सोवियत संघ के विघटन के साथ ही शीतयुद्ध का अंत माना जाता है।

सोवियत संघ ये मानता था कि सयुंक्त राज्य अमेरिका साम्राज्यवादी विस्तार की योजना का नेतृत्व कर रहा है। दूसरी और सयुंक्त राज्य अमेरिका मानता था कि सोवियत संघ साम्यवाद का विस्तार करके याल्टा समझोते को तोड़ रहा है, जिसके अनुरूप हर किसी देश को यह अधिकार है कि वो अपने भविष्य का खुद निर्णय कर सके। सयुंक्त राज्य अमेरिका यह दर्शाता रहा कि उसका संघर्ष मुक्त बजारवाद को प्रोत्साहित और सुनिश्चित करना है।

4.6.1 शीत युद्धः अहम् पहलू एवं घटनाक्रम

याल्टा सम्मेलन : दूसरे विश्व युद्ध के ख़त्म होने के पहले ही स्टालिन, चर्चिल, और रूज़वेल्ट (Joshep Stalin, Winston Churchill and Franklin Roosevelt) याल्टा में एकत्रित हुए, उनका लक्ष्य दूसरे विश्व युद्ध के बाद के विश्व का नवीन स्वरुप सुनिश्चित करना था। वह निम्नलिखित समझोते करने में कामयाब हो सके–

- संयुक्त राष्ट्र संघ का निर्माण करना।
- जर्मनी को चार क्षेत्रों में विभाजित करना।

- पूर्वी यूरोप में स्वतंत्र चुनाव।
- रूस ने जापान के खिलाफ़ युद्ध में शामिल होने की रजामंदी की। हालांकि पोलैंड के मसले में कोई समझौता नहीं हो सका।

ट्रूमैन डॉक्ट्रिन : 1947 में ग्रीस में गृह युद्ध छिढ़ गया था, उसी दौरान वहां की सरकार ने साम्यवादी गुरिल्ला आक्रमण से निपटने के लिए सयुंक्त राज्य अमेरिका से सहयोग मांगा, ब्रिटिश सरकार ने भी उनकी मदद की।सयुंक्त राज्य अमेरिका ने ऐसी स्थिति में ट्रूमैन डॉक्ट्रिन के तहत यह घोषित किया की वह स्वतंत्र राष्ट्रों को साम्यवाद के खिलाफ़ लड़ने में सैनिक एवं आर्थिक सहायता प्रदान करेगा। ग्रीस को सयुंक्त राज्य अमेरिका द्वारा बढ़ी मात्रा में हथियार और आर्थिक सहायता मिली। ट्रूमैन डॉक्ट्रिन द्वारा सयुंक्त राज्य अमेरिका अपनी साम्यवाद विरोधी नीति को वैधता प्रदान करना चाहता था।

सयुंक्त राज्य अमेरिका के राज्य सचिव मार्शल ने यूरोप को युद्ध क्षति से उबारने के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करने की योजना लागू की। इस योजना को मार्शल प्लान के रूप में जाना गया। इस योजना के द्वारा यूरोप को युद्ध के नुकसान से उभारने के साथ–साथ सयुंक्त राज्य अमेरिका अपने यहाँ निर्मित हुई मदों के लिए बाज़ार का विस्तार और उद्योगों को फायदा पहुंचना चाहता था।

बर्लिन का संकट : जर्मनी के तीन क्षेत्र पश्चिमी खेमे से नियंत्रित और संगठित हो गए थे, वह पूर्वी जर्मनी को भी अपने साथ मिलाना चाहते थे। सोवियत रूस को यह अपनी आंतरिक सुरक्षा की दृष्टि से खतरनाक लग रहा था। 1948 में सोवियत रूस ने पश्चिमी बर्लिन पर कब्ज़ा करने की कोशिश की, वहां के रेल, सड़क, नहरों के संपर्क को काट कर सोवियत रूस ने वहां कब्ज़ा करना चाहा, लेकिन पश्चिमी खेमे ने वहां पश्चिमी बर्लिन को हवाई सहायता द्वारा जरूरी राहत सामग्री पहुंचाई। 1949 में अंततः सोवियत रूस ने अपने कदम पीछे कर दिए और पश्चिमी बर्लिन पर अपने अवरोधों को हटा दिया।

1949 में नाटो (उत्तरी अटलांटिक संधि संघठन) के रूप में पश्चिमी राष्ट्रों ने मिलकर सोवियत रूस के खिलाफ़ एक मंच बनाया ताकि आपसी सहयोग द्वारा वह सोवियत रूस के खिलाफ़ सुरक्षा एवं युद्ध की दृष्टि से तालमेल बना सकें। 14 मई 1955 में इसी के जवाब में पूर्वी यूरोप के सोवियत रूस से प्रभावित राष्ट्रों ने पोलैंड के वार्सा शहर में वार्सा पैक्ट के रूप में एक संघठन बनाया। नाटो की ही तरह सीटो के रूप में दक्षिण पूर्व एशिया में भी साम्यवाद विरोधी खेमा बनाया गया।

अंतरिक्ष दौड़ : शीत युद्ध की अंधी दौड़ अंतरिक्ष तक उस समय पहुँच गयी, जब सोवियत रूस ने स्पुतनिक 1 नामक मानव निर्मित उपग्रह का 4 अक्टूबर 1957 को सफल प्रक्षेपण किया। 12 अप्रैल 1961 में सोवियत रूस के युरी गगारिन अंतरिक्ष में जाने वाले और पृथ्वी का चक्कर लगाने वाले पहले व्यक्ति बन गए। अंतरिक्ष विज्ञान के क्षेत्र में पिछड़ने के कारण सयुंक्त राज्य अमेरिका के वर्चस्व पर गंभीर शंका होने लगी थी और सयुंक्त राज्य अमेरिका के अहंकार को काफी क्षति पहुंची, उसने अंतरिक्ष कार्यक्रम, विज्ञान अनुसंधान और शिक्षा पर अतिरिक्त पैसा लगाना आरंभ कर दिया। 16 जुलाई 1969 में अपोलो चाँद पर उतरा और नील आर्मस्ट्रांग चाँद पर उतरने वाले पहले व्यक्ति बने।

क्यूबा में भी दोनों खेमो की तकरार सामने आयी, सयुंक्त राज्य अमेरिका ने क्यूबा में साम्यवादी सरकार गिराने के लिए देश से बहिष्कृत लोगों को समर्थन दिया। लेकिन सयुंक्त राज्य अमेरिका का ' बे ऑफ़ पिग' पर कब्ज़ा करने का प्रयास विफल हो गया। दोनों देशों के बढ़ते हुए टकराव के कारण उनके बीच के राजनैतिक संबंध 1961 में टूट गए।

13 अगस्त 1961 के दिन पश्चिमी और पूर्वी बर्लिन के बीच तारबंदी की गयी थी, जो कुछ दिनों में एक कंक्रीट की दीवार में बदल दी गयी थी। इस दीवार को सोवियत रूस ने साम्राज्यवाद के विस्तार को रोकने के प्रयास के रूप में प्रस्तुत किया, लेकिन इसका उद्धेश्य यह भी था कि पूर्व जर्मनी से कोई व्यक्ति पश्चिम जर्मनी में ना जा सके। पश्चिमी जर्मनी के लोगों ने इस दीवार को 'वाल ऑफ़ शेम' के रूप में देखा। इस दीवार पर जब–जब काम हुआ, यह हर बार ज्यादा ऊँची और मजबूत कर दी गयी। इसके दोनों तरफ़ सख्त पहरे के बीच मीलों खाली वीरान जगह बन गयी।

क्यूबा मिसाइल संकट : सयुंक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस की फौजें लड़ने के लिए पूरी तरह तैयार थी। क्यूबा में सयुंक्त राज्य अमेरिका की बढ़ती दखलंदाजी और उसे हड़पने की नीति से सोवियत रूस वहां से हमला करने के लिए मिसाइल तैनात करने लगा, क्योंकि 1962 तक सोवियत के पास सयुंक्त राज्य अमेरिका से कम विकसित मिसाइल तकनीक थी, और वह सोवियत रूस से ही संपूर्ण सयुंक्त राज्य अमेरिका पर हमला नहीं कर सकता था, इसलिए उसे क्यूबा में एक आधार चाहिए था। जहाँ से वह जरुरत पड़ने पर सयुंक्त राज्य अमेरिका पर मिसाइल हमला कर सके। क्यूबा और सोवियत संघ पर संभावित हमले के डर से पूरा माहौल युद्ध का बना हुआ था। क्यूबा की साम्यवादी सरकार पर सयुंक्त राज्य अमेरिका की बुरी नजर पहले से ही थी। 1962 में इन हालातों के चलते दोनों साम्यवादी देश एक दूसरे का साथ देने को तैयार थे।

15 अक्टूबर 1962 सयुंक्त राज्य अमेरिका को ये पता लग गया कि सोवियत रूस ने क्यूबा में अपनी मिसाइल पहुंचा ली हैं। तत्कालीन सयुंक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति जॉन एफ कैनेडी ने क्यूबा के चारों और सैनिक नाकेबंदी करने का हुक्म दे दिया। 22 अक्टूबर को जॉन एफ कैनेडी ने यह घोषणा कर दी कि क्यूबा से यदि किसी भी प्रकार का हमला या मिसाइल चलाई जाएगी तो उसे सोवियत संघ का सयुंक्त राज्य अमेरिका पर हमला माना जायेगा। सयुंक्त राज्य अमेरिका ने सोवियत संघ से हथियार हटाने की मांग की। अंततः क्यूबा पर सयुंक्त राज्य अमेरिका का हमला ना करने की शर्त पर सोवियत रूस मिसाइल हटाने की मांग पर सहमत हो गया।

अंततः बर्लिन की दीवार और सोवियत रूस के विघटन के साथ ही शीत युद्ध का अंत माना जाता है। सोवियत संघ के राष्ट्रपति गोर्बाच्योव ने उस समय अपने देश की स्थिति का मूल्यांकन करते हुए शीत युद्ध से पनपी राजनीति का परित्याग करना ही उचित समझा।

अभ्यास प्रश्न

1) इंग्लैंड में राष्ट्रमंडल कब स्थापित हुआ है?
2) प्रथम इंटरनेशनल कब बना था?
3) समाजवाद का वैज्ञानिक सिद्धांत किसने दिया था और उनकी प्रुमख कृति का क्या नाम था?
4) 1962 में किस देश में परमाणु मिसाइल तैनात होने की आशंका से तीसरे विश्वयुद्ध की नौबत आ गई थी?

4.7 विशेष शब्दावली

1. यूटोपिया (Utopia) वह समाज या समुदाय की कल्पना है जो अपने आप में पूर्ण हो, आदर्श हो, जिसके अन्दर सभी गुण हैं. इस प्रकार के समाज की कल्पना और उसके लिए प्रयत्नशील व्यक्तियों को ही यूटोपियन कहा जाता है. 1516 में सर थॉमस मूर द्वारा यूटोपिया नामक पुस्तक में यह संकल्पना और शब्द उभर के सामने आया.
2. 'कॉटन मिल्स और फैक्ट्री एक्ट' (The1819 Cotton Mills and Factories Act) ब्रिटेन की संसद द्वारा पारित वह पहला अधिनियम है जिसका उदेश्य मजदूरों बच्चों के सूती कारखाने में काम करने के घंटो और रहने की स्थिति का सुधार करना था. यह सर रोबर्ट पील के द्वारा संसद में पेश किया गया था. नौ साल से कम उम्र के बच्चों को काम पर रखने की मनाही की गयी। 9–16 साल के किशोरों के लिए अधिकाधिक 12 घंटे प्रति दिन का काम सीमित किया गया. वह रात को काम पर नहीं लगाए जा सकते थे.
3. बन्टूस्तान (Bantustan) 1959 के अधिनियम द्वारा अश्वेतों के लिए ऐसे निवास स्थान अथवा क्षेत्र बनाये गए जहाँ अश्वेतों का खुद का शासन हो। इसके जरिए श्वेत और अश्वेतों को अलग किया गया और उनकी बीच की एकता को उभरने से रोका गया।

4.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उ.1) 1649 में राजा चार्ल्स प्रथम को मृत्यु दंड देकर हाउस ऑफ़ कॉमन ने गणतंत्र की स्थापना की, इसके साथ ही इंग्लॅण्ड पर न राजा न हाउस ऑफ़ लॉड्र्स बल्कि हाउस ऑफ़ कॉमन सत्ता का केन्द्र बन गया था।
उ.2) प्रथम इंटरनेशनल की नींव 1864 में लंदन में हुई, यह अंतर्राष्ट्रीय कामगार समिति थी।
उ.3) कार्ल मार्क्स द्वारा समाजवाद आने का वैज्ञानिक सिद्धांत दिया गया था, उनकी प्रमुख कृति 'दास कैपिटल' है, उन्होंने कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो भी लिखा था।
उ.4) 1962 में क्यूबा में सोवियत रूस द्वारा सयुंक्त राज्य अमेरिका के विरुद्ध युद्ध की स्थिति में जवाबी आक्रमण और क्यूबा की सुरक्षा की दृष्टि से मिसाइलें तैनात की गयी थी। सयुंक्त राज्य अमेरिका के इस पर आक्रमक रवैये से तीसरे विश्वयुद्ध की संभावना उत्पन हो गयी थी. इसी को क्यूबा मिसाइल संकट के नाम से जाना जाता है।

4.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

जैन, डॉ. हुकम चाँद, माथुर, डॉ. कृष्ण चन्द्र, आधुनिक विश्व इतिहास (1500–2000), 15वां संस्करण, जैन प्रकाशन मंदिर, जयपुर, 2010, पृ, 85–113, 609–621, 715–728.
Ajayi, F. Ade (ed.) UNESCO General History of Africa, Vol&VI, 1989, pp. 55&67.
Davidson. Basil, Modern Africa a Social and Political History, Longman, 1994, pp.32&33,161&171, 249.
Flint, E (ed.), Cambridge History Of Africa, Vol. V 1976, pp.258, 490&491, 551&599, 681&696.

Mazrui, A. (ed.), UNESCO General History Of Africa Vol. VIII (1993), pp.257&276,749, 753, 816, 827.
Hobsbawm Eric, Age Of Extremes, Viking Penguin India. Pp. 225&256.

4.10 प्रस्तावित अध्ययन सामग्री

Darity William A (ed) & International Encyclopedia of the Social Sciences, second edition, vol&1 to 9 (relevant pages only), Macmillan Refrence Gayle 2008.
Stearns, Peter N, Western Civilization in World History, New York, Routledge Taylor, USA, 2003.
Perry, Marvi, Western Civilization: Idea politics and Society, Austalia, Cenage Learning, 2013.
http@www-nationalarchives.gov.uk@
http@wwwhistory.ac.uk@

4.11 निबंधात्मक प्रश्न

1) शीत युद्ध से आप क्या समझते हैं, इसके कालक्रम में घटित अहम घटनाओं व पहलुओं पर प्रकाश डालें ?
2) समाजवाद की विचारधारा और उसकी उत्पत्ति की विस्तारपूर्वक चर्चा करें ?